भावनासार

[द्रव्यसंग्रह की टीका]

टीकाकार—

श्री पुट्टय्या स्वामी

हिन्दी भाषाकार—

पूज्य श्री १०८ विद्यालङ्कार

आचार्य देशभूषण जी महाराज

प्रथमावृत्ति १०००

वीर-निर्वाण सं० २४८२,
विक्रम सं० २०१३ सन् १९५६

मूल्य ३) रुपये

प्रकाशक
जग्गीमल जैन, कपड़ेवाले
फर्म—रतनलाल जग्गीमल जैन
चांदनी चौक, दिल्ली

मुद्रक
सन्मति प्रेस
२३०, गली कुञ्जस, दरीबा कलाँ
देहली

आद्य-वक्तव्य

भारतभूमि न केवल विविध धान्य, फल, फूल, वान्य वनस्पति तथा सुवर्ण, चाँदी, रत्न, ताँबा, लोहा, कोयला आदि खनिज पदार्थों की उर्वराभूमि है, अपितु अतुल्य विद्वान दार्शनिकों की भी सदा से उर्वरा भूमि रही है। जितने दार्शनिक विद्वान तथा दार्शनिक शास्त्र मानव-समाज को भारत ने प्रदान किये हैं विश्व के किसी भी अन्य देश को वह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। वास्तविक बात यह है कि भारतीय दार्शनिक सूर्य की ही किरणों ने इतर देशों में दार्शनिक प्रकाश पहुंचाया है।

सबसे प्रथम भारत में या विश्व में दर्शन शास्त्र का प्रणयन भगवान् ऋषभदेव ने अपनी एक हजार वर्ष की कठोर तपस्या के अनन्तर पूर्ण सर्वज्ञता और वीतरागता प्राप्त करके किया। समस्त आत्म-विकारों पर विजय प्राप्त करने के कारण उनका नाम 'जिन' विश्व में विख्यात हुआ। इसी कारण उनके उपदिष्ट दर्शन का नाम 'जैनदर्शन' प्रसिद्ध हुआ। जैनदर्शन जगत का सबसे प्राचीन दर्शन है। संसार के इतर दर्शन इतिहास की परिधि में आ जाते हैं किन्तु जैनदर्शन इतिहास की सीमा से प्राग्वर्ती ठहरता है।

भगवान् ऋषभनाथ के पीछे क्रमशः अजितनाथ आदि २३ सर्वज्ञाता द्रष्टा तीर्थंकर और हुए उन्होंने भी अपने अपने समय में जैनधर्म का प्रचार किया। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले मगध में हुए। ये सभी तीर्थंकर क्षत्रिय राजवंशों में उत्पन्न हुए थे।

मध्य एशिया से भारत में आने वाले आर्य लोगों के बाद यहाँ वैदिक सभ्यता का प्रसार हुआ उसके पहले भारत में जैन सभ्यता ही फैली हुई थी, इतिहासकारों ने उसका नाम 'द्राविड़ सभ्यता' निर्देश किया है।

भारत के उत्तर प्रान्त में तीर्थंकरों की उत्पत्ति हुई किन्तु शास्त्र-प्रणेता विविध जैन विद्वान ऋषि प्रायः दक्षिण प्रान्त में हुए। दक्षिण प्रान्त में सम्राट चन्द्रगुप्त तथा उसके गुरु अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु आचार्य के विहार करने से भी बहुत पहले जैनधर्म

फैला हुआ था, यह बात पुदूकोटा में प्राप्त प्राचीन गुफा से सिद्ध होती है। यह गुफा २३०० वर्ष से भी पुरानी है, इसमें जैन मुनि तपस्या किया करते थे और वहां से कुछ मुनियों ने मुक्ति भी प्राप्त की है, भारतीय पुरातत्व विभाग की ओर से इसके विषय में परिचय पुस्तिका प्रकाशित होगी।

भगवान् महावीर का उपदिष्ट द्वादशअंगरूप श्रुतज्ञान अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु आचार्य तक गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा मौखिक पठन-पाठन के रूप में अक्षुण्ण बना रहा। भद्रबाहु आचार्य के निधन हो जाने पर द्वादशाङ्ग ज्ञान दिनों दिन क्षीण होता गया, मानवीय धारणाशक्ति क्रमशः निर्बल होते रहने से द्वादशाङ्ग विस्मृत होने लगे। उधर एक ही जैन-संघ दो भागों में विभक्त हो गया। प्राचीन अचेलक साधु-परम्पराका अनुसरण करने वाला 'दिगम्बर' और नवीन सचेल परम्परा को अपनाने वाला समुदाय 'श्वेताम्बर' कहलाया। पृथक् हो जाने पर फिर ये दोनों संघ एक न हो सके।

दिगम्बर परम्परा में श्री धरसेन तथा श्री गुणधर आचार्य हुए इन को गुरु-परम्परा से दृष्टवाद अंगका ज्ञान था। श्री गुणधर आचार्य ने 'कषाय पाहुड' की रचना की और श्री धरसेन आचार्य ने अपना सैद्धान्तिक ज्ञान अपने बुद्धिमान् विनीत शिष्यों श्रीपुष्पदन्त भूतबली को दिया। तदनन्तर उन दोनों विद्वान मुनियों ने मिल कर 'षट्-खण्ड-आगम' की रचना की। इस तरह दिगम्बर संघ में शास्त्र-रचना की परम्परा चल पड़ी। यह समय इतिहास-वेत्ताओं के मत से विक्रम की प्रथम या द्वितीय शताब्दी का था। समयसार आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचाय का समय भी श्री प्रो० ए० चक्रवर्ती ने विक्रम की प्रथम शताब्दी निश्चित किया है। श्वेताम्बर संघ में श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा बल्लभीपुर (सौराष्ट्र) में वीर सं० ९८० (विक्रम सं० ५१०) में आगम रचना प्रारम्भ हुई।

हाँ तो, श्री धरसेन, गुणधर, पुष्पदन्त, भूतबली, समन्तभद्र आदि शास्त्रप्रणेता-ऋषि प्रायः दक्षिण प्रान्त में ही हुए हैं। दक्षिण प्रान्त में जैन धर्म राजधर्म के रूप में लगातार ७००-८०० वर्ष तक बना रहा है। श्रवण बेलगोल में श्री गोमटेश्वर की ५७ फीट उन्नत मूर्ति के निर्माण कराने वाले, २८ युद्धों के विजेता, महान् पराक्रमी, वीर सेना-पति और विद्वान् मन्त्री चामुण्डराय तथा गंगवंशीय नरेश दक्षिण प्रान्त में ही हुए हैं। मैसूर का राजपरिवार कुछ समय पहले तक जैनधर्म अनुयायी रहा है। मूड़बिद्री में अभी तक जैन राजवंश है जिसके प्रमुख श्री धर्म साम्राज्य जी विद्यमान हैं। यहीं के शास्त्रभण्डार में धवल, जयधवल, महाधवल अबतक सुरक्षित रहे।

उन ग्रन्थकार जैनऋषियों ने महान् परिश्रम से अपनी मातृलिपि कानडी में ताड़पत्रों पर प्राकृत, संस्कृत, तामिल, कानडी आदि भाषाओं में ग्रन्थरचना की। इस समय भी प्राचीन ग्रंथ प्रायः ताड़पत्रों पर लिखे हुए कनड़ी लिपि में ही उपलब्ध होते हैं। महान् अद्भुत अनेक भाषामय श्री कुमुदेन्दु आचार्य विरचित 'भूवलय' ग्रंथ भी कानडी भाषा तथा कानडी लिपि में है।

इस तरह दक्षिण प्रान्त को जैनसंस्कृतिकी दृष्टि से अच्छा गौरव प्राप्त है।

ग्रंथ परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ 'भावनासार' भी कानडी भाषा में तथा कानडी लिपि में ताड़पत्र पर लिखा हुआ है। यह वृहद्द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की टीका स्वरूप है। इसका निर्माण १८वीं शताब्दी से पहले किसी अनिश्चित अज्ञात समय में श्री पुट्टय्यास्वामी द्वारा हुआ है। उपलब्ध ताड़पत्रीय ग्रन्थ शकसंवत् १७६१ फाल्गुन कृष्ण अष्टमी के दिन पुट्टय्या उपाध्याय के पुत्र सूरप्पा ने लिखकर दिया था। यह ग्रन्थ ३००० श्लोक प्रमाण है, ताड़पत्र के १४२ पृष्ठों पर लिखा हुआ है। ये पत्र १० इंच लम्बे २ इंच चौड़े हैं।

मूल ग्रन्थ 'द्रव्यसंग्रह' श्री सिद्धान्तदेव नेमिचन्द्र (ये आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती से भिन्न हैं) ने विक्रम की ११वीं शताब्दी से पहले २६ प्राकृत गाथाओं में बनाया था, फिर ५७ गाथाओं में वृहद् द्रव्यसंग्रह का निर्माण किया। इसमें ग्रन्थकार ने सुन्दर प्रणाली से जीव द्रव्य तथा ५ अजीव द्रव्यों का, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, निश्चय व्यवहार रत्नत्रय, पांच परमेष्ठी तथा ध्यान का स्वरूप संक्षेप से दिया है।

११वीं शताब्दी के विद्वान् श्री ब्रह्मदेव ने आध्यात्मिक छटा में इस ग्रन्थ पर संस्कृत व्याख्या लिखी है जो कि हिन्दी अनुवाद सहित दो बार प्रकाशित हो चुकी है। इसके सिवाय स्व० श्री बा० सूरजभानु जी वकील, स्व० श्री० पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल आदि अनेक विद्वानों की अनेक हिन्दी टीकायें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ

पूज्य आचार्य श्री १०८ देश भूषण जी महाराज का गतवर्ष देहली में चातुर्मास हुआ था उस समय एक दिन पहाड़ी-धीरज पर श्री ला० मनोहरलाल जी जैन जौहरी के यहाँ आचार्य महाराज का आहार हुआ, ला० मनोहरलाल जी के घर के सबसे ऊपरी भाग में छोटा सा मनोहर चैत्यालय है जिसमें ताँबे चाँदी के पत्रों पर तथा घंटेपर उकेरे

हुए अनेक यन्त्र हैं। तथा एक अच्छा छोटा सा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भण्डार है जिस में मंत्र शास्त्र के तथा अन्य विषयों के अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ संचित हैं। जिस में अनेक ताड़पत्र के हैं। आचार्य महाराज श्री ने आहार लेकर उसी चैत्यालय में सामायिक की, सामायिक करने के अनन्तर आपने शास्त्र भण्डार का अवलोकन किया। उस में आप को यह 'भावनासार' ग्रंथ उपलब्ध हुआ। एक अन्य व्याकरण का अपूर्व ग्रंथ भी मिला।

आचार्य श्री अच्छे विद्याव्यसनी हैं, प्राचीन ग्रंथों को सरल आधुनिक भाषा में प्रकाशित कराने के लिये आपकी तीव्र रुचि रहती है। अतः सामायिक और उपदेश के सिवाय आपका शेष समय इसी शास्त्र-सम्पादन में व्यतीत होता है। भरतेशवैभव, अपराजितेश्वर, रत्नाकर शतक, मोक्षलक्ष्मीपति, परमात्म प्रकाश, नर से नारायण, अहिंसा का सन्देश आदि आप के सम्पादित ग्रंथ हिन्दी भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। आपके दैनिक उपदेशों का संकलन दो भागों में 'उपदेशसार संग्रह' नाम से प्रकाशित हो चुका है। जो कि स्वाध्यायके लिये अच्छा उपयोगी है। आपका प्रवचन बहुत सुन्दर आकर्षक होता है। भारतके प्रसिद्ध उद्योगपति श्री सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला ने आपके उपदेशोंसे प्रभावित होकर उपदेशसार संग्रह द्वितीयभाग अपनी ओर से प्रकाशित कराया है।

आचार्य महाराज ने इस अप्रकाशित महत्वपूर्ण सुन्दर टीका ग्रन्थ को प्राप्त करके उसका हिन्दी भाषा में अनुवाद कर डाला। एक भाषा का अभिप्राय दूसरी भाषा के सांचे में ढालना कितना कठिन कार्य है इसको भुक्त-भोगी ही अनुभव कर सकते हैं। फिर पुरानी कानडी लिपिको पुराने ताड़पत्रों से पढ़कर हिन्दी में अनुवाद करना और भी कठिन कार्य है। परन्तु इस कठिन कार्य को आचार्यश्री ने दैनिक कार्यक्रम बनाकर कर ही डाला यदि आचार्य महाराज श्री ला० मनोहरलाल जी जौहरी के शास्त्रभण्डार का निरीक्षण न करते तो न मालूम यह ग्रन्थ कब प्रकाश में आता, या न भी आता। पाठक महानुभाव अनुमान लगा सकते हैं कि अभी तक कितने महत्वपूर्ण ग्रन्थ अप्रकाशित पड़े हुए हैं। लाखों रुपये की निधि अप्रकाशित जैन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये चाहिये। जैन समाज का लक्ष्य इस दिशा में जावे तो यह कोई बड़ा कार्य नहीं है।

'शुभस्य शीघ्रम्' (यानी—शुभ कार्य शीघ्र कर डालना चाहिये) की नीति अपनाकर ग्रन्थ का सम्पादन प्रकाशन बहुत शीघ्र हुआ है और उस अवसर में हिन्दी भाषा तथा जैन सिद्धान्त के ज्ञाता विद्वान् का सम्पर्क आचार्य महाराज को न मिल सका जिससे कि भाषा-सम्बन्धी, प्रूफ-संशोधन-सम्बन्धी तथा कहीं कहीं सैद्धान्तिक त्रुटि रह जाना संभव है, जो कि आगामी संस्करण में सुधारी जा सकेगी।

ग्रन्थ के प्रकाशन का खर्च श्रीरतनलाल जग्गीमल फर्म के स्वामी श्री ला० जग्गीमल जी जैन कपड़ेवाले, कूचा सेठ दिल्ली ने उठाया है, इस उदारता के लिये उन्हें धन्यवाद है। पूज्य आचार्य श्री का प्रयास तो अभिनन्दनीय है ही। आपकी मातृ-भाषा कानडी है, इसके सिवाय संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, मराठी, वैदिक संस्कृत, ज्योतिष के भी आप अच्छे विद्वान् हैं। इंग्लिश भाषा का भी आपको ज्ञान है। आप अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग में रहते हैं।

आशा है जनता आचार्य श्री के इस अनूदित ग्रन्थ से अच्छा लाभ प्राप्त करेगी।

विनीत—

आषाढ वदी ५
वीर सं० २४८२

अजितकुमार शास्त्री
सम्पादक—जैनगजट,
पहाड़ी धीरज, देहली
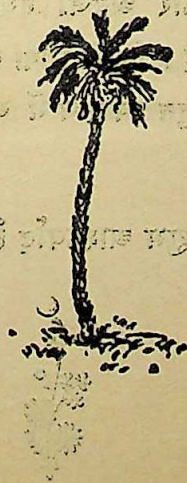
श्री १०८ पूज्य दिगम्बर जैनाचार्य देशभूषणजी महाराज के

दो शब्द

गतवर्ष हमारा चातुर्मास योग सेठ का कूचा दिल्ली नगर में होने से उस अवसर पर पहाड़ीधीरज पर जाने का अवसर मिला वहाँ धर्मात्मा, ला० मनोहरलालजी जौहरी के यहाँ आहार हुआ। पश्चात् उन्होंने अपने चैत्यालय के दर्शन कराये। उसमें श्री १००८ जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं के अतिरिक्त चांदी, तांबे के पत्रों पर उत्कीर्ण अनेक यन्त्र हैं, घंटे पर उत्कीर्ण (उकेरा हुआ) घण्टाकर्ण यन्त्र भी है। उनके दर्शन कर मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

आप के शास्त्र-भण्डार में अनेक ताड़पत्र के ग्रन्थ भी थे, उनका हमने घंटों तक अन्वेषण करने के पश्चात् अनेक पुरातन ताड़पत्र ग्रन्थ मिले। जिनमें एक ग्रन्थ 'भावनासार' देखा जो कि कन्नड़ भाषा तथा प्राचीन कन्नड़ लिपि में लिखा हुआ है। यह द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की विस्तृत रूप से टीका श्रीपुट्टय्या स्वामी ने की है। इसे उपयोगी समझकर इसको प्रकाश में लाने के लिये हमने ला० मनोहरलाल जौहरी से पूछा कि इसका हिन्दी भाषान्तर करके जनता को लाभ पहुंचाया जाय। उन्होंने अपनी अनुमति देदी।

प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी तथा कनड़ी का अनुवाद विस्तृत-विवेचन सहित सरल रूप में किया गया है। हिन्दी भाषा तथा जैन सिद्धान्त के ज्ञाता विद्वान् का यथेष्ट सम्पर्क न मिलने से प्रस्तुत प्रकाशन में यदि कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो विज्ञ सूचित करें।

ला० मनोहरलाल जी को शुभ आशीर्वाद है। आशा है जन साधारण इस ग्रन्थ से धर्म लाभ प्राप्त करेंगे।

सहायकों की नामावली

श्रीमान् ला० मनफूलसिंहजी जैन, पेपर मर्चेन्ट, चावड़ी बाजार, देहली ।

श्रीमान् ला०जयचन्द्रायजी जैन 'भगत' कपड़ेवाले,चांदनीचौक,कटरा सत्यनारायण देहली

श्रीमान् ला० छुट्टनलालजी जैन, सुपुत्र ला० सरदारीमलजी कागजी,चावड़ी बाजार, देहली

श्रीमती परसन्दीदेवी धर्मपत्नी स्वर्गीय श्रीमान् बाबूराम बिजली वाले, पहाड़ी धीरज,देहली

इस ग्रन्थ में उपर्युक्त महानुभावों की तरफ से कागज की सहायता प्राप्त हुई है, अतः इन्हें धन्यवाद है ।

विषय-सूची

श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज

श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज

श्री वीतरागाय नमः

श्री पुट्टय्या स्वामी कृत

भावना सार

द्रव्य संग्रह

पर

(कानड़ी टीका)

का

[श्री १०८ आचार्य देशभूषण मुनि महाराजजी के द्वारा]

हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन

सकलागम सारस्य, वृत्तिं सद्बोधना करी ।
द्रव्यसंग्रह सूत्रस्य, वक्ष्ये नत्वा जिनेश्वरम् ।।

अर्थ—सकलागम शास्त्र वृत्ति को प्रारम्भ करने से पहले श्रीदेवाधिदेव श्रीजिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके भव्य जीवों के हित के लिये आत्मतत्त्व और पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के ऊपर जैनागम सार द्वितीय नाम भावना सार नाम की विस्तृत टीका लिखता हूँ ।

इस लोक विख्यात प्रसिद्ध ग्रन्थ द्रव्यसंग्रह की कर्नाटक भाषा में जैनागमसार रूप से की गई टीका बड़ी सुन्दर और मनोज्ञ है । टीकाकार ने बड़े परिश्रम से अनेक प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर विषय को सुबोध और सरल बनाया है । बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका से इस टीका में मौलिक अन्तर है । ग्रन्थकार ने धवलाकार आचार्यवर्य वीरसेन स्वामी की शैली पर मनोज्ञ संस्कृत भाषा का पुट देकर विषय को अत्यधिक रोचक और हृदयग्राह्य बना दिया है । आज से तीन सौ वर्ष पूर्व लिखे गए ताड पत्र पर पुरानी कर्नाटक भाषा के आधार से इस उत्तम ग्रंथराज का सरल देश भाषा में अनुवाद किया है ।

टीकाकार ने सब से पहले इस अध्याय में इष्ट देवता को नमस्कार करके श्री जिनेन्द्र देव के गुणों का वर्णन किया है। तथा सांख्य,मीमांसक, बौद्ध और चार्वाक आदि मतों का विवेचन किया है। उसमें बताया है कि वीतराग जिनेन्द्रदेव ही नमस्कार करने योग्य हैं। उनकी स्तुति प्रार्थना द्वारा यह जीव सन्मार्ग में प्रवृत्त होता है । वे ही इष्ट हैं अन्य नहीं। तदनंतर सरस्वती जिनवाणी का स्मरण किया है।

इस ग्रंथ में पंचास्तिकाय, छः द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ आदि जो संग्रह है उन का वर्णन किया है। छः द्रव्यों का संग्रह होने के कारण द्रव्य संग्रह इस ग्रन्थ का नाम रक्खा गया है । इसी ग्रन्थ पर जैनागम सार अर्थात् भावना सार नाम की टीका विस्तार पूर्वक की है।

इस मूल ग्रन्थ को बनाने वाले आचार्य नेमिचन्द्र हैं। इस ग्रन्थ के आदि में चार प्रकार की आराधना के फल की भावना रख कर सच्चे देव के स्वरूप का निरूपण करके इष्टदेव को मंगलाचरण पूर्वक नमस्कार किया है।

पूर्वाचार्यों ने इस विषय पर बहुत कुछ विस्तार पूर्वक कहा है, तो फिर इस ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक व्याख्या की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में टीकाकार कहते हैं कि संपूर्ण दोष रहित, वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित अर्थ को सप्त ऋद्धि संपन्न, श्रुत-केवली गणधर देव द्वारा रचना की हुई शब्द माला श्रुत अथवा शास्त्र, ग्रन्थ, आगम इत्यादि नाम से संबोधित किया गया है। तदनुसार टीकाकार इस ग्रन्थ में गणधर देव द्वारा कथित सूत्र का लक्षण अज्ञानी भव्य जीवों को ठीक बोध कराने के लिए एवं सच्चे वीतराग धर्म की प्राप्ति कराके अनादि कालीन शत्रुओं का नाश करने के लिए कथन करते हैं:—

गाथा—सुत्तं* गणधर कहियं, तहि पत्तेय बुद्ध कहियं च।
सुद केवलिणा कहियं, अभिन्न दस पुव्व कहियं च ॥

---

* अरहंत भासियत्थं गणहर देवेहिं गंथियं सम्मं।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥

"अरहंत भासियत्थं" अरहंत अर्हद्भिस्तीर्थंकर परमदेवैर्भाषितोऽर्थः सूत्र भवति । गणधर देवेहिं गंथियं सम्मं ॥ गणधरदेवैश्चतुर्भिर्ज्ञानैः संपूर्णैरष्ट महासिद्धिसहितैस्तीर्थंकरयुवराजैः गंथियं—पदैः रचितं, सम्मं सम्यक् पूर्वापर विरोध रहितं शास्त्रं सूत्रं भवति । "सुत्तत्थमग्गणत्थं" सूत्रार्थमार्गणं सूत्रार्थविचारः सोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् सूत्रे तत्सूत्रार्थमार्गणार्थं । तेन शुक्ल ध्यान द्वयं भवति । तेन 'सवणां साहंति परमत्थं" सूत्रार्थेन श्रवणाः सद्दृष्टयो दिगंबराः परमार्थं मोक्षं साधयंति—आत्मवशे कुर्वंति तेन कारणेन सूत्रं मोक्ष हेतु रिति भावार्थः ॥

अर्थ—गणधर देव, प्रत्येक बुद्ध, श्रुत केवली, संभिन्न दस पूर्व धारी इत्यादि चार प्रकार के पूर्व धारियों द्वारा कहा हुआ आगम सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

यह सूत्र गणधर देवों के द्वारा सूचित किया गया है और यह सूत्र परम्परा से धारा प्रवाह नदी की धारा के समान चला आया है । यह ज्ञान विज्ञान से परिपूर्ण है। ऐसी आचार्य परम्परा से संतान रूप परिपाटी चली आई है। सूत्र देखने में बहुत छोटा है परन्तु अर्थ में बड़ा गंभीर है। यह सूत्र अमृतमय छोटे कूप के समान है। जैसे अमृतमयी समुद्र में प्रवेश कर वहाँ से घट के द्वारा अमृत भर लाते हैं। उसी प्रकार भगवान् की वाणी रूपी समुद्र में प्रवेश कर भक्ति रूपी घट के द्वारा अमृतमय उपदेश को पिलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

अल्पाक्षर मसंसिद्धं, सारवद् गूढ निर्णयं।
निर्दोषहेतुमत्ततत्थं, सूत्र मित्युच्यते बुधैः॥

अर्थ—आचार्यों ने सूत्र का लक्षण बताया है जिसमें अल्प अक्षर हों, जो असंदिग्ध हो, जिसमें सार अर्थात् निचोड़ भर दिया हो, जिसमें रहस्य भरा हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो और तथ्यभूत हो, उसे विद्वान् जन सूत्र कहते हैं।

प्रश्न—यह सम्पूर्ण सूत्र लक्षण तो जिनदेव के मुख कमल से निकले हुए अर्थ पद में ही संभव है। गणधर के मुख से निकली हुई ग्रन्थ रचना में नहीं, क्योंकि उनमें महा परिमाण पाया जाता है।

समाधान—नहीं; क्योंकि गणधर के वचन भी सूत्र के समान होते हैं। इसलिए उन की ग्रन्थ रचना में भी सूत्रत्व के प्रति कोई विरोध नहीं आता है । अर्थात् सूत्र के समान होने के कारण गणधर की द्वादशांग रूप ग्रन्थ रचना भी सूत्र कही जा सकती है।

विशेष—आचार्य वीरसैन स्वामी 'अल्पाक्षर मसंदिग्धं' इत्यादि रूप से सूत्र का

अर्थ—भगवान अर्हन्त देव के द्वारा दिव्य ध्वनि प्रकट हुई। परम ऋषि गौतम गणधरदेव के द्वारा आगम की सूत्र रूप में रचना हुई । अर्थात् परमागम को उन्होंने गूंथ कर अंग और पूर्वों की रचना की।

भली प्रकार पूर्वापर विरोध रहित भगवान गौतम गणधर द्वारा रचे गये शास्त्र सूत्र कहलाते हैं। सूत्र में गभीर अर्थ और अल्पाक्षर होते हैं। सूत्र में सभी द्रव्यों की व्यवस्था होती है । सूत्र के अध्ययन से शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होती है। सूत्र के द्वारा परमार्थ की सिद्धि करते हैं। सूत्र के पठन-पाठन से दिगम्बर साधु मोक्ष की सिद्धी करते हैं। आत्म सिद्धि और निर्वाण की प्राप्ति का मुख्य कारण सूत्र ही है। इसलिए सूत्र ही मोक्ष का साधन है।

लक्षण कहकर तदनुसार तीर्थंकर मुख से निकले हुए बीज पदों को सूत्र कहते हैं। और सूत्र के द्वारा गणधर देव में उत्पन्न होने वाले ज्ञान को सूत्र सम कहा है । जिनदेव के मुख से निकले हुए बीज पद सूत्र हैं। तथा गणधर आदि के वचन उनके समान होने से सूत्र सम हैं। इसी प्रकार प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली, अभिन्न दश पूर्वधारी; तथा महान् ऋषियों की वाणी सूत्र रूप में कही जाती है।

सूत्र में अल्पाक्षर होते हुए महान सार गर्भित होता है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। जो अल्पाक्षर वाला, सार भूत, गंभीर तत्त्व से भरा हुआ, निर्दोष हेतु से सिद्ध होता है। उसे विद्वानों ने सूत्र कहा है।

उसकी गहराई को जानना सहज नहीं है। इसलिए अज्ञानी लोग इस सूत्र का गूढ़ अर्थ न जानकर यद्वातद्वा करके अपनी बुद्धि से अथवा ठीक ज्ञान से रहित होने के कारण इसका अर्थ न्यूनाधिक स्वर व्यंजन पद से रहित लक्षण युक्त अर्थ को लगाकर निर्दोष आगम या सूत्र मान बैठे हैं।

यदि इसी को आगम मानेंगे अर्थात् विवक्षित असत्यार्थ को सत्यार्थ, पूर्वापर विरुद्ध को पूर्वापर अविरुद्ध मानकर अपने मन के अनुकूल कल्पित वाक्यों को सूत्र मानेंगे। उन्हें आगम का वंचक ही समझना चाहिए। किन्तु प्रश्न यह है कि उन्हें कौन सत्पुरुष कहेगा ? उत्तर कोई नहीं। यदि इसे आगम मानें तो इस आगम के कर्ता तथा आगम के मानने वाले दोनों ही भगवान् के निर्दोष आगम को लाँछन लगाने वाले समझना चाहिए।

प्रमाणिक पुरुषों के द्वारा कहे हुए उपदेश से वंचित करना एवं उन्हीं महापुरुषों की परिपाटी के अनुसार कहने वाले सद्गुरुओं या आचार्यों द्वारा कहे उपदेश को मानकर और मन कल्पित उपदेश देने वाले सद्गुरुओं या आचार्यों द्वारा कहे हुए उपदेश को मानकर और मन कल्पित उपदेश देने वाले चरित्रधारी साधु भी हों, अथवा हजारों वर्ष के तपस्वी हों, व्रती भी हों। परन्तु इनके द्वारा किया गया विवेचन आगमानुकूल नहीं होगा। अर्थात आगम के प्रतिकूल होगा। अतः वह मानने योग्य नहीं है।

किसी भी धर्म का अनुयायी हो, परन्तु निर्दोष धर्म की परिपाटी को छोड़कर अहंकार, ममकार बुद्धि से मैंने इस ग्रन्थ की आगमानुकूल रचना की है। ऐसे अघटित घटनाओं द्वारा रचे हुए स्वेच्छाचारी ग्रन्थ का प्रचार करने वाले निर्दोष वीतराग भगवान के द्वारा कथित उपदेश का तिरस्कार करके अपने माने हुए कुआगम को ही जो शास्त्र मानते हैं। और वंचित पुरुषों को अपना इष्टदेव समझते हैं। उनका विश्वास है कि हमारे द्वारा प्रतिपादित मार्ग ही श्रेयष्कर है। और जो मार्ग हमने नियत किया है। वही ठीक है।

तत्थ कत्ता दुविहो, अत्थकत्ता गंथ कत्ता चेदि। तत्थ अत्थ कत्ता दव्वा-दीहि चउहि परुविज्जदि।

कर्ता के दो भेद हैं, अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता। इनमें से अर्थकर्ता का द्रव्यादिक चार द्वारों के द्वारा निरूपण किया जाता है। उनमें से पहले द्रव्य की अपेक्षा अर्थ कर्ता का निरूपण करते हैं।

इसके सिवाय कुछ ऐसे भी ग्रन्थकार हैं जो अन्य किसी मार्ग को ठीक समझते हुए भगवान् वीतराग अर्हन्त के कहे हुए मार्ग का भी जो सन्मान करते हैं, वे निर्भय होकर निरंकुश मदोन्मत्त हस्तीवत आचरण करते हैं। तथा अपने मतावलम्बियों को भी बलात्कार के द्वारा कपोल कल्पित उपदेश के द्वारा जीवों को अधोगति में डालकर संसार भ्रमण का कारण बताते हैं।

भावार्थ— जो मनुष्य भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए सूत्र, पद, व्यंजन, अर्थात् अर्थ पद व्यञ्जन पद, अल्पाक्षर गूढाक्षर को निर्दोष पूर्वक या विरोध रहित अपनी बुद्धि से बार-बार विचार करके और जैसे वीतराग भगवान् का वाक्य है। उसके अनुसार तथा प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान में बाधा न हो। सारासार विचार करके तथा जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए अहिंसा धर्म में बाधा न हो। इस तरह सत्य स्वरूप को छोड़कर आगम के अनुकूल न चलकर इसके विपरीत पर अनुगृह बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया हुआ आगम जो छोटा हो या बड़ा हो, उसको आगम प्रमाण मानकर उपदेश ग्रहण करके बाह्य आचरण वाले होते हैं। वे अनन्त दीर्घ संसारी बन जाते हैं। और दूसरों को भी बना देते हैं। यह सभी आज-कलके कलियुग का महत्व है, इसलिए मन माने ग्रन्थ की रचना या आगम के विरुद्ध प्रचार, गुरु प्रति द्वेष, तथा अपनी ख्याति व पूजादि लाभ चाहने वाले कभी संसार से मुक्त नहीं हो सकते † अर्थात् उन्हें दीर्घ संसारी समझो।

---

† आजकलके भौतिक वादियों के अन्दर नास्तिक बुद्धि का होना या कालका ही प्रभाव समझना चाहिये। कहा भी है कि:—

धर्मः प्रव्रजितः तपः, प्रचलितं सत्यंच दूरे गतं।
पृथ्विमंद फला नृपाः, कपटिनो लौल्यं गता ब्राह्मणाः॥
नारी यौवन गर्विता पररताः, पुत्राः पितुर्द्वेषिणः।
साधुः सीदति दुर्जनः, प्रभवति प्रायः प्रविष्टे कलौ॥१॥

अर्थ—इस कलिकाल में धर्म चला गया, तप चलित हो गया, सत्यता निकल गई, पृथ्वी मंद फल देने लगी, राजा लोग कपटी हो गये। ब्राह्मण लोग लोभी होकर आचरण से भ्रष्ट हुए, स्त्रियों

परानुग्रह बुद्धि के द्वारा मानी हुई जो मन कल्पित आगम को आज काल के भौतिक वैज्ञानिक लोग स्वपर उपदेश का मार्ग को न जानकर सच्चे धर्म में अधर्म की कल्पना, भोग में त्याग की कल्पना, अचारित्र में चारित्र की कल्पना, कल्पित मार्ग में सन्मार्ग की कल्पना, अबुद्धि में बुद्धि, अप्रमाण में प्रमाण, कुशास्त्र में सच्छास्त्र की कल्पना, अदेव में निर्दोष देव की कल्पना, और सदोष में निर्दोष की कल्पना करके वाह्य आचरण की पुष्टी कर के केवल मन और इन्द्रियों को रिझाने वाला, मिथ्यात्व पोषक, निर्दोष वीतराग भगवान् के आगम से विपरीत वाणी का कथन करके संसारी प्राणी को माया जाल में भ्रमण कराते हैं।

इसलिये इस दोष को दूर कर निर्दोष देव का स्वरूप, निर्दोष आगम का स्वरूप का वर्णन करनेके लिये और अन्य वादियों के मार्ग को विस्तार पूर्वक समझाने के लिये अपने मंगलनिमित्त इष्ट देव को नमस्कार किया है।

इष्टदेव कौन है? और अनिष्ट देव कौन है? ऐसा प्रश्न होने पर वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र देव ही सच्चे देव हैं।

वीतराग कौन है? ऐसा प्रश्न होने पर सच्चे देव के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मरूपी घातिया कर्मों को अर्थात् ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का नाश करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य और अनन्त सुख स्वरूप अनन्त चतुष्टय को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है। १८ दोषों को जिन्होंने नष्ट कर दिया है। और जिनका आवागमन नष्ट हो गया है। जिन्होंने अखंड, अविनाशी, शुद्ध परमात्म पदवी को प्राप्त कर लिया है। और जिन के रागद्वेष का रंचमात्र भी अंश नहीं है। ऐसे सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी गुण-कर मंडित देवाधिदेव अर्हन्त ही सच्चे देव हैं। और वही ईश्वर हैं कहा भी है, उक्तंच—

विष्णुर्वा त्रिपुरांत को भवतुवा, ब्रह्मा वा सुरेन्द्रोऽथवा।
भानुर्वा शश लक्षणोऽथ भगवान् बुद्धोऽथ सिद्धोऽथवा।
रागद्वेष विषार्ति मोहरहितः, सत्वानुकंपोद्यतो।
यः सर्वैः सह संस्कृतो, गुण गणैस्तस्मै नमः सर्वदा।

में यौवन का गर्व आ गया। और अपनी शक्ति से रहित होकर पर पुरुष रत हो गई। पुत्र पिता का द्वेषी हो गये। साधु को दुर्जन लोगों के द्वारा साधुओं पर उपसर्ग या छल करने लगे, दुर्जन सुखी, धर्मात्मा दुःखी, इस प्रकार सभी बातें होना यह कलिकाल का महात्म्य है।

अर्थः—विष्णु, शंकर, यमराज, ब्रह्मा, सुरेन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, भगवान् बुद्ध अथवा सिद्ध चाहे कोई भी क्यों न हों, परन्तु जो रागद्वेष रूपी विष, दुःख, मोह शोकादिक से रहित होकर सत्व अनुकम्पा आदि गुणों से सुसंस्कृत है ऐसे सद्गुण सम्पन्न वीतराग भगवान को सदा नमस्कार है।

भव बीजांकुर जलदा रागाद्याः, क्षय मुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनोवा नमस्तस्मै ॥

भव के बीज रूपी अंकुर को जलाकर जिसने रागादिक का क्षय कर दिया है वह चाहे ब्रह्मा हो चाहे विष्णु हो, रुद्र हो, जिन हो, अथवा शंकर हो उस के लिए नमस्कार हो। कहा भी है—

क्षुत्पिपासा जरातंक, जन्मान्तक भयस्मयाः।
न राग द्वेष मोहाश्च, यस्याप्तः सप्रकीर्त्यते ॥

क्षुधा (भूख), प्यास, जन्म, जरा, विस्मय, आरत, खेद, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, स्वेद, रागद्वेष, मरण ये १८ दोष हैं। इन १८ दोष कर रहित वीत-राग भगवान् होते हैं!

The defects are:—

Hunger, Thirst, Fear, Angar, Attachment, Debusion, Ansciety, Old, Age, Disease, Death, Perspiration, Fatigue, Pride, Indulgence Sleep, Birth and Restless ress.

पसीना, रज अर्थात् वाह्य कारणों से शरीर में उत्पन्न हुआ मल रक्त नेत्र और कटाक्ष रुप वाणों का छोड़ना आदि शरीर में होने वाले संपूर्ण दोषों से रहित, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभ नाराच संहनन, दिव्य सुगंध मयी सदैव योग्य प्रमाण रूप नख और रोमवाले, आभूषण आयुध, वस्त्र और भय रहित सौम्य मुख आदि से युक्त विशिष्ट शरीर को धारण करने वाले, देव मनुष्य तिर्यंच और अचेतन कृत चार प्रकार के उपसर्ग क्षुधा आदि बाईस परीषह, रागद्वेषादि कषाय और इन्द्रिय विषय आदि सम्पूर्ण दोषों से रहित एक योजना के भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषा समेत ऐसे तिर्यंच देव और मनुष्यों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली तथा न्यूनता और अधिकता से रहित मधुर, मनोहर, गंभीर और विशद ऐसी भाषा के सतिशय को प्राप्त भवन वासी, व्यन्तर ज्योतिष और कल्पवासी देवों के इन्द्रों ने विद्याधर चक्रवर्ती बलदेव, राजाधिराज महाराज, अर्धमण्डीलक, महा मण्डलीक राजाओं से इन्द्र, अग्नि,

वायु, भूत, सिंह, व्याल, देव तथा विद्याधर मनुष्य ऋषि, तिर्यंचों के इन्द्रों से पूजा के अतिशय को प्राप्त श्री भगवान महावीर अर्थकर्ता समझना चाहिए।

भगवान महावीर स्वामी के पश्चात् चार प्रकार के निर्मल ज्ञान युक्त वर्ण से ब्राह्मण गौतम गौत्री, सम्पूर्ण दुःश्रुति में पारंगत और जीव अजीव विषयक संदेह को दूर करने के लिए श्री वर्द्धमान के पादमूल में उपस्थित हुए ऐसे इन्द्रभूतिने अवधारण किया।

भगवान प्रथम गणधर इन्द्रभूति ने बारह अंग, चौदह पूर्व रूप ग्रन्थों की एक ही मुहूर्त्त में क्रम से रचना की तत्पश्चात् आचार्य परम्परा से आचार्य कुन्दकुन्द हुए उन्हीं की परम्परा में श्रीनेमिचन्द्र आचार्य हुए उन्होंने ही द्रव्य संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की।

जिस प्रकार समुद्र का पानी मेघ के द्वारा वर्षा होकर पृथ्वी को सींचता है और वही पानी किसी बर्तन में रख लिया जाय तो समुद्र का ही पानी कहलाता है ठीक इसी प्रकार भगवान महावीर स्वामी से कहा गया परमागम का तत्व ही आचार्य परम्परा से चला आया है उसी के आधार पर गाथा रूपमें छः द्रव्यों का स्वरूप नेमिचन्द्र आचार्य ने वर्णन किया है इसलिए वे ग्रन्थकर्ता है।

देव का स्वरूप तीन प्रकार है—

इष्ट देव, अधिकृत देव और अभिमत देव ऐसे तीन प्रकार देवों में शैवमत वालों को शिव इष्ट हैं, वैष्णवों को विष्णु इष्ट हैं। और बौद्धों को बुद्ध देव इष्ट हैं। तथा जैनियों को जिन देव इष्ट है।

फिर विचार करने की बात यह है कि सभी मत वाले अपने २ देव को इष्ट मानते हैं। अर्थात् किसी मत वाले को अपने देव के सिवाय अन्य देव इष्ट नहीं है।

जैनधर्म के मानने वाले जैन वीतराग जिनेन्द्र देव को ही धर्म प्रवर्तक मानते हैं। और हम अन्य वादी अपने माने हुए देवताओं को धर्म प्रवर्तक मानते हैं। कहा भी है—

सांख्य सौगत चार्वाक योग मीमांसकार्हताः।
या माराध्य महियन्ते, सा मा पातु सरस्वती ॥

अथ—सांख्य, सोगत, चार्वाक, योग, मीमांसक और जैन जिस की आराधना करने से इस पृथ्वी में निर्विघ्न विद्या को प्राप्त करते हैं। जो बुद्धि को देने वाली है और अज्ञान का नाश करने वाली है, वह सरस्वती मेरी रक्षा करे। मेरा ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो। इस प्रकार अन्यवादियों को भी स्तुति करते देखते हैं।

जैसे हमारे सिद्धान्त ग्रन्थ जिस जिस तीर्थ काल में तीर्थंकर हुए हैं और उन्हीं की परम्परा के अनुसार बने, तीर्थंकरों के द्वारा दिव्यध्वनि प्रकट हुई उसी को गणधर देव ने झेलकर सूत्र रूप में गूंथा । तीर्थंकर जिन्होंने चार घातिया कर्मों को नाश कर निर्विकल्प समाधि को प्राप्त कर के केवलज्ञान प्राप्त कर बिना किसी पदार्थ की तथा इन्द्रिय की सहायता विश्व के सम्पूर्ण संसारी प्राणी मात्र को अपनी दिव्यवाणी से सन्मार्ग प्रदर्शन किया है इसलिए हम जिन भगवान की वाणी को प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी प्रकार की बाधा न आने के कारण प्रमाण मानते हैं क्योंकि अल्पज्ञ जीवों के द्वारा रचा गया शास्त्र प्रमाण नहीं मानते और तीर्थंकर द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध दशा को प्राप्त हुए सम्पूर्ण कर्मों का नाश करने के कारण जन्म जरा आदि रोगों से रहित प्राणी मात्र के हितैषी निष्पक्ष, हितोपदेशी एक साथ विश्व के पदार्थ को हस्त की रेखा के समान स्पष्ट देखने वाले भगवान् सर्वज्ञ कहलाते हैं । १८ दोषों से रहित होने के कारण वीतराग कहलाते हैं । क्योंकि उन्हें किसी देव से पक्षपात नहीं । जो विश्व की कल्याण करने वाला परम हितैषी वीतराग भगवान् हैं वही सच्चेदेव हैं ।

प्रश्न—जैन अपने देव को इष्ट मानकर अन्य देव को क्यों नहीं मानते हैं ? क्या उन देवताओं में सर्वज्ञादि गुण नहीं हैं ?

उत्तर—हमने सच्चे देव के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। सच्चे देव का स्वरूप—

यो विश्वं वेद वेद्यं, जनन जलनिधे र्भङ्गिनः पारदृश्वा ।
पूर्वापर्याविरुद्धं, वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयं ।
तं वन्दे साधु वन्द्यं, सकल गुण निधेर्ध्वस्तदोष द्विषद्यं ।
बुद्धं वा वर्धमानं, शतदल निलयं, केशवं वा शिवंवा ।

अर्थ—मैं उन सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी भगवान् को नमस्कार करता हूं जिनके ज्ञान में सारे संसार के पदार्थ, अनन्त द्रव्य और उनकी अनन्त पर्याय झलकतीं हैं। जिनके वचन प्रत्यक्ष और परोक्ष किसी प्रमाण से बांधे नहीं जा सकते। जिनके अनुपम और निष्कलंक बचन है। जिन्होंने सब दोषों को दूर कर दिया है। जो साधुओं द्वारा वन्दनीय है। तीनों गुणों कर सहित जो भगवान हैं हम उन्हें नमस्कार करते हैं। फिर चाहे बुद्ध, वर्धमान केशव अथवा शिव आदि किसी नाम से वे पुकारे जाते हों।

मंगलादि छः अधिकारों का विशेष व्याख्यान किया जाता है।

मंगल निमित्त हेऊ, परिमाणणाम तहय कत्तारं ।
वागरिय छप्पि पच्छा, वक्खाणउ सत्थ माइरियो ।।

आचार्य महाराज मंगल, निमित्त, हेतु परिमाण नाम और कर्ता इन छः अधिकार का व्याख्यान करने के पश्चात्, आचार्य शास्त्र का व्याख्यान करें।

विशेषार्थः—शास्त्र के प्रारम्भ में पहिले मंगलाचरण करना चाहिए। पीछे जिस निमित्त से शास्त्रकी रचना हुई हो उस निमित्त का वर्णन करना चाहिये। इसके बाद शास्त्र रचने का प्रत्यक्ष और परम्परा हेतु का वर्णन करना चाहिए। अनन्तर शास्त्र का प्रमाण बताना चाहिये। फिर ग्रन्थ का नाम और आम्नाय क्रम से उसके मूल कर्ता और परम्परा कर्ताओं का उल्लेख करना चाहिए। इसके पश्चात् ग्रन्थ का व्याख्यान करना उचित है। ग्रन्थ रचना का यह कार्यक्रम आचार्य परम्परासे चला आ रहा है। और इस ग्रन्थ में भी इसी परम्परा से व्याख्यान किया गया है।

प्रथम मंगलशब्द के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं—

आदौ मध्येऽवसाने च, मंगलं भाषितं बुधैः।
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं, तदविघ्न प्रसिद्धये ।।

अर्थः—बुद्धिमान पुरुषों ने कहा है कि आदि मध्य तथा अन्त में मंगल करना चाहिए। जिससे विघ्नों का नाश हो। वह मंगल श्री जिनेन्द्र के गुणों का स्तोत्र है। और कहा भी है—

विघ्ना प्रणश्यन्ति भयं न जातु, न दुष्ट देवाः परिलंघयन्ति ।
अर्थान्य यथेष्टांश्च सदा लभन्ते, जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ।।

भावार्थः—श्री जिनेन्द्र देव के गुण ज्ञान करने से विघ्नों का नाश होता है। कभी भय नहीं लगता है। न नीच देव उल्लंघन करते है तथा इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। मंगल करने का प्रयोजनः—

नास्तिक्य परिहारस्तु, शिष्टाचार प्रपालनम् ।
पुण्यवाप्तिश्च निर्विघ्नं, शास्त्रादौ तेन सस्तुतिः ।।

भावार्थः—नास्तिकपने को दूर करने के लिये अर्थात् ग्रन्थकर्ता आस्तिक हैं यह बताने के लिये, शिष्टाचार जो परम्परा से चला आया है। विनय भाव का पालन करने के लिये पुण्य की प्राप्ति तथा विघ्नों का नाश करने के लिए मंगल करना चाहिये।

मंगल शब्द का प्रथम धातु, निक्षेप, नय एकार्थ निरुक्ति, और अनुयोग के द्वारा मंगल शब्द का निरूपण करते हैं,—

उनमें भू धातु सत्ता अर्थ में है इसको आदि लेकर समस्त अर्थ वाचक शब्दों की जो मूल कारण है उन्हें धातु कहते हैं। उनमें से मंगि धातु से मंगल शब्द निष्पन्न हुआ है। अर्थात् मंगि धातु से अचल प्रत्यक्ष जोड़ देने से पर मंगल शब्द बन जाता है।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव के भेद से मंगल चार प्रकार के हैं।
अब गौण मंगल को कहते हैं—

सिद्धत्थ पुरणा कुम्भो, वंदण माला य भंगलं छत्तं।
सेदो वरणो आदस्स, णोय कएणा य जचस्सो॥ १॥

वयणिय मसंजम गुणेहिं साहिदो जिनवरे हि परमट्ठो।
सिद्धा सएणा जेसिं, सिद्धत्था मंगलं तेण॥ २॥

पुएणा मणो रहहिं, केवलणाणेण चावि संपुएणा।
अरहंता इदि लोए, सुमंगलं पुएण कम्भो दु॥ ३॥

णिग्गमण पवेसम्हिय इह, चउवीसंपि वंदणिज्जाते।
वंदणमालत्ति कया भरहेण य, मंगल तेण॥ ४॥

सव्वजणं णिव्वुदियरा, छत्तायारा जगस्स-अरहंता।
छत्तायारं सिद्धित्तिं, मंगलं तेण छत्तंथं॥ ५॥

सेदो वएणो ज्झाणं लेस्सा य अघाइ सेस कम्मं च।
अरुहाणं इदिलोए सुमंगलं सेद वएणो दु॥ ६॥

दीसइ लोया लोओ, केवलणाणे तहा जिणिंदस्स।
तह दीसइ मुकुरे; विबु मंगलं तेण तं मुणह॥ ७॥

जह वीयराय सव्वएहु जिणवरो मंगलं हवइलोए।
हयराय बालकएणा तहं मंगलमिदि वियाणाहि॥ ८॥

कम्मारि जिणेवरेहिं, मोक्खु जिणाहिविजेण।
जं जच्चस्स अरिवलजिणइ, मंगलु वुच्चइ तेण॥ ९॥

भावार्थः—सिद्धार्थ, पूर्ण कुम्भ, बन्दनमाला, श्वेतछत्र, श्वेतवर्ण दर्पण, राजा, कन्या और जयपना। जिनवरों ने व्रत नियम संयमादि गुणों के द्वारा परमार्थ साधन किया

है। और जिनकी सिद्ध संज्ञा है इस लिये वे सिद्धार्थ मंगल है। जो सर्व मनोरथों से और केवल ज्ञान से पूर्ण है। ऐसे अरहन्त इस लोक में पूर्ण कुम्भ मंगल हैं।

भरत चक्री कृत वन्दन माला में किस द्वार से निकलते था प्रवेश होते जो चौबीस तीर्थंकर वन्दनीय हो जाते हैं इसलिए वन्दनमाला को मंगल कहा है। जग के प्राणियों के लिए अरहन्त भगवान् सुख के कर्त्ता है। छत्र के समान रक्षक है, इसलिए श्वेत छत्र को मंगल कहा है। और जिनके चार अघातिया कर्म शेष हैं ऐसे अरहन्तों को श्वेत वर्ण मंगल कहा है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकता है वैसे जिनेन्द्र के केवल ज्ञान में लोक अलोक दिखता है। इसलिये आदर्श मंगल है। जैसे वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र मंगल रूप है। वैसे जगत् में राजा और बाल कन्या को भी मंगल जानना चाहिए। जिन्होंने कर्म शत्रुओं को जीतकर मोक्ष प्राप्त कर ली है ऐसे चारों घातिया रूपी शत्रु के दल को जीतने से जयरूप मंगल है।

अथवा मंगल २ प्रकार का है। (१) एक निबद्ध मंगल (२) अनिबद्ध मंगल।

जो मंगल उस श्री ग्रन्थकार ने किया हो वह निबद्ध मंगल है। जैसे "मोक्ष मार्गस्य नेत्तारम्" इत्यादि जो दूसरे ग्रन्थ से लाकर नमस्कार किया गया हो वह अनिबद्ध मंगल है। जैसे "जगतत्रितयनाथस्य।"

जो मन का पालन करे, विनाश करे, घात करे, नाश करे उसे मंगल कहते हैं।

जो मल का गालन करे, विनाश करे, घात करे, नाश करे उसे मंगल कहते हैं। द्रव्य मल और भावमल के भेद से वह मल दो प्रकार का है। ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म द्रव्यमल हैं। अज्ञान और अदर्शन आदि परिणामों को भाव मल कहते हैं।

अथवा मंगिशब्द सुखवाची है उसे जो लावे प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं। मंगल शब्द पुण्यरूप अर्थ का प्रतिपादन करने वाला है उस पुण्य को जो लाता है उसे मंगल के इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं।

उपचार से पाप को भी मल कहा है। इसलिए उसका जो गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डित जन मंगल कहते हैं।

भगवान् ने जिन स्थानों से मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्त किया है वे कर्मक्षय के स्थान सम्मेदशिखर, कैलाश, गिरनार, शत्रुञ्जय आदि स्थान क्षेत्र मङ्गल हैं। क्योंकि भगवान् ने इन स्थानों पर कर्म का क्षय किया है। इसलिये क्षेत्र मंगल करना भी आवश्यक है।

किसी काल में घातिया कर्मों को नष्ट करके केवल ज्ञान की प्राप्ति करना अघातिया कर्मों को नाश करके निर्वाण प्राप्त करना वह समय काल मंगल है। जैसे वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण की तिथि दीपावली आदि।

भावनामंगल—भगवान् के सम्पूर्ण केवल ज्ञान आदि गुणों का स्मरण करना भावना मंगल है।

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः, स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः, फलं नैश्रेयसं सुखम् ॥

स्तुति, स्तोता, स्तुत्य और स्तुति का फल ये चार बातें हैं। स्तुति का मार्ग ही सरल सिद्धि का मार्ग है।

स्तुति—महान् पुरुषों के गुणों का स्मरण करना स्तुति है।

स्तोता—भक्ति भावना से भरा हुआ भव्य पुरुष स्तोता है। जिन पवित्र स्तोत्रों द्वारा प्रभु की स्तुति की जाती है वे प्रभु अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और सर्व-साधु ये पांच परमेष्ठी स्तुत्य हैं इन की स्तुति करनी चाहिये।

और स्तुति का फल—अभ्युदय और निश्रेयस दोनों ही स्तुति के फल हैं।

शास्त्र के आदि में किसी प्रयोजन के वश जो मंगल किया जाता है। वह नित्य, नैमित्तक के भेद से दो प्रकार का है।

ग्रन्थ की आदि में जो मंगल है वह विशेष मंगल है। क्योंकि विशेष निमित्त को कहा गया है।

मंगल का प्रयोजन मुख्यहेतु ग्रन्थ का निर्माण है। परोक्ष पापों का नाश करता है।

मंगल प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है—

प्रत्यक्ष ग्रन्थ के आदि में जो भगवान् का नाम स्मरण हैं। वह प्रत्यक्ष मङ्गलाचरण परोक्ष मङ्गलाचरण ग्रन्थ की आदि में केवल मौखिक के रूप से नाम स्मरण कर लिया। साक्षात् प्रत्यक्ष परम्परा के भेद से दो प्रकार का है।

इस ग्रन्थ को जानते, अभ्यास करते, पढ़ते समय ज्ञान की उत्पत्ति होती है। साक्षात् फल ज्ञान की उत्पत्ति होती है। और परोक्षफल केवल ज्ञान की प्राप्ति मङ्गला-चरण का मुख्य प्रयोजन है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव इन छै प्रकार से मङ्गल किया जाता है।

पंच परमेष्ठी का नाम ग्रंथ के आदि में स्मरण किया जाता है। क्योंकि पंच परमेष्ठी आराध्य हैं। जीवों के लिए मङ्गलीक हैं। सुख के निधान हैं।

व्याख्याता और श्रोता निरामय निर्द्वन्द हो कर शास्त्र का अध्ययन करें। और शास्त्र के अध्ययन का लाभ दोनों को मिले। श्रोता इसी उद्देश्य से ग्रंथ को सुनता है कि

मेरे अज्ञान का नाश हो इसलिए निर्द्वन्द होकर चित्त लगा कर शास्त्र का अध्ययन करता है।

(१) कुम्भ कलश से अभिप्राय वीतराग देवाधिदेव शान्त रस को देने वाले पूर्ण केवल ज्ञान को प्राप्त हुए वीतराग भगवान् का चिह्न कुम्भ कलश के नाम से स्मरण किया जाता है। इसलिये कुम्भ कलश से भगवान् के वीतराग दशा का ज्ञान कराया है। उसी की प्राप्ति के लिए त्रिलोकेश्वर की स्तुति करने से ही मङ्गलाचरण हो जाता है। और विशिष्ठ शब्दादि होने के करण स्वाध्याय आदि सभी विषय मङ्गल शब्द में आ जाते हैं।

क्योंकि उत्तम शब्दों का उच्चारण ही मङ्गलरूप ही है।

सिद्धि वृद्धि जयो वृद्धि, राज पुष्टि तथैवच ।
एकारक्य शब्दस्य, ओकारश्चाथ शब्दस्य नांदि मंगलवाचिका ॥

इस प्रकार मङ्गल शब्द वाचक ये हैं। मङ्गल शब्द कहने से मुख्य मङ्गल प्रगट होता है।

अपाय प्राप्ति वाक्छुजाली, हास्य इकात्मनं ।
प्रवरयति ख्यातानि, जिनस्यातिशयतिइमे ।

इस प्रकार कहे हुए परमातिशय अष्टक कहने से अतरंग चतुष्टय से युक्त देवाधिदेव अरहन्त परमेश्वर भगवान् केवल ही परम मङ्गल रूप है। वही इस चिह्न से भगवान् के गुणों का स्तवन प्रगट करना होता है।

यहाँ पर उपचार से शब्दों को मङ्गल कहा है वास्तव में श्री जिनेन्द्रदेव ही मङ्गल रूप है।

उपदेश सिद्धार्थ पूर्ण कलश, अक्षत पुष्प हारादि ये मङ्गल शब्द रूप हैं। ये भगवान् के चिह्न हैं इन को अन्तरंग में लाकर ये भी मङ्गल रूप है । इस लिये इनको भी मङ्गल कहा है।

अर्हद् गुण स्तोत्रं, तन्मुख्यां मंगलं मतं ।
अमुख्य तद्‌गुणोपायाद् पूर्ण कुम्भादि लौकिकं ॥
प्रधानं मंगलं प्राहु सूरियोरद् गुण स्तवं ।
विघ्नान् नाशयितु सदा चरित मन्वाधिष्टितु ।
चाथवा नास्तिक्य परिहारितुमभ्युदय संप्राप्ति परमं कारणं ।

पुण्य चार्जियितुं विशुद्ध मतिभिः, पूर्वोपकाराय वा।
शास्त्रादौ क्रियते जिनेन्द्र नमनं मुख्यं परं मंगलं।

विघ्नों का नाश करने के लिए और पुन्य की प्राप्ति के लिए मङ्गल करना चाहिए।

मङ्गशब्दोऽय मुद्दिष्टः, पुण्यार्थस्याभि धायकाः।
तल्लात्युच्यते सद्भिः, मङ्गलं मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः।

इस श्लोकसे मङ्गल शब्द की निरुक्ति बताई है। क्योंकि मल शब्द का दुरित कल्मष पाप आदि शब्द एकार्थ वाची शब्द है। और पापको नष्ट करने वाला है—

मलं पापमिति प्रोक्तं, मुपचार समा श्रयाद।
तद्धि गालयिंतु, मङ्गलं पण्डितै र्जनैः।

इस प्रकार भगवान जिनेन्द्र देवकी स्तुति ही मङ्गल रूप है निर्मल भक्ति पूर्वक मन वचन और काया से उनको किया गया नमस्कार अनन्त सुखकी प्राप्ति का कारण है। भगवान जिनेन्द्र के अमृतमयी उपदेश के द्वारा जीव सन्मार्ग में प्रवृत्त हो, वे कल्याणकारिणी बुद्धि को प्राप्त कर सुख के मार्ग में लगे इसी उद्देश्यको लक्ष्य करके ग्रन्थकारने मङ्गलाचरण किया है—

अभिमत फल सिद्धेः रभ्युपाय सुबोधः।
प्रभवति सच शास्त्रात्, तस्य चोत्पत्ति राप्तात्।
इति भवति सपूज्य त्वदप्रसादात्प्रबुद्धैः।
नहिकृत मुपकारं, साधवो विस्मरंति।

इस कहे हुए न्यायके अनुसार सत्पुरुषों के किये हुए उपकार को हृदय से स्वीकार किया है।

श्लोक—प्रथम वयसिपीतं, तोयमल्पं सुरन्तं।
शिरसि नियतभारः, नालिकेरा नराणम्।
उदक ममृत तुल्यं, दध्यु राजीव तान्तं।
नहि कृत मुपकारं, साधवो विस्मरंति।

परम आराध्य श्री जिनेन्द्र देवको नमस्कार किया है। क्योंकि जिन आचार्यों ने लोक कल्याण और आत्म तत्व का उपदेश दिया है उनके किए हुए उपकार को सज्जन पुरुष कभी नहीं भूलते। क्योंकि वे जानते हैं आचार्य और गुरुओं की वाणी सन्मार्ग देने वाली है।

चार प्रकार की आराधना की प्राप्ति के लिए तीर्थंकरों को नमस्कार किया। क्योंकि जो पुरुष भगवान को नमस्कार करता है उसके हृदय में दृढ़ता प्राप्त हो जाती है।

इसलिए इनके कथन से प्राणी मात्र के कल्याण में किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

(२) बन्दनमाला—तोरण द्वार चौबीस तीर्थंकरों की रत्नत्रय प्रतिया जो पंचरत्नों वाली प्रतिमाओं का समूह के रूपमें मानी गई है। अर्थात् चौबीस तीर्थंकरों की पदवी अर्हन्त या तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो सम्पूर्ण प्राणीमात्र के लिए अतिशय और मोक्षपदवी प्राप्ति के लिए जो भगवान की बन्दन माला है वह भी मङ्गल रूप है।

इसलिए बन्दनमाला को माङ्गलीक द्रव्य रूपमें स्वीकार किया है।

(३) तोरण बन्दन—को भी माङ्गलीक द्रव्यों में स्वीकार किया है। क्योंकि वह भी भगवान के अनंत गुणों की स्मृति और पूर्ण केवलज्ञान दशा की स्मृति के लिए ही तोरण बन्दन बांधा जाता है।

(४) धवल पत्र—सम्पूर्ण कर्मों से रहित, सिद्ध पंचमेष्ठी, लोकाग्र शिखर पर ईषत्प्राग्भार जो अष्टमभूमि पर विराजमान हैं। अर्थात् उसे जिन्होंने प्राप्त कर लिया है। तीन लोक की प्रभुता को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है जो तीन लोक के शिखर पर विराजमान हैं। इसलिए धवल छत्र भी एकदेश मङ्गल स्वरूप है।

(५) श्वेतवर्ण--अनेक सुगंधित पुष्प भगवान पूजा के योग्य होने के कारण माङ्गलीक द्रव्य है। पुष्प कामदेव का नाम है। और भगवान ने कामदेव को जीत लिया है इसलिए श्वेतवर्ण को भी माङ्गलीक द्रव्य स्वीकार कर लिया है।

(६) दर्पण--भी माङ्गलीक द्रव्य हैं क्योंकि भगवान ने अपनी आत्मा में तीनों लोकों के पदार्थों की अनंत पर्याय को एक साथ दर्पण के समान अपने निज स्वरूप में देखा है।

इसलिए अष्ट कर्मों को नाश करके केवल ज्ञान प्राप्ति के स्वरूप दर्पण को माङ्गलीक द्रव्य कहा है। क्योंकि जिस प्रकार उसमें पदार्थ झलकते रहते हैं। ठीक उसी प्रकार भगवान के ज्ञान में सम्पूर्ण पदार्थ झलकते हैं।

जिनेन्द्रदेव ने व्रतादिके द्वारा परमार्थ को प्राप्त किया है। और उन्हें सिद्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई है। इसलिए लोक में सिद्धार्थ अर्थात् सरसों मङ्गल रूप से प्रसिद्ध हुआ। जिनेन्द्रदेव सम्पूर्ण मनोरथों से अथवा केवल ज्ञान से परिपूर्ण हैं। इसलिए कलश मङ्गल रूप प्रसिद्ध हुआ। बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौबीस तीर्थंकर ही वन्दना करने के योग्य है। इसलिए भरतचक्रवर्ती ने बन्दन माला की स्थापना की अरहन्त परमेष्ठी सभी जीवों का कल्याण करने वाले होने से जग के लिए छत्राकार हैं। अथवा सिद्ध लोक भी छत्राकार है। इसलिए छत्र मंगलरूप माना गया है। जिनेन्द्रदेव के केवल-

ज्ञान में जिस प्रकार लोक अलोक प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार दर्पण में भी अपना बिम्ब झलकता है। अतएव दर्पण मंगलरूप माना है। जिस प्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव लोक में मंगल रूप हैं उसी प्रकार बालकन्या भी रागभाव से रहित होने के कारण लोक में मंगल मानी गई है। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव ने कर्म शत्रुओं पर विजय पाई उसी प्रकार उत्तम जाति के घोड़े से भी शत्रु जीते जाते हैं। अतएव उत्तम जाति का घोड़ा मंगलरूप माना गया है।

जिस स्थान से तीर्थंकर भगवान् ने गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण पंच कल्याणों की प्राप्ति की है उस अतिशय और निर्वाण भूमि को क्षेत्र मंगल कहते हैं।

गिरनार, चम्पापुर, पावापुर, सम्मेदशिखर आदि क्षेत्र मंगल हैं। जिस काल में जीव केवल ज्ञानादि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। उसे पाप रूपी मल का गलाने वाला होने के कारण काल मंगल हैं। जिन महिमा सम्बन्धी कालको काल मंगल कहते हैं जैसे अष्टाह्निका पर्व।

वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं। वह आगम भाव मंगल और नो आगम भावमंगल के भेद से दो प्रकार का है।

कुमारी कन्या को भी मंगल कहा है—कन्या नवविध अखंडित पूर्ण ब्रह्मचय से युक्त होने के कारण उसे मंगलरूप कहा है। क्योंकि उसके मन में किसी प्रकार का विकार नहीं होता वह महामुनि के समान होने के कारण उस कन्या को भी मंगल रूप में स्वीकार किया है।

जन्म जात कन्या के समान जिसमें किसी प्रकार का विकार नहीं है। उसे भी एक देश मंगल रूप कहा है।

(८) अश्वरत्न—जैसे अश्व के ऊपर चढ़ा हुआ मनुष्य अपने इष्ट स्थान को पहुंच जाता है। ठीक इसी प्रकार संसारी भव्य जीव निश्रेयस और अभ्युदय दोनों मोक्ष और स्वर्ग की प्राप्ति का मुख्य कारण अहिंसा लक्षण रूप जो जिनेन्द्र भगवान का मंगलीक शासन है वही सुख का कारण है।

इसलिए घोड़े पर चढ़ा हुआ मनुष्य को भी एक देश मांगलीक रूप में कहा है। क्योंकि उसीके समान जिसके अन्तरंग में वीतराग शासन मौजूद हैं वह भी इष्ट स्थान की प्राप्ति कर लेता है।

पंचास्तिकाय की टीका में भी जयसैन आचार्य ने इन पदार्थों को मंगलरूप मानने में भिन्न भिन्न कारण दिये हैं।

भृंगार तालकलश ध्वज सुप्रतीक, श्वेतातपत्रदर्पणचामराणि ।
प्रत्येकमष्ट शतकानि विभांति यस्य, तस्मै नमस्त्रिभुवन प्रभवे जिनाय ॥

अर्थः—झारी, पंखा, कलश, ध्वज, घंटा, छत्र त्रय, श्रेष्ठ दर्पण, चामर, और एक से आठ मंगल द्रव्य ये सब त्रैलोक्यनाथ भगवान् जिनेन्द्र के समीप होते हैं। इसलिये ये सब मंगल रूप हैं।

निवद्ध मंगल—'जीवम जीवद्रव्यं' इस प्रकरण के शब्द के द्वारा जो मंगल किया जाता है उसे मंगल कहते हैं।

जगत् त्रितयनाथस्य, नमो जन्मप्रमाथिने ।
नय प्रमाण वागस्त्रि, ध्वस्तध्वान्ताय शान्तये ।

इस प्रकार जो आदि में जो नमस्कार किया है वह पूर्ण कुम्भादि कलश के समान मुख्य मंगल रूप में गर्भित होता है।

अन्य गाथा भी कहते हैं:—

सिद्धन्तर्ण कुम्भो वन्दन मालाय पंडरथ ।
सिद्धो वण्णा आदस नाय जं चं सो ।

यह भी मंगल रूप है। क्योंकि इस प्रकार मंगलाचरण करने से सिद्ध पद की प्राप्ति अष्टविध कर्मो को नष्ट करने के लिए मंगल करना चाहिये। इसलिए सिद्ध पद की प्राप्ति मंगल करने का मुख्य प्रयोजन है।

जिन्होंने सिद्ध पद की प्राप्ति करके कृत कृत्य हो गये हैं। उनके नाम के स्मरण करने से जीवों के अष्टकर्म नाश को प्राप्त होते हैं और उनकी स्तुति करने से सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

सम्बन्ध†, अभिधेय, और प्रयोजन का शास्त्र की आदि में अवश्य वर्णन करना चाहिए।

वक्ता, कथन, प्रयोजन आदि को देखकर ही श्रोता सुनने की रुचि करता है और वक्ता के वचनों में प्रमाणिकता मालूम होती है।

---

† प्रमेयकर्मल मार्तण्ड—सिद्धार्थं सिद्ध सम्बन्धं, श्रोतुः श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेनवक्तव्यः, संबंधः, स प्रयोजनः ॥१॥
सर्व स्यैव हि शास्त्रस्य, कर्मणो वापि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं, तावत्तत्केन गृह्यताम् ॥२॥

आविर्भूतानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यविरतिक्षायिकसम्यक्त्वदानलाभभोगोपभोगाद्यनन्तगुणत्वादि देवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फटिकमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्यबिम्बवद्देदीप्यमानाः स्वशरीर परिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्त विश्वरूपाः स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः निर्गताशेषामयत्वतो निरामयाः विगताशेषपापाञ्जनपुञ्जत्वेन निरञ्जनाःदोषकलातीतत्त्वतोनिष्कलाः । तेभ्योऽर्हद्भ्योनमः इति यावत् ।

णिद्दड्ढ-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण-सायरुत्तिण्णा ।
णिहय-णिय-विग्ध-वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला ।
दलिय-मयण,प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि ।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदड्ढ-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥
ति-रयण-तिसूलधारिय मोहंधासुर-कबंध-बिंद-हरा ।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त-वीर्य, अनन्त-विरति, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुये अनन्त गुण स्वरूप होने से जिन्होंने यहीं पर सिद्ध स्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिक मणि के पर्वत के मध्य से निकलते हुये सूर्य बिम्ब के समान जो देदीप्यमान हो रहे हैं, अपने शरीर प्रमाण होने पर भी जिन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण विश्व को प्राप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण प्रमेय रहने के कारण (प्रतिभासित होने से) जो विश्व रूपता को प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय अर्थात् रोगों के दूर हो जाने के कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पाप रूपी अंजन के समूह के नष्ट हो जाने से जो निरञ्जन हैं और दोषों की कलायें अर्थात् संपूर्ण दोषों से रहित होने के कारण जो निष्कलंक हैं, उन अरिहन्तों को नमस्कार हो ।

जिन्होंने मोह रूपी वृक्षों को जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञान रूपी समुद्र से उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकार की बाधाओं से रहित हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रताप को दलित कर दिया है, जिन्होंने तीनों कालों को विषय करने रूप तीन नेत्रों से सकल पदार्थों के सार को देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग और द्वेष को अच्छी तरह भस्म कर दिया है। जो मुनि व्रती अर्थात् दि० अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीन रत्नरूपी त्रिशूल को धारण कर के मोह रूपी

अन्धकासुर के कबन्ध वृन्द का हरण कर लिया है, जिन्होंने सम्पूर्ण आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुनय का अन्त कर दिया है, ऐसे अर्हन्त परमेष्ठी होते हैं।

क्योंकि आप्त का लक्षण है—

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥

नियम से जिनमें १८ दोष न हों अर्थात् जिन्होंने अपनी आत्मा से रागद्वेषादि १८ दोषों को दूर कर दिया हो। जो सर्वज्ञ हो जिनके ज्ञान में लोक अलोक पदार्थ सभी झलकते हों जिन्होंने कर्मों को नाश कर शुद्ध आत्मीक दशा को प्राप्त कर लिया है। और जो हितोपदेशी हैं। समस्त प्राणियों के लिए हित का कल्याण का उपदेश देते हैं। यह तीन गुण जिनमें पाये जांय वही सच्चा देव है यदि इसमें एक भी गुण कम हो तो वह आप्त परमात्मा कहलाने योग्य नहीं है।

भगवान् सर्वज्ञ होते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी आत्मा से ज्ञानावर्णादि कर्मों को और अज्ञान आदि दोषों को तपस्या के द्वारा नष्ट कर दिया है इसलिये उनके ज्ञान में संसार के सभी पदार्थ दर्पण के समान झलकते हैं।

दोषा वरणयोर्हानि निंशेषात्यंतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो वहिरन्तर्मलक्षयः॥

इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों की द्रव्य और पर्यायों को जो एक साथ जानते हैं।

सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा,
अनुमेयत्वतो ऽग्न्यादि रिति सर्वज्ञ संस्थितिः।

सूक्ष्म पदार्थ और आन्तरिक पदार्थ परमाणु आदि, दूर कालवर्ती रामचन्द्र आदि, दूर देशवर्ती हिमवन आदि, ये किसी न किसी के द्वारा प्रत्यक्ष हैं किसी न किसी ज्ञान के विषय हैं। क्योंकि यह अनुमेय हैं। और जो अनुमेय होते हैं वे अवश्य किसी ज्ञान के विषय होते हैं। समस्त संसार के पदार्थ ज्ञेय हैं वे किसी ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं। भगवान वीतराग देव ने समस्त घातिया कर्मों का नाश कर दिया है जिससे उनकी आत्मा में स्फटिक मणि के सदृश असाधारण निर्मलता आ गई है उससे विश्व के त्रिलोकवर्ती पदार्थ और उनकी अनन्त पर्याय तथा अनन्त गुण हाथ की रेखा के समान एक समय में झलकते हैं।

अन्य मीमांसक आदि जो सर्वज्ञ सिद्धि का निषेध करते हैं सो उचित नहीं है क्योंकि प्रतिबन्ध के दूर होने पर अवश्य ही आत्मा में समस्त पदार्थ एक साथ प्रकट होंगे। वह केवल ज्ञान रूपी ज्योति जयशील हो। जिसमें समस्त द्रव्यों के अनन्त गुण और अनन्त पर्याय एक साथ दृष्टिगोचर होते हैं। जिस प्रकार दर्पण में उसके आगे के समस्त पदार्थ झलकते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञान रूपी निर्मल दर्पण में समस्त विश्व के पदार्थ प्रकट होते हैं।

तज्जयति परं ज्योति, समं समस्तैरनंत पर्यायैः।
दर्पण तल एव सकला, प्रतिफलन्ति पदार्थ मालिका यत्र।

वीतराग और सर्वज्ञ गुणकर मण्डित होने से वीतराग की वाणी ही निर्दोष है। क्योंकि वह युक्ति शास्त्र से अविरोधी है। उनके कहे हुए वचनों में प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा किसी प्रकार विरोधी नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञ देव ही सच्चे हितोपदेशी हैं जैसे—

सत्वमेवासि निर्दोषो, युक्ति शास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।

भगवान की वाणी ही लोक कल्याणकारी है उससे ही जीव सन्मार्ग में प्रवर्त्त होते हैं।

जिन वयण मोसहमियं, विसह सुहं विरेयणं अमिदभूयं।
जर मरण वाहिहरणं, खय करणं सव्व दुक्खाणं।

भगवान जिनेन्द्र देव के वचन औषधि के समान हैं। और पंच इन्द्रियों के विषयों के विरेचन के लिए वीतराग भगवान की वाणी अमृत के समान है। उस दिव्य वाणी से जन्म, मरण रूपी व्याधियों का नाश होता है। विशेष क्या? वह अलौकिक वाणी संसारी जीवों के सभी दुःखों का क्षय करने वाली है।

श्री जिनेन्द्र देव, अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु मंगल रूप हैं। कल्याण मार्ग की सिद्धि पंच परमेष्ठी के प्रसाद से ही होती है। प्रसन्न भाव से देवाधिदेव की गई स्तुति हृदय में प्रसन्नता का कारण है। क्योंकि—

प्रसन्नेन मनसा अभिधीयमानो भगवानप्रसन्नाभिधीयते।

श्री जिनेन्द्र देव का नाम स्मरण, स्तुति वन्दना, गुणानुसार, पूजा आदि सभी पाप क्षय का कारण है और पुण्य वृद्धि का मुख्य हेतु है।

भगवान के स्तवन से संसारी प्राणियों के दुःख या विघ्न नाश को प्राप्त हो जाते हैं। उनकी स्तुति से इस प्रकार पापों का क्षय हो जाता है जिस प्रकार उदयाचल से सूर्योदय के होने से अंधकार नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार निर्दोष जिनेन्द्र देव की स्तुति से सम्पूर्ण होने वाले विघ्नादि संकट नाश होने में कोई शंका नहीं है। अर्थात् जिनेन्द्र स्तवन से जीवों के सभी विघ्न विनाश को अवश्य प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न—अरहन्त और सिद्धों को अलग २ नमस्कार क्यों किया ?

उत्तर—अरहन्त और सिद्धों में अनुजीवी गुणों की अपेक्षा में कोई अन्तर नहीं। प्रतिजीवी गुणों की अपेक्षा अन्तर है। परन्तु प्रतिजीवी गुण आत्मा के भाव स्वरूप धर्म न होने के कारण कोई विशेष अन्तर नहीं। सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा ही इन दोनों में भेद समझना चाहिए।

'णमो आइरियाणं'। पंचविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः। चतुर्दशविद्या स्थान पारगाः। एकादशांग पारगाः, आचारांग धरोवा, तात्कालिक स्वसमय परसमय पारगोः। वा मेरुरिव निश्चलो, क्षितिरिव सहिष्णो, सागरइव वहिर्क्षिप्रमलः सप्तभयवर्जिता एवं विधेभ्यः आचार्येभ्यो नमः।

आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार हो जो दर्शन ज्ञान चारित्र और तप और वीर्य पंच प्रकार आचारों का स्वयं पालन करते हैं और दूसरों को उसका पालन कराते हैं। चार प्रकार के अनुयोगों में निपुण हैं। जो चौदह विद्या स्थानों के पारंगत हों। ग्यारह अंग के धारी हों। अथवा आचारांग मात्र के धारी हों, अथवा तत्कालीन स्व-समय और पर समय में पारंगत हों। मेरु के समान निश्चल हों, पृथिवी के समान सहनशील हों, जिन्होंने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहिर फेंक दिया हो, और जो सात प्रकार के भय से रहित हों, उन्हें आचार्य कहते हैं।

प्रवचन रूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिन की बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं। जो मेरु पर्वत के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, जो सिंह के समान निर्भीक हैं। जो वर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं। देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं। सौम्यमूर्ति हैं। अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं। आकाश के समान निर्लेप हैं। ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात शिक्षा या प्राश्चिचित देने में

कुशल हैं, जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं। जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है। जो सारण, वारण और निषेध और साधन अर्थात् व्रतों की रक्षा करने वाली क्रियाओं में निरंतर उद्युक्त हैं। उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिये।

ऐसे आचार्यों को नमस्कार हो।

'णमो उवज्झायाणं' चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः, उपाध्यायाः, तात्कालिक प्रवचन व्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः, संग्रहानुग्रहादि गुणहीनाः,

चौद्दस पुव्व महोयहि महिगम्म, सिव त्थियो सिवत्थीणं।
सील'धराण वत्ता होइ, मुणीसो उवज्झायो॥

उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार हो। चौदह विद्यास्थान के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर पहले कहे गये आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं।

जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश कर के अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्ष मार्ग में स्थित हैं। तथा मोक्ष के इच्छुक शीलन्धरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं। उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। ऐसे उपाध्यायों को नमस्कार हो।

'णमो लोए सव्व साहूणं' अनन्त ज्ञानादिशुद्धा_त्म स्वरूपं साधयन्तीति साधवः, पंच महाव्रत धरास्त्रि गुप्ति गुप्ताः अष्टादश शीलसहस्र धराश्चतुर शीतिशत सहस्र गुणधराश्च साधवः।

सीह गय वसह मिय पसु, मारुद सूरु वहि मंदरिंदु मणि।
खिदि उरगंबर सरिसा, परम पय विमग्गया साहू।
सकल कर्म भूमि षूत्पन्नेभ्यस्त्रिकाल गोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः

'णमो लोए सव्वसाहूणं' लोक अर्थात् ढाई द्वीप वर्ती सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जो अनन्त ज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं। उन्हें साधु कहते हैं। जो पांच महाव्रतों को धारण करते हैं। तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं। अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं। और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं। वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग हो सब जगह बिना रुकावट के विचरने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्वों के प्रकाशन, उदधि अर्थात् सागर के समान गम्भीर, मन्दराचल, अर्थात् सुमेरु पर्वत के समान परीषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मार्ग के समान प्रभा पुञ्ज युक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकारकी बाधाओं को सहने वाले, उरग अर्थात् सर्व के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय वसतिका आदि में निवास करने वाले, अम्बर अर्थात् आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करनेवाले साधु होते हैं—

सम्पूर्ण कर्म भूमियों में उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओं को नमस्कार हो।

इसलिए ग्रन्थ के आदि में मङ्गल करना आवश्यक है।

अब गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन कहता हूँ और गाथा के उत्तरार्द्ध से मङ्गल के लिए इष्ट देवता को नमस्कार करता हूँ। इस अभिप्राय को मन में रखकर श्री नेमीचन्द्र आचार्य प्रथम सूत्र कहते हैं—

जीवमजीवं दव्वं जिणवर वसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥ १ ॥

गाथार्थ—मैं नेमीचन्द्र आचार्य जिनवरों में प्रधान आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को जिन्होंने सर्व प्रथम जीव अजीव द्रव्य का वर्णन किया है। और जो देवेन्द्रादिकों के समूह से वंदनीक है। मैं उन तीर्थंकर परम देव को सदा मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ।

विस्तार—जिनवर वृषभदेवका अर्थ कर्म शत्रुओं का नाश करने वाले भ० ऋषभदेव को जिनके द्वारा जीव, अजीव आदि द्रव्य चेतन लक्षण रूप जीव द्रव्य, और अचेतन द्रव्य अजीवद्रव्य का सर्व प्रथम व्याख्यान किया गया, जो सौधर्मादि देवेन्द्रों द्वारा पूजनीक परम निर्मल सकल गुणों कर सहित ऐसे देवाधिदेव आदि तीर्थंकर को मैं सदा मन वचन काय की विशुद्धता से सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं।

वीतराग भगवान के द्वारा विवेचन किया हुआ उपदेश जीवादि पदार्थों का उन जीवों के लिए जिनके मन में तत्त्व ज्ञान को जानने की संक्षिप्त और विस्तार से सुनने की अभिलाषा है। उन जीवों के लिए जीवादि द्रव्यों का व्याख्यान करता हूँ। विस्तार पूर्वक

सुनने की अभिलाषा जिनके मन में पैदा हो गई है। ऐसे भव्य जीवों के लिए ६ द्रव्यों का वर्णन करते हैं।

'जीवमजीवं दव्वं' जीव और अजीव द्रव्य कहा है । जैसे कि स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य आदि लक्षण वाला जीव द्रव्य है और इससे विपरीत गुण वाला अचेतन ? (१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश और (५) काल, इन पाँच भेदों वाला अजीव द्रव्य है। तथा चित् चमत्कार रूप लक्षण वाला शुद्ध जीव एवं पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं । परम ज्ञान-ज्योति स्वरूप शुद्ध जीव तथा अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं । और दोष रहित परमात्मा जीव आदि नौ पदार्थ हैं उन सबका स्वरूप कहा है। वह भगवान् कैसा है "जिणवर वसहेण" मिथ्यात्व तथा राग आदि को जीतने के कारण असंयत सम्यग्दृष्टी आदि एक देशी जिन हैं। उनमें जो वर श्रेष्ठ हैं वे जिनवर अर्थात् तीर्थंकर हैं। उनमें जो प्रधान हैं वह *जिनवर वृषभ अर्थात् तीर्थंकर परमदेव हैं।

वृत्यर्थः—वंदे इत्यादि पदों का क्रिया कारण भाव सम्बन्ध से पद खंडना रीति द्वारा

---

*जिन=सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो, धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान्, मारजिल्लोकजिज्जिनः ॥ —अमरकोषः
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बुद्धो जिनः पातुवः। —श्रीहर्ष
नमो जिनाय दुर्वार मार वीर मदच्छिदे। —परीक्षामुख
भवणालय चालीसा, विंतर देवाण होंत्ति बत्तीसा।
कप्पामर चउबीसा, चंदो सूरो णरो तिरओ ॥

अर्थ—भवन वासियों के ४०, व्यन्तर देवों के ३२, कल्पवासियों के २४, ज्योतिषियों के दो इन्द्र, सूर्य और चन्द्र, मनुष्यों में, चक्रवर्ती और पशुओं में सिंह इस प्रकार कुल १०० इंद्र होते हैं।

औपपादिक मनुष्येभ्यः शेषास्तियग् योनयः। —तत्त्वार्थसूत्र

अर्थ—उप्पाद, शय्या से होने वाले वैक्रियक शरीर से उत्पन्न देव, नारकी और मनुष्यों को छोड़कर शेष के सभी जीव तिर्यंच गति में हैं ।

जीव—'चेतना लक्षणो जीवः' जिसमें ज्ञान, दर्शन, चेतना गुण पाया जाय, उसे जीव कहते हैं।

अजीव—'अचेतना लक्षणो ऽजीवः' जिसमें ज्ञान दर्शन गुण न पाया जाय उसे अजीव कहते हैं।

द्रव्य—'सत् द्रव्यं लक्षणं' द्रव्य का सत् लक्षण है और सत् का लक्षण 'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्' जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण पाया जाय उसे द्रव्य कहते हैं।

द्रव्य का दूसरा लक्षण है 'गुण पर्याय वद्द्रव्यम्' जिसमें गुण और पर्याय पाये जांय उसे द्रव्य कहते हैं।

व्याख्यान किया जाता है। 'वंदे' देश में शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से निज शुद्ध आत्मा का आराधना करने रूप भावस्तवनसे और असद् व्यवहार नय की अपेक्षा उस निज शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करने वाले वचन रूप द्रव्य स्तवन से नमस्कार करता हूँ। तथा परम शुद्ध निश्चय नय से वंद्य वंदक भाव नहीं है। अर्थात् एक देश शुद्ध निश्चय नय और असद्भूत नय की अपेक्षा से जिनेन्द्र देव वंदनीय हैं। और मैं वंदना करने करने वाला हूं। किन्तु परमशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वंद्य वंदक भाव नहीं है। क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् और मेरा आत्मा समान है। वह नमस्कार करने वाला कौन है ? मैं टीकाकार द्रव्य-संग्रह ग्रन्थ निर्माता हूँ। (सव्वदा सिरसा) सिर झुकाकर हमेशा नमस्कार करता हूँ। किस को नमस्कार करता हूं ? "तं" वंदना क्रिया का कर्मपने को प्राप्त उस वीतराग सवज्ञको। सर्वज्ञ देव कैसे हैं ? (देविंद विंद वंदं) मोक्ष पद के अभिलाषी देवेन्द्रादि से वंदनीक हैं। भवनवासी देवोंके ४० इन्द्र, व्यंतर देवों के ३२ इन्द्र, कल्पवासियों के २४ इन्द्र, ज्योतिष देवों के चंद्र और सूर्य ये २ इन्द्र, मनुष्यों का १ इन्द्र—चक्रवर्ती तथा तिर्यंच का १ इन्द्र सिंह। ऐसे मिलकर १०० इंद्रों के द्वारा पूजनीय हैं। उन आदिनाथ भगवान् ने क्या किया है ? "णिद्दिट्ठं" कहा है। क्या कहा है ? "जीवमजीवं दव्वं" जीव और अजीव द्रव्य कहा है। जैसे कि—स्वाभाविक शुद्ध चेतना आदि लक्षण वाला जीव द्रव्य है, और इससे विलक्षण गुण वालाअर्थात् अचेतन (१) पुद्गल (२) धर्म (३) अधर्म (४) आकाश (५) काल। इन पांच भेदों वाला अजीव, द्रव्य है। तथा चित चमत्कार रूप लक्षण वाला शुद्ध जीव अस्तिकाय एवं पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पांच अस्तिकाय हैं। परमज्ञान-ज्योतिस्वरूप शुद्ध जीव तथा अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। और दोष रहित परमात्मा जीव आदि नौ पदार्थ हैं। उन सब का स्वरूप कहा है।

आध्यात्मिक शास्त्र में यद्यपि सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार करना उचित है तो भी व्यवहार नय का अवलम्बन लेकर जिनेन्द्र के उपकार स्मरण करने के लिये अर्हन्त परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है। ऐसा ही आप्त-परीक्षा में कहा है कि अर्हंत परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। इसलिये प्रधान मुनियों ने शास्त्र के प्रारम्भ में अरहन्त परमेष्ठी की स्तुति की है।

श्रेयो मार्गस्य संसिद्धिः, प्रसादात् परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद् गुण स्तोत्रं, शास्त्रादौ मुनि पुङ्गवाः॥

जैन शब्द—जीति पद वाच्यस्य नेति पदे न पुनर्भवः तस्माज्जन्मः शून्यः जैनः।

अर्थात् मुक्तात्म का पुनर्जन्म नहीं होता। जैन शास्त्रों में ऐसी उत्पत्ति की गई है कि

"रागद्वेषादि दोषान् वा कर्म शत्रुन् जयतीति जिनः, तस्यानुयायिनो जैनः" अर्थात् जिन्होंने काम क्रोधादि अठारह दोषों को अथवा ज्ञानावर्णी दर्शनावर्णी मोहनीय और अन्तराय इत्यादि शत्रुओं को जीत लिया है वही जिन है और उनके उपासक जैन कहलाते हैं। तथा जिन्होंने सम्पूर्ण भाव कर्म द्रव्य कर्म व नो कर्म अर्थात् शरीरादि पर विजयी होकर अजेय काम देव को जीत लिया है उनको जिन अरहन्त कर्म बैरी को हरा देने के कारण अर्थात् कर्म मल को नष्ट करने से हरि, सहिष्णुता को प्राप्त हो जाने से विष्णु, रागद्वेषादि विकारों को नष्ट करके कल्याण करने के कारण शंकर आठों कर्म रूपी शत्रुओं को जीतकर देव असुर चक्रवर्ती तथा इन्द्र सुरेन्द्रादि देवों के द्वारा पूजनीय होने से देव या देवाधिदेव महादेव आदि अनेक नामों से सम्बोधन किये जाते हैं। इन्हीं को जिन ब्रह्म या तीर्थङ्कर कहते हैं। ऐसे जिन या तीर्थङ्कर २४ चौबीस हो चुके हैं।

इस प्रकार परम्परागत अर्थात् अनादि काल से भूत भविष्यत् और वर्तमान काल में सर्वदा होते रहते हैं। परन्तु इस पंचमकाल में नहीं होते हैं।

उन्हीं तीर्थङ्करों के द्वारा चलाया गया धर्म जैन धर्म है:—

"जैन" धर्म के योग्य कौन व्यक्ति हो सकता है? और जो जगत् में सच्चा सर्वोत्तम मुक्तिदाता धर्म है। उसका नाम किस ने जैन धर्म रक्खा, इस बात को जानने की प्रथम आवश्यकता है।

जैन धर्म अनादि है और इसका किसी ने भी निर्माण नहीं किया। धारा प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। इसका कोई कर्ता-धर्ता नहीं। बीज और अंकुर के समान उत्पत्ति, विनाश की तरह इसका स्वभाव है।

जैन धर्म की दृष्टि से संसार को द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि अनन्त अर्थात् नित्य और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य अर्थात परिवर्तनशील मानते हैं, इसी तरह अनन्तानन्त काल चक्र व्यतीत हुए और होते रहेंगे, इसी प्रकार प्रत्येक काल चक्र में उत्सर्पिणी और और अवसर्पिणी दो विभाग हुआ करते हैं। जिन प्रत्येक विभाग में चौबीस २ तीर्थङ्कर अर्थात् सच्चे स्याद्वाद दया धर्म के प्रवर्त्तक हुआ करते हैं। वे तीर्थंकर चार प्रकार के कर्म जो आत्मा के गुणों को घात करने वाले हैं ऐसे दर्शनावर्णी, ज्ञानावर्णी, मोहनीय और अन्तराय इस तरह चार घातीय कर्मों को नाश करने के पश्चात् इनको केवली या तीर्थङ्कर भगवान् कहते हैं। इस तरह कर्म नाश से निर्विकल्प समाधि या केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, जब देव इन तीर्थंकरों के पुराण के अतिशय के कारण समवशरण अथवा बारह सभाओं की रचना कर देते हैं। तब उस सभा में सम्पूर्ण संसारी संज्ञी जीव पशु-पक्षी इत्यादि उस सभा में आकर उस तीर्थंकर भगवान् या अरि-कर्मों को

जीत कर जो "जिन" या तीर्थंकर हुये हैं। उनके उपदेश को सुनकर सम्पूर्ण प्राणी अपना कल्याण कर लेते हैं। अर्थात् वे भगवान् अपने समवसरण में विराजमान होकर अष्टदल कमल से चार अंगुल अधर विराजमान वे तीर्थंकर द्वादशांग का कथन करते हैं। जिसके द्वारा अनेक जीव मुक्ति को प्राप्त हुए और होते रहेंगे।

इस अवसर्पिणी काल में पितामह युगादि देव प्रथम तीर्थङ्कर श्री वृषभदेव स्वामी इस (अलौकिक धर्म) की नींव रखने वाले हुए हैं। उन्हीं के प्रभाव से अनेक जीव इस "जैन धर्म" के प्रतिपालन करने से मुक्ति के भाजन हो गये हैं। इसी प्रकार सब तीर्थंकर इस महा प्रभावशाली धर्म का प्रचार करते हुए अनेक जीवों को इस दुःख के भवार्णव से पार उतार गये हैं।

ये चौबीस तीर्थंकर तीर्थ की प्रवृत्ति करने के कारण तथा संपूर्ण संसारी प्राणियों को संसार महा सागर से तरने तारने वाले होते है इसलिये इनको तीर्थंकर कहते हैं।

इन तीर्थंकरों ने प्राणी मात्र को संसार सागर से तरने के लिए सच्चे अहिंसा मार्ग को बतलाया है क्योंकि इसके अलावा अन्य कोई मार्ग कल्याणकारी नहीं है।

इस प्रकार जिन या तीर्थंकरों के द्वारा बतलाये हुए अनेकान्तात्मक जैन धर्म तथा सप्तभंग स्याद्वाद नय के द्वारा प्रतिपादित व्यवहार व निश्चय मार्ग का जो शासन है उसे जिन शासन कहते हैं और इस शासन का जो उपासक है उसे जैन कहते हैं। इस प्रकार श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ मार्ग ही अहिंसामय मार्ग है।

इन चौबीस तीर्थंकरों के आदि तीर्थंकर जैन धर्म के प्रवर्तक श्री आदिनाथ जी स्वामी का जीवन चारित्र श्रीमद्भागवत के सातवें अध्याय में श्री शुकदेव जी ने इस प्रकार कहा है:—

नाभेरसा वृषभआस, सुदेवि सूनुर्यो, वैचचार समदृग्जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति,
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्त संग ॥ स्कंध २,७,१० ॥

इसमें वृषभ अवतार इस प्रकार कहा गया है कि ईश्वर आग्नींध्र के पुत्र नाभि से सुदेव पुत्र वृषभदेव जी हुए। वे समान दृष्टि रखकर योगाभ्यास करने लगे। ऐसे योगिराज परमहंस को सभी ऋषियों ने नमस्कार किया।

संपूर्ण राज वैभव को त्यागकर परम शुद्ध दिगम्बर महामुनि या परमहंस वृषभदेव जी हुए और जिन्होंने जैन धर्म को प्रकट किया।

इन्हीं श्री वृषभदेव की कथा भागवत के पंचम स्कंध अध्याय तीन से चौथे पांचवें

और छठे में विस्तार पूर्वक लिखी है और इनकी तपस्या की बड़ी प्रशंसा की है जिसका सार पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं। महाराजा आग्नीध के पुत्र नाभि राजा थे। जिनके मरुदेवी रानी थी राजा नाभि ने सन्तान के अर्थ यज्ञ किया।

नाभिरपत्यकामो ऽप्रजया मरूदेव्या, भगवन्तयज्ञपुरुषमवहितात्मायजत् ॥१॥

स्कंध ५ अध्याय ३रा:

सन्तान रहित नाभिराजा पुत्र की कामना करके मरुदेवी सहित श्री भगवान् यज्ञ पुरुष की आराधना करके यज्ञ करने लगे। अर्थात् इस अध्याय में कहे हुए सबके शिरोमणी सर्वज्ञ श्री जैन मत के प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव जी हुए जिनका चौवीस अवतार में वर्णन है।

नाभि राजा के यज्ञ करने पर विष्णु भगवान् आये और वर मांगने पर उन्होंने अपने समान पुत्र होने का आशीर्वाद दिया और कहा कि मेरे समान तो मैं हूँ इसलिये इस नाभि राजा के यहाँ हम भी प्रगट होंगे। इस तीसरे अध्याय के बीसवें श्लोक के अनुसार नाभि राजा के श्री ऋषभदेव का जन्म हुआ।

इसी तरह आगे नमस्कार किया है कि:—

नित्यानुभूत जिन लाभ, निवृत्त तृष्णा।
श्रेयस्य तद्रचनाया चिर सुप्त बुध्येः ॥
लोकस्यय: करुणयामयमात्म लोक ।
याख्यान्नमो भगवते वृषभाय तस्मै ॥ १६ ॥

इस प्रकार भागवत में श्री ऋषभदेव जी का वर्णन है। श्री वृषभदेव भगवान जैन धर्म के आदि तीर्थंकर थे। भागवत बनाने के पहले जैन धर्म पूर्णरूप से संसार में विद्यमान था। इसका और भी एक प्रमाण भागवत के सप्तम स्कंध के ग्यारहवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोक में मिलता है। जैसे:—

सत्यं दया तपः शौचं तितक्षेया क्षमादमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्येव त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥८॥

सन्तोष समदृक् सेवाग्राम्य हो परमः शनैः।
नृणां विपर्यये हेक्षा मौनेनात्य विमर्शनम् ॥६॥
अन्नायादे संविभागो भूतेभ्यश्च यथा हित ।

सत्य, दया, तप, शौच, इंद्रिय, निग्रह, क्षमा, दया, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और त्याग, स्वाध्याय, सरल भाव, सन्तोष, समदृष्टि ग्राम के लोगों की सेवा इत्यादि श्रेष्ठ परम ऐसे धीरे २ अन्न इत्यादि का दान अतिथि संविभाग संपूर्ण प्राणी मात्र को अर्थात् जो संयमी योगी आत्मा में लीन ऐसे पुरुषों को दान देना ।

और श्री मार्कंड पुराण में भी वर्णन किया है अध्याय ५० पृ० १५०

अग्नींध्र सूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताद्वरः ॥३९॥
सोभिशिंच्यर्षभः पुत्रं महा प्राराज्य मास्थितः ।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम संशयः ॥ ४० ॥
हिमाद्राहं दक्षिणं वर्षं भरताय पिताददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥

राजा अग्नींध्र के पुत्र नाभि, नाभि के पुत्र वृषभ, वृषभ के भरत आदि सौ पुत्र हुये। इन पुत्रोंको राज्य देकर श्री वृषभ देव तप करने के लिये बन चले गये। इन सौ पुत्रों में से भरत के लिये श्री वृषभ देव जी ने हिमवान् पर्वत के दक्षिण तरफ का क्षेत्र दिया था उस का नाम उन्हीं के नाम से भारत वर्ष हो गया। इसी आशय के और भी प्रमाण मिलते हैं:—

हिमाह्वयन्तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवत् पुत्रो मरुदेव्या महाद्युतिः ॥
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः ।
सोऽभिशिंच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः ॥ कुर्म० पु०

अग्नींध्र के पुत्र नाभिराय, उनकी महारानी मरुदेवी के कुक्षि से वृषभदेव के पुत्र भरत आदि सौ पुत्र हुए। वृषभदेव जी इन पुत्रों को राज्य देकर स्वयं तपस्या करने लिये वन को चले गये। इस प्रकार और भी अग्निपुराण इत्यादि में बहुत से जैन धर्म के सम्बन्ध में आधार मिलेंगे।

इन्हीं वृषभनाथ भगवान् का दूसरा नाम जैन सिद्धान्त में आदिनाथ भगवान् कहा है। ये ही आदिनाथ भगवान् अर्थात् वृषभनाथ जैन धर्म के सच्चे उपासक हुए। वे ही इस धर्म के प्रवर्तक थे। और इन्होंने ही सच्चा आत्म धर्म अर्थात् अहिंसा मार्ग को प्रचार में लाने की स्वयंमेव इस मार्ग को ग्रहण किया और दूसरे अन्य संसारी जीव को भी कराया।

जब भोग भूमि का अन्त हो गया तथा जब ज्योतिरांग कल्प वृक्ष इत्यादि का अर्थात् भोग भूमि का लोप हो कर चतुर्थकाल आरम्भ हुआ तब ज्योतिरांग वृक्षोंका प्रकाश का भी अस्त होने लगा तथा सूर्य चन्द्र आदि का प्रकाश दिखने लगा तब प्रजा लोग उसे देखकर भयभीत होने लगी और भ०वृषभनाथके पास दौड़े आये और प्रभु वृषभनाथ भगवान् से प्रार्थना कर पूछने लगे कि भगवन् यह कैसा प्रकाश तब भगवान् ने कहा डरो मत भोग भूमि का काल समाप्त हुआ इस काल का लोप हुआ और यह चतुर्थ काल आया इस प्रकार समाधान किया। प्रजा के जीवन का उपाय भी इन्हीं प्रभु ने बतलाया था। प्रभु ने उन की योग्यता देख कर असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इत्यादि छः कर्म के द्वारा आजीविका करने के लिये प्रजा को बतलाया। जो उन में शूरवीर थे उनके शस्त्र धारण कराया इसलिये उन का नाम क्षत्रिय रखा। जो लिखने में योग्य थे उनको मसि कर्म में नियुक्त किया। जो खेती करने में योग्य थे उनको कृषि कर्म में नियुक्त किया। जो शिल्प काम करने में योग्य थे उनको शिल्प कार्य में नियुक्त किया। जो व्यापार उद्योग कर्म में योग्य थे उनको वाणिज्य कर्म में नियुक्त किया। और जो बुद्धि आदि में चतुर समझे उनको विद्या कर्म में नियुक्त किया। इसलिये इस भूमि का नाम कर्मभूमि पड़ गया इस प्रकार इन छः प्रकार के कर्म के प्रवर्तक वृषभदेव ही थे। इससे इन को आदि कर्ता आदि भगवान या आदिनाथ भी कहते हैं।

इन छः क्रियाओं को बतलाने के बाद इन भगवान आदिनाथ ने इन प्रजाजनों को सच्चे आत्म कल्याण के सुयोग्य धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थ भगवान् वृषभदेव स्वयमेव आचरण करते हुए अपने प्रजा को भी आचरण कराया और अन्त में संसार सुख क्षणिक समझ कर सच्चा मोक्ष मार्ग तथा हमेशा के लिये शान्ति सुख देने वाले आत्म धर्म की अर्थात् आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये संपूर्ण चक्रवर्ती पद या तीर्थंकर पद को त्याग कर संसार और शरीर भोगों से विरक्त हो कर दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। तत्पश्चात् आत्मा को अनादि काल से घात करने वाले दर्शनावर्णी, ज्ञानावर्णी, मोहनीय और अन्तराय आदि को नष्ट कर के सच्ची निर्विकल्प समाधि को प्राप्त किया। तब बाद में अपने ज्ञान में झलके हुए सम्पूर्ण पदार्थ का या वस्तु का जैसे तैसे बिवेचन के द्वारा सम्पूर्ण प्राणी मात्र को यह समझाया गया कि सच्चे आत्म हित का मार्ग दयामयी धर्म है अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी मात्र पर दया रखना। और किसी भी जीव को अपने स्वार्थ वश हो कर दुःख न देना या सताना अधर्म है। यही मार्ग सम्पूर्ण प्राणी मात्र को ग्रहण करने योग्य है अन्य कोई हिंसामयी धर्म आत्म सुख का साधन नहीं है।

शंका:—क्या भगवान् ऋषभदेव ने ही जैन धर्म प्रारम्भ किया? भगवान ऋषभ-

देव जैन धर्म के आदि तीर्थंकर थे। जैन परम्परा यह बात स्वीकार करती है कि चौबीस तीर्थंकर अनादि काल से होते आये हैं और होते रहेंगे। तीर्थंकर सदैव चौथे काल में होते है। काल सदा परिवर्तन शील है। काल के मुख्य दो भेद हैं—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। उत्सर्पिणी काल में मनुष्य के आयु बुद्धि बल वैभव की वढोत्तरी होती है और अवसर्पिणी में अवनति होती है। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रत्येक के छः भेद हैं जब अवसर्पिणी के तीन काल समाप्त होने लगे भोग भूमि का काल समाप्त हुआ कल्प वृक्ष नष्ट होने लगे तब भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ। और उन्होंने इस काल के आरम्भ में सर्व प्रथम धर्म का उपदेश दिया। वही धर्म के आदि प्रवर्तक थे। भगवान ऋषभदेव का उज्वल चरित्र आचार्य प्रवर जिनसैन स्वामी ने आदिपुराण में विस्तार से किया है।

मोहन जोदड़ो में जो खुदाई हुई है वह तीन हज़ार वर्ष पुरानी मानी जाती है। उसमें नमो जिनेश्वराय नाम की शिला प्राप्त हुई है। जिस पर भगवान ऋषभदेव और बैल का चिन्ह प्राप्त हुआ है। जिससे प्रगट होता है कि भगवान ऋषभदेव की प्राचीन काल में पूजा होती थी। ई० सन् से २०० वर्ष पूर्व उड़ीसा में जो कलिंग देश के नाम ने प्रसिद्ध था वहाँ सम्राट खारवेल का शासन था। खारवेल से ३५० वर्ष पूर्व वहाँ आदिजिन के नाम से भगवान ऋषभदेव की पूजा होती थी। भगवान ऋषभदेव की मूर्ति को कलिंग विजय कर के ले गये थे। पर सम्राट खारवेल ने विजय करके फिर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति कुमारी पर्वत पर स्थापित की। इस प्रकार हज़ारों वर्ष से भ० ऋषभदेवकी पूजा चली आती है।

भगवान् ऋषभदेव के पश्चात् तेईस तीर्थंकर और हुए उनमें भगवान नेमिनाथ बाईसवें तीर्थंकर थे भगवान पारसनाथ तेईसवें और भगवान् महावीर स्वामी चौबीसवें तीर्थंकर थे। भगवान महावीर स्वामी ने उसी शाश्वत धर्म का उपदेश दिया भगवान महावीर स्वामी के पश्चात् हजारों आचार्यों, साधुओं और विद्वानों ने जैन धर्म का लोक में प्रचार किया।

ऊपर की परम्परा से आदिनाथ अर्थात् भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर भगवान तक अहिंसा धर्म की परिपाटी धारवाही रूपमें एक समान चली आई है। उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा। अब आगे उसी अहिंसा धर्म का संपूर्ण प्राणी मात्र को ग्रहण करना योग्य है और इसी से महान २ ऋषि मुनि, राजा महाराजा, राम, हरिश्चन्द्र, मनु इत्यादिकों ने इसी धर्म से महान भयानक दुःख को तथा जन्म मरण दुःख को देनेवाले संसार का अन्त करने के लिये इसी धर्म के सहारे से अखण्ड आत्मिक सुख को प्राप्त कर लिया है इसी धर्म का स्वरूप को भगवान् महावीर ने भी संसार के संपूर्ण प्राणी मात्र को समझाया है।

यहाँ तक मंगलाचरण का निरूपण किया गया, तथा जैन शब्द की निरूक्ति तथा टीका के विस्तार करने का प्रयोजन आदि बातों का विवरण इस मंगलाचरण की पीठिका में किया गया है।

अब जीव पदार्थ की सिद्धि अनेक मत मतांतरके लोग विभिन्न तरह से मानते हैं उसका यथार्थ कथन ग्रंथकार के सम्मति तथा परम्परा से चले आये भगवान् वीतराग अरहन्त देव के अम्नाय के अनुसार एवं मेरी बुद्धि के अनुसार हिन्दी भाषा में जीव द्रव्य का स्वरूप वर्णन करेंगे।

जीव का स्वरूप प्रारम्भ करने से पहले वीतराग भगवान का स्मरण करना बहुत जरूरी है क्योंकि वे भगवान संपूर्ण प्राणी मात्र को इष्ट सिद्धि प्राप्त कर देने में समर्थ हैं। इसलिये भावनासार कानड़ी ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद मुझ जैसे अल्प बुद्धि के द्वारा निर्विघ्न समाप्ति होकर भव्य जीवों के हित की प्राप्ति के लिये उन्हें जल्दी बोध प्राप्त हो जाय यही प्रार्थना करता हूँ। इसीके निमित्त भगवान की स्तुति करता हूँ:—

क्षयाच्चरतिराग, मोहभयकारिणंकर्मणां। कषाययरिपुनिर्जयः, सकलतत्त्व विद्योदयः॥
अनन्यसदृशंसुखं त्रिभुवनाधिपत्यं च ते। सुनिश्चितमिदं विभो सुमुनि संप्रदायादिभिः॥

हे विभो! आपने उन कर्म रूपी शत्रु को नाश किया है जो रति, राग, मोह व भय को पैदा करनेवाले हैं, इसलिये आपने क्रोधादि कषाय रूपी शुत्रुओं को जीत लिया है व आपके सर्व पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला केवल ज्ञानका उदय हो गया है। आप को अनुपम अतीन्द्रिय आनन्द है तथा आप तीन जगत के स्वामी हैं। आपके स्वरूप को गणधरादि मुनियों ने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है।

आगे जीव द्रव्य अर्थात् द्रव्य शास्त्र रूप शब्दागम को नमस्कार करके उसका उद्देश्य हेतु सम्बन्ध अभिधेय तथा प्रयोजन आदि सूचित करता हूँ। इस अभिप्राय को मन में लेकर ग्रंथकार ने भी आगे के सूत्र में कहा है।

गम्भीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं।
कंठोष्ठादि वचोनिमित्तरहितं नो बातरोधोद्गतं॥
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तु कथकं निःशेष भाषत्मकं।
दूरासन्नसमं निरूपमं जैन वचः पातु नः॥

वह जिनेन्द्र का वचन जो गम्भीर है मीठा है, मन को अत्यन्त हरण करने वाला है। दोष रहित है, कंठ ओष्ठ, आदि वचन के कारणों से प्रकट नहीं है स्पष्ट है, परम उपकारी

पदार्थों का कहने वाला है सर्व भाषा मयी है, दूर व निकट को समान सुनाई देता है, समता रूप है व उपमा रहित है ऐसी वीतराग वाणी हमारी रक्षा करे, और भी कहा है कि:—

येन ज्ञानतमस्ततिर्विघटते ज्ञेये हिते चाहिते ।
हानादान मुपेक्षणं च समभूत्तस्मिन् पुनः प्राणिनः ।।
येनेयं द्रगपैति तां परमतां वृत्तं च येनानिशं ।
तज्ज्ञानं मम मानसांबुजमुदेस्तात्सूर्यवर्योदयः ।।

जिससे फैला हुआ अज्ञान अन्धकार दूर हो जाता है तथा जिसे जानने योग्य हितकारी और अहितकारी पदार्थों को जान लेने पर अहितका परिहार, हितका ग्रहण तथापरम वैराग्य प्राणियों को प्राप्त हुआ जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन प्रकट हो, परमत की श्रद्धा को हटाता है व जिसके द्वारा रात्रि दिन मिथ्या चारित्र दूर हट जाता है। ऐसे ज्ञान रूपी परम सूर्य का उदय मेरे मनरूपी कमल को विकसित करनेवाला होवे। शब्दागम को नमन करके ज्ञानरूप आगम की प्रसिद्धि के लिए अर्थरूप आगम को कहूँगा। कोई निकट भव्य पुरुष वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत शब्दागम को सुनता है फिर उससे जानकर द्रव्य संग्रह अपर नाम भावनासार लक्षणरूप अर्थ तथा पंचास्तिकाय, छै द्रव्य को जानता है। फिर इस पदार्थ समूह में गर्भित शुद्ध जीवास्तिकायरूप पदार्थ में स्थिर होकर चारों गतियों का निवारण करता है। चारों गतियों को दूर करने से ही पंचम गति निर्वाण को पाता हैं। वहां अपने आत्मा से ही उत्पन्न निराकुल लक्षण निर्वाण के फलस्वरूप अनन्त सुख का अनुभव करता है। इसलिये इस द्रव्यागम रूप शब्द समय या शब्दागम को नमस्कार करना ठीक है। इस व्याख्यान के क्रम से सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन इस तरह सूचित किये गये है। व्याख्यान के योग्य जो आचार्य का वचन है वह व्याख्यात है। गाथा सूत्र व्याख्यान करने योग्य है। इससे व्याख्येय है। यह व्याख्यान और व्याख्येय का सम्बध है। द्रव्यागम रूप शब्द समय या आगम अभिधान है—कहने वाला है। इस शब्द समय से पंचास्तिकायरूप अर्थ समय या आगम अभिधेय है कहने योग्य है। यह अभिधान अभिधेय रूप सम्बन्ध है। फल या प्रयोजन यह है कि अज्ञान के नाश को आदि लेकर निर्वाण सुख पर्यन्त की प्राप्ति है। इस तरह सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन जानना।

Jivamajivam dravyam Jinavaravrisabhena yena nirdcistam
Devendravrindavandyam vande tam sarvvada sirsa—(1.)

Padapatha—जेण Jena, by whom जिणवरवसहेण Jinavaravasahena, the greatest of the great Jinas. जीवमजीवं Jivamajivam, Jiva and Ajiva. दव्वं Davvam, the Dravya. णिद्दिट्ठं Niddittham, has been described. देविंदविंदवंदं Devindavindavandam, worshipped by the host of Indras. तं Tam, him. सव्वदा Savvada, always. सिरसा Sirasa, with the head. वंदे Vande, salute.

1. I Always salute with my head that eminent one among the great Jinas, who is worshipped by the host of Indras and who has described the Dravyas (substances), Jiva and Ajiva.

The title of this work 'Dravya-Samgraha' being interpreted literally means "A compendium of Dravyas." According to the Jaina philosophy, the component factor of the universe is Dravya (Substance), which is subdivided into Jiva (living) and Ajiva (non-living) substances. Everything in this universe is either Jiva or Ajiva or resultant of these. The author of Dravya-Samgraha has fully described Dravya with its classes and sub-classes in verses 1-38 of this work. Jiva the first variety of Dravya is defined in in verse 2 and a detailed explanation of this definition is given in verses 3—14. Ajiva, the second veriety of Dravya, is next described with its subdivisions in verses 15—27.

The first verse of this work is nothing but the usual Mangalacharan, in which the author salutes Mahavira, the twenty-forth Tirthankara of the Jainas. He is called here the Eminent One among the great Jinas. The word Jina literally means " the Victor". One who has freed himself from the bondage of Karma by conquering Raga (attachment) and Dvesa (Adversion) is called a Jina by the Jainas. In Buddhist scripture the word Jina is often used as a synonym to Buddha. In the lexicon called Amarakosa & in popular Sanskrit literature, the use of the word Jina to signify Buddha is too common. The Buddhists take the word Jina to mean one who has conquered Mara. But the word Jina is used in a special sense by the Jainas. The Ganadharas or disciples

of the Tirthankaras and the Tirthankaras themselves are known as Jinas, Jinendras, Jinesvaras, etc.

Lord Mahavira has been saluted at the beginning of almost all the later works of the Jainas. Here it is said that he is worshipped by the Indras. Indras are Gods who possess special excellent powers [परमैश्वर्यादिन्द्र-व्यपदेशः]Tattvartha-raja-varttika by Akalanka Deva IV. [4. 1.] According to Jaina eschatology there are four kinds of Gods, dwelling in four different spheres, known respectively as Bhavana, Vyantara, Jyotisa and Vaimanika. The Vaimanika region is again subdivided into Kalpa and Kalpatita spheres. Indras are a higher order of Gods who dwell in Bhavana, Vyantara and Jyotisa regions and the kalpa sphere only of the Vaimanika region. There are no Indras in the Kalpatita sphere. Besides these Indras among Gods, there are also others among men and among the lower animals.

There is a difference of opinion between the two principal sects of the Jainas as to the number of Indras. "The Svetambaras assert that there are twelve heavens and sixty-four Indras" but the "Digambaras maintain that there are sixteen heavens and one hundred Olympian monarchs (Indras)." From a verse found in most of the commentaries on Digambara Jaina works we learn that" there are forty Indras among the Gods who dwell in Bhavana (sphere), thirty-two among the Gods (who live in) Vyantara (sphere), twenty- four among the Gods (living in) Kalpa (sphere), two among the Jyotisa or planetary Gods, the sun and the moon, (One among) men and (one among) the Tiryaks (i. e. all creatures excluding Gods, men and inmates of hell.)."

Mahavira is said to have been the propounder of all the Jaina Canonical works. The wrong theory that Mahavira is the founder of Jainism and that Jainism is an offshoot of Buddhism, has long ago been exploded; and when we say that there is a tradition that Mahavira spoke to his disciples what has been embodied in the Canonical works of the Jainas, it must be understood that, though the fundamental truths of Jainism were preached long before Mahavira, it was after the Nirvana of this last Tirthankara that

the teachings of Jainism were reduced to writing which formed the basis of the Jaina Canonical works now extant.

The Angas which are the Canonical works of the Svetambara sect of the Jainas are said to have been dictated by the fifth Ganadhara Sudharma Svami to his disciple, Jambu Svami, when the latter asked the former to explain the tenets of Jainism as laid down by Mahavira. In the Angas we find questions liket this. "What has been laid down by Lord Mahavira the Tirthankara, on such and such a matter ?" put to Sudharma Svami by his disciple, Jambu Svami, Further in the Angas there are sentences spoken by Sudharma Svami to the effect: "I am telling you such and such a matter, as described by Lord Mahavira." From passages like these, it becomes certain that Mahavira is the earliest authority to which the existing Jaina Canonical works refer.

The Digambaras, however, deny the authority of the Angas and say that the original Canonical works have perished during the first century after the Nirvana of Mahavira; bnt they also maintain that the tenets of Jainism were made popular by Lord Mahavira. The tradition of both the Jain sects thus agree in attributing to Mahavira the popular exposition of the tenets of Jainism. This is the reason why we most frequently find Mahavira worshipped by the Jaina writers in the opening verses of their works as the great propounder of the Truth of their religion. Here also Nemichandra, the author of Dravya-Samgraha, seems to have saluted Mahavira as the Propounder of Dravya, which is the subject-matter of the present work.

The word "Jiva" is usually translated as "Soul," "Living being," "Consciousness," etc., and Ajiva as "things without life," "nonliving substance," etc., but we shall use the original words throught out the translation. The accurate meaning of these terms will be understood from the verses which follow, and which deal with the distinguishing characteristics of each of these substances.

इस तरह अपने इष्ट माननीय देवता को नमस्कार की मुख्यता से प्रथम गाथा में प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

मिथ्यात्व कर्म के उदय के कारण अज्ञानी हुआ मानव प्राणी जीव के स्वरूप को विपरीत मानता है किसी को क्षणिक, किसी जीव को हमेशा बंध रहित इत्यादि अपने मन माने रूप में मानता है उसी कल्पना को दूर करने के लिये तथा उनके भ्रम को दूर करने के लिए ग्रन्थकार जीव का स्वरूप बतलाने के लिये निम्न प्रकार गाथा को कहते हैं।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥

अन्वय—(जीवो) अनन्त धर्मों से युक्त तथा इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास प्राणों से जो जीता है सो जीव है। (उवओगमओ) दर्शनउपयोग ज्ञान उपयोग वाला (अमुत्ति) निश्चयनय से अमूर्तिक निर्बंधन तथा स्पर्श रस गंधादि रहित अमूर्तिक है (कत्ता)शुभाशुभ भाव और द्रव्य कर्म का कर्ता है। (सदेहपरिमाणो) सन्तान अपेक्षा से अनादि सम्बन्ध के कारण कर्माधीन होकर नाम कर्म के द्वारा प्राप्त किया हुये छोटे बड़े शरीर के प्रमाण वाले (भोत्ता) तथा अपने द्वारा किये हुये शुभाशुभ कर्म फलका भोक्ता है। (संसारत्थो) कर्मोदय के कारण चारों गतियों में भ्रमण करने वाला होने के कारण संसार अवस्था वाला कहलाता है (सिद्धो) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रोपकर्षण से संपूर्ण कर्म मल से रहित अचल व स्थिर होने के कारण सिद्ध ऐसे कहा (विस्स सो) स्वभाव से (उड्ढगई) उर्ध्वगमन करने वाला है।

विवेचन—ग्रन्थकार ने यहाँ सबसे पहले यह समझाया है कि जीव अनादि निधन है इसका कोई कर्त्ता धर्त्ता नहीं है और यह किसी से उत्पन्न भी नहीं हुआ है। जैसे मिट्टी में सोना, तिल में तेल, परस्पर दोनों दूध पानी के माफिक जैसे एकावगाह (एक क्षेत्र में) मालूम होता है उसी तरह जीव और पुद्गल दोनों अनादि काल से भिन्न २ होते हुए भी दूध पानी के माफिक एक मालूम हो रहे हैं।

इन दोनों के भिन्न २ स्वरूप को न जानने वाले मिथ्यात्व या अज्ञानादि से जिनकी मति भ्रष्ट हुई है और हमेशा द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म के स्वरूप को न जानकर जिनकी बुद्धि निजात्म सत्यस्वरूप से बिलकुल विमुख है और हमेशा अज्ञान रूपी अन्धकार में ही डूबने वाले ऐसे मूढ़ात्म अज्ञानी मानव नास्तिक मत वाले (जीव को नहीं मानने वाले) को जीव एक पदार्थ है यही सुख-दुःख भोगी है और यह संसार बन्धन से मुक्ति होने की इच्छा करता है इस बात को सिद्ध करने के लिए जीव शब्द का निरूपण किया गया है।

आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक में सबसे पहले जीव है यह सिद्ध करने के लिए सूत्र भी कहा है।

श्रेयोमार्गप्रतिपित्सात्म द्रव्यप्रसिद्धेः ॥ १ ॥

अर्थात्—ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला आत्मा ही कल्याण मार्ग या मोक्ष प्राप्त कर सकता है, यह बात प्रसिद्ध है। इसी बात के लिए उस कल्याण के उपाय के जानने की इच्छा होती है। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की योग्यता रखने वाला आत्म द्रव्य प्रसिद्ध है इसलिए मोक्ष के मार्ग के जानने की इच्छा होती है। जैसे कि—

चिकित्सा विशेष प्रतिपत्तिवत्।

जिस प्रकार रोग दूर होने का सुख जिसे मिल सकता है ऐसे रोगी के रहते हुए ही रोग का निदान एवं उसे दूर करने का उपाय बतलाया जाता है उसी प्रकार आत्मा के रहते हुए मोक्ष मार्ग का निरूपण किया जा सकता है। परन्तु जीव ही नहीं होगा तो मोक्ष का उपाय ढूँढ़ने की आवश्यता किसे होगी? इसलिए जीव नाम का पदार्थ ज्ञान दर्शन और चेतन से युक्त अखण्ड अविनाशी जीवात्मा स्वतन्त्र एक पदार्थ है अनादि निधन है। इसलिए इस जड़ वस्तु के सम्बन्ध से अलग होना चाहता है। कोई मिथ्या-मति अज्ञानी चार्वाक मत वाले मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से ग्रसित नास्तिक मत वाले जीव को नहीं मानते और कहते हैं कि जीव की उत्पत्ति पंच भूतों से हुई है पृथ्वी, तेज, वायु, पानी और आकाश ये पंच भूत हैं। इससे जीव की उत्पत्ति होती है। जब पंच भूतात्मक शरीर नष्ट होता है। उसी के साथ जीव भी नष्ट होता है पाप, पुण्य, व्रत, नियम, स्वर्ग मोक्ष कोई चीज ही नहीं है।

इसलिए उनके भ्रम को दूर करने के लिए जीव-द्रव्य की और जीव (आत्मा) की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रथम ही सिद्ध किया है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से आदि मध्य और अन्त से रहित तथा स्वपर का प्रकाश उपाधि रहित और शुद्धचैतन्य रूप जो निश्चय प्राण है वह जीता है, तथापि अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा अनादि कर्म बंध के कारण अशुद्ध जो द्रव्य प्राण और भाव प्राण है। उनसे जीता है इसलिए जीव है।

उवओगमओ—

जीव उपयोगमयी है। यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से पूर्ण तथा निर्मल जो ज्ञान, दर्शन दो उपयोग है, वही जीव का स्वरूप है। तो भी अशुद्ध नय से क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शन से बना हुआ है। इस कारण से जीव ज्ञान दर्शनोपयोगमय है। सांख्य मत वाले जीव को निर्गुण मानते हैं। इसलिए उनके मत के भ्रम को दूर करने के लिए जीव उपयोग मय है। ऐसा कहा है।

सांख्य सिद्धांत में २५ पदार्थ माने हैं परन्तु मुख्य पदार्थ प्रकृति (गुण) और पुरुष दो ही माने हैं जिस तरह जैन सिद्धांत में कर्म पदार्थ माना है उसके सम्बन्ध से आत्मा को संसार में रुलाना पड़ता है। उसी प्रकार सांख्य सिद्धांत में सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण रूपप्रकृति पदार्थ माना गयाहै और उसके सम्बन्ध से पुरुष संसारमें भ्रमण करता रहता है ऐसा बतलाया गया है। प्रकृति पदार्थ को ही उन्होंने जगत का कर्त्ता माना है, बुद्धि सुख, दुःख अभिमान आदि गुणों को धारण करने वाली प्रकृति ही है। पुरूष तो चैतन्य मात्र है और जिस प्रकार कमल का पत्र पानी पर रहते हुए भी निर्लेप रहता है। पानी का उस पर कोई भी असर नहीं रहता उसी प्रकार पुरूष भी बुद्धि सुख दुःख आदि से निर्लेप रहता है। प्रकृति के सम्बन्ध में ज्ञाता सुखी दुःखी आदि भावनायें पुरुष की आत्मा में उत्पन्न होती रहती हैं और जब तक ये भावनायें उदित होती रहती हैं तभी तक पुरुष संसार में फंसा रहता है किन्तु जिस समय स्वप्न अवस्था के समान यह घर है। या कपड़ा और घर है इस प्रकार विवेक ज्ञान नष्ट हो जाता है केवल चैतन्य मात्र अवस्था रहती है उसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष अवस्था में सांख्य मत के अनुसार आत्मा किसी भी पदार्थ को जान देख नहीं सकता परन्तु सोने वाला पुरुष जिस प्रकार विवेक ज्ञान शून्य चैतन्य मात्र धारक रहता है वैसे ही दशा मोक्ष रहने वाली आत्मा की होती है। इस तरह जीवात्मा के बारे में भिन्न मत है। परन्तु वास्तव में आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभाववाला है। मोक्ष अवस्था में अनन्त वह अपने ज्ञानदर्शन सुख वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करता है।

जीव निर्गुण है ऐसे सांख्य मतवालों का कहना है। तथा नैयायिक मतवालों का भी यही मत है। इसलिए इनके मत का निराकरण करने के लिए जीव उपयोग मयी है। ऐसे कहा है:—

सांख्य मत का सिद्धान्त—सांख्य मत के साधुओं का परिचय संक्षेप में देकर बाद में उनके मूल तत्त्व का संक्षेप से विवेचन करेंगे।

सांख्य मत के साधु त्रिदंडि भी होते हैं। और वे कौपीन पहरते हैं वस्त्र रखते हैं। कोई सिर के ऊपर शिखा अर्थात् चोटी रखते हैं, कोई मस्तक को मुण्डन करवाते हैं। मृग चर्म का आसन रखते हैं। ब्राह्मण के घर में ही आहार करते हैं कोई पांचग्रास खाते हैं। और बारह अक्षर का जाप करते हैं। उनके भक्त जब गुरु की वंदना करते हैं तब गुरु उन को "ॐ नमो नारायण" ऐसे आशीष देते हैं और इसका नाम "बीटा" ऐसा लिखा है। यह काठ की मुखके निःश्वास निरोध के लिए रखते हैं। जिस से मुखश्वास से जीव हिंसा न होवे। ऐसा कहा भी है कि:—

तेप्राणादनुयातेन, श्वासेनैकेन जंतवः ।
हन्यन्ते शतशोब्रह्मन्नणुमात्राक्षर वादिनः ॥ १ ॥

सांख्य गुरु जल के जीवों की दया करने के लिये अपने पास पानी को छानने के लिये छलना अर्थात् कपड़ा रखते हैं। और अपने भक्तों को पानी छाननेके लिए तीस अंगुल प्रमाण चौड़ा गाढ़ा छन्ना के अर्थात् गलना रखने का उपदेश करते हैं। और जो जीव पानी के छानने से निकलते हैं, उन जीवों को जहां से पानी छानकर लाये हैं उसी समय उस जीवानी को छोड़ देते हैं। खारे पानी का हो तो खारे पानी में जीव को छोड़ देते और मीठे पानी में से हो तो मीठे पानी में छोड़ देते हैं। और मीठे पानी का और खारे पानी का मिलन नहीं करते हैं। बहुत सूक्ष्म पानी के एक बूंद में इतने जीव हैं कि अगर एक बूंद पानी के अन्दर की जीव संख्या बढ़ाई जावे तो वे जीव तीन लोक में न समायें। इतनी जीव राशि एक बूंद पानी में रहती है। सांख्य मत में जल गालन क्रिया जैन सिद्धांत के अनुसार थोड़ी सी मिलती-जुलती है। परन्तु अन्य और क्रिया नहीं मिलती हैं।

सांख्य मत में भी दो भेद हैं एक प्राचीन और एक नवीन ऐसे दो भेद हैं। नवीन सांख्य का दूसरा नाम पातञ्जली भी कहते हैं। इनमें से प्राचीन सांख्य ईश्वर को नहीं मानते हैं और नवीन सांख्य ईश्वर को मानते हैं। जो निरीश्वर है वे नारायण पर विश्वास रखते हैं। और जो उनके आचार्य हैं, वे विष्णु प्रतिष्ठाकारका चैतन्य प्रमुख शब्द के द्वारा कहे जाते हैं। और सांख्य मति कहलाने वाले जो आचार्य हैं वह यह लिखते हैं कि कपिल, आसुरी, पंचशिख, भार्गव, उलूक, ईश्वर कृष्ण यह उनके शास्त्रोंके कर्ता है इनके मत वालों को कपिला भी कहते हैं।

तथा कपिला का परमर्षि ऐसा दूसरा भी नाम है। इसलिये उनको परमर्षी भी कहते हैं। और ये मासोपवास भी करते हैं। और जो ब्राह्मण हैं वे अर्चिमार्ग से विरुद्ध धूममार्गानुयायी है। और सांख्य जो है वे अर्चिमार्गानुयायी हैं, इसलिए ब्राह्मणों को वेद मान्य है और ये यज्ञ मार्गानुयायी है, और सांख्य जो है वे हिंसा से युक्त वेदकी रचना की गई गई है। अध्यात्म वादी जो सांख्य है वे अपने मत की बहुत तारीफ करते हैं। माठर नाम का जो शास्त्र है उसमें लिखा है कि—

हस पिव लखाद मोदं, नित्यं भुंक्ष्व च भोगान् यथाभिऽकामं।
यदि विदितं कपिल मतं, तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्य मचिरेण ॥ १ ॥

जिन्होंने कपिल मत को जाना है तो हंसो पीवो, खाओ, हमेशा खुश रहो, जो तुम्हें रुचिकर होगा वही खाओ इन्द्रियों के इच्छानुसार भोग भोगों तुमको थोड़े समय

में ही मोक्ष की प्राप्ति होगी और भी कहा है कि:—

पंचविंशति तत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः !
शिखी मुंडी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥

पच्चीस तत्त्व का जो जानकार होवे वे चाहे किसी आश्रम में रहे परन्तु शिखा वाले होवे। और मुंडित होवे अथवा जटा वाले होवे तो वे सर्वउपाधि से छूट जाते हैं।

सांख्य मत में पच्चीस तत्त्व है—जब पुरुष तीन दुःखों से भयभीत होता है तब दुःखों को दूर करने के लिए जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वे तीन ये हैं, आध्यात्मिक, आधिदैविक अधिभौतिक ये तीन दुःख है—

आध्यात्मिक आधि दो प्रकार की है, एक शारीरिक, दूसरी मानसिक, उसमें वायु पित्त, श्लेष्म इन तीनों की विषमता से शरीर में जो अतिसारादिक रोग होते हैं। वे शारीरिक और काम क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या विषयों के देखने से जो भाव होते हैं उसे मानसिक कहते हैं ये दोनों ही उपाय से दृढ़ हो सकते हैं, दुःख दो प्रकार के हैं। एक आधिभौतिक, दूसरा आधिदैविक, जहां जो दुःख मनुष्य पशु पक्षी मृग सर्प, आदि के निमित्त से होता उसे आधिभौतिक कहते हैं। और तीसरा यक्ष राक्षस, भूतादि का निमित्त से हो तथा महापापी अनावृष्टि अतिवृष्ट आदि का होना उसे आधिभौतिक कहते हैं। इन तीनों दुःख से प्राणियों के दुःख को दूर करने के लिये तत्त्वों के जानने की इच्छा होती है।

तत्त्व पच्चीस है:—इन से पहले का नाम सत्वगुण है वह सुख का लक्षण बताया है इन तीनों गुणों में लक्षण यह लिंग है, सत्वगुण का प्रसन्नता का चिन्ह बताया है, राजोगुण का चिन्ह संताप बताया है, तमोगुण का चिन्ह दीनपना बताया है। अब १ प्रसाद २ बुद्धपाटव ३ लाघव ४ प्रश्रय ५ अनयिष्वंग ६ अद्वेष, ७ प्रीत्यादया ये सत्व गुणों का कार्य लिंग है ऐसे बताया है। १ ताप २ शोष, ३ भेद ४ चंचलता ५ संतप्त ६ उद्वेग ये रजगण के लिंग बताया है ।

१ दैन्य २ मोह, ३ मरण, ४ असादन, ५ वीभत्स ६ ज्ञान गौरवादि है, इन छहों को तमोगुणों के लिंग बताया है। इन कार्यों से सत्वादि गुण को जाने जाते हैं।

जीव को जो सुख उत्पन्न होता है, वह सुख आर्जव मार्दव, सत्य, शौच, लज्जा, बुद्धि, क्षमा, अनुकम्पा, प्रसादादि यह सर्व कार्य सत्वगुणों का कार्य है।

और जो कुछ दुःख उपलब्ध होता है सो द्वेष, द्रोह, मत्सर, निन्दा, वचन बंधन, तपादि स्थान है। सो रजोगुण के कार्य है। और जो कुछ मोह उपलब्ध होता है सो अज्ञान

मद आलस्य भय दैन्य कृपणता, नास्तिकता, विषाद, उन्माद, स्वप्नादि यह तमोगुण के कार्य है। यह सत्वादिक परस्परोपकारी तीन गुणों करके सर्व जगत् व्याप्त है। परन्तु उर्ध्व लोक में देवताओं में विशेषता करके सत्वगुण है। और अधोलोक तिर्यंच तथा नरकों में विशेषता करके तमोगुण है। और मनुष्यों में विशेषता करके रजोगुण है। इन तीनों गुणों की जो सम अवस्था है उसका नाम प्रकृति है। उस प्रकृति को प्रधान व्यक्त शब्दों द्वारा कहा जाता है। सो प्रकृति नित्य स्वरूप है।

'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थ नित्यं' यह नित्य का लक्षण है और यह जो प्रकृति है सो अन्वय वा असाधारण अशब्द, अस्पर्श, अरस, अरूप, अगन्ध अव्यय कहते हैं। कुछ एक एक आत्मा के साथ अलग२ प्रधान मानते हैं। प्रकृति और आत्मा के संयोग से सृष्टि होती है।

सांख्य मत में २५ तत्व माने हैं :—

मूल प्रकृतिरविकृति, र्महदाद्याः, प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो विकृतयः न प्रकृति र्नविकृतिः पुरुषः इति ॥ सांख्य कौमुदी ॥

अर्थ—मूल प्रकृति अविकृति है। महत् आदिक सात प्रकृति विकृति है। षोडस विकार विकृति है पुरुष न प्रकृति न विकृति है। तथा महदादिक, प्रकृति का विकार है, सो व्यक्ति होकर फिर अव्यक्त हो जाता है। सो अनित्य होने से अपने स्वरूप में भ्रष्ट हो जाते हैं। और प्रकृति जो है सो अविकृतिरूप है, सो कदापि अपने स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होती है। तथा महत् आदिकों का और प्रकृति का स्वरूप सांख्य मत वाले ऐसे मानते हैं। १ हेतुमत् २ अनित्य ३ अव्यापक ४ सक्रिय ५ अनेक ६ आश्रित ७ लिंग ८ सावयव ९ परतन्त्र १० व्यक्ति, इनमें विपरीत प्रकृति है।

पच्चीसवां पातंजली पुरुष तत्व का स्वरूप कहते हैं। पुरुष जो है वह 'अकर्ता विगुणोभोक्तानित्य चिद्भ्युयेतश्चः' पुरुषतत्व आत्मा को कहते हैं। आत्मा जो है वह विशेष विषय सुखादिक उनके कार्य पुण्यादिक नहीं करता है। इसलिए अकर्ता है। क्योंकि आत्मा तृणमात्र भी तोड़ने को समर्थ नहीं है। और कर्ता जो है प्रकृति है क्योंकि प्रकृति में प्रवृत्ति स्वभाव है तथा विगुणः सत्वादिक गुण रहित है। क्योंकि सत्वादिक गुण है वह प्रकृति के धर्म हैं। तथा 'भोक्ता' आत्मा भोगने वाला है। भोक्ता भी संक्रमण साक्षात् नही है किन्तु प्रकृति का विकारभूत उभय मुख दर्पणाकार की जो बुद्धि है उसमें होते हुए सुख दुःखों को पुरुष स्वात्म निर्मल विषय में प्रतिबिम्ब मात्र करने वाले हैं इसलिए उसको भोक्ता कहते हैं।

"बुद्धयवसितमर्थं पुरुषश्चेतत इति वचनात् ।।"

जैसे जपा फूलों के सम्बन्ध के कारण स्फटिक में रक्तादि कहने में आता है उसी प्रकार प्रकृति के निकट पुरुष भी सुख दुःखों का भोक्ता कहा जाता है । सांख्य मत के ग्रन्थ महार्णव में जैसे कहा भी है "बुद्धिदर्पणसंक्रांतं समर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीय दर्पणं कल्पे पुंसिअद्ध्यारोहति । तदेव भोक्तृत्व मस्य नत्वात्मनोविकारापत्तिरिति ।।" इसका अर्थ ऊपर लिखे के अनुसार है । सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम । इसमतका नाम सांख्य शाख्य कहा है ? इसका मतलब यही है कि सांख्य प्रकृति तत्व पचीस रूप जिनको जो जाने वह पढ़े सो सांख्य तथा जिस से तालव्य शकार से बोलेगा तो शाख्य होता है क्योंकि उनके मत से शंख ध्वनि है । उनके वृद्धों की आम्नाय से चलाया हुआ ही नाम है तथा शंख नाम का कोई आदि पुरुष हुआ है । जैसे कहा भी है ।

इस प्रकार संक्षेप में कहा है कि इस मत का निराकरण करने के लिए ग्रंथकार ने 'उवओगमओ' पद रखा है ।

अमूत्ति—यद्यपि जीव व्यवहार नय से मूर्तिक है कर्म के आधीन होने से स्पर्श रस गन्ध और वर्ण आदि मूर्ति वाला होने के कारण मूर्तिक है। तो भी निश्चय नय से अमूर्तिक है अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर शुद्ध बुद्ध रूप स्वभाव का धारक होने से अमूर्तिक है ।

कर्त्ता—यद्यपि यह जीव निश्चय नय से क्रिया रहित टंकोत्कीर्ण अविचल ज्ञान स्वभाव का धारक है तथा व्यवहार नय से मन वचन काय के व्यापार को करने वाला है । इसलिए कर्त्ता कहा है । यह शब्द नैयायिक और वैशेषिक मत की अपेक्षासे है उनका कहना है कि जगत का कर्त्ता ईश्वर है क्योंकि जगत का कर्त्ता किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हो सकता । यह बात उनकी कभी भी सिद्धनहीं हो सकती । वह कहते हैं कि सज्जनों के उपकार के लिए और दुष्टों के संहार के लिए ईश्वर युग में अवतार लेता है । और वादी कहते हैं कि मोक्ष प्राप्त होकर अपने तीर्थ को क्लेश में देख कर फिर भगवान अवतार लेता है जैसे कहा भी है कि:—

ज्ञानिनोधर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदं ।
गत्वा गच्छन्ति भूयोपि, भवंतीर्थनिकारतः ।।१।।

जो फिर संसार में अवतार लेता है वह परमार्थ से उनको मोक्ष नहीं हुआ क्योंकि उनका कर्म क्षय नहीं हुआ । जिसका सम्पूर्ण कर्म का क्षय हो जाता है वह किसी को देख कर क्यों दुःखी होगा और किस के लिए जन्म लेगा । जिसके साधुओं के उपकार करने के

लिए और दुष्टों के संहार करने के लिए अवतार लेता है तब तो असमर्थ हुआ क्योंकि बिना ही अवतार के लिए हुए वह काम नहीं कर सकता इसलिए फिर गर्भवास में पड़ा। इसलिए ईश्वर तो संसारी मानना पड़ेगा परन्तु जिसका कर्म का क्षय हो गया तो वह संसार में क्यों जायेगा क्योंकि कहा भी है कि :—

दग्धे बीजे यथात्यंतं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्म्मबीजे तथा दग्धे'न रोहति भवांकुरः ॥
उक्तंच श्री सिद्धसेन दिवाकर पादैरपि।
भवाभिगामुकानां प्रबलमोह विजृंभितं ॥

दग्धेंधनः पुनरूपैति भवं प्रमथ्य निर्वाणमप्यनवधारितभीरनिष्टं।
मुक्तः स्वयं कृततनुश्च परार्थशूंरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यं ॥

जगत का कर्ता ईश्वर सिद्धि में प्रमाण का अभाव है इसलिए उनको नहीं मानते हैं। इसलिए जैनाचार्य ने कहा है कि जीव शुभअशुभ कर्म का कर्ता है सृष्टि का कर्ता नहीं है इसलिए कर्ता शब्द का उपयोग किया गया है।

स्वदेहपरिमाण—यद्यपि जीव निश्चय नय से लोकाकाश के समान स्वभाविक शुद्ध असंख्यात प्रदेशी का धारक है तो भी शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के अधीन होने से घटादिक में स्थित दीपक की तरह अपने शरीर के बराबर है।

सांख्य और नैयायिक मत वाले का कहना है कि जीव सर्व व्यापी है उनके भ्रान्ति को दूर करने के लिए इसका स्वदेह परिमाण शब्द रखा है।

भोक्ता—यद्यपि जीव अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म फल का स्वयं भोक्ता है तथा अपनी आत्मा के सुखरूपी अमृत का भोगने वाला है तो भी अशुद्धनय की अपेक्षा उस प्रकार के सुख अमृतभोजन के अभाव से शुभकर्म से उत्पन्न सुख और अशुभ कर्म से उत्पन्न दुःखका भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है। ईश्वर क्रोधित होकर इस जीव को नरकादि अनेक दुःख को स्वर्गादि सुख को करता है. ऐसे मानने वाले वैशेषिक मत के भ्रम को दूर करने के लिये जीव भोक्ता है ऐसा कहा है।

संसारस्थो—जीव हमेशा शुद्ध है ऐसे सांख्य मत तथा सदाशिव मत वालोंके भ्रम को दूर करने के लिये जीव संसारी भी है ऐसे कहा है। अर्थात् ये जीव संसार में स्थित है यद्यपि जीव शुद्ध निश्चय नय से संसार रहित है और नित्य आनन्द स्वभाव का धारक फिर भी अशुद्ध नय की अपेक्षा द्रव्य क्षेत्र काल भव-भाव इन पांच प्रकार के संसार में रहता है। इसलिए संसारस्थ इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

सिद्धो—जीव का मोक्ष नहीं है ऐसा कर्म मीमांसक मत का भ्रम को दूर करने के लिए मोक्ष अवस्था भी है ऐसा कहा है। आत्मा पर्याय रूप है द्रव्य रूप नहीं है ऐसे मानने वाले बौद्ध मत का निराकार करने के लिए आत्मा का द्रव्य पर्याय लक्षण रूप है। ऐसा कहा है। कर्म को नाश किया हुआ सिद्ध भगवान पुनः कर्म अवस्था को प्राप्त होता है।

विस्सोढगई—जैसे पानी में डूबा हुआ घड़ा दिखता नहीं उसी प्रकार जीव ऊर्ध्व स्वभाव गमन वाला नहीं है इस प्रकार मांडलीक मत का निराकरण करने के लिये जीव उर्ध्वगमन स्वभाव वाले हैं।

जीवो—अशुद्ध नय से अशुद्धद्रव्य से अशुद्ध भाव प्राण है शुद्ध भाव नय की अपेक्षा से जीव शुद्ध भाव प्राण से जीने वाले हैं। उवओगमओ-अशुद्ध नय से क्षयोपशमिक ज्ञान दर्शन उपयोग लक्षण वाले हैं। अमुत्ति अशुद्ध नय से जीव मूर्तीक है शुद्ध नय की दृष्टि से अमूर्तिक है।

अमुत्ति—यह जीवात्मा अपने उपार्जन किये हुए शुभाशुभ नामकर्म अनुसार पृथ्वीकाय, अपकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, इत्यादि एकेन्द्रिय जाति में जन्म धारण करने वाला होने के कारण यत्र तत्र नीच उच्च गतियों में भूत अर्थात् पिशाच के समान भ्रमण करनेवाला है और कर्म सम्बन्ध के कारण मूर्तिक भी है। यद्यपि यह जीव व्यवहार नय से मूर्ति के सहित होने के कारण मूर्तिक है तो भी निश्चय नय से अमूर्तिक यानी इन्द्रिय के अगोचर शुद्ध बुद्ध रूप स्वभाव का धारक होने से अमूर्तिक है।

कर्ता—सांख्य मत वाले कहते हैं कि ईश्वर जगत का कर्ता है और जो भी संसार में जीव के प्रति सुख दुःख होता है ईश्वर की प्रेरणा से ही होता है। जीवात्मा कुछ भी नहीं करता है ऐसे कहने वाले सांख्य मत के भ्रम को दूर करने के लिये ग्रंथकार ने कहा है कि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है जीव शुभाशुभ कर्म का कर्ता है। इसलिये कर्ता शब्द का निरूपण किया गया है।

भोक्ता—जीव अपने शुभाशुभ कर्मों का फल स्वयं भोक्ता है। यद्यपि यह जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से रागादि विकल्प रूप उपाधियों से रहित है तथापि अपनी आत्मा के सुखरूपी अमृत का भोगनेवाला है। तो भी अशुद्ध नय की अपेक्षा से इस प्रकार शुभ और अशुभ कर्म के उदय से उत्पन्न सुख और अशुभ कर्म से उदय हुए दुःख का भोगने वाला है इससे बौद्ध और नैयायिक मत के भ्रम को दूर करने के लिए जीव भोक्ता है। इस प्रकार कहा है तथा इसी प्रकार ईश्वर क्रोधित होकर इस जीव को नरकादि में अनेक दुःख और स्वर्गादि में सुख देता है। इस प्रकार वैशेषिक मत के निराकरण के लिए भोक्ता इस प्रकार का पद दिया।

संसारत्थो—जीव हमेशा शुद्ध है इस प्रकार मानने वाले सांख्य और सदा शिव मत के भ्रम को दूर करने के लिए जीव संसारी है इस प्रकार कहा गया है। अर्थात् जीव संसार में स्थित है। यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा संसार से रहित है और नित्यानन्द स्वभाव का धारक है। फिर भी अशुद्ध नय की अपेक्षा से द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच २ प्रकार के संसार में रहता है इस कारण संसारत्थ है ऐसा कहा है।

सिद्धो—शून्य रूप ही निर्वाण है। आत्मा पर्याय वाची है। द्रव्य रूप नहीं। ऐसा बौद्ध मत वाले मानते हैं। यद्यपि यह जीव व्यवहार नय से जो निजात्म रूप सिद्धत्व है। उसके प्रति पक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है तो भी निश्चय नय से अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन स्वरूप सुख और वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय का धारी है। सिद्ध रूप है। इसलिए गाथा में सिद्ध पद दिया।

विस्रसोढगई—अर्थात् स्वभाव से उर्ध्व गति करने वाला है। यद्यपि यह जीव व्यवहार नय से चारों गतियोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मों के कारण ऊँचा नीचा तथा तिर्यक् गमन करने वाले हैं सो भी फिर भी निश्चय नय से केवल ज्ञानादि रूप अनन्त गुणों का धारण करनेवाला है अष्ट कर्मों का नाश कर स्वभाव से उर्ध्वगति करनेवाला है पर सांख्य मत वाले मानते हैं कि कर्म को नाश किया हुआ सिद्ध भगवान पुनः कर्म अवस्था को प्राप्त होता है। वैसे पानी में डाला हुआ घड़ा ऊपर आ जाता है फिर डूब जाता है। इस तरह आत्मा मुक्त हो जाता है। तथा आर्यसमाजी भी इसी प्रकार मानते हैं कि मुक्त होने के पश्चात् कुछ समय बाद यह जीव लौट आता है। परन्तु यह सिद्धांत ठीक नहीं है। क्योंकि कारण के अभाव होने पर कार्य की सिद्धि नहीं होती कर्म कलंक मिट जाने पर मुक्तात्मा क्यों संसार में जन्म लेगा ? इसलिए जैन धर्म का सिद्धान्त है कि इस जीव में परमात्मा होने की शक्ति है और जब कर्म नाश कर मुक्त होता है तो स्वभाव से उर्ध्वगति करता है मुक्तात्मा कभी कल्पांत काल तक भी संसार में लौट कर नहीं आती। इसलिए विस्रसोढ-गई पद दिया। इस प्रकार विभिन्न पद जो रक्खें है वे अनेक वादियों की दृष्टि में रखकर ही कहे गये हैं।

अब उन मतों का संक्षिप्त विवेचन करते हैं जिनके सम्बन्ध में अभी चर्चा की है चार्वाक के लिए की सिद्धि की गई है। नैयायिक के लिए जीव का दर्शन ज्ञान स्वभाव उपयोग रूप कहा है।

चार्वाक के लिये जीव का अस्तित्व और अमूर्ति स्वभाव कहा है।

ईश्वर जगत का कर्त्ता है। यह सांख्य मत का सिद्धांत है उसको दूर करने के लिए

आचार्यों ने कर्ता कहा है अर्थात् यह आत्मा अपने कर्मों का करने वाला है।

यह कथन नैयायिक मीमांसक सांख्य इन तीनों के प्रति है। आत्मा कर्मों का भोक्ता यह कथन बौद्धों के प्रति है।

आत्मा संसारस्थ है यह कथन सदाशिव के लिए है आत्मा सिद्ध है यह कथन चार्वाक के प्रति है।

जीव का उर्ध्वगति स्वभाव है यह कथन मंडलीक मत वालों के लिए है। इस तरह प्रत्येक मत को दृष्टि में रखकर गाथा में विशेषण दिये हैं।

जैन मत के अनुसार यह जीव अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है यह बात आगम से प्रसिद्ध है। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा जो जीव का स्वरूप है वह ग्रहण करने योग्य है इस प्रकार हेयोपादेय रूप से भावार्थ समझना चाहिये। इस तरह शब्द नय, मत आगम, अर्थ भावार्थ, यथा संभव आगे चलकर इसका स्पष्टीकरण करेंगे। जैनधर्म अनेकान्त मय है। निश्चय नय से जीव उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यादि रूप होकर परिणमन करता है। जीव तत्व की अपेक्षा सान्ततत्व भी कहा जाता है पंचास्तिकाय रूप में भी परिणमता है इस प्रकार जीव द्रव्य का वर्णन किया।

इसलिए ज्ञानी पुरुषों को अशुद्ध नय का भाव त्यागकर शुद्ध निश्चय का अवलम्बन करना चाहिये।

इस नय को स्पष्ट करने के लिऐ आगे सूत्र कहते हैं:—

पुनरप्यध्यात्म भाषयानया उच्यन्ते तत्र तावन् मूलनयौ द्वौ निश्चयव्यवहार-योश्च। तत्र निश्चयोऽभेदविषयः व्यवहारभेदविषयः। तत्र निश्चयोद्विविधः। शुद्ध निश्चयोऽशुद्ध निश्चयाश्च तत्र निरूपाधिक गुणगुणयभेद विषयः शुद्ध-निश्चयः यथा केवलज्ञानादयः। जीव इति स्वोपाधि विषयो शुद्ध निश्चयो यथा रागादयः। जीव इतिव्यवहारो द्विविधः। सद्भूत व्यवहारो ऽसद्भूत व्यवहारश्च। तत्रैक वस्तु विषयः। सद्भूत व्यवहार भिन्न वस्तु विषयो सद्भूत व्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरित्भेदात्। तत्र सोपाधिगुण गुणी भेद विषयः। उपचरिता सद्भूत व्यवहारः यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः। निरूपाधि गुणगुणी-भेद विषयो नुपचरिता सद्भूत व्यवहारो द्विविधः। उपचरिताऽनुचरित् भेदात्। तत्र संक्लेषरहित वस्तु संबन्धविषयः, उपचरिता सद्भूत व्यवहारः, यथा देवदत्तस्य धनमिति संश्लेष सहित वस्तु संबन्ध विषयोनुपचरिता सद्भूत व्यवहारः, यथा जीवस्य शरीरमिति।

अब नयों का विवेचन करते हैं:—मुख्य रीति से नय दो प्रकार का है। जहां पर किसी विषय का भेद नहीं है उसे निश्चय नय कहते हैं और जिस नय का विषय भेद रूप है उसे व्यवहार नय कहते हैं।

निश्चय नय दो प्रकार का है शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। आत्मा की शुद्ध दशा का वर्णन करना शुद्ध निश्चय नय का विषय है।

जहां पर गुण और गुणी में कोई अन्तर नहीं है जैसे जीव के केवल ज्ञानादिक गुण और कर्म के क्षयोपशम से जो आत्मा के भाव हैं वहअ शुद्ध निश्चय नय का विषय है जैसे जीव के मतिज्ञानादिक गुण। व्यवहार नय दो प्रकार का है सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय जहां पर एक वस्तु की अपेक्षा से कथन किया जाता है अर्थात् जहाँ पर गुण गुणी में भेद रक्खा जाय जैसे वृक्ष और उसकी शाखा। अन्य द्रव्य के गुणों की बल पूर्वक अन्य द्रव्य में संयोजना करना व्यवहार नय है जैसे क्रोधादिक यद्यपि मूर्त है तो भी उन्हें जीव में कहना।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय—जिस पदार्थ की जो आत्मभूतशक्ति है उसको अवान्तर भेद किये बिना जो सामान्य रूप से उसी पदार्थ को बतलाता है वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय—अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है ऐसा कहना असद्भूत व्यवहार नय है जैसे मति ज्ञान आदि जीव के हैं।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय—यहां अबुद्धिपूर्वक होने वाले क्रोधादिक भाव को जीव का कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय माना गया है। जैसे यह शरीर मेरा है।

निश्चय नय में कोई भेद नहीं है। नयों के स्वरूप को पहचान कर पदार्थों के स्वरूप को ठीक जान सकते हैं। उपचरित सद्भूत व्यवहार नय उसे कहते हैं जहां पर वस्तु को मान लिया जाय। जैसे देवदत्त का धन।

जहां पर पदार्थ के सम्बन्ध से उसे मान लिया जाय जैसे जीव का शरीर।

निश्चयनय पदार्थ के स्वाभाविक विषय को बतलाता है। जिस में किसी प्रकार का भेद नहीं है और व्यवहार नय पदार्थ का माना हुआ रूप है। जैसे मिट्टी के घड़े में दूध या घी के सम्बन्ध से दूध या घी का घड़ा कहना, सो व्यवहार नय है।

इसलिए नयों का स्वरूप भली प्रकार जानना चाहिये। क्योंकि जिनशासन में प्रवेश करने के लिए व्यवहार और निश्चय नय दोनों का स्वरूप जानना चाहिये। यदि निश्चय नय को छोड़ दिया जायगा तो पदार्थ के स्वरूप का और व्यवहार को छोड़ा जायगा तो धर्म तीर्थ का लोप होजायगा। इसलिए दोनों प्रकार की नयों को अवश्य जानना चाहिये।

जैन धर्म

अनेकान्त वाद स्वरूप है। अनेकान्त वाद जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। जैन तत्वज्ञान की सारी इमारत कीनींव अनेकान्त वाद के सिद्धान्त पर ही अचल रूप से अवलम्बित है। वास्तव में इसे जैन दर्शन की मूल भित्ति समझना चाहिये। अनेकान्त शब्द एकान्त तत्व सर्वथा एव-मेव इस एकान्त निश्चय का निषेधक और विविधता विधायक है।

सर्वथा एक ही दृष्टि से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण समझ करही जैन दर्शन में अनेकान्त वाद को मुख्य स्थान दिया है।

अनेकान्त का अर्थ—जिसमें अनेक अन्त धर्म हैं ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उसमें मूर्ति नित्य सदा ही प्रकाश रूप हो। अर्थात् वह मूर्ति ऐसो है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं।

ऐसा और प्रत्यक् (पर द्रव्यों से) पर द्रव्य के गुण पर्यायों से भिन्न तथा पर द्रव्यों के निमित्त से हुए अपने विकारों से कथंचित् भिन्न प्राकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्व को अर्थात् असाधारण जातीय विजातीय द्रव्योंके विलक्षण निज स्वरूप को पश्यन्ति (अर्थात अवलोकन करती है यह अनेकान्त वाद का अर्थ है। अनेकान्त वाद का (पदार्थों को विभिन्न दृष्टि से देखना) वैदिक धर्म की अपेक्षा पर्यालोचन । करते हैं तात्पर्य यह है कि पदार्थ में भिन्न वास्तविक धर्मों का सापेक्ष्य वीकार करना अनेकान्त वाद है।

जैसे एक ही पुरुष विभिन्न सम्बन्धियों की अपेक्षा से पिता पुत्र और भ्राता आदि समझा जाता है ठीक इसी प्रकार अपेक्षा भेद से अनेक धर्मों की सत्ता प्रमाणित होती है।

स्याद्वाद अपेक्षा वाद और कथंचित्वाद अनेकान्त शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं। स्यात् का अर्थ है कथंचित् (किसी अपेक्षा से) स्यात् एवं सर्वथापने का निरोधक अनेकान्तवाद का द्योतक कथंचित् धर्म में व्यवहृत होने वाला है।

जैन दर्शन किसी भी पदार्थ को एकान्त नहीं मानता। उसके मत से प्रत्येक पदार्थ ही अनेकान्त रूप हैं। केवल एक ही दृष्टि से किए गए पदार्थ निश्चय को जैन दर्शन अपूर्ण समझता है। उसका कथन है कि पदार्थ का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि हम उसमें अनेक प्रतिद्वन्दी परस्पर विरोधी धर्म को देखते हैं। यदि वस्तु में रहने वाले किसी ही धर्म को लेकर उस वस्तु का निरूपण करे उसी को सर्वांश रूप में सत्य समझे तो वह विचार अपूर्ण एवं भ्रान्त ही ठहरेगा। क्योंकि जो विचार एक ही दृष्टि से सत्य समझा जाता है तद्विरोधी विचार भी दृष्टयन्तर से सत्य ठहरता है।

उदाहरणार्थ—किसी एक पुरुष व्यक्ति को लीजिये। अमुक नाम का एक पुरुष है उसे कोई पिता और कोई पुत्र कोई भाई अथवा भतीजा चाचा कहकर पुकारता है। एक पुरुष

की इन भिन्न संज्ञाओं से प्रतीत होता है कि उस में पितृत्व और भ्रातृत्व आदि अनेक धर्मों की सत्ता मौजूद है। जब यदि उसमें रहे हुए केवल पितृत्व धर्म की ही ओर दृष्टि रखकर सर्व प्रकार से पिता ही मान बैठेंगे तब तो बड़ा अनर्थ हो जायगा वह हर एक का पिता ही सिद्ध होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है वह पिता भी है और पुत्र भी है। अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है। और स्वकीय पिता की अपेक्षा वह पुत्र कहलाएगा। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से इन सभी उक्त संज्ञाओं का उसमें निर्देश किया जा सकता है। जिस तरह अपेक्षा भेद से एक ही देवदत्त व्यक्ति में पितृत्व पुत्रत्व ये दो विरोधी धर्म अपनी सत्ता का अनुभव कराते हैं उसी तरह हर एक पदार्थ में अपेक्षा भेद अनेक विरोधी धर्मों की प्रतीति प्रमाण सिद्ध है। यह दशा सब पदार्थों की है उनमें नित्यत्व आदि अनेक धर्म दृष्टि गोचर होते हैं। इसलिये पदार्थों का स्वरूप एक समय में ही शब्द द्वारा सम्पूर्णतया नहीं कहा जा सकता और नयी वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों में से किसी एक ही को स्वीकार कर के अन्य धर्मों का अपलाप किया जा सकता है। अतः केवल एक ही दृष्टि विन्दु से पदार्थ का अवलोकन न करते हुए भिन्न-भिन्न दृष्टि विन्दुओं से ही उसका अवलोकन करना न्याय संगत और वस्तु स्वरूप के अनुरूप होगा बस इसी तरह संक्षेप से जैन दर्शन के अनेकान्त बाद का यही तात्पर्य हमें प्रतीत होता है।

जैन दर्शन के इस सिद्धान्त का आगे, वैदिक दर्शनों में किस रूप में और किस प्रौढ़ता से समर्थन किया है। इसका दिग्दर्शन आगे चलकर करायेंगे। दर्शन शास्त्रों के परिशीलन से हमारा इस बात पर पूर्ण विश्वास हो गया है कि अनेकान्तवाद का सिद्धान्त, अनुभव सिद्ध स्वाभाविक तथा परिपूर्ण सिद्धांत है। इसकी स्वीकृति का सौभाग्य किसी न किसी रूप में सभी दार्शनिक विद्वानों को प्राप्त हुआ है। अनेकान्तवाद से सिद्धांत की सर्वथा अवहेलना करके कोई भी तात्विक सिद्धांत पूर्णता का अनुभव नहीं कर सकता है ऐसा जैन सिद्धान्त का मत है।

पदार्थों का व्यापक स्वरूप

विश्व के पदार्थों का भली भाँति अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वे सब उत्पत्ति विनाश और स्थिति से युक्त हैं। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। जहां हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अनुभव करते हैं वहां पर उसकी स्थिरता का भी अविकल रूप से भान होता है। उदाहरण के लिए एक सुवर्ण पिण्ड को ही लीजिए प्रथम सुवर्ण पिण्ड को गला कर उसका कटक (कड़ा) बना लिया गया और कटक को तोड़ करके उसका मुकुट तैयार किया गया यहां पर सुवर्ण पिंड के विनाश से

उत्पत्ति विनाश के सिलसिले में मूल वस्तु स्वर्ण की सत्ता बराबर मौजूद है। पिण्ड दशा के विनाश और मुकुट के उत्पाद काल में भी स्वर्ण बराबर विद्यमान है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के केवल साकार विशेष का होता है न कि मूल वस्तु का। मूल वस्तु को तो लाखों परिवर्तन होने पर भी अपनी स्वरूप स्थिरता से सर्वथा च्युत नहीं होता। कटक कुण्डलादि, सुवर्ण के केवल आकार विशेष हैं, इन आकार विशेषों का ही उत्पन्न और विनष्ट होना देखा जाता है। इनका मूल तत्त्व सुवर्ण तो उत्पत्ति विनाश दोनों से अलग है। इस उदाहरण से यह प्रमाणित हुआ कि पदार्थ में उत्पत्ति विनाश और स्थिति ये तीनों ही धर्म स्वभाव सिद्ध हैं। किसी भी वस्तु का मूल से विनाश नहीं होता। वस्तु के किसी आकार विशेष का विनाश होने से यह नहीं समझना चाहिये कि वह बिल्कुल नष्ट हो गई। नहीं! वह अपने एक नियत आकार को जोड़ कर आकारान्तर को धारण कर लेती है। अतः मूल स्वरूप से वस्तु न हो तो सर्वथा नष्ट होती है। और न ही सर्वथा नवीन उत्पन्न होती है। किन्तु मूल वस्तु के आकार में जो विशेष २ प्रकार के परिवर्तन होते हैं वे ही उत्पत्ति और विनाश के नाम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। मूल द्रव्य तो आकार विशेष की उत्पत्ति विनाश और स्थितिशील है, यह बात भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है। इसी आशय से जैन ग्रंथों में 'उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' यह पदार्थ का लक्षण निर्दिष्ट किया है। यहाँ पर उत्पाद व्यय को पर्याय और ध्रौव्य को द्रव्य के नाम से अभिहित करके वस्तु-पदार्थ को द्रब्य पर्यायात्मक भी कहा है। द्रव्य स्वरूप नित्य और पर्याय स्वरूप अनित्य है। द्रव्य नित्य स्थायी और पर्याय बदलते रहते हैं।

जैन दर्शन अनेकान्तवाद प्रधान दर्शन है। जैनदर्शन के अनेकान्तवाद को जैनेतर दार्शनिक विद्वानों ने भी तात्विक विचार में कई स्थलों पर उसे किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है इस बात के समर्थनार्थ कतिपय दार्शनिक विद्वानों के लेखों को उद्धृत करते हैं।

ईश्वरवादी सांख्य दर्शन के आदरणीय ग्रन्थ पातञ्जल योग शास्त्र में ऋषि व्यास और उस पर तत्त्व विशारदी नाम की विख्यात टीका के कर्ता आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कई स्थलों पर अनेकान्तवाद का अनुसरण तथा प्रतिपादन किया है।

वैशेषिक दर्शन में भी अनेकान्तवाद का उल्लेख पाया जाता है। जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ को सामान्य विशेष उभय रूप से ही स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त को महर्षि कणाद ने सर्वथा तो नहीं पर अपनाया अवश्य है। जैनसिद्धान्त के उक्त सिद्धान्त को निम्न लिखित शब्दों में बड़ी सुन्दरता से समर्थन किया है अर्थात् उन्होंने भी उक्त सिद्धान्त का परष्टतया निम्न लिखित शब्दों में प्रतिपादन किया है। जैसे—

द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्णं कथा चिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिंडा कृतिमुपमृद्यरुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्यकटकाः क्रियन्ते कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरया ऽऽकृत्यायुक्तः खदिरांगार सदृशे कुण्डले भवतः। आकृति रन्याचान्याच भवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपर्मेदन द्रव्यमेवाव शिष्यते ।

अर्थात्—द्रव्य मूल पदार्थ नित्य और आकृति आकार पर्याय अनित्य है । सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकारसे पिण्डरूप बनता है पिण्डका विध्वंस करके उसके रुचक दीनार मोहरबनाये जाते हैं, रुचकों का विनाश करके कड़े और कंड़ों के ध्वंस से स्वस्तिक बनाते हैं एवं स्वस्तिकोंको गलाकर फिर सुवर्ण पिण्ड तथा उसकी विशिष्ट आकृतिका उपमर्दन करके खदिरांगार सदृश दो कुंडल बना लिये जाते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि आकार तो उत्तरोत्तर बदलते रहते हैं परन्तु द्रव्य वास्तव में वही है कि आकृतिक के विशिष्ट होने पर भी द्रव्य शेष रहता है । इस तरह के अनेक उदाहरण इस जैन सिद्धान्त के बारे में मिलते हैं ।

अब आगे सर्वशंकाओं को दूर कने के लिये सप्तभंगी का स्वरूप कहते हैं—

सिय अत्थिणत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणोय तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ १४ ॥

—पंचास्तिकाय, कुन्दकुन्दाचार्य

द्रव्य प्रगटपने रूप विवक्षा या प्रश्नोत्तर के कारण से सात भेद रूप होते हैं। स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ।

अन्य ग्रंथ में कहा है कि—

एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनय वाक्यतः ।
सदादिकल्पना या च सप्तभंगी सा मता ॥

एक ही पदार्थ में बिना किसी विरोध के प्रमाण व नय के वाक्य से सत् आदि की कल्पना करना सो सप्तभंगी कही गई है ।

जैसे—(१) स्यात् अस्ति अर्थात् कथंचित् या किसी अपेक्षा से द्रव्य है अर्थात् द्रव्य अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा से है । (२) स्यात् नास्ति अर्थात् कथंचित् या किसी अपेक्षा से द्रव्य नहीं है अर्थात् परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप पर चतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य नहीं है । (३) स्यात् अस्ति नास्ति अर्थात् कथंचित् द्रव्य है व नहीं

दोनों रूप है। अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है, परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं है। (४) स्यात् अवक्तव्य अर्थात् कथंचित् द्रव्य वचन गोचर नहीं है अर्थात् एक समय में यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा है व परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं है क्योंकि कहा है—'क्रमप्रवृतिर्भारती' अर्थात् वाणी क्रम क्रम से ही बोली जा सकती है। (५) स्यात् अस्ति अवक्तव्य अर्थात् कथंचित् द्रव्य है और अवक्तव्य दोनों रूप है अर्थात् स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से है परन्तु एक साथ स्वपर द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है। (६) स्यात्नास्ति अवक्तव्य अर्थात् कथंचित् द्रव्य नहीं और अवक्तव्य दोनों रूप है अर्थात् परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नहीं है परन्तु एक साथ स्वपरद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है। (७) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य अर्थात् किसी अपेक्षा से है व नहीं तथा अवक्तव्य तीनों रूप है अर्थात् क्रम से स्वचतुष्टय की अपेक्षा है, परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं है परन्तु एक साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य है। इस तरह ये सात भंग प्रश्न के उत्तर के वश से द्रव्य में संभव हैं। अर्थात् (१) क्या द्रव्य है? (२) क्या द्रव्य नहीं है? (३) क्या द्रव्य दोनों रूप है? (४) क्या द्रव्य अवक्तव्य है? (५) क्या द्रव्य अस्ति और अवक्तव्य दो रूप है? (६) क्या द्रव्य नास्ति और अवक्तव्य दो रूप है? (७) क्या द्रव्य अस्ति नास्ति और अवक्तव्य तीन रूप है? इन प्रश्नों के किये जाने पर उनका सात प्रकार ही समाधान उत्तर में किया जाता है। यह प्रमाण सप्तभंगी का स्वरूप कहा। एक ही द्रव्य किस तरह सात भंग रूप होता है? ऐसा प्रश्न होने पर उसका समाधान करते हैं कि जैसे देवदत्त नाम का पुरुष एक ही है वही मुख्य और गौण की अपेक्षा से बहुत प्रकार है सो इस तरह पर है कि-वही देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता कहा जाता है। वही अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र कहा जाता है, मामा की अपेक्षा से भानजा कहा जाता है, वही अपने भानजे की अपेक्षा से मामा कहा जाता है, अपनी स्त्री की अपेक्षा से भर्तार कहा जाता है, अपनी बहन की अपेक्षा से भाई कहा जाता है, अपने शत्रु की अपेक्षा से शत्रु कहा जाता है, वही अपने इष्ट की अपेक्षा से मित्र कहा जाता है इत्यादि। तैसे एक ही द्रव्य मुख्य और गौण की अपेक्षा के वश से सात भंग रूप हो जाता है। इसमें कोई दोष नहीं है, यह सामान्य व्याख्यान है। यदि इससे सूक्ष्म व्याख्यान करें तो द्रव्य में जो सत् एक नित्य चाहिये वे इस तरह कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि या स्यात् एक, स्यात् अनेक. स्यात् एक अनेक, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि वा स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् नित्यानित्य, स्यात् अवक्तव्य इत्यादि। ये प्रत्येक के सात भंग इसी देवदत्त के दृष्टान्त के समान होंगे। जैसे एक ही देवदत्त (१) स्यात् पुत्र है अर्थात्

अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है। (२) स्यात अपुत्र है अर्थात् अपने पिता के सिवाय अन्य की अपेक्षा से वह पुत्र नहीं है। (३) स्यात् पुत्र अपुत्र दोनों रूप है । अर्थात् अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तथा अन्य की अपेक्षा पुत्र नहीं है। (४) स्यात् अवक्तव्य है अर्थात् एक ही समय भिन्न २ अपेक्षा से कहें तो यह नहीं कह सकते हैं कि पुत्र अपुत्र दो रूप है। (५) स्यात् पुत्र और अवक्तव्य है अर्थात् यह देवदत्त जब अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तभी एक समय में कहने योग्य न होने से कि पुत्र है या अपुत्र है यह अवक्तव्य भी है। (६) स्यात् अपुत्र अवक्तव्य है अर्थात् जब यह देवदत्त अपने पिता से अन्य की अपेक्षा अपुत्र है तभी एक समय में कहने योग्य न होने से अवक्तव्य है। (७) स्यात् पुत्र अपुत्र तथा अवक्तव्य है अर्थात् अपने पिता की अपेक्षा पुत्र, पर की अपेक्षा अपुत्र, तभी एक समय में कहने योग्य न होने से अवक्तव्य है । इसी तरह सूक्ष्म व्याख्यान की अपेक्षा से सप्त-भंगी का कथन जान लेना चाहिये। स्यात द्रव्य है इत्यादि, ऐसा पढ़ने से प्रमाण सप्तभंगी जानी जाती है। क्योंकि स्यात् अस्ति यह वचन सकल वस्तु को ग्रहण करनेवाला है इस लिये प्रमाण वाक्य है। 'स्यात् अस्ति एव द्रव्यम्' ऐसा वचन वस्तु के एक देश को अर्थात् उसके मात्र अस्तित्व स्वभाव को ग्रहण करनेवाला है, इससे नय वाक्य है। क्योंकि कहा है कि "सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति।" अर्थात् वस्तु सर्व को कहने वाला वचन प्रमाण के आधीन है और उसी के एक अंश को कहलाने वाला वचन नय के आधीन है। 'अस्ति द्रव्यं' यह प्रमाण वाक्य है । व अस्ति एव द्रव्यं यह नय वाक्य है। इस तरह प्रमाणादि रूप से व्याख्यान जानना । यहाँ छः द्रव्यों के मध्य में से सात भंग रूप जो शुद्ध जीवास्तिकाय नाम का शुद्ध आत्म द्रव्य है वही ग्रहण करने योग्य है। यह भावार्थ है।

भावार्थ—इस गाथा में आचार्य ने सप्तभंगी का स्वरूप इसलिए बताया है कि जब पहले कह चुके हैं कि द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है तब वह द्रव्य एक ही समय में नित्य और अनित्य दोनों रूप सिद्ध होता है, इन दो विरुद्ध स्वभावों को समझाने की रीति सात तरह से होती है। शिष्यों को शंका न रहे वे ठीक २ समझ जावें कि भिन्न २ अपेक्षा से दो विरुद्ध स्वभाव एक पदार्थ में हैं । परन्तु उनका कथन एक समय में वचनों से नहीं हो सकता है। जब हम कहेंगे कि द्रव्य है तब इस वचन का यह भाव होगा कि द्रव्यमें अपनेपने की सत्ता है वा मौजूदगी है तब ही उस द्रव्य में अपने को छोड़ कर अन्य सर्व द्रव्यों की असत्ता है या मौजूदगी नहीं है । ये अस्ति नास्ति दो विरोधी स्वभाव हरएक द्रव्य में मौजूद हैं। जैसे किसी ने प्रश्न किया वहाँ कौन बैठा है ? हमने उत्तर दिया कि वहाँ रामसेवक बैठा है। फिर वह प्रश्न करता

है क्या रामचरण नहीं है ? हम उसी रामसेवक पर लक्ष्य करके जवाब देते हैं कि यहाँ रामचरण नहीं है। हमारे इन दो वाक्यों के कहने का यही भाव है कि रामसेवक में रामसेवकपने की सत्ता या मौजूदगी है तथा उसी समय उसी रामसेवक में रामचरण या अन्य किसी और की असत्ता या गैरमौजूदगी है । इसी को कहेंगे स्यात् अस्ति रामसेवकः स्यात् नास्ति रामसेवकः। फिर इन्हीं बातों को दृढ़ करने के लिए पांच भंग और कहे जा सकेंगे।

जिनका यह मत है कि वस्तु एक रूप ही है, नित्य ही है, अनित्य है, अभावरूप ही है, भावरूप ही है, अर्थात् जो सर्वथा वस्तु को एक २ स्वभावरूप मानकर सन्तोष कर रहे हैं उनको यह जैन सिद्धान्त कहता है कि वस्तु का पूर्ण स्वरूप तुम नहीं कहते हो, वस्तु में अनेक स्वभाव होते हैं उन अनेक स्वभावरूप वस्तु है। वस्तु एक अखंडपिण्ड की अपेक्षा एक रूप है जैसे एक आम का फल। वही वस्तु अपने भिन्न २ गुण, स्वभाव की अपेक्षा अनेक रूप है जैसे आम में चिकनापना, मीठापना, सुगन्धपना, पीतपना आदि स्वभाव भिन्न २ हैं इससे अनेक रूप है। वस्तु गुणों को कभी त्यागती नहीं इस दृष्टि से नित्य है परन्तु वस्तु पर्यायों को समय २ बदला करती है इससे अनित्य है। इत्यादि। ऐसी दशा में कोई भी दो विरोधी स्वभावों को समझाने के लिए सात भंग कहे जो सकते हैं।

यह स्याद्वाद का सिद्धान्त भिन्न २ एकान्त मतों में जो विरोध है उसको मेटकर एकत्व कर सकता है। जैसे कुछ अन्धे पूर्ण हाथी को न देखकर उसकी सूंड को पकड़ कोई कहता था कि सूंडसा है कोई पग पकड़ कर कहता था कि पग सा है, कोई पूंछ पकड़ कर कहता कि पूंछ सा है, इस तरह परस्पर झगड़ा कर रहे थे उस समय कोई देखने वाला बीच में आकर समझा देता है कि ये सब हाथी के अंग हैं। हाथी ही उसे कहते हैं जिसके चार पग हों, सूंड हो, पूंछ हो बस वे सब हाथी को समझ जाते हैं और झगड़ा मिट जाता है। इसी तरह भिन्न २ एकान्तमतों का विवाद इस जैन दर्शन के इस स्याद्वाद सिद्धान्त के समझने से मिट जा सकता है।

इस स्याद्वाद तथा सप्त भंगी की आवश्यक्ता का श्लोकवार्तिक में 'प्रमाणनयैरधिगम' इस सूत्र की व्याख्या में भले प्रकार की है। वह निम्न प्रकार है—

तत्र प्रश्नवशात्कश्चिद्विधौ शब्दः प्रवर्तते।
स्यादस्त्येवाखिलं यद्वस्तुस्वरूपादिचतुष्टयात् ॥४९॥
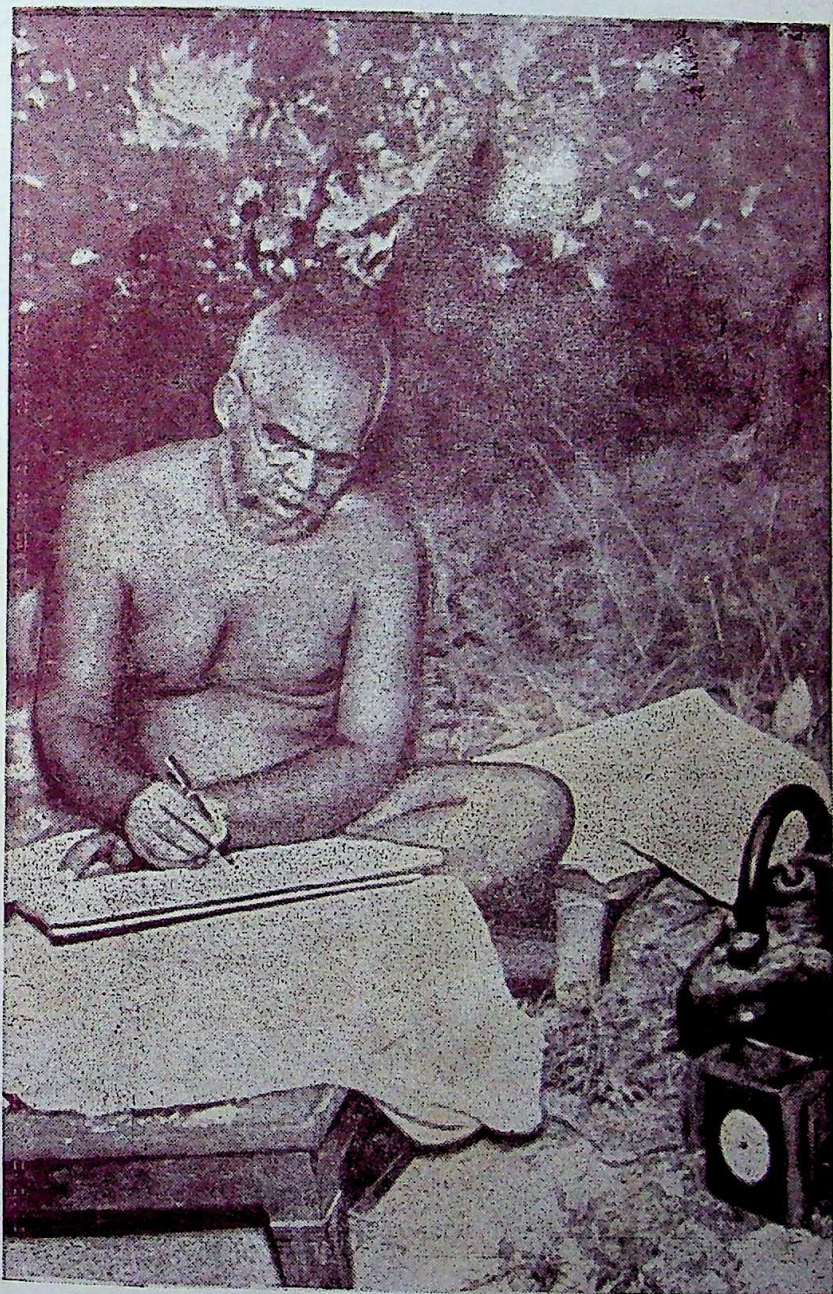
श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज

स्यान्नास्त्येव विपर्यासादिति कश्चिन्निषेधने ।
स्याद्‌द्वैतमेव तद्‌द्वैतादित्यस्तित्वनिषेधयोः ॥ ५० ॥

क्रमेण योगपद्याद्वा स्यादवक्तव्यमेव तत् ।
स्यादस्त्यवाच्यमेवेति यथोचितनयार्पणात् ॥ ५१ ॥

स्यान्नास्त्यवाच्यमेवेति तत एव निगद्यते ।
स्याद्‌द्वयावाच्यमेवेति सप्तभंग्यविरोधतः ॥ ५२ ॥

स्याच्छब्दादप्यनेकांतसामान्यस्यावबोधने ।
शब्दान्तरप्रयोगोऽत्र विशेष प्रतिपत्तये ॥ ५३ ॥

भावार्थ—कभी विधि में यह शब्द कहा जाता है स्यात् अस्ति एव जो स्वरूपादि चतुष्टय से वस्तु को 'है' कहता है, कभी निषेध में स्यात् नास्ति एव कहा जाता है जिसका भाव है कि पर स्वरूपादि की अपेक्षा से वस्तु में नास्ति या अभावपना है । कभी स्यात् अस्ति नास्ति एव कहते हैं जो क्रम से दौनों स्वभावों को बताता है । कभी स्यात् अवक्तव्य कहा जो एक समय में कहने योग्य नहीं यह बताता है । इसी तरह क्रम तथा युगपत् की अपेक्षा से स्यात् अस्ति अवक्तव्य एव, स्यात नास्ति अवक्तव्य एव, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव ऐसे कह सकते हैं । इस तरह सात भंग बिना किसी विरोध के कहे जा सकते हैं ।

स्यात् शब्द तो अनेक धर्मों के सामान्य का बोध कराता है कि वस्तु में अनेक स्वभाव हैं तथा स्यात् शब्द के साथ अस्ति आदि शब्द विशेष भाव को मुख्यता से बनाने वाला होता है ।

इसी सूत्र की व्याख्या में राजवार्तिक में भी अनेकान्त का उत्तम कथन किया गया है । घट की सिद्धि करते हुए बताया गया है कि घट अपने चिन्हों से घट है, पट आदि के चिन्हों से घट नहीं है अर्थात् घट में घटपने का अस्तित्व है जब कि पट आदि का नास्तित्व है । इसी के सात भंग हो जाते हैं । लिखा है—

"स्वपरात्मोपादानापोहन व्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं"

अर्थात् वस्तु का वस्तुपना तभी सिद्ध होगा जब उसमें यह व्यवस्था की जावे कि वह अपने ही स्वरूप करके है तथा पर स्वरूप करके नहीं है । स्याद्वाद को लिखा है—

"स्याद्वादोनिश्चितार्थापेक्षितयाथातथ्यवस्तुवादित्वात् अनुन्मत्तवचनवत्"

अर्थात् निश्चित पदार्थ में अपेक्षा यथार्थ वस्तु का कहने वाला स्याद्वाद सिद्धान्त है जैसे उन्मत्तता रहित चतुर पुरुष के वचन ।

पंचाध्यायीकार ने भी स्याद्वाद का स्वरूप विस्तार से दिखाया है, कुछ श्लोक हैं—

तत्र विवक्ष्यो भावः केवलमस्ति स्वभावमात्रतया ।
अविक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥ २८५ ॥

भावार्थ--उसी समय वस्तु के सामान्य विशेष भावों में जो भाव विवक्षित होता है वही केवल वस्तु का अपना भाव समझा जाता है। उसी स्वभाव की अपेक्षा से वस्तु में अस्तित्व कहा जाता है परन्तु जो भाव वक्ता को नहीं कहना है वही परभाव कहलाता है। जिस समय स्वभाव की विवक्षा की जाती है उस समय परभाव की विवक्षा न होने से उसका वस्तु में अभाव समझा जाता है इसलिए परभाव की अपेक्षा नास्तित्व आता है। अस्तित्व नास्तित्व दोनों एक काल में ही वस्तु में घटित होते हैं।

तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेध रूपं वा।
संहृत्यान्यतरत्वादन्यतरे सन्निरूप्यते तदिह ॥ ३०३ ॥

भावार्थ--इसलिए पदार्थ विधि रूप भी है निषेध रूप भी है तब कभी वह विधि रूप कहा जाता है कभी निषेधरूप कहा जाता है तब एक दूसरे का गौणपना रहता है आप्तमीमांसा में स्वामी समन्तभद्राचार्य ने बहुत जानने योग्य कथन स्याद्वाद का किया है। कहा है कि—

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥

भावार्थ—हे भगवान ! आपके मत में वस्तु किसी अपेक्षा से सत् रूप ही है। अर्थात् अपने स्वरूपादि से सत् रूप ही है व किसी अपेक्षा असत् या अभाव रूप ही है अर्थात् पर वस्तु के स्वरूपादि का उस वस्तु में अभाव है। यदि दोनों को क्रम से कहें तो वस्तु दोनों सत् असत् या भाव अभाव रूप है। यदि एक समय कहने लगे तो वस्तु अवक्तव्य हो जाती है। इसी तरह अवक्तव्य के तीन भंग हो जाते हैं वस्तु सर्वथा एक स्वभाव नहीं है किन्तु वक्ता के अभिप्राय या नय के वश से वस्तु अनेक रूप है।

इस तरह जो वस्तु को भिन्न-भिन्न अपेक्षा से अनेक स्वभाव रूप जानकर हठ छोड़ देता है और मध्यस्थ होजाता है वही सच्चे वस्तु स्वरूप को पाता है-वही निज आत्मा को पर आत्मा से भिन्न जानकर तथा निज आत्मा को अनन्त स्वभावों का अखंडपिंड मानकर उसी में लय हो जाता है, वही परम समाधि का लाभ उठाता है। समयसार कलशों में स्वामी अमृतचन्द्र कहते हैं—

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन्स्वयम् ।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥ १७ ॥

नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिमितिप्रविलोकयन्तः ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः ॥१८॥

अर्थात्--इस तरह तत्व की व्यवस्था अनेक नयों से करके आत्माको स्वयं स्थापित करके यह अनेकान्त रूप अलंघ्य जैनशासन प्रसिद्ध है । जो लोग अनेकान्तमयी दृष्टि से स्वयं ही वस्तु तत्व की व्यवस्था को देखनेवाले हैं वे सन्त पुरुष जिनेन्द्र की नीति को न उल्लंघन करते हुए अधिक स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त होकर ज्ञानी हो जाते हैं ।

इस तरह यह जीवात्मा जैन दर्शन के अनुसार अनेकान्तमय के आश्रित होते हुए अपने शुद्ध चारित्र में हमेशा रत होते हुए अपने स्वात्मा से च्युत न होते हुए अशुद्ध विभाव परिणति के कारण शुभाशुभ गति में भ्रमण किया करता है इसलिए व्यवहार नय वाला कहलाता है ।

Jivah upayogamayah amurtih karta svadehaparimanah.
Bhokta samsarasthah siddhah sa visrasa urddhvagatih.—[2]

Padapatha—जीवो Jivo, Jiva. उवओगमओ Uvaogamao, characterised by upayoga. अमुत्ति Amutti, formless. कत्ता Katta, agent. सदेहपरिमाणो Sadehaparimano, equal in extent to its own body. भोत्ता Bhotta, enjoyer. संसारत्थो Samsarattho, being in the Samsara. सिद्धो Siddho, siddha. सो So, he. विस्ससोड्ढगई Vissasoddhagai, having a natural upward motion.

2. Jiva is characterised by upayoga, is formless and an agent, has the same extent as its own body, is the enjoyer (of the fruits of Karma), exists in samsara, is Siddha and has a characteistic upward motion.

COMMENTARY.

In this verse the author lays down the distinguishing characteristics of Jiva. The nine characteristics of Jiva mentioned in this verse will be taken up one by one in verses 4-14, and a full explanation of them will be given in the notes to the said verses. Brahmadeva in his Commentary on Dravya-Samgraha has mentioned in connection with this verse that each of these characteristics of jiva is mentioned in order to differentiate the Jaina conception of 'Jiva' from that of Sankhya, Nyaya, Mimamsa, Charvaka,

Sadasiva and Bauddha systems of philosophy. His words are as follows :

"जीवसिद्धि: चार्व्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्त्त-जीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, कर्म्मकर्तृत्वस्थापनं सांख्यं प्रति, स्वदेह-प्रमिति स्थापनं नैयायिक-मीमांसक-सांख्य-त्रयं प्रति, कर्म्मभोक्तृत्व-व्याख्यानं बौद्धं प्रति, संसारस्थ- व्याख्यानं सदाशिवं प्रति, सिद्धत्व-व्याख्यानं भट्ट-चार्व्वाकद्वयं प्रति, ऊर्ध्वगति-स्वभावकथनं माण्डलिक-ग्रन्थकारं प्रति इति मतार्थो ज्ञातव्य: ।"

i, e., Jiva is established to (refute) Charvaka, its characteristic of having upayoga consisting of Jnana and Darsan is said to (refute) the followers of Nyaya, that of Jiva being formless to (refute) Bhatta, (i. e., those who follow Kumarila Bhatta, the propounder of one branch of Mimamsa philosophy) and Charvaka, that of the agency of Karma to (refute the) Sankhya (view), that of having the same extent of its body is expressed to refute the three, *viz.*, the Nyaya, Mimamsa and Sankhya views, that of the enjoyment of (the fruits of) Karma is said to refute the Buddhistic view, that of being in the Samsara to refute Sadasiva, that of being Siddha to refute Bhatta and Charvaka, and that of having an upward motion to refute views of all other writers."

It should be remembered that, as the Hindu and the Buddhist philosophers omitted no opportunity to refute the view of the Jaina philosophy,so also the Jain philosophers on their part tried to refute the views of their opponents. It is special feature of nearly every system of Indian philosophy to proceed to maintain its own views after refuting those of other systems. Examples of such refutation by Hindu philosophers may be found in Vedanta Sutra, Chapter II, Padas I and II, and Sankhya Sutra, Chapter V. The refutation of the veiws of Hindu systems of philosophy may, on the other hand, be found in numerous Jaina works, such as Ratnakaravatarika, Syadavadamanjari, Prameyakamalamartanda, etc., etc.

In this verse also Jiva is recognised as against the Charvaka view, which recognises no proof but Pratyaksa which is only derivedthrough the senses, The Nyaya system recognises the differnce

between a quality and the possessor of a quality (गुणगुणिभेदः); but in this verse; by saying that Jiva consists of the quality upayoga which is made up of Jnana and Darsana, that theory of Nyaya is upset. Similarly, by saying that Jiva Is the agent of all actions, the Sankhya theory that Purusa is indifferent (उदासीनाः), is denied. The other characteristics also deny in this manner the views of Mimamsa, Buddhistic a and other systems of philosophy. These will be further explained in notes to verses 4-14. But it should be remembered that the author does not directly proceed to refute the views of the other systems of philosophy, for that would be entirely impossible in a compendium like this. What the commentator, therefore, suggests, is that by laying down this definition of Jiva, the author has incidentally denied the opposite views of other systems of philosophy.

For a brief account of the tenets of diffrent systems of philosphy, we refer the reader to Sarvadarsansangraha of Madhavacharya (Ed. by Cowell) in which the account of Jaina philosophy, under the head of "Arhat Darsan," is worthy of notice as being written by a non-Jaina author who, though not very enthusiastic about Jainism, tried his best to be impartial.

The following verse from Panchastikayasamayasara by Kundakundacharya, is exactly similar to this verse of Dravya-Samgraha:—

जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥

[पञ्चास्तिकायसमयसार: २७ ।]

i. e. "Jiva is conscious, formless, charatcerised by upayoga, attached to Karma, the lord, the agent, the enjoyer (of the fruits of Kakma), the pervader of bodies (large or small.)"

The only characteristic of Jiva mentioned in Dravya-Samgraha but not found in the above verse, is that of having an upward motion; but this is mentioned in the next verse of Panchastikayasamayasara:—

"कम्ममलविप्पमुक्को उढ्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।"

[पञ्चास्तिकायसमयसारः । २८ ।]

i. e., "That which goes upward to the end of Loka, being freed from the impurity of Karma."

इस प्रकार यह जीवात्मा शुद्ध नय की अपेक्षा से शुद्ध है, एक है, अखण्ड है, ज्ञानदर्शन से जीता है, और अनादि अनन्त है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हमेशा सिद्ध स्वरूप है। अविनाशी है और अशुद्ध नय की अपेक्षा से अनेक है तथा संसारी भी है। अशुद्ध नय की अपेक्षा कर्म चेतना कर्मफल चेतना चेतना को भी धारण करने वाला है। और व्यवहार नय की अपेक्षा यह जीव द्रव्यप्राण भावप्राण वाला भी है। भाव प्राण उसे कहते हैं जो शुद्ध निश्चय चेतन से जीता है। अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर जो शुद्ध चैतन्य प्राण हैं या निश्चय नय से जीता है, अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर जो शुद्ध चैतन्य प्राण हैं। या निश्चय नय से सत्ता चैतन्य बोध आदि शुद्ध भाव जीव के प्राण हैं। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा गृहण करने योग्य शुद्ध चेतना जिस के हो वह जीव है।

व्यवहार की अपेक्षा जीव दश प्राण वाला भी कहलाता है। इस तरह जैन सिद्धान्त के अनुसार यह जीव एक और अनेक रूप होने के कारण व्यवहार निश्चय ऐसे दोनों सम्बन्ध रखने वाला है।

अब आगे ग्रन्थकार १२ गाथाओं के द्वारा सांख्य मीमांसक नैयायिक सौगत मंडलीक चार्वाक बौद्ध इत्यादि मतमतांतरवालों के लिए जीव का स्वरूप निरूपण करेंगे—

तिक्काले चदुपाणा इंदिय बलमाउ आणपाणोय।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ :—(तिक्काले) अतीत (भूत) अनागत (भविष्य) और वर्तमान ऐसे तीन कालों में (जीवो) जीव के इद्रिय (इंद्रिय) बल (बल) आउ (आयु) (आण पाणोय) और श्वासोच्छवास इस प्रकार (चदु पाणा) चार प्राण जिसके पाये जांय सो (ववहारा) व्यवहार नय अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जीव है। और (णिच्छय णय) निश्चय नय से (जस्स) जिसके उपादेय भूत यानि गृहण करने योग्य शुद्ध चेतन ज्ञान दर्शन पाये जांय सो जीव है। अर्थात् जीव प्राणों से जीता है। ऐसे इसका तात्पर्य है।

विवेचनः—इंद्रिय, बल, आयु और, श्वासोच्छवास इस प्रकार प्राणों के मुख्य चार भेद है। और कुल प्राणों के दश भेद हैं।

५ इंद्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रिय हैं।
३ बल—मनबल, वचनबल, और कायबल ये तीन बल हैं।
और आयु और श्वासोच्छवास ऐसे १० प्राण हैं।

एक इंद्रिय जीव के ४ प्राण होते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल और आयु और श्वासोच्छवास। द्विन्द्रिय जीव के ६ प्राण होते हैं।

स्पर्शन, रसना, कायबल वचनबल, आयु और श्वासोच्छवास।
तीनेन्द्रिय जीव के ७ प्राण होते हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राणा, और कायबल, वचनबल और आयु और श्वासोच्छवास।

चार इंद्रिय जीव के ८ प्राण होते है—स्पर्शन, रसना, घ्राणचक्षु, कायबल, वचनबल, और आयु और श्वासोच्छवास।

पंचेन्द्रिय असैनी जीव के ९ प्राण होते हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और कर्ण इंद्रिय। कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छवास। पंचेद्रिय सैनी जीव के कायबल, वचनबल, मनोबल, पंच इंद्रिय आयु और श्वासोच्छवास इस प्रकार १० प्राण होते हैं।

निश्चय नय से क्षायिक, दर्शन, क्षायिक ज्ञान ही जीव का लक्षण है।
उन्हीं के द्वारा ये जीव जीव जीवित रहता है।

'जीव भव्यात्वानि च' इस प्रकार जीव के पारणामिक भाव तीन प्रकार के हैं—
१ जीवत्व २ भव्यत्व और ३ अभव्यत्व।

जीव शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा चैतन्य प्राणमय है। वह मोक्षार्थियों को साक्षात उपादेय है। इसके सिवाय मनुष्य के लिए अन्य कुछ उपादेय नहीं हैं।

द्रव्य प्राण तथा भाव प्राण अभेद से बल, इन्द्रिय, आयु, श्वासोच्छवास हैं। यहाँ यह प्रयोजन है कि मन बचन काय को रोक करके व पांचों इन्द्रियों के विषयों से साम्य भाव के बल से जो शुद्ध चैतन्य आदि प्राणों का धारी शुद्ध जीवास्तिकाय है उस ही को उपादेय रूप से ध्याना चाहिये।

भावार्थ :— वास्तव में निश्चय से इस आत्मा के सुख सत्ता चैतन्य बोध आदि स्वाभाविक प्राण हैं। जिनका कभी वियोग नहीं होता है। संसार दशा में ये मलीन रहते हैं। व सिद्ध पर्याय में ये शुद्ध रहते हैं। संसार अवस्था में शरीर के आधार से जीव रहता है। विग्रह गति को छोड़कर जो तीन समय से अधिक नहीं है। वह जीव सदा स्थूल शरीर में रहता है। यह स्थूल शरीर इन्द्रिय, बल, आयु, व श्वासोच्छवास के आधीन जीता हुआ काम करता है। इससे उनको द्रव्य प्राण कहते हैं। ये पुद्गल के रचे हैं व पुद्गल मई शरीर के व्यापार के कारण हैं। अशुद्ध आत्मा में जो इन्द्रियों ने व्यापार करने

की शक्ति व क्षयोपशम ज्ञान हैं। वे इन्द्रिय भाव प्राण हैं (मन, बचन, काय के वर्त्तन में जो आत्मा के वीर्य तथा उपयोग का वर्त्तन है वे मन वचन काय रूप भाव प्राण हैं—

आयु कर्म के उदय से आत्मा शरीर में बने रहना भाव आयु प्राण है। तथा आत्मा के वीर्य से श्वास होना सो श्वासोच्छ्वास भाव प्राण हैं।

प्राणों का स्वरूप श्री गोमटसार जीवकांड में इस प्रकार कहा है।

बाहिर पाणेहि जहा तहेव , अब्भंतरेहि पाणेहिं।
पाणंति जेहिं जीवा , पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार आभ्यन्तर प्राणों के कार्यभूत नेत्रों को खोलना, वचन प्रकृति, उच्छ्वास निश्वास आदि बाह्य प्राणों के द्वारा जीव जीते हैं, उस ही प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशमादिके द्वारा जीव में जीवितपने का व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं।

इंदियकायाऊणि य पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा।
वीइंदियादि पुण्णे वची मणो सण्णि पुण्णेव ॥ १३१ ॥

इन्द्रिय, कायबल आयु ये तीन प्राण पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों के होते हैं। किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्त जीवों के ही होता है। द्विन्द्रियादि पर्याप्तों के वचन वल होता है। संज्ञी पर्याप्तों के ही मन बल होता है। इस तरह पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियके दस, चौ इन्द्रिय के आठ, तेन्द्रिम के सात, द्विन्द्रिय के छः प्राण होते हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों में किसके कितने प्राण होते हैं ?

दस सण्णीणं पाणा, सेसेगूणंतिमस्स वेऊणा।
पज्जत्ते सिरदेसु य सत्तदुगे सेसगेगूणा ॥ १३२ ॥

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के दश प्राण होते हैं। शेष के पर्याप्तकों के एक २ प्राण कम होते जाते हैं, किन्तु एकेन्द्रियों के दो कम होते हैं। अपर्याप्त संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रियों के सात प्राण होते हैं और शेष के अपर्याप्त जीवों के एक एक प्राण कम होते जाते हैं।

जो जीव अपर्याप्त हैं उनमें असैनी सैनी पंचेन्द्रिय के सात प्राण होंगे। मन, वचन, व श्वास को छोड़कर फिर एक एक घटता हुआ चौइन्द्रिय के छः, तेन्द्रिय के पाँच, द्विन्द्रिय के चार, एकेन्द्रिय के चार प्राण होंगे। अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय, काय बल और आयु, श्वासोच्छ्वास जब प्राणों का वियोग होता है तब ही स्थूल शरीर का वियोग या मरण होता है। वास्तव में आत्मा द्रव्य भाव प्राणों से रहित अजर अमर अविनाशी है। उसी वास्तविक स्वरूप का ध्यान ही करने योग्य है।

जीवो चरित्त दंसण णाणट्ठियं, तंहि स समयं जाण।
पुग्गल कम्मपसदेसटिठयं च तं, जाण पर समयं॥

जो जीव दर्शन ज्ञान चरित्र में स्थित हो रहा है। उसे निश्चय कर स्व समय जानो। और जो जीव पुद्गल कर्मों के प्रदेशों में तिष्ठा हुआ है उसे पर समय जानो। यह आत्मा चैतन्य स्वरूपपने से नित्य उद्योत रूप निर्मल स्पष्ट दर्शन ज्योति स्वरूप है। चैतन्य का परिणमन दर्शन ज्ञान स्वरूप है। इस विशेषता से चैतन्य को ज्ञानाकार स्वरूप नहीं मानने वाले सांख्य मतियों का निराकरण हुआ। फिर वह कैसा है? अनन्त धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मी पना है उससे जिसका द्रव्य पना प्रकट हुआ है, अनन्त धर्मों की एकता वही द्रव्यपना है। इस विशेषण से वस्तु को धर्मों से रहित मानने वाले बौद्ध मतियों का निषेध हुआ।

प्राणों का जीव द्रव्य के साथ ज्ञान सम्बन्ध है।

पाणेहि चदुहि जीवदि, जीवस्सदि जोहि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सा सो॥३०॥

यद्यपि जीव शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध चैतन्यादि प्राणों से जीता है। तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य रूप चार प्राणों से तथा अशुद्ध निश्चय नय से भाव रूप चार प्राणों से संसार अवस्था में वर्तमानकाल में जी रहा है। भविष्य में जीवेगा. व आगे जी चुका है।

विशेषार्थ—यदि यह कहा जाय कि अजीव से जीव की उत्पत्ति होती है सो भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वथा उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि जीव का द्रव्यपना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि मध्यम अवस्था में द्रव्यत्व का अविनाभावी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिलक्षणत्व की युगपत् उपलब्धि होने से जीव में द्रव्यपना सिद्ध ही है।

चार्वाक अजीव से जीव की उत्पत्ति मानता है। उसका कहना है कि आद्य चैतन्य पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है। अनन्तर मरण तक चैतन्य की धारा प्रवाहित होती रहती है और इसलिए उसने परलोक आदि का भी निषेध किया है। पर विचार करने पर उसका यह कथन युक्ति युक्त प्रतिभासित नहीं होता है। क्योंकि जिस प्रकार मध्यम अवस्था के अर्थात जवानी के चैतन्य में अनन्तर पूर्ववर्ती बचपन के चैतन्य का विनाश जवानी के चैतन्य का उत्पाद और चैतन्य सामान्य की स्थिति इस प्रकार

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिलक्षणत्व की एक सा उपलब्धि होती है, उसी प्रकार जन्म के प्रथम समय में चैतन्य भी त्रिलक्षणात्मक ही सिद्ध होता है। प्रथम चैतन्य को त्रिलक्षणात्मक माने विना मध्यम अवस्था के चैतन्य के समान उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतः प्रथम क्षण के चैतन्य के में भी जन्मान्तर के चैतन्य विशेष का विनाश प्रथम समय वर्ती चैतन्य विशेष का उत्पाद और चैतन्य सामान्य की स्थिति मान लेना चाहिये। अतः जीव की उत्पत्ति अजीव पूर्वक सिद्ध न होकर जन्मान्तर के चैतन्य पूर्वक सिद्ध होती है। इस तरह जीव स्वतन्त्र द्रव्य है। यह सिद्ध हो जाता है।

संसार के प्रत्येक प्राणी में स्वसंवेदन चैतन्य स्वरूप आत्मा मौजूद है। यह ज्ञान दर्शन स्वरूप चैतन्य आत्म ज्योति पंच भूतों से नहीं हो सकती। क्योंकि यदि आत्मा पंच भूतों का धर्म होता तो पृथिवी की कठिनता के समान सर्वत्र सुलभ होती। जैसे कि मिट्टी के टुकड़े और मृत शरीर में चैतन्य देखा नहीं जाता।

इसी प्रकार पंच भूतों में से चैतन्य किस भूत का धर्म है ? एक का या पंच भूतों का ? यदि एक का माने तो एक भूत में चैतन्य दिखाई नहीं देता। यदि एक एक परमाणु में संवेदन स्वीकार करें तब तो पुरुष सहस्र चैतन्य वृन्द की तरह परस्पर भिन्न स्वभाव होगा। एक रूप चैतन्य नहीं होगा परन्तु देखने में एक रूप आता है।

'अहं पश्यामि' अर्थात् में देखता हूं, मैं करता हूं ऐसे सकल शरीर का अधिष्ठाता एक आत्मा प्रत्यक्ष में देखा जाता है। कोई प्रश्न करे यदि आत्मा हो तो प्रत्यक्ष में दिखाई क्यों नहीं देता ?

आत्मा निश्चय नय की अपेक्षा अमूर्तिक है कार्माण आदि शरीर अति सूक्ष्म है इस वास्ते दृष्टिगोचर नहीं होता।

अन्तरा भाव देहोपि, सूक्ष्मत्वान्नोप लभ्यते।
निः कामन् प्रविशन् वात्वा, नाभावो नीक्षणादपि॥

इसलिए कार्माण शरीर संयुक्त आत्मा जाता दिखाई नहीं देता। परन्तु लिंग से उपलब्ध होता है। तथापि प्रत्येक जीव को अपने शरीर का ममत्व है। घातक दूसरे को मार कर अपनी रक्षा के लिये तत्काल दौड़ जाता है। जिस जीव का जिस जीव में ममत्व है सो पूर्व कर्म के ममत्व के अभ्यास का ही परिणाम है। इस वास्ते आत्मा जन्मान्तर से आता है। और चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता है।

शरीरगृहरूपस्य, चेतसः संभवोयदा ।
जन्मादौ देहिनी द्रष्टः , किन्न जन्मांतरा गतिः ॥

इस बात से सिद्ध है कि ज्ञान दर्शन स्वरूप चैतन्य स्वाभाविक रीति से सिद्ध है । और वही जीव है ।

वास्तवमें शुद्धचैतन्य प्राणों का धारी शुद्ध जीवास्तिकाय है । उसीको उपादेय रूप से कहना चाहिए ।

यथार्थ में निश्चयसे इस आत्मा का सुख सत्ता चैतन्य बोध आदि स्वाभाविक प्राण है जिनका कभी वियोग नहीं होता है । संसार दशा में ये मलीन रहते हैं व सिद्ध पर्याय में ये शुद्ध रहते हैं । संसार अवस्था में शरीर के आधार से जीव रहता है । विग्रह गति को छोड़ कर जीव सदा ही स्थूल शरीर में रहता है । यह स्थूल शरीर इन्द्रिय, बल, आयु, व उच्छ्वास के आधीन जीता हुआ काम करता है । इससे उनको द्रव्य प्राण कहते हैं ।

ये पुद्गल के रचे हैं व पुद्गलमयी शरीर के व्यापार के कारण हैं अशुद्ध आत्मामें जो इन्द्रियों से व्यापार करने की शक्ति व क्षयोपशम ज्ञान हैं वह इन्द्रिय भाव प्राप्त है । मन, वचन, काय के वर्त्तन में जो आत्मा के वीर्य तथा उपयोग वर्त्तन हैं वे मन, वचन, काय, रूपभाव प्राण हैं । आयु कर्म के उदयसे आत्मा के शरीर में बने रहना भाव आयु प्राण तथा आत्मा के वीर्य से स्वास होना सो उच्छ्वास भाव प्राण है ।

जीव के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये नव दृष्टांत अधिक उपयोगी हैं —

बच्छ रक्ख भव सारिच्छ सग्गणिरय पियराय ।
चुल्लय हंडय पुण मडउ णव दिट्ठंता जाय ॥

१ वत्स—जन्म लेते ही बछड़ा पूर्व जन्म के संस्कार से, बिना सिखाये अपने आप अपनी माता का स्तन पीने लगता है ।

२ अक्षर—अक्षरों का उच्चारण जीव जानकारी के साथ आवश्यकतानुसार करता है । जड़ पदार्थों के शब्द उच्चारण में यह विशेषता नहीं होती ।

३ भव— आत्मा यदि एक स्थायी पदार्थ न हो तो जन्म मरण किसका होगा ?

४ सादृश्य— आहार, परिग्रह भय मैथुन, हर्ष, विषाद आदि सब जीवों में एक समान दृष्टिगोचर होते हैं ।

५, ६— स्वर्ग नरक जीव यदि स्वतन्त्र पदार्थ न हो तो स्वर्ग में जाना तथा नरक में जाना किसके सिद्ध होगा ।

७ पितर अनेक मनुष्य मरकर भूत आदि हो जाते हैं और फिर अपने पुत्र पत्नी आदि को कष्ट सुख आदि देकर अपने पूर्व भव का हाल बतलाते हैं।

८ चूल्हा हन्डी— जीव यदि पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश इन पांच भूतों से बन जाता हो तो दाल बनाते समय चूल्हे पर रक्खी हुई हंडिया में पांचों भूत पदार्थ का समूह है। उसमें ज्ञान व इच्छा क्यों नहीं दिखलाई पड़ते हैं।

९ मृतक— मृतक शरीर में पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश सहित है फिर उसमें इच्छा व ज्ञान क्यों नहीं होते। इस तरह नव दृष्टान्तों से आत्मा जड़ से भिन्न नित्य है यह बात सिद्ध होती है।

यह जीव ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग से भिन्न नहीं है। इस आत्मा में ही परमात्मा होने की शक्ति है। इस गाथा में जीव द्रव्य का लक्षण वर्णन किया ?

Trikale chatuhpranah indriyam balam ayuh ānapranah cha
Vyavaharat sa jivah nischayanayatah tu chetana yasya—[3].

Padapatha—ववहारा Vavahara, according to Vyavahara Naya. तिक्काले Tikkale, in three kinds of time. इंदिय Indiya, Indriya (the senses). बलं Balam, force. आउ Au, Life. आणपाणो Anapano, respiration. य Ya, also. चदुपाणा Chadupana, the four Pranas. दु Du, but. णिच्चयणयदो Nichchayanayado, according to Nischaya जस्स Jassa, whose. चेदणा Chedana, consciousness. सो So, he. जीवो Jivo, Jiva.

3. According to Vyavahara Naya, that is called Jiva, which is possessed of four Pranas, viz., Indriya (the senses), Bala (force), Ayu (like) and Ana-prana (respiration) in the three periods of time (viz., the present, the past and the future), and according to Nischaya Naya, that which has consciousness is called Jiva.

COMMENTARY.

Vyavahara and Nischaya Naya is thus distinguished in Dravyanuyogatarkana of Bhoja :

"तेनेदं भाष्यसंदिष्टं गृहीतव्यं विनिश्चयम्।
तत्त्वार्थं निश्चयो वक्ति व्यवहारो जनोदितम्॥"

[द्रव्यानुयोगतर्कणा । ८२३]

i. e., "Therefore, this is to understood as described in the Bhasya (Visesavasyaka-bhasya, a celebrated Jaina work) that Nischaya narrates the real thing and Vyavahara narrates things in the popular way." Vyavahara Naya, therefore, is the ordinary or common sense point of view in which we speak every day about things of this world. But Nischaya Naya is the realistic point of view, which attempts an accurate description of the realities which are overlooked in our everyday parlance. For Example, we ordinarily say "a jar of honey;" but to be accurate we must say "a jar of clay or some other substance containing honey." The characteristics of Jiva will be examined from both these points of view in the following verses.

Here it is said that ordinarily we say that Jiva (Living Substance) possesses the five senses, Sight, Hearing, Touch, Taste and Smell, the three forces of thought, word and action, life and respiration. Indriya (the five senses), Bala (the three forces of thought word and action), Ayu (life) and Anaprana (respiration)—these four are called the four Pranas of Jivas in the past, present and the future. The following verse from Panchastikayasamayasara is parallel to this verse of Dravya-Samgraha.

"पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥"

[पञ्चास्तिकायसमयसार: ३० ।]

i. e., "That is Jiva which lives, will live or has lived formerly by four Pranas. The Pranas are Bala (force), Indriya (the senses), Ayu (Life) and Uchchhasa (Respiration)."

Thus, from the ordinary point of view (Vyavahara Naya), we regard Jiva to possess a period of life, during which its characteristics are respiration and the employment of the five senses and the three forces of thought, word and action. But from the realistic point of view, Jiva is distinguished by its own great quality, viz., consciousness.

अब आगे तीन गाथा पर्यंत ज्ञान तथा दर्शन इन दो उपयोगों का वर्णन करते हैं। उनमें भी पहली गाथा में मुख्यरूप से दर्शनोपयोगका व्याख्यान करते हैं। जहां पर यह कथन हो कि अमुक विषयका अर्थात् विपर्यय की पुष्टि के लिये अन्य ग्रंथांतर का भी समावेश कर वर्णन करते हैं। वहाँ पर गौणरूप से अन्य विषय का भी यथा संभव कथन मिलेगा। ऐसा समझना चाहिये।

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥४॥

अन्वयार्थ—(उवओगो) उपयोग ही जीवका लक्षण है। वह उपयोग (दुवियप्पो) दो प्रकार का है ((दंसण) सामान्यग्राहक ऐसा दर्शनोपयोग (णाणंच) और विशेष ग्राहक ज्ञानोपयोग इस प्रकार दो का प्ररूपण कहा है, इन दोनों में (दंसण) दर्शनोपयोग (चदुधा) चार प्रकार है, (चक्खु) चक्षु रूपी पदार्थ को देखने वाले सामान्य ग्राहकात्मक चक्षु दर्शन, स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण, इन्द्रिय, ज्ञानवाला सामान्य ग्राहकात्मक अचक्षुदर्शन और इन्द्रिय ज्ञानवाला, अवधिदर्शन और केवल दर्शन अतीन्द्रिय की अपेक्षा करके वस्तु सामान्य को सम्पूर्ण प्रत्यक्ष होकर देखने वाला केवल दर्शन है। इस प्रकार (चदुधा) चार प्रकार का दर्शन (१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन (४) और केवल दर्शन (णेयं) जानना चाहिये।

भावार्थ—आत्मा तीन लोक और भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों कालों में रहनेवाले संपूर्ण द्रव्य सामान्यको ग्रहण करनेवाला जो पूर्ण निर्मल केवल दर्शन स्वभाव है उसका धारक है, किन्तु अनादि कर्म बंध के कारण चक्षु दर्शनावरण के क्षयोपशम से नेत्र द्वारा जो दर्शन होता है उस दर्शनको रोकने वाले कर्मके क्षयोपशम से तथा बहिरंग द्रव्येन्द्रियके आलंबनसे मूर्ति के पदार्थ के सत्ता सामान्यको जो कि संव्यवहार से प्रत्यक्ष है किन्तु निश्चयसे परोक्षरूप है उसको एक देश से विकल्परहित जो देखता है वह चक्षुदर्शन है; उसी तरह स्पर्शन, रसना, घ्राण, तथा कर्णेंद्रिय के आवरण के क्षयोपशम से बहिरंग द्रव्यें-द्रियके आलंबन से मूर्तिक सत्ता सामान्य को परोक्षरूप एक देश से जो विकल्परहित देखता है वह अचक्षुदर्शन है और इसी प्रकार मन इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से तथा सहकारी कारण रूप जो आठ पाखंडी के आकार एक कमल के आकार द्रव्य मन है उसके अवलंबन से मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यों में विद्यमान सत्ता सामान्य को परोक्षरूपसे विकल्परहित जो देखता है वह मानस चक्षुदर्शन है। वही आत्मा अवधिदर्शनावरण के

क्षयोपशमसे मूर्त वस्तुमें सत्ता सामान्यको एक देश प्रत्यक्ष से विकल्परहित जो देखता है वह अवधिदर्शन तथा जो सहज शुद्ध चिदानन्दरूप एक स्वरूपका धारक परमात्मा है उस के तत्त्वज्ञानके बलसे केवल दर्शनावरण के क्षय होने पर समस्त मूर्त, अमूर्त वस्तुके सत्ता सामान्यको सकल प्रत्यक्ष रूपसे एक समयमें विकल्परहित जो देखता है उसको दर्शनावर्णी कर्म के क्षयसे उत्पन्न और ग्रहण करने योग्य केवल दर्शन जानना चाहिये।

केवल ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें समस्त संसार के पदार्थ हस्त की रेखा के समान दिखाई देते हैं। श्रुत ज्ञान में सभी पदार्थ शास्त्र ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं। दोनों में श्रुतज्ञान के २० भेद हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

पर्यायाक्षरपदसंघातप्रतिपत्तिकानुयोगविधीन् ।
प्राभृतप्राभृतकं प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ॥
तेषां समासतोऽपि च विंशति भेदान्समश्नुवानं तत् ।
वंदे द्वादशधोक्तं, गंभीरवरशास्त्रपद्धत्या ॥

टीका—तत् श्रुतं वंदे किं कुर्वत् समश्नुवानं व्याप्नुवत्। कान् विंशति भेदान्। के ते विंशति भेदा इति चेदुच्यंते। पर्यायश्चाक्षरं च पदं च संघातश्च प्रतिपत्ति कश्च अनुयोग विधिश्चेति षट्। प्राभृतक प्राभृत कादय इति दश तेषां समासतोऽपि च। अपि संभावने। च समुच्चये। तेषां पर्यायादीनां समासतः समासात् दश समासानाश्रित्य ये विंशति भेदाः संपन्ना स्तान्सम श्नुवानं श्रुतं वंदे।

अर्थ—श्रुतज्ञान के २० भेद हैं १. पर्याय २. पर्याय समास ३. अक्षर ४ अक्षर समास ५. पद ६. पद समास ७. संघात, ८. संघात समास ९. प्रतिपत्ति १०. प्रतिपत्ति समास ११. अनुयोग १२. अनुयोग समास १३. प्राभृत प्राभृत १४. प्राभृत प्राभृत समास १५. प्राभृतक १६. प्राभृतक समास १७. वस्तु १८. वस्तु समास १९. पूर्व और पूर्व समास

इस प्रकार श्रुतज्ञान के २० भेद हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

ग्रन्थकार ने इस गाथा में दर्शन और ज्ञान का विवेचन किया है। ऊपर की गाथा में जीव हमेशा चैतन्य मयी है, यह दर्शाया है। शुभाशुभ कर्म के अनुसार यहाँ आत्मा अपने ज्ञान दर्शन मय स्वरूप से विपरीत पर द्रव्य में रमण करते हुए एकेन्द्रियादि और त्रस पर्याय को धारण करने वाले होने के कारण यह जीवात्मा पृथ्वी कायिक, अप् कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, और वनस्पति कायिक स्थावर एकेन्द्रिय जीव अप्रकट सुख दुःख काअनुभव रूप शुभ या अशुभ कर्म के फल का अनुभव करते हैं। और द्वीन्द्रियादि

त्रस जीव निर्विकार परम आनन्दमयी एक स्वभावधारी आत्मा के सुख को नहीं अनुभव करते हुए उस कर्म फल को भी अनुभव करते हैं साथ में विशेष रागद्वेषरूप कार्य की चेतना भी रखते हैं। तथा जो जीव विशेष शुद्धात्मानुभव की भावना से उत्पन्न जो परमानन्दमयी एक सुखामृत रूप समरसी भाव है उसके बल से इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणों का उल्लंघन कर गए हैं।

सिद्ध भगवान् परमात्मा ही मात्र केवल ज्ञान का अनुभव करते हैं। और जो अन्य कर्म चेतन या कर्म फल चेतना में रमण करने वाले जीव हमेशा अपने शुद्ध अखंड अविनाशी शुद्ध मोक्ष लक्ष्मी का अनुभव नहीं करते हुए जैसे शुद्ध कुलवान सदाचारी मनुष्य कुलटा स्त्री के बस होकर अपनी सुशील पतिव्रता स्त्री को छोड़कर पर रमणी में रत होते हुए परदार गमन वाला कहलाता है। अर्थात् पापी कहलाता है। तथा जब तक कुलटा स्त्री के आधीन ही पड़ा रहता है तब तक निंद्य कहलाता है। उसी प्रकार यह शुद्ध चैतन्य ज्ञान दर्शन युक्त ज्ञानी आत्मा पाँचों इन्द्रिय सम्बन्धी लंपट में जब तक फंसे रहता है तब तक अशुद्ध नय वाला या कुटिल गति वाला कहलाता है।

यहाँ तीन प्रकार चेतना के स्वामी मुख्यता की अपेक्षा बताये हैं। स्थावर जीवों में सुख या दुःखका क्या अनुभव हुआ यह हमको प्रकट नहीं है। क्योंकि वे वाणी से कुछ नहीं कह सकते कारण कि उनके वचन नहीं है और न प्रकट उनके शरीर की क्रिया से यह स्पष्ट होता है कि वे इस समय सुखी हैं व इस समय दुःखो हैं। यद्यपि किसी वृक्ष में कभी कभी प्रकट होता है जैसे सूर्य के प्रकाश से कमल खिल जाते हैं या हाथों के स्पर्श से लाजवंती का वृक्ष लज्जा खाकर मुरझा जाता है या जब पानी बरस चुकता है तब प्रायः सभी वृक्ष हरे भरे दीखते हैं, तीव्र धूप व पाला पड़ने से मुरझा जाते हैं। इन बाहरी चिन्हों से उनका सुखी या दुखी होना कुछ अंश में मालूम कर सकते हैं; परन्तु पृथ्वी कायिकादि चार में तो यह बिल्कुल प्रकट नहीं होता है; क्योंकि उनके शरीर भी बहुत ही छोटे घनांगुल के असंख्यातवें भाग होते हैं। इसलिये यहाँ वृत्तिकार ने कहा है कि वे स्थावर जीव कर्मों के फल को भोगते हैं और उनका सुख व दुःख हमको प्रकट नहीं होता है। इसलिये इनके मुख्यता से कर्मफल चेतना है, यद्यपि गौणता से इनके भी कुछ कार्य चेतना है। जैसे वृक्ष अपनी जड़ उसी तरफ ले जाते हैं जहाँ जल होता है पानी व मिट्टी को खींचकर ऊपर तक ले जाते हैं। कोई २ वृक्ष पत्ते पर बैठे हुये जन्तुओं को पत्ते बन्दकर उनको चूस लेते हैं यह कार्य चेतना है, परन्तु जैसे त्रस जीवों के राग द्वेष पूर्वक कार्य प्रकट दीखते हैं वैसे इनके कार्य प्रकट नहीं दीखते हैं इसलिये इनमें कर्म चेतना की मुख्यता नहीं बतलाई त्रस जीवों में दोनों चेतना प्रगट दीखती हैं चींटियाँ दूर से मीठे की सुगन्धि पाकर

उसमें रागी हो आकर मीठा खाने लगती हैं तब अपने को तन्मय कर देती हैं जिससे उनका कार्य व उनका इन्द्रिय जनित सुख भोग प्रत्यक्ष प्रकट होता है। मक्खियाँ किसी नाक के मल में फँसकर उड़ न सकने के कारण उससे द्वेषकर तड़फती हैं वह उड़ने की चेष्टा करती हैं और न उड़ सकने के कारण दुःखी होती हैं। इस तरह इनका द्वेष रूप कर्म दुःख का भोग प्रगट होता है। जो पंचेन्द्री सैनी पशु हैं वे तो राग द्वेष रूप काम करते हुये कर्म के व सुख दुःख के चिन्ह बहुत ही स्पष्ट बतलाते हैं। बन्दर भूखा होने पर बड़ी चतुराई से रोटी लेने आता है; परन्तु जब कभी कोई उसे मारता है तो झट द्वेष करके भाग जाता है यह राग द्वेष रूप कर्म है। कुत्ता अपने मालिक को—जो उसे पालता है व खाने को देता—देखकर खुश होता व दुम हिलाता है, कभी बहुत दुःखी होता है व मारे जानेपर कष्ट पाता है तब चिल्लाता है और रोता है। इस तरह अपना सुख व दुःख का भाव प्रगट बताता है। हम मनुष्यों को तो दोनों ही चेतना अच्छी तरह प्रगट है। हम धन कमाने से राग करके उसके लिये राग पूर्वक व्यापार कर्म करते हैं। कोई चोर माल उठाता है उससे द्वेष करके उसको भगाने का काम करते हैं—ये राग द्वेष रूप कर्म हैं। जब हम सुन्दर भोजन करते हैं तब हम सुखी हो जाते हैं और वचनों से भी कहते हैं, आज बड़ा मजा आया। जब रात्रि को अति गर्मी व अति सर्दी से दुःखी हो जाते है तब यह कहते हैं कि आज रात बड़े कष्ट से कटी।

ज्ञान चेतना में शुद्ध ज्ञान के अनुभव की अपेक्षा निर्मल प्रत्यक्ष अनुभव केवल ज्ञानी अरहन्त और सिद्धों के हैं। गाथा में प्राणों से रहित सिद्धों के ही ज्ञान चेतना मुख्यता से बताई है, परन्तु अरहन्त केवली भी इन्द्रियों के द्वारा न जानते हैं, न सुख दुःख भोगते हैं — वे भी अपने ज्ञान में मग्न हैं। उनके मोह का अभाव होने से राग द्वेष रूप कर्मफल या कर्म चेतना नहीं है—इसलिए वचन बल, काय बल, आयु और उच्छ्‌वास इन प्राणों के होते हुए भी व इनका व्यापार इच्छा पूर्वक न करते हुए मात्र ज्ञान चेतना ही के स्वामी हैं — शुद्ध स्व परज्ञायक ज्ञान का स्वाद ले रहे हैं। अविरत सम्यग्दृष्टी से लेकर क्षीणमोह बारहवें गुण स्थान तक के जीव भी जब स्वात्मानुभव में लीन हो जाते हैं और ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के विकल्पों से छूट जाते हैं, नय प्रमाण के निक्षेप के विकल्प से दूर हो जाते हैं, एक अद्वैत ज्ञानानन्द भाव में मग्न हो जाते हैं तब वे भी मात्र भावश्रुत ज्ञान का अनुभव कर रहे हैं इसलिये ज्ञान चेतना रूप हैं। यहाँ ज्ञान केवली भगवान के ज्ञान के समान शुद्ध प्रत्यक्ष नहीं है तथापि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। गाथा में शुद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान के अनुभव की अपेक्षा वह ज्ञान चेतना सिद्ध के बताई है सो पूर्ण शुद्धता की अपेक्षा से कही है। पंचाध्यायीकार ने यह स्पष्ट किया है कि जब किसी को सम्यग्दर्शन

उत्पन्न होता है उसी समय से उस जीव में ज्ञान चेतना की लब्धि या शक्ति पैदा हो जाती है। जैसे किसी के अवधिज्ञानावर्णीय कर्म का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान की लब्धि हो जाती है तथा जैसे वह अवधिज्ञानी जब अवधि जोड़ता है तब अवधिज्ञान से काम लेता हुआ अवधिज्ञान रूप है उसी प्रकार जब वह सम्यग्दृष्टी स्वात्मानुभव में लीन होता है तब वह उपयोग में ज्ञान चेतना रूप है अर्थात् अपने आत्मा के शुद्ध भाव का अनुभव कर रहा है। अन्य समय कभी सुख या दुःख का अनुभव करता हुआ वह कर्मफल चेतना रूप है, कभी राग द्वेष पूर्वक लौकिक काम करता हुआ तथा राग से शुद्ध स्वरूप में पहुंचने का उद्यम करता हुआ कर्म चेतना रूप है। पंचाध्यायीकार कहते हैं :—

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसंभवात् ॥१८८॥

यह ज्ञान चेतना नियम से सम्यग्दृष्टी के ही होती है, मिथ्यादृष्टी के कभी नहीं होती है, क्योंकि मिथ्यादर्शन के होने पर उसका होना असम्भव है।

कदाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसंभवात् ॥ ८५४ ॥

सम्यग्दृष्टी के ज्ञान की उपयोगमयी चेतना या स्वात्मानुभवरूप चेतना कभी कभी होती है, किन्तु जब स्वात्मानुभव नहीं होता है तब ज्ञान चेतना की शक्ति का नाश नहीं होता है। हां, यह नियम नहीं है कि उसके ज्ञान चेतना की शक्ति के साथ उपयोगात्मक चेतना भी रहे, परन्तु यह नियम है कि उपयोगात्मक ज्ञान चेतना तभी होगी जब उसके ज्ञानचेतना लब्धि रूप होगी। इस कथन से यह सिद्ध है कि ज्ञानचेतना चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाती है, पूर्णता परमात्मा में ही है जहाँ प्रत्यक्ष आत्मा का ज्ञान हो जाता है। इस तरह तीसरी गाथामें जीव चेतनामय है, तीन प्रकार चेतना के व्याख्यान की मुख्यता से गाथा कही और जीव ज्ञान तथा दर्शनमय भी सांख्य नैयायिकादि की शंका दूर करने के लिये चौथी गाथा में विवेचन किया है, श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में भी कहा है कि:—

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥ ४० ॥

उपयोग वास्तव में दो प्रकार है, ज्ञान और दर्शन से संयुक्त अर्थात् ज्ञानोपयोग और वह सर्वकाल इस जीव से एक रूप है अथवा नहीं है ऐसा जानना चाहिए।

अर्थात् आत्मा का वह परिणाम जो सबके चैतन्यगुण के साथ रहनेवाला है उस को उपयोग कहते हैं अथवा जो चैतन्यगुणके साथ २ अन्वय रूपसे परिणमन करे वह उपयोग है अथवा जो पदार्थके जानने के समय यह घट है यह पट है इत्यादि पदार्थोंको ग्रहण करता हुआ व्यापार करे सो उपयोग है। जो विकल्पसहित उपयोग है सो ज्ञानोपयोग है तथा विकल्प सहित सामान्य उपयोग है सो दर्शनोपयोग है। इन दोनों उपयोगों के साथ जीव होता है। यह उपयोग जीवसे सदा ही प्रदेशों की अपेक्षा अभिन्न है अर्थात् एक है, यद्यपि संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादिके भेद से भेद है। परमात्मप्रकाशमें योगीन्द्रदेव ने कहा भी है कि—

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुँ गुणपुणु दंसणु णाणु।
पज्जय चउगइ भाव तणु कम्म विणिम्मिय जाणु ॥५८॥

शुद्धनिश्चय नय से शुद्ध बुद्ध, अखंड स्वभाव आत्मा के तू द्रव्य जान चेतनपनेको सामान्य स्वभावको दर्शन ज्ञान और विशेषणता से जानपना उसको ज्ञान समझ। ये दर्शन ज्ञान आत्माके निज गुण हैं उनमेंसे ज्ञान के आठ भेद हैं उनमें केवल ज्ञान परिपूर्ण है, तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान ये चार ज्ञान तो सम्यग्ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन मिथ्याज्ञान ये केवली की अपेक्षा सातों ही खंडित हैं, अखंड नहीं हैं और सर्वथा शुद्ध नहीं है। अशुद्ध सहित है, इसलिये परमात्मामें एक केवल ज्ञान ही है।

यह जीवात्मा तीन प्रकार के उपयोग को रखने वाला हुआ है पहले जो उपयोग है वह अशुद्ध है दूसरा शुद्ध है और तीसरा शुद्ध भाव कहलाता है (पहला उपयोग अशुभ को कहने वाला है दूसरा शुद्ध अर्थात् अशुभ आश्रय और पाप को रोकने वाला है तीसरा जो उपयोग है शुभ और अशुभ दोनों को रोककर शुद्धात्म प्रतीति भाव को उत्पन्न करनेवाला तथा निर्विकल्प समाधिका साधक है अर्थात् सराग संयम तथा व्यवहार सम्यक्त्व होने से साधक कहते हैं।

निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा दो उपयोग को हमेशा धारण करने वाला है इसलिये उपयोग ही जीव का लक्षण है ऐसा कहा गया है। उपयोग वह व्यापार है जिससे जीव पदार्थों को देखता जानता है। हम चैतन्य को ही देखकर यह निश्चय करते हैं कि अमुक प्राणी सजीव है। जिसमें उपयोग नहीं होता है वह शरीर निर्जीव होता है उपयोग के मूल दो भेद हैं दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। आत्मा के चैतन्य परिणाम का पदार्थ के ग्रहण में जो झुकाव होता है व जिस समय तक उसका आकार या विशेषपना नहीं समझा

जाता है कि वह क्या है उस समय तक जो कुछ सामान्यपने या जिसे कह नहीं सकते उसको दर्शन कहते हैं तथा उसी परिणाम ने जब उसका आकार या विशेष जान लिया तब उसको ज्ञान कहते हैं, दर्शनोपयोग निराकार है ज्ञानोपयोग साकार है। ये दोनों ही उपयोग अल्पज्ञानी जीवों के यद्यपि शक्ति रूप से रहते हैं परन्तु काम एक दूसरे के पीछे करते हैं अर्थात् पहले दर्शनोपयोग काम करता है, पीछे ज्ञानोपयोग काम करता है, किन्तु केवल ज्ञानी के क्रमवर्ती देखना जानना नहीं है। वे पूर्व शक्ति धारी हैं इसमें वे एक साथ दर्शन ज्ञान का काम करते हैं। जो कुछ विषय इन दोनों उपयोगों का सामान्य तथा विशेष रूप से है उन सबको एक साथ जानते देखते हैं। हर एक वस्तु सामान्य विशेष रूप है। जैसे एक बन में पचास वृक्ष हैं; उनमें वृक्षपना सब में समान है किन्तु प्रत्येक वृक्ष का आकार व स्वरूप भिन्न भिन्न है यह विशेष है। अस्तिपना सामान्य सर्वद्रव्यों में व्यापक है उसी में विशेष अस्तित्व मानना कि यह अमुक है यह विशेष है।

गोम्मटसार में कहा है :—

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरंहवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा ।। ३०८ ।।

विषय को शब्दादिक पदार्थ और विषय करने वाली कर्णादिक इन्द्रियों का जो संयोग है अर्थात् योग्य क्षेत्र में रहने रूप है उसके सम्बन्ध होते हुए उनके पीछे ही वस्तु का सत्ता मात्र निर्विकल्प ग्रहण भी यह है इतना प्रकाश रूप दर्शन नियम से है उसके पीछे ही देखा जो पदार्थ उसके वर्ण संस्थानादि विशेष ग्रहण रूप अवग्रह नाम ज्ञान है उसी में विशेष वांछारूप जो ज्ञान है वही ईहा है।

Perception Knowledge necessarily rises, immediately on the coming together of the senses and the senseabjects (i.e. after conation, Darshana). (Perception) being acquired the deseire (to gain) more (definite Knowledge) is Conception (Iha)

श्री गोम्मटसार दर्शनमार्गणा में कहा है:—

भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दसणं होदि ।।४८३।।

भवार्थः—सामान्य विशेषरूप जो पदार्थ हैं उनका स्वरूप मात्र भेद रहित जैसे है वैसे जीवके साथ स्वपर सत्ताका प्रकाशना सो दर्शन है। इस समय जो कुछ ग्रहण होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है।

The indcscribable apprehension by the soul of the mere presence of objects having general and particulars (qualities) is conation (Darshana).

यहाँ बताया गया है कि कभी जीव उपयोग से शून्य नहीं होता है। उपयोग और उपयोगवान जीव में नामादि की अपेक्षा भेद है परन्तु प्रदेशों का भेद नहीं है। जहाँ उपयोग है वहीं उपयोग है उपयोग जीवसे कभी छूटता नहीं है। राजवार्तिक में कहा है—"सर्वथा वनाशे पुनः अनुसमरणाभावः" अर्थात् यदि उपयोग का सर्वथा अभाव हो जावे तो पिछले पदार्थ का स्मरण न हो। यह पहले स्वयं जाने हुए पदार्थ ही का स्मरण होता है। यह उपयोग ही है जिससे जीव का लक्षण किया जाता है। जब कोई संसारी प्राणी अपने उपयोग से सुनता है, देखता है, सूंघता है, चखता है, छूता है, तब हम अनुमान कर लेते हैं कि वह जीव है। जब कोई शरीर ऐसा नहीं करता है तब उसमें जीव नहीं है ऐसा जान लेते हैं। इसलिये तत्वार्थ सूत्रमें कहा है। 'उपयोग लक्षणं' अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। यह उपयोग कर्मबन्ध सहित जीव में अशुद्ध या क्षयोपशम रूप रहता है किन्तु शुद्ध जीव में शुद्ध या स्वाभाविक रूप से रहता है। निश्चय नय से हर एक जीव में शुद्ध दर्शन और ज्ञान उपयोग है। ऐसा ही अपने को जान हमें आत्म अनुभव करना चाहिये।

आगे ज्ञानोपयोग निरूपण करते हैं:—

Upayogah dvivikalpah darsanam jnanam cha darsanam chaturdha
Chaksuh achaksuh avadhih darsanam atha kevalam jneyam—(4).

Padapatha.—उवओगो Uvago, Upayoga. दुवियप्पो Duviyappo, of two varieties दंसणं Damsanam, Darsana. च Cha, and. णाणं Nanam, jnana. दंसणं Damsanam, Darsana. चदुधा Chadudha, of four kinds. णेयम् Neyam, is to be known. चक्खु-अचक्खू-ओहीदंसणं Chakkhu-achakkhu-ohi- Damsanam, the Drasana like Chaksu, Achaksu and Avadhi. अध Adha, then. केवल Kevalam, Kevala. दंसणं Damsanam, Darsana.

4. Upayoga is of two kinds, Darsana and Jnana. Darsana is of four kinds. Darsana is known to be (divided into) Chaksu, Acheksu, Avadhi and Kevala.

COMMENTARY.

Verses parallel to these are found in Panchastikayasamaya sara, as follows:—

"उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥
दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ॥"

[पञ्चास्तिकायसमयसार: । ४०, ४२]

i. e.,—"Upayoga is of two kinds, being connected with Jnana and Darsana: know that this Upayoga is at all times inseparable from Jiva. Darsana also is said to be with Chaksu, Achaksu, Avadhi and the endless and eternal Kevala."

Upayoga is the resultant of consciousness which, according to Nischaya Naya or realistic point of view, is the sole characteristic of Jiva. Roughly, Upayoga may be said to be a sort of inclination which arises from consciousness. This inclination is either towards Darsana or towards Jnana. The difference between Darsana and Jnana consists in this, that in the former the details are not perceived, while in the latter the details are also known. "Before we know things in a detailed way, there is the stage where we simply see, hear, or otherwise become conscious of it in a general way, without going into its ins and outs. We simply know it as belonging to a class, we may know it as a horse, for instance, without going into any further details as to its individual characteristics. This is the first stage of knowledge; it may be called detail-less knowledge or indefinite cognition (Darsana). If this stage is not experienced, there can be no knowledge of the thing." Cognition of the details consists in Jnana (knowledge).

Darsana is thus understood to be "cognition in an undifferentiated way......you see a picture, for instance, but you do not go into the details of it; you just know in a general way that it is a picture."

Jiva, according to Jaina philospy, consists of infinite Jnana and Darsana, but certain classes of Karma tend to obscure these. Darsana is of four kinds, Chaksu, Achaksu, Avadhi and Kevala; so

there are also four kinds of Karma which obscure each of these varieties. When there is a cessation or mitigation (क्षयोपशम) of one or more of these varieties of Karma, the corresponding class or classes of Darsana is or are evolved. Thus, by the removal of these Karmas, Which obscure the Darsana which is received through the eye, a Jiva can see through the eyes. This is Chaksu Darsana (Darsana through the eye). Again, by the removal of that Karma which obscure the Darsana through any sense other then the eye, or mind, a Jiva can cognise through the four organs of sense—ear, nose, tongue or skin, and through the mind. This is called Achaksu Darsana (Darsana not through the eye). Similarly, when Karmas obscuring Avadhi Darsana are removed, a Jiva can have Avadhi Darsana (psychic knowledge, limited by space and time and obtained directly by the soul, e.g., clairvoyance). Lastly, by the removal of the Karmas which obscure Kevala Darsana, a Jiva can have Kevala (or perfect) Darsana (in which everything in the three worlds existent in the present, past and the future is at once cognised).

[Besides the four varieties af Karmas obscuring Darsana already mentioned, there are also five others mentioned by Umaswami, e.g., Nidra (sleep), Nidranidra (Deep sleep), Prachala (Trance), Prachala prachala (Drowsiness) and Styanagriddhi (Somnambulistic state) These, together with the Karmas obscuring Chaksu, Achaksu, Avadhi and Kevala Darsana already mentioned, make up nine Darsanavaraniya Karmas.]

णाणं अट्ठवियप्पं मदि सुदि ओही अणाणणाणि !
मण पज्जय केवलमपि पच्चक्ख परोक्ख भेयं च ॥५॥

अन्वयार्थ—(णाणं) ज्ञान (अट्ठ वियप्पं) अष्ट विकल्पं आठ प्रकार का है। (मदि सुदि ओंही) मति, श्रुति, अवधि (अणाणणाणि) अज्ञान और ज्ञान के भेद से अर्थात मति, श्रुति तथा अधि ये तीन मिथ्यात्व के उदय से विपरीत अभिवेश रूप अज्ञान होते हैं। इसीसे कुमति, कुगति तथा कुअवधि (विभंगावधि) इनके नाम हैं। तथा वे मति, श्रुति तथा अवधिज्ञान आत्मा आदि तत्त्व के विषय में विपरीत श्रद्धान होने के कारण

सम्यग्दृष्टी जीव के सम्यग्ज्ञान होते हैं। इस तरह कुमति आदि तीन अज्ञान और मति आदि तीन ज्ञान हैं। ज्ञान के ये ६ भेद तथा (मणपज्जय केवलमपि) मन:, पर्यय और केवलज्ञान ये दोनों मिलकर ज्ञान के सब आठ भेद हुए। (पचक्ख परोक्ख भेयं च) इन आठों में अवधि और मन:पर्यय ये दोनों तथा विभंगावधि तो देश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। शेष कुमति, कुश्रुत मति और श्रुत ये चार परोक्ष हैं।

विवेचन :— ग्रन्थकार ने इस गाथा में ज्ञान के आठ भेद बतलाये हैं। कुमति कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत अवधि, मन:पर्यय और केवल ऐसे ज्ञान के आठ भेद हैं। इनमें कुअवधि, अवधि, मन:पर्यय तथा केवल ये चार प्रत्यक्ष हैं और शेष चार परोक्ष हैं।

ज्ञानोपयोग में भेद किस लिये किया है ?

समाधान ज्ञानोपयोग में इसलिये भेद किया गया है कि ज्ञान तो संपूर्ण प्राणी मात्र को ही होता है परन्तु सभी जीवों के ज्ञान का क्षयोपशम एकसा नही है। पंचास्ति काय में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है कि :—

अभिणिसुदोधिमणकेवालणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ॥ ४१ ॥

मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल ये पाँच भेद रूप सम्यग्ज्ञान हैं और कुमति कुश्रुत व विभंग ऐसे तीन तीन अज्ञानों से संयुक्त सब आठ भेद ज्ञान के होते हैं। इसलिए ज्ञान के स्वरूप अलग २ बतलाने के लिए ज्ञान में भेद किया गया है।

जैसे सूर्य एक ही है मेघों के आवरण होने से उसकी प्रभा के अनेक भेद हो जाते हैं उसी तरह निश्चय नय से यह आत्मा भी अखंड है व एक तरहसे प्रकाशमान है, तो भी व्यवहार नय से कर्मों के पटलों से घिरा हुआ है इसलिए उसके ज्ञान के यह सुमति ज्ञान आदि बहुत भेद हो जाते हैं।

वास्तव में एक सहज शुद्ध ज्ञान ही जीव में है जो तीन काय वृत्ति सर्व द्रव्य गुण पर्यायों का ज्ञाता है। संसार की अवस्था में जीव के साथ ज्ञानावरण कर्म का अनादि सम्बन्ध है इसलिए जितना जितना ज्ञान का क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ज्ञान प्रगट होता जाता है। इस न्यूनाधिक्य ज्ञान के प्रकाश की अपेक्षा से ज्ञान के मुख्य पांच भेद हैं। मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टी साधुओं के ही होता है। इसलिए वे सम्यग्ज्ञानी ही हैं। किन्तु मति श्रुत अवधि ज्ञान जब सम्यग्दृष्टी के होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं और जब मिथ्यादृष्टी के होते हैं तो उनको मिथ्या ज्ञान कहते हैं इस तरह व्यवहार नय से एक ज्ञान के आठ भेद किये गये हैं।

दर्शनोपयोग के भी इसी तरह भेद हैं :—

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं ।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ॥ ४२ ॥
दर्शनमपि चक्षुर्युतमचक्षुर्युतमपि चावधिना सहितं ।
अनिधनमनंतविषयं कैवल्यं चापि प्रज्ञप्तम् ॥ ४२ ॥

दर्शन भी चक्षु सहित, अचक्षु सहित और अवधि सहित है तथा उनसे ही अन्तरहित अनन्त विषय को करने वाला केवल सहित कहा गया है।

दर्शनोपयोग के चार भेद हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल।

यह आत्मा निश्चय नय से अनन्त अखंड एक दर्शन स्वभाव को धारण करने वाला है, तो भी व्यवहार नय से संसार दशा में निर्मल व शुद्ध आत्मा के अनुभव को न पाने से जो कर्मबंधन है उनसे ढका हुआ चक्षु दर्शनावर्णी कर्म के क्षयोपशम से बाहरी चक्षु नामक द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन से जो मूर्तिक वस्तु को विकल्प रहित सत्ता का अवलोकन मात्र करता है वह चक्षु दर्शन है। तथा चक्षु के सिवाय अन्य चार इन्द्रिय तथा नौइन्द्रिय मन के आवरण के क्षयोपशम होने पर बाहरी स्पर्शादि चार द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन के अवलम्बन से मूर्तिक अमूर्तिक वस्तु को विकल्प रहित सत्ता का अवलोकन मात्र यथासम्भव जो करता है सो चक्षु दर्शन है। वही आत्मा अवधि दर्शनावर्ण कर्म के क्षयोपशम होने पर जो मूर्तिक वस्तु को विकल्प रहित सत्ता का अवलोकन मात्र प्रत्यक्ष करता है तथा रागादि दोषों से रहित चिदानन्दमयी एक स्वभाव रूप अपने शुद्धात्मा के अनुभवमयी निर्विकल्प ध्यान के बलसे सर्व केवल दर्शनावरण कर्म के क्षय हो जाने पर तीन जगतवर्ती व तीन कालवर्ती वस्तुओं में प्राप्त जो सत्ता सामान्य को एक समय में देखता है वह अनन्त दर्शन अनन्त पदार्थों की सत्ता को विषय करने वाला केवल दर्शन है। यहां यह अभिप्राय है कि केवल दर्शन के साथ अविनाभावी अर्थात् अवश्य रहनेवाले अनन्त गुणों का आधार जो शुद्ध जीव द्रव्य है वही ग्रहण करने योग्य है।

अर्थात् यहां आचार्य ने ज्ञानोपयोग के चार भेद बताये हैं। दर्शनावर्णी कर्म के क्षयोपशम से चक्षु, अचक्षु व अवधि दर्शन होता है व केवल दर्शन सर्व दर्शनावर्णी के क्षय से होता है। चक्षु, अचक्षु व अवधि ज्ञान के पूर्व सत्ता मात्र का जानना जो कुछ होता है जिसका कथन नहीं हो सकता सो दर्शन है। यह दर्शन केवल अरहन्त के केवल ज्ञान के साथ साथ होता है। जैसे गोम्मटसार जीव काण्ड में इसका स्वरूप बतलाया भी है।

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं बेंति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति ॥ ४८३ ॥

परमाणुआदियाइं अन्तिमखंधत्ति मुत्तिदव्वाइं ।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइताइं पच्चक्खं ॥ ४८४ ॥

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
लोगालोगवितिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥ ४८५ ॥

नेत्रों के सम्बन्धी जो सामान्य ग्रहको प्रकाश करे व जो देखे वह चक्षु दर्शन कहा गया है। शेष चार इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रकाश जिससे हो उसे चक्षु दर्शन जानना चाहिए। जिस परमाणु को आदि लेकर महा स्कन्द तक जो मूर्तिक द्रव्य को प्रत्यक्ष देखे वह अवधि दर्शन है। नाना प्रकार तीव्र मन्द मध्यम आदि रूप से भिन्न २ प्रकाश जो चन्द्रमा सूर्य रत्नादि का होता है वह मर्यादा लिये हुए क्षेत्र में ही होता है। इसलिये इन सूर्य आदि के उपयोग से जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती ऐसे लोकालोक को देखने वाला जिसमें कोई अन्धकार नहीं रहता वह केवल दर्शन है। यहां यह भाव है कि अनुपम केवल ज्ञान के प्रकाश के लिए निरन्तर आत्मदर्शन में लीन रहना चाहिये।

483. That by which the (object) of sight is made visible or (that) which sees (such objects) —they call it ocular conation (Chakshu-Darshana). The becoming visible (of their pecular object) to the other (4) senses (and quasisense, the mind)—this should be known to be the non-ocular conation (Achakshu Darshan).

484. And from an atom, etc., up to the last (maximum) molecule (maha skanda, are the forms of) material substances—that which sees them directly is the visual conation (Avadhi Darshana).

485. Luminaries of many kinds, in many ways, (make visible) limited space. That luminary which removing all darkness makes visible the (whole) universe and the non-universe (is) perfect conation (Kevala Darshana).

शंका:—कोई शंका करता है कि आपने जो कहा कि जो निजात्मा का देखना है वह दर्शन है, ऐसा बहुत बार तुमने कहा है, अब सामान्य अवलोकन रूप दर्शन कहते हैं।

ऐसा दर्शन तो मिथ्या दृष्टि के भी होता है उनको भी मोक्ष होना चाहिए। ऐसी शंका ठीक नहीं। इसके बारे में श्रीयोगीन्द्राचार्य ने परमात्म प्रकाश में समाधान किये हैं कि:—

सलय—पयत्थहं जं गहणु जीवहं अग्गिमु होई।
वत्थु-विसेस-विवज्जियउ तं णिय-दंसणु जोई ॥३४॥

अर्थात् चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन, ये दर्शनों के चार भेद हैं। इन चारोंमें मन से जो देखना है वह अचक्षु दर्शन है। जो आखों से देखना है वह चक्षु दर्शन है। इन चारों में से आत्मा का अवलोकन छद्मअवस्था में मन से होता। वह आत्मदर्शन मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम, तथा क्षय से होता है। सो सम्यग्दृष्टीके तो यह दर्शन तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप होने से मोक्ष का कारण है, जिसमें शुद्ध आत्मा–तत्त्व ही उपादेय है, और मिथ्या दृष्टि के तत्त्व श्रद्धान नहीं होने से आत्मा का दर्शन नहीं होता। मिथ्यादृष्टियों के स्थूलरूप पर द्रव्य का देखना जानना जो मन और इन्द्रियोंके द्वारा होता है,वह सम्यग्दर्शन नहीं है और मोक्ष का कारण भी नहीं है। अर्थात् उनको तत्त्वार्थ श्रद्धान के अभाव से सम्यक्त्व का अभाव है और सम्यक्त्व के अभावसे मोक्ष का अभाव है। जैसे कि केवल ज्ञान के पहले छद्मस्थ को पहले दर्शन होता है और केवल भगवान के दर्शन और ज्ञान एक साथ ही होते हैं आगे पीछे नहीं होते। ऐसा कहा भी है:—

दंसणपुव्वु हवेइ फुडु जं जीवहं विण्णाणु।
वत्थु-विसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णाणु ॥३५॥

जो सामान्य को ग्रहण करे विशेष न जाने वह दर्शन है तथा जो वस्तु का विशेष वर्णन आकार जाने वह ज्ञान है।

प्रश्न:—आत्मा का ज्ञानादि गुणों के साथ संज्ञा लक्षण इत्यादि अनेक भेद तुमने बताया है, फिर अनेक ज्ञान को एक कैसे माना जाता है?

उत्तर:—आत्मा का ज्ञानादि गुणों के साथ संज्ञा लक्षण प्रयोजनादि अपेक्षा भेद होने पर भी निश्चय नय से प्रदेशों की अपेक्षा भिन्न नहीं है तथा मति आदि ज्ञान के अनेक पना है।

पंचास्ति काय में कुंदकुंदाचार्य ने भी इसका खुलासा इस तरह किया है —

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्सरूपं भणियं दवियत्ति णाणीहि ॥ ४३ ॥

ज्ञानी आत्मा ज्ञान गुण से भिन्न२ नहीं किया कर सकता है तथा ज्ञान अनेक प्रकार मति आदि रूप से होते हैं। इसलिए ही हेय उपादेय तत्व के विचार करने वाले ज्ञानियों द्वारा नाना रूप जीव द्रव्य हैं ऐसा कहा गया है।

इसका खुलासा इस प्रकार है कि एक पुद्गल का परमाणु अपने एकपने की सत्ता को रखने से एक द्रव्य रूप है, एक प्रदेश को रखने से एक क्षेत्र रूप है, एक समय मात्र परिणमन को रखने से एक काल रूप है। मूर्तिक एक जड़ स्वरूप रखने से एक स्वभाव रूप है। ऐसे अपने द्रव्यादि चतुष्टय को रखने वाले परमाणु का जैसे अपने वर्णादि गुणों के साथ भेद नहीं है तैसे ही जीव द्रव्य का भी अपने ज्ञानादि गुणों के साथ भेद नहीं है। जीव द्रव्य भी अपने द्रव्यादि चतुष्टय से तन्मय है। यह एक अपनी सत्ता को रखने से एक द्रव्य रूप है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात अखंड एकमयी प्रदेश रखने से एक क्षेत्र रूप है। एक समय रूप वर्तन की अपेक्षा एक काल रूप है। एक चैतन्य स्वभाव रखने से एक स्वभाव रूप है। इस तरह एक जीव द्रव्य का अपना चतुष्टय जानना चाहिये। इसी तरह शुद्ध जीव की अपेक्षा से यदि विचार करे तो शुद्ध एक सत्ता मात्र रखने से एक द्रव्य रूप है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात अखंड एक मयी शुद्ध प्रदेश रखने से एक क्षेत्र रूप है। निर्विकार चैतन्य चमत्कार की परिणति से वर्तन करता हुआ एक समय मात्र परिणमन को रखने से काल रूप है। निर्मल एक चैतन्य चमत्कार की ज्योति स्वरूप होने से एक स्वभाव रूप है। ऐसे शुद्ध जीव का अपने सर्व प्रकार से निर्मल केवल ज्ञानादि अनन्त गुणों के साथ भेद नहीं है।

सारांश यह है कि यद्यपि ज्ञान के मति, श्रुत आदि अनेक भेद हैं तथापि ज्ञान गुण एक है जो जीव से कभी जुदा नहीं हो सकता है। गुण गुणी से संज्ञा व लक्षणादि की अपेक्षा से भेद करके समझा जाता है परन्तु दोनों एक दूसरे से तन्मय रहते हैं गुणों के बिना गुणी नहीं, गुणी के बिना गुण नहीं, क्योंकि आत्मा द्रव्य का स्वभाव ही ज्ञान स्वरूप है, इसलिए वह ज्ञान सर्व ज्ञेयों को जानता हुआ विश्वरूप कहा जाता है। निश्चय से ज्ञान एक है पर कर्मों के सम्बन्ध के कारण उसके अनेक भेद होते हैं।

ज्ञान का स्वरूप गोम्मटसार जीव कांड में इस प्रकार कहा है कि—

> जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
> पच्चक्खं च परोक्खं अणेणणाणेत्ति णं बेंति ॥ २९८ ॥

जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषय का समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं।

एक प्रत्यक्ष है और दूसरा परोक्ष ।

ज्ञान के पांच भेद कौन २ से हैं ?

समाधान— पंचेव होंति णाणा मदिसुद ओहीमणं च केवलयं ।
खयउवसमया चउरो केवल णाणं हवे खइयं ॥२९९॥

ज्ञान के पाँच भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय तथा केवल इन में आदि के चार ज्ञान क्षयोपशमिक हैं और केवल ज्ञान क्षायिक है।

इनमें से आदिके तीन ज्ञान समीचीन हैं और मिथ्या भी हैं। मिथ्या ज्ञान का कारण और स्वामी कौन है ?

उत्तर—इसका समाधान गोम्मट सार में है कि:—

अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छ अणउदये ।
णवरि विभंगं णाणं पंचिंदियसण्णिपुण्णेव ॥३००॥

आदि के तीन ज्ञान समीचीन भी हैं और मिथ्या भी हैं। ज्ञान के मिथ्या होने का अन्तरंग कारण मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कषाय का उदय है। मिथ्या अवधि को विभंग भी कहते हैं। इसमें यह विशेषता है कि यह विभंग ज्ञान संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय के ही होता है। मिथ्या ज्ञानको दृष्टांत के द्वारा स्पष्ट बतायेंगे।

दूसरे के उपदेश के बिना जो विष यंत्र कूट पंजर तथा बंध आदि के विषय में बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मिथ्या ज्ञान कहते हैं।

अर्थात्—जिसके खाने से जीव मर सके उस द्रव्य को विष कहते हैं। भीतर पैर रखने से ही जिसके किवाड़ बन्द हो जायँ और जिसके भीतर बकरी आदि को बांधकर सिंह आदि को बांधकर पकड़ा जाता है उसको यंत्र कहते हैं। जिससे मूसे वगैरह पकड़े जाते हैं उसको कूट कहते हैं। रस्सी में गांठ लगाकर जाल बनाया जाता है उसको पँजर कहते हैं। हाथी आदि को पकड़ने के लिये जो गड्ढे आदि बनाये जाते हैं उनको बंध कहते हैं। इत्यादिक पदार्थों में दूसरे के बिना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मति ज्ञान कहते हैं, क्योंकि उपदेश पूर्वक होने से वह ज्ञान श्रुत ज्ञान कहा जाता है । यह मानव प्राणी मिथ्यात्व ज्ञान के कारण अपने सच्चे निजात्म स्वरूप का भान न होने के कारण दीर्घ संसार में हमेशा भ्रमण कर रहा है ।

मिथ्यात्व के ग्रासमे ग्रसित हुआ जीव अनेक प्रकार के इन्द्रिय तथा राग को पापादि मार्ग को बढ़ाने वाले तथा हमेशा नरकादि दुर्गति के कारण हिंसामयी शास्त्र, कुकाव्य, कुनाट्य काव्य मृषानन्द, बिषयानन्द अनेक दुराचार को बढ़ाने

वाले हिंसा शास्त्र आदि के परमार्थ से शून्य अतएव अनादरणीय मिथ्या श्रुत ज्ञान कहते हैं।

सर्वज्ञ भगवान् के उपदिष्ट आगम में विपरीत अवधि ज्ञान को विभंग कहते हैं। इसके दो भेद हैं, एक क्षयोपशमिक, दूसरा भव प्रत्यय। देव नारकियों के विपरीत अवधि ज्ञान को भव प्रत्यय विभंग कहते हैं और मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के विपरीत अवधि ज्ञान को क्षयोपशमिक विभंग कहते हैं। इस विभंग का अन्तरंग कारण मिथ्यात्व आदिक कर्म है।

प्रश्न—मति ज्ञान किसे कहते हैं।

उत्तर—इसका समाधान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्ति काय में कहा है कि—

मदिणाणं पुणं तिविहं उवलद्धी भावणं च उवओगो।
तह एव चदुवियप्पं दंसण पुव्वं हवदि णाणं ॥ ४४ ॥

मति ज्ञान तीन प्रकार का है। उपलब्धि या जानने की शक्ति, उपयोग या जानने रूप व्यापार और भावना या जाने हुए का विचार। तैसे ही वह चार प्रकार है। दर्शन पूर्वक यह ज्ञान होता है।

यह आत्मा निश्चय नय से अखंड एक शुद्ध ज्ञानमयी है व व्यवहार नय से संसार अवस्था में कर्मों से ढका हुआ है। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर पांच इन्द्रिय और मन के द्वारा जो कोई मूर्त्तिक और अमूर्तिक वस्तुओं को विकल्प सहित या भेद सहित जानता है वह मतिज्ञान है। सो तीन प्रकार है—मति—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो पदार्थों को जानने की शक्ति प्राप्त होती है उसको उपलब्धि मतिज्ञान कहते हैं। यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूप से जो पदार्थ के जानने का व्यापार है उसको उपयोग मति ज्ञान कहते हैं। जाने हुए पदार्थ को बार बार चिन्तवन करना भावना मति ज्ञान है। यही मति ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के भेद से चार प्रकार है। अथवा कोष्ठ बुद्धि बीज कुबुद्धि, पादानुसारी बुद्धि और संभिन्नश्रोतृता बुद्धि के भेद से भी चार प्रकार का है। यह मति ज्ञान सत्ता अवलोकन रूप दर्शन पूर्वक होता है। यहाँ यह तात्पर्य है कि निश्चय नय से निर्विकार शुद्धात्मानुभव के सन्मुख जो मतिज्ञान है वही उपादेयभूत अनन्त सुख का साधक होने से ग्रहण करने योग्य है—उसी का साधक जो बाहरी मति ज्ञान है वही व्यवहार नय से उपादेय है।

भावार्थ—पांच इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाले पदार्थों के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं, इस मतिज्ञान के लिए मतिज्ञानावर्णी कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है। जितना

क्षयोपशम होगा उतना ही ज्ञान प्रगट होगा यही आत्मा का अशुद्ध या विभावज्ञान—मतिज्ञान कहलाता है। पाँच इन्द्रिय और मनकी बनावट को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं—इनकी सहायता से यह लब्धिरूप जो मतिज्ञान पहले से था वही जब पदार्थों के जानने में उपयुक्त होता है तब उसको उपयोग कहते हैं। जाने हुए को बार बार विचारना भावना है। तीन तरह मतिज्ञान के ये दो भेद बताए हैं। यह मतिज्ञान चक्षु या अचक्षु दर्शनपूर्वक होता है। जब इन्द्रिय किसी पदार्थ को जानने के सन्मुख हुई उसी के पीछे ही जो सत्ता मात्र पदार्थ का ऐसा ग्रहण जिसका कोई आकार ज्ञान में न झलके वह दर्शन है। उसी के पीछे ही जो अस्पष्ट ग्रहण हो वह अर्थावग्रह है। अस्पष्ट ग्रहण मन और चक्षु न होकर मात्र स्पर्शादि शेष चार इन्द्रियों से होता है। इसमें मात्र अवग्रह रह जाता है। इसमें क्या पदार्थ है ऐसा निश्चय करने के लिये ईहा अवाय आदि नहीं होता है। अर्थावग्रह में ईहा आदि होते हैं—ग्रहण करने के पीछे जो वह पदार्थ हो उसी की तरफ झुकता हुआ ज्ञान ईहा है और निश्चय यह होना कि यह अमुक पदार्थ है सो अवाय है, उसी की धारणा बैठ जानी कि फिर भी स्मृति हो जावे सो धारणा है।

बहुत पदार्थ, एक पदार्थ, बहुत प्रकार के पदार्थ, एक तरह के पदार्थ, शीघ्र गिरती हुई जलधारादि व अन्य शीघ्र चलती हुई वस्तु मंद चलता हुआ घोड़ा आदि, गूढ़-छिपा पदार्थ प्रगट पदार्थ, बिना कहा हुआ पदार्थ, कहा हुआ पदार्थ, स्थिर पर्वतादि पदार्थ, अस्थिर बिजली आदि पदार्थ, इस तरह बहु एक, बहुविध, एक विध, क्षिप्र अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव, अध्रुव बारह प्रकारके पदार्थों का अवग्रह ईहा अवाय धारणा होता है। इससे ४८ भेद हुये। ये अड़तालीस भेद पांच इन्द्रिय तथा मन से हो सकते हैं। इससे छः गुणा करने से २८८ दो सौ अठासी भेद अर्थावग्रहरूप मतिज्ञान के हुए। व्यंजनावग्रह बारह प्रकार पदार्थोंका चार इन्द्रियों से होता है इससे उसके ४८ अड़तालीस भेद होते हैं—कुल भेद ३३६ तीनसौ छत्तीस मतिज्ञान के होते हैं। टीकाकार ने जो दूसरे चार भेद बताए हैं वे बुद्धि ऋद्धि की अपेक्षा से हैं जो मुनियोंके होते हैं। जैसे भण्डारमें अनेक पदार्थ रक्खे जावें तो वे वैसे ही मिलते हैं तैसे जिस तरह अनेक शास्त्रों का ज्ञान भिन्न २ प्राप्त किया था उसको उसी तरह स्मरण रखना-काल बीतने पर इसी तरह भिन्न २ बता देना कोष्ट बुद्धि है। ग्रंथोंके एक बीज (मूल) पद के द्वारा उसके अनेक प्रकार के अर्थों को जान लेना बीजबुद्धि है। आदि मध्य या अन्तके केवल एक पदको सुनकर सर्व ग्रन्थ को कह देने की शक्ति को पदानुसारी बुद्धि कहते हैं। बारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े क्षेत्र में ठहरने वाले हाथी, घोड़े मनुष्य आदि के शब्दों को दूर से अलग अलग सुन लेने की शक्ति को संभिन्नश्रोतृबुद्धि

कहते हैं। मतिज्ञान से सीधा पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। जिसको जानना था उसी ही का स्मरण होना स्मृति है उसी को पुनः २ संज्ञा होते हुए यह तर्क बांध देना कि जहां तक यह चिन्ह होगा वहां यह चिन्ह वाला होगा सो चिन्ता (तर्क) ज्ञान है, फिर कई चिन्ह को देखकर चिन्हवाले का ज्ञान प्राप्त कर लेना अनुमान ज्ञान है। ये सब ज्ञान भी मति ज्ञानावर्णी के क्षयोपशम से होते हैं। इससे मति ज्ञान है जो गाथामें भावना के भेद में गर्भित हो सकते हैं।

मति ज्ञान का स्वरूप और उसका कारण भेदादि किस तरह है ?

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदिइं दियजम् ।
अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं ॥३०५॥

अर्थ—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधक कहते हैं। इसमें प्रत्येक के अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार २ भेद हैं।

भावार्थ—स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्र में व्यवस्थित पदार्थ को अभिमुख कहते हैं। और जैसे चक्षु का रूप विषय है इसी तरह जिस इन्द्रिय का जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं। इस तरह के पदार्थों का मन अथवा स्पर्शन आदिक पाँच इन्द्रियों की सहायता से जो ज्ञान होता है उसको मति ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रिय की अपेक्षा से मति ज्ञान के छह भेद हुए। इसमें भी प्रत्येक के अवग्रह ईहा, अवाय, धारणा ये चार २ भेद होते हैं। प्रत्येक के चार २ भेद होते हैं। इसलिये छह को चार से गुणा करने पर मति ज्ञान के चौबीस भेद होते हैं।

अवग्रह के भेद—

वेंजणअत्थअवग्गहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे ।
कमसो ते वावरिदा पढमं ण हि चक्खुमणसाणं ॥ ३०६ ॥

अर्थ—अवग्रह के दो भेद हैं, एक व्यञ्जनावग्रह दूसरा अर्थावग्रह। जो प्राप्त अर्थ के विषय में होता है उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं और जो अप्राप्त अर्थ के विषय में होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता।

भावार्थ—इन्द्रियों से प्राप्त सम्बद्ध अर्थ को व्यञ्जन कहते हैं और अप्राप्त-असम्बद्ध पदार्थ को अर्थ कहते हैं। और इनके ज्ञान को क्रम से व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह कहते हैं।

शंका—राजवार्तिकादिक में व्यञ्जन शब्द का अर्थ अव्यक्त किया है और यहाँ पर

प्राप्त अर्थ किया है, इसलिए परस्पर विरोध आता है। उत्तर—व्यंजन शब्द के अनभिव्यक्ति तथा प्राप्ति दोनों अर्थ होते हैं। इसलिए इसका ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि इन्द्रियों से सम्बन्ध होने पर भी जब तक प्रकट न हो तब तक उसको व्यंजन कहते हैं, प्रकट होने पर अर्थ कहते हैं। अतएव चक्षु और मन के द्वारा व्यंजनाग्रह नहीं होता क्योंकि ये अप्राप्यकारी हैं। जिस तरह नवीन मिट्टी के सकोरा आदि पर एक दो पानी की बूँद पड़ने से वही व्यक्त हो उठता है, इसी तरह श्रोत्रादिक के द्वारा प्रथम व्यक्त शब्दादिक के ग्रहण को व्यंजनावग्रह और पीछे उसी को प्रकट रूप से ग्रहण करने पर अर्थावग्रह कहते हैं। व्यंजन पदार्थ का अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते इसलिए चार इन्द्रियों की अपेक्षा व्यंजनावग्रह के चार भेद हैं। पूर्वोक्त चौबीस भेदों में इन चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं।

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा॥ ३०७॥

अर्थ—पदार्थ और इन्द्रियों का योग्य क्षेत्र में अवस्थानरूप सम्बन्ध होने पर सामान्य का अवलोकन करने वाला दर्शन होता है और इसके अनन्तर विशेष आकार आदिक को ग्रहण करने वाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर जिस पदार्थ को अवग्रह ने ग्रहण किया है उसी के किसी विशेष अंश को ग्रहण करने वाला ईहा ज्ञान होता है। जिस तरह किसी दक्षिणात्य पुरुष को देख कर यह कुछ है इस तरह के महासामान्यावलोकन को दर्शन कहते हैं। इसके अनन्तर यह पुरुष है इस तरह के ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। और इसके अनन्तर यह दाक्षिणात्य ही होना चाहिये इस तरह के विशेष ज्ञान को ईहा कहते हैं।

ईहणकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।
कालांतरेवि णिण्णिदवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं॥३०८॥

ईहा ज्ञान के अनन्तर वस्तु के विशेष चिन्हों को देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है उसको अवाय कहते हैं। जैसे भाषा वेष विन्यास आदि को देखकर यह दाक्षिणात्य ही है, इस तरह के निश्चय को अवाय कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तु का कालान्तर में भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते हैं।

बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च।
तत्थेक्केक्के जादे छत्तीसं तिसयभेदं तु॥ ३०९॥

मति ज्ञान के विषयभूत पदार्थ के बारह भेद हैं । बहु, अल्प, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत्, निसृत, अनुक्त, उक्त । इनमें से प्रत्येक विषय में मति ज्ञान के उक्त अट्ठाईस भेदों की प्रवृत्ति होती है । इसलिए बारह को अट्ठाईस से गुणा करने पर मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ।

बहुवत्तिजादिगहणे बहुबहुविहमियरमियरगहणम्हि ।
सगणामादो सिद्धा खिप्पादी सेदरा य तहा ॥ ३१० ॥

एक जाति की बहुत सी चीजों को बहु कहते हैं । अनेक जाति के बहुत पदार्थों को बहुविध कहते हैं । एक जाति को एक दो व्यक्ति को अल्प (एक दो) कहते हैं । एक जाति की अनेक व्यक्तियों को एकविध कहते हैं । क्षिप्रादिक तथा उनके प्रतिपक्षियों का उनके नाम से ही अर्थ सिद्ध है । अर्थात् शीघ्र पदार्थ को क्षिप्र कहते हैं । जैसे तेजी से बहता हुआ जलप्रवाह । मन्द पदार्थ को अक्षिप्र कहते हैं । जैसे कछुआ, धीरे २ चलने वाला घोड़ा मनुष्य आदि । छिपे हुए को (अप्रकट) अनिसृत कहते हैं, जैसे जल में डूबे हुये हस्ती आदि का प्रकट पदार्थ को निसृत कहते हैं,जैसे सामने खड़ा हुआ हस्ती । जो पदार्थ अभिप्राय से समझा जाय उसको अनुक्त कहते हैं । जैसे किसी के हाथ या शिर से इशारा करने पर किसी काम के विषय में हां या ना समझना । जो शब्द के द्वारा कहा जाय उसको उक्त कहते हैं, जैसे यह घट है । स्थिर पदार्थ को ध्रुव कहते हैं, जैसे पर्वत आदि, क्षण-स्थायी अनिसृत ज्ञान विशेष को दिखाते हैं ।

वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा ।
सकलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई ॥३११ ॥

वस्तु के एक देश को देखकर समस्त वस्तु का ज्ञान होना, अथवा वस्तु के एक देश या पूर्ण वस्तु का ग्रहण करके उसके निमित्त किसी दूसरी वस्तु के होने वाले ज्ञान को भी अनिसृत कहते हैं ।

इसका दृष्टान्त दिखाते हैं—

पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदणगवयगहणे वा ।
वत्थंतरचंदस्स यं धेणुस्स य बोहणं च हवे ॥ ३१२ ॥

जल में डूबे हुए हस्ती की सूंड को देखकर उसी समय में जल मग्न हस्ती का ज्ञान होना, अथवा मुख को देखकर उसी समय उससे भिन्न किन्तु उसके सदृश चन्द्रमा का ज्ञान होना, अथवा गवय को देखकर उसके सदृश गौका ज्ञान होना । इनको अनिसृत ज्ञान कहते हैं ।

सामान्य विषय अर्ध विषय और पूर्ण विषय की अपेक्षा से मतिज्ञान के स्थानों को गिनाते हैं।

एक्कचउक्कंचउवीसट्ठावीसं च तिप्पडिं किच्चा।
इगिछव्वारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि ॥३१३॥

मतिज्ञान सामान्य की अपेक्षा एक भेद, अवग्रह इहा अवाय धारणाकी अपेक्षा चार भेद, पांच इन्द्रिय और छठे मन से अवग्रहादि चार के गुणा करने की अपेक्षा चौबीस भेद, अर्थावग्रह व्यन्जनावग्रह की अपेक्षा से अट्ठाईस भेद मतिज्ञान के होते हैं। इनको क्रम से तीन पंक्तियों में स्थापना करके एक छह और बारह से यथाक्रम से गुणा करने पर मतिज्ञान के सामान्य अर्थ और पूर्ण स्थान होते हैं। अर्थात् विषय सामान्य से यदि इन्हें चार का गुणा किया जाय तो क्रम से एक चार चौबीस और अट्ठाईस स्थान होते हैं। और यदि इन चार ही का बहु आदिक छह से गुणा किया जाय तो मतिज्ञान के अर्थ स्थान होते हैं। और बहु आदिक बारह से यदि गुणा किया जाय तो पूर्ण स्थान होते हैं।

क्रम प्राप्त श्रुत ज्ञान का विशेष वर्णन और उसका सामान्य लक्षण।

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥३१४॥

मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञान पूर्वक होता है। इस श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक अनक्षरात्मक इस तरह, अथवा शब्द जन्य और लिंगजन्य इस तरह से दो भेद हैं इनमें मुख्य शब्द जन्य श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञान के भेदः—

लोगाणमसंखमिदा अणक्खरप्प हवंति छट्ठाणा।
वेरूवछट्ठवग्गपमाणं रूऊणमक्खरगं ॥ ३१५ ॥

अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इन षट्स्थानपतित वृद्धिकी अपेक्षासे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के सबसे जघन्य स्थान से लेकर उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं। द्विरूपवर्गधारा में छठे वर्ग का जितना प्रमाण है (एकठ्ठी) उसमें एक कम करने से जितना प्रमाण बाकी रहे उतना ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का प्रमाण है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के असंख्यात भेद हैं। अपुनरुक्त अक्षरात्म श्रुतज्ञान के संख्यात भेद हैं और पुनरुक्त अक्षरात्मक का प्रमाण इससे कुछ अधिक है।

दूसरी तरह से श्रुतज्ञान के भेद दो गाथाओं में गिनाते हैं।

पज्जायक्खर पदसंघादं पडिवत्तियाणि जोगं च।
दुगवार पाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च॥ ३१६॥
तेसिं च समासेहिं य वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं।
आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवंतित्ति॥३१७॥

पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर अक्षर समास, पद, पदसमास, संघात, संघात प्रति समास, पत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग अनुयोगसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु वस्तुसमास, पूर्व, पूर्वसमास, इस तरह श्रुतज्ञान के बीस भेद हैं। इसी लिये श्रुतज्ञानावरण कर्म के भी बीस भेद होते हैं। किन्तु पर्यायावरण कर्म के विषय में कुछ भेद है—उसको आगे की गाथा में बतावेंगे।

चार गाथाओं से पर्याय ज्ञान का स्वरूप दिखाते हैं—

णवरि विसेसं जाणे सुहमजहण्णं हु पज्जयं णाणं।
पज्जायावरणं ण तदणंतरणाणभेदम्हि॥ ३१८॥

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञानकहते हैं। इसमे विशेषता केवल यही है कि इसके आवरण करने वाले कर्म के उदय का फल इसमें(पर्याय ज्ञान में) नहीं होता, किन्तु इसके अन्तरज्ञान के (पर्यायसमास) प्रथम भेद में होता है। अर्थात् यदि पर्यायावरण कर्म, कर्म का फल पर्यायज्ञान में हो जाय तो ज्ञानोपयोग का अभाव होने से जीव का भी अभाव हो जाय, इसलिए पर्यायावरण कर्म का फल उसके आगे के प्रथम ज्ञान के प्रथम भेदों में ही होता है। इसीलिए कम से कम पर्यायरूप ज्ञान जीव के अवश्य पाया जाता है।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणम्॥३१९॥

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को पर्याय ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है।

पर्याय ज्ञान के स्वामी की विशेषता दिखाते हैं।

सुहमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण।
चरिमा पुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे॥ ३२०॥

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपने २ जितने भव (छह हजार बारह) सम्भव हैं उनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्त शरीर को तीन मोड़ाओं के द्वारा ग्रहण करने वाले जीव के प्रथम मोड़ों के समय में सर्वजघन्य ज्ञान होता है।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ॥३२१॥

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रिय जन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षर रूप श्रुतज्ञान होता है। शंका—इस विवेचन की गाथा में कुमति कुश्रुत, अवधि मति, श्रुत अवधि मनः पर्यय और केवल ऐसे आठ प्रकार का ज्ञान बतलाया था और उसमें कुअवधि अवधि मनः पर्यय केवल ऐसे चार प्रत्यक्ष हैं शेष चार परोक्ष हैं फिर यह प्रत्यक्ष कैसे ? क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी आचार्य ने भी आद्ये-परोक्षम् इस प्रकार इन्होंने भी कहा है, यह किस प्रकार हो सकता है ?

उक्त शंका का उत्तर—

तत्वार्थ सूत्र में जो श्रुत को परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और भाव श्रुत-ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह अपवाद की अपेक्षा से कथन है यदि तत्त्वार्थ सूत्र में उत्सर्ग का कथन नहीं होता तो तत्त्वार्थ सूत्र में मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा गया ? और यदि वह सूत्र में परोक्ष ही कहा गया है तो तर्कशास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे कहा ? इसलिए जैसे अपवाद की अपेक्षा जैसे अपवाद व्याख्यान से परोक्ष रूप भी मतिज्ञान को सांव्य-वहारिक प्रत्यक्ष कहा है वैसे ही अपने आत्मा के सन्मुख जो भावश्रुतज्ञान है वह परोक्ष है तो उस को पत्यक्ष कहा जाता है। यदि एकान्त से ये मति श्रुत दोनों परोक्ष ही हो तो सुख दुःख आदि का जो स्वसंवेदन है वह भी परोक्ष ही होगा। किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है। उसी तरह वही आत्मा अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्तिक पदार्थ जो एक देशप्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है। तथा जो मनः पर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशय से और वीर्यन्तराय के क्षयोरशय से अपने मनके अवलम्बन द्वारा परके मन में प्राप्त हुए मूर्त पदार्थ को एक देश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है वह ईहा मतिज्ञान पूर्वक मनः पर्यय ज्ञान है। तथा अपते शुद्ध आत्मा द्रव्य के पदार्थ श्रद्धान-ज्ञान द्वारा केवल ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के नष्ट होने से जो उत्पन्न होता है वह संपूर्ण द्रव्य क्षेत्र, काल तथा भाव को ग्रहण करने वाला और सब प्रकार से उपदेय मानी ग्रहण करने योग्य केवल ज्ञान है। इसलिये ज्ञानी जीव को इसी का ध्यान करनायोग्य है। मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानादि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?

समाधान—इसका समाधान अकलंक देव ने राजवार्तिक में इस तरह किया है—

मतिशब्दों भावकर्तृ करणसाधनः ॥१॥

ज्ञानार्थक मनु धातु से भावसाधन अर्थ में क्ति प्रत्यन करने पर मति शब्द सिद्ध हुआ है और मननं मतिः मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रिय और मन की सहायता से जो पदार्थों का जानना है वह मति है। इसी तरह उदासीनता से जहां बाहुल्य की अपेक्षा से पदार्थों का स्वरूप कहा जाता है वहां पर मनुते अर्थात् पदार्थों को जो जाने वह मति है यह कर्ता अर्थ में मति शब्द की व्युत्पत्ति है। इसी तरह जहाँ पर कथंचित भेद और अभेद की विवक्षा है वहां पर 'मन्यते अनेनेति मतिः' जिसके द्वारा पदार्थ जाने कारण हैं और आत्मा कर्ता है परन्तु आत्मा से ज्ञान को कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न मानने पर कोई दोष नहीं है।

श्रुतशब्दः कर्म साधनश्च ॥२॥

श्रुतज्ञानावरण वा नौ इन्द्रिय (मन) आवरण के क्षयोपशम आदि अन्तरंग बहिरंग कारणों के मौजूद रहते जिसके द्वारा सुना जाय श्रुतज्ञान का विषय किया जाय वह श्रुतज्ञान है। वहां पर श्रुतशब्द का कर्ता करण और भाव अर्थ में व्युत्पत्ति समझ लेनी चाहिये। 'शृणोतीति श्रुतं' यह श्रुत शब्द का कर्तृसाधन व्युत्पत्ति है और श्रुतज्ञान रूप परिणत आत्मा ही पदार्थों को सुनता है, यह उसका अर्थ है। जिस समय श्रुतज्ञान को आत्मासे कथंचित् न माना जायगा उस समय 'श्रुयतेऽनेनेति श्रुतं' यह कारण साधन व्युत्पत्ति है और जिस के द्वारा सुना जाय वह श्रुत है। यह उसका अर्थ है। यहां पर कारण होने से श्रुतज्ञान भिन्न जान पड़ता है तो भी कथंचित् भेद पक्ष के अवलंबन से कोई दोष नहीं। 'श्रवण मात्रं वा श्रुतं' यह भाव साधन व्युत्पत्ति है। सुनना जानना रूप यह उसका अर्थ है।

अवपूर्वस्य दधातेः कर्मादिसाधनः ॥३॥

अब उपसर्ग पूर्वक धा धातु से कर्म करण और भाव तीनों अर्थों में कि प्रत्यय करने पर अवधि शब्द सिद्ध होता है। अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम आदि अन्तरंग वहिरंग कारणों के रहते जिसके द्वारा पदार्थ जाने जायँ वा जो पदार्थों को जाने अथवा पदार्थों का जानना स्वरूप ही जिसका स्वभाव हो वह अवधि ज्ञान कहा जाता है। यह कर्ता करण और भाव तीनों अर्थोंकी अपेक्षा अवधिशब्द का व्युत्पत्ति पूर्वक अर्थ है। जिस तरह अधः क्षेपणं अवक्षेपणं नीचे गिरना अवक्षेपण कहा जाता है

उसी तरह अवधिज्ञान अर्थ भी अधोलोक के पदार्थों का जानना है। इस रीतिसे अधोलोक के बहुत से पदार्थों को जो ज्ञान विषय करे वह अवधिज्ञान कहलाता है। यद्यपि अवधिज्ञान वाला मर्यादिक रूप से कुछ ऊपर के पदार्थों को भी जान सकता है परन्तु बहुत थोड़ा किन्तु अधिकरूप से अधोलोक के पदार्थों को ही जान सकता है इसलिये अधोलोक के बहुत से पदार्थों को जो ज्ञान विषय करे वह अवधिज्ञान है। यह लक्षण प्रधानता की अपेक्षा किया गया है। अथवा—

अवधि का अर्थ मर्यादा भी है। जो मर्यादिक रूप से पदार्थों को विषय करे वह अवधिज्ञान है। इसी अध्याय के 'रूपिष्ववधेः' अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है। इस सत्ताईसवें सूत्र में अवधिज्ञान के मर्यादिक विषय का वर्णन किया गया है। यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि केवल ज्ञान के सिवाय मर्यादिक विषय तो चारों ज्ञानों का है अर्थात् पांच इन्द्रिय और मन से जो मतिज्ञान होता है वह भी मर्यादारूप से होता है। श्रुतज्ञान की भी मर्यादा है एवं मनः पर्ययज्ञान भी दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है, इसलिए यहाँ पर भी मर्यादा है। यदि मर्यादित रूप से पदार्थों का जानना अवधिज्ञान कहा जायगा तो मति आदि ज्ञानों को भी अवधिज्ञान कहना पड़ेगा, सो ठीक नहीं। जिस तरह गौ शब्द के पृथ्वी वाणी गाय आदि अनेक अर्थ होते हैं तो भी रूढ़िबल से गाय ही अर्थ लिया जाता है उसी तरह मर्यादितरूप से जानना यद्यपि सभी ज्ञानों का विषय है तो भी रूढ़िबल से मर्यादितरूप से पदार्थों को जानना अवधिज्ञान ही कहा जाता है, अन्य ज्ञान नहीं।

मनः प्रतीत्यप्रतिसंधान वा ज्ञानं मनः पर्ययः ॥ ४ ॥

मनःपर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम और वीर्यांतराय का क्षयोपशम आदि अन्तरंग बहिरंग कारणों के द्वारा दूसरे के मन में स्थित पदार्थ का जान लेना मनः पर्ययज्ञान कहा जाता है। जिस तरह मति आदि शब्दों को कर्तृ साधन करण साधन और भाव साधन बतलाए हैं उसी तरह "मनः पर्येति परीयते पर्यय मात्रं वा मनः पर्ययः" इस तरह मनः पर्यय शब्द को भी कर्ता करण और भावसाधन मान लेना चाहिये। मन की प्रतीति कर वा आश्रय कर जो ज्ञान होता है वह मनः पर्ययज्ञान कहलाता है। यह जो व्युत्पत्ति सिद्ध मनः पर्ययज्ञान का अर्थ है यहाँ पर मन शब्द से परके मन में स्थित पदार्थ का ग्रहण है, क्योंकि आधार में रहने वाला आधेय पदार्थ भी आधार के नाम से कह दिया जाता है, यह व्यवहार है। यहाँ पर दूसरे के मन में स्थित पदार्थ आधेय और मन आधार है तो भी उस पदार्थ को मन के नाम से पुकारने में कोई हानि नहीं तथा वह पर के मन में रहने वाला पदार्थ घट आदि रूपी पदार्थ ग्रहण किया है अर्थात् पर के मन में यदि रूपी पदार्थ

का विचार हो रहा होगा तभी मनः पर्ययज्ञानी उसके मन की बात जान सकता है किन्तु यदि वह पर मनुष्य किसी अमूर्तिक पदार्थ का चिंतवन करेगा तो मनः पर्ययज्ञानी उसके मन की बात नहीं जान सकता। इस रीति से पर के मन में स्थित रूपी पदार्थ को प्रतीति करवा आश्रय कर मनः पर्ययावरण के क्षयोपशम आदि अन्तरंग वहिरंग कारणों के द्वारा जो दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थको जान लेना है वह मनः पर्ययज्ञान है। यह खुलासा रूप से मनः पर्ययज्ञान का अर्थ है। यदि यहाँ पर यह शंका की जाय कि—

मतिज्ञानप्रसंग इति चैन्नापेक्षामात्रत्वात् ॥ ५ ॥

ऊपर मन से मतिज्ञान की उत्पत्ति कह आए हैं मनः पर्यय ज्ञान में भी मन का निमित्त माना जायगा तो फिर मनः पर्ययज्ञान को मतिज्ञान ही कह देना पड़ेगा, आगम का भी यह वचन है कि मन के द्वारा मन को आश्रय कर जो ज्ञान होता है वह मनः पर्यय ज्ञान है इस रीति से मन के निमित्त से मनः पर्ययज्ञान की उत्पत्ति मानने पर वह मतिज्ञान ही कहा जा सकेगा। मनः पर्ययज्ञान जुदा सिद्ध नहीं हो सकता, सो ठीक नहीं। "अभ्रे चंद्रमसं पश्य" आकाश में चंद्र देखने यहांपर आकाश का कहना जिस तरह अपेक्षा मात्र है यदि आकाश को न कहा जाय चंद्र देखो, इतना ही कहा जाय तब भी चन्द्रमा का ज्ञान हो सकता है उसी तरह मनःपर्ययज्ञान मन का कार्य नहीं किन्तु मनःपर्ययज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा की विशुद्धता ही निमित्त कारण है। आत्मा की विशुद्धि के बिना मनः पर्ययज्ञान हो ही नहीं सकता।

वाह्याभ्यंतरक्रियाविशेषात् तदर्थं केवंते तत्केवलं ॥ ६ ॥

जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन वचन काय तीनों योगों के निरोध पूर्वक वाह्य और आभ्यन्तर तपों का आराधन किया जाता है वह केवलज्ञान है अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान तो साधारण हैं जो प्राणीमात्र के प्रति समय विद्यमान रहते हैं। इस लिए मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में तप की जरा भी आवश्यकता नहीं पड़ती। अवधिज्ञान के लिए भी खास रूप से तप की आवश्यकता नहीं, देव आदि को वा तीर्थंकर आदि को तप के बिना ही अवधिज्ञान हो जाता है। मनःपर्ययज्ञान में भी यह बात नहीं कि वह तप तपने से ही नहीं हो किन्तु दीक्षा लेते समय परिणामों की विशुद्धता से मनःपर्यय ज्ञान हो जाता है। किन्तु केवलज्ञान अनशन अवमोदर्य आदि बाह्यतप और प्रायश्चित्त विनय आदि अन्तरंग तप इन दोनों प्रकार के तपों को बिना आराधन किये नहीं प्राप्त हो सकता, इसीलिए केवलज्ञान की उत्पत्ति में बाह्य अभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपों की प्रधानता से कारण बतलाया है। अथवा—

अव्युत्पन्नोवाऽसहायार्थः केवलशब्दः ॥ ७ ॥

देवदत्त केवल अन्न को खाता है यहाँ पर केवल का अर्थ असहाय रहने के कारण अन्न जिस तरह अन्य व्यंजनों की सहायता रहित असहाय माना जाता है उसी तरह केवल ज्ञान में जो केवल शब्द है उसका भी अर्थ असहाय है और मतिज्ञान आदि क्षायिक ज्ञानों की सहायता रहित केवलज्ञान असहाय ज्ञान कहा जाता है। इस रीति से असहाय अर्थ को कहने वाला केवल शब्द अव्युत्पन्न रूढ़ि से है, व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं।

करणादिसाधनो ज्ञानशब्दो व्याख्यातः ॥ ८ ॥

"जानाति ज्ञायते ज्ञानमात्रं वा ज्ञानं" जो जाने, जिससे जाना जाय और जो जानना स्वरूप हो वह ज्ञान है। इस तरह कर्ता करण भाव साधन ज्ञान शब्द का विस्तार से पहिले व्याख्यान कर दिया गया है।

इतरेषां तदभावः ॥ ६ ॥

यह जो ज्ञान शब्द को कर्ता करण और भाव साधन कहा गया है वह अनेकान्तवाद में ही बन सकता है, एकान्तवाद में नहीं बन सकता क्योंकि एकान्तवाद में एक ही धर्म की प्रधानता हो सकती है। जिस समय ज्ञान शब्द कर्तृसाधन कहा जायगा उस समय करणसाधन नहीं कहा जा सकता। जिस समय कर्मसाधन कहा जायगा उस समय कर्तृसाधन नहीं कहा जा सकता किन्तु अनेकान्तवाद में कर्तृसाधन आदि तीनों का कथन कथंचित् शब्द की अपेक्षा रखने के कारण विरुद्ध नहीं माना जा सकता। एकान्तवादियों के मत में ज्ञान शब्द में कर्तृसाधन आदि इस प्रकार नहीं घट सकते क्योंकि—

आत्माभावे ज्ञानस्य करणादित्वानुपपत्तिः कर्तुरभावात् ॥ १० ॥

यह नियम है कि कर्ता के रहते ही करण बन सकता है जिस तरह परशु से देवदत्त काष्ठ का छेदन करता है। यहाँ पर कर्ता देवदत्त के रहते ही परशु को करण कहा जाता है। किन्तु विना देवदत्त के परशु करण नहीं हो सकता उसी तरह आत्मा कर्ता और ज्ञान करण माना गया है। यहां पर भी आत्मा के रहते ही ज्ञान को करणपना आ सकता है किन्तु आत्मा के अभाव से ज्ञान करण नहीं कहा जा सकता। बौद्ध लोग ज्ञान के सिवाय आत्मा पदार्थ नहीं मानते इस लिये कर्ता आत्मा के अभाव में उनके मतमें ज्ञान करण नहीं कहा जा सकता। तथा कर्ता आत्मा के अभाव में ज्ञान को भाव साधन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ज्ञप्तिर्ज्ञानं जाननारूप ज्ञान भाव कहा जाता है। भाव का अधिकरण ही जब आत्मसिद्ध नहीं तब ज्ञान भाव साधन भी नहीं हो सकता। यदि यहां पर कहा जाय कि आत्मा के न माने जाने पर ज्ञान करण वा भाव साधन चाहे न बने किन्तु 'जानातीति ज्ञानं' जो जाने वह ज्ञान है इस प्रकार कर्तृसाधन तो बन सकता है। इस रीति से

ज्ञान, करण और भाव नहीं भी कहा जाय कर्ता तो कहा जा सकता है ? सो ठीक नहीं बौद्ध लोग सब पदार्थों को निरीहक उदासीन मानते हैं। जो उदासीन होता है वह क नहीं कहा जा सकता क्योंकि कार्य करने में जो स्वतन्त्र है वह कर्ता माना जाता है जि तरह देवदत्त घड़ा बना रहा है यहाँ पर घट कार्य करने में देवदत्त स्वतन्त्र है इसलिये घड़ा का कर्ता माना गया है यदि उदासीन पदार्थ को भी कर्ता माना जायगा तो ज पर देवदत्त घड़ा बना रहा है वहाँ पर उदासीन रूप से आकाश आदि पदार्थ भी विद्यमा हैं उनको भी कर्ता कह देना पड़ेगा परन्तु उनका कर्ता होना प्रमाण बाधित है। जब बौ सभी पदार्थों को उदासीन मानते हैं तब ज्ञान पदार्थ भी उन के मत में उदासीन ही इसलिये वह कर्ता नहीं हो सकता।

अर्थात्—जिस पदार्थ को पूर्व और उत्तर की अपेक्षा रहती है कुछ काल ठहर है वही कर्ता कहा जा सकता है। जिस तरह कुम्भकार घड़ा बनाता है। उस को घट पहली पर्याय मिट्टी की अपेक्षा रहती है और उत्तर पर्याय घट का पूर्ण हो जाना जलधारण आदि क्रिया में घट का समर्थ हो जाना आदि की अपेक्षा रहती है। इसलि जब तक घट पूरा नहीं होता तब तक उस का रहना कार्य कारी समझा जाता है। बौ ज्ञान को जो कर्ता स्वीकार करते हैं वह अयुक्त है। उनके मत में प्रत्येक पदार्थ एक क्ष में रहकर नष्ट होनेवाला है। जो पदार्थ एक ही क्षण में नष्ट होने वाला है उसको पू और उत्तर पर्यायों की अपेक्षा का अवसर नहीं मिल सकता। क्योंकि पूर्व और उत्त पर्यायों की अपेक्षा के लिये अधिक क्षण ठहरने की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान भी बौ मत में अन्य पदार्थों के समान क्षण भर में विनष्ट हो जाने वाला है। उसे भी अप पूर्व और उत्तर पर्यायों की अपेक्षा करने का अवसर नहीं मिल सकता। इस रीति से ज्ञान पदार्थ निरपेक्ष है—क्षणभर में विनाशिक होने के कारण जिस कार्य का वह क होगा उस कार्य के पूर्व और उत्तर पर्यायों की अपेक्षा नहीं रख सकता तब वह कर्ता न हो सकता। अथवा जो पदार्थ करण के व्यापार की अपेक्षा करनेवाला होता है वही क कहा जाता है। जिस तरह देवदत्त परशु से काष्ठ छेदता है। यहां पर कर्ता देवदत्त है औ उसको करण परशु की अपेक्षा है। यदि ज्ञान को कर्ता माना जायगा तो उसके भिन्न क करण मानना चाहिये। करण दूसरा कोई है नहीं इसलिये ज्ञान को कर्ता नहीं कहा सकता। यदि यह कहा जायगा कि ज्ञान की जो स्वशक्ति है वह करण मान ली जाय तब ज्ञान कर्ता हो सकेगा इसमें कोई दोष नहीं ? सो अयुक्त है क्योंकि वहां पर यह विक उठता है कि वह जो ज्ञान की स्वशक्ति है वह ज्ञान से भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि भि मानी जायगी तब ज्ञान से भिन्न आत्मा पदार्थ की सिद्धि हो जायगी क्योंकि शक्तिम

पदार्थ आत्मा कहना पड़ेगा और शक्ति पदार्थ ज्ञान मानना पड़ेगा। ज्ञान को शक्ति ही माना गया है। यदि शक्ति और ज्ञान अभिन्न—दोनों एक माने जायेंगे तब जो ऊपर दोष दिया गया है कि करण के व्यापार की अपेक्षा विना किये ज्ञान कर्ता नहीं कहा जा सकता। वह दोष जैसा का तैसा रहेगा क्योंकि ज्ञान और शक्ति एक ही पदार्थ हो गये स्वशक्तिरूप करण भिन्न सिद्ध नहीं हुआ। यदि कदाचित् फिर यह कहा जाय कि हम एक ज्ञान को नहीं मानते, ज्ञान की सन्तान मानते हैं। यद्यपि सन्तान में एक ज्ञान के उत्पन्न होने पर दूसरा ज्ञान नष्ट हो जाता है। दो ज्ञान एक साथ नहीं रहते तो भी जिस ज्ञान की सन्तान मानी गई है उस सन्तानी ज्ञान को कर्ता और उसकी संतान को करण इस रूप से उपचार से कर्ता करण का व्यवहार बन सकता है। इसलिए सन्तान की अपेक्षा ज्ञान कर्ता हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो ठीक नहीं। ज्ञान की सन्तान मानकर उसमें कर्ता करण का व्यवहार मानना और आत्मा पदार्थ का अभाव कहना वास्तिव तत्त्व से विपरीत बात है—मिथ्या है। इसलिए उस प्रकार के तत्त्व का मानना मृषावाद कहना पड़ेगा तथा वहाँ पर यह विकल्प भी उठता है कि वह जो सन्तान है वह सन्तानी से भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न मानी जायगी तब संतानी को आत्मा और सन्तान को ज्ञान मानने से आत्मा पदार्थ सिद्ध हो जायगा। यदि अभिन्न मानी जायगी तब सन्तानी और सन्तान दोनों एक ही हो गये संतानी से भिन्न सन्तान सिद्ध नहीं हुआ। इस रीति से सन्तान को करणपना न होने से ज्ञान कर्ता नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि विना किसी करण के व्यापार की अपेक्षा किए ज्ञान कर्ता नहीं हो सकता इस लिए हम मन और इन्द्रियों को करण मान लेंगे ज्ञान कर्ता हो जायगा कोई दोष नहीं ? सो ठीक नहीं। मन किसी पदार्थ को नहीं जान सकता है। उसमें जानने की शक्ति नहीं है क्योंकि बौद्ध सिद्धान्त में समस्त पदार्थ क्षणभरमें विनश जाने वाले हैं। मन पदाथे भी क्षणविनाशिक है जो क्षणविनाशिक है वह करण नहीं हो सकता। किन्तु कुछ क्षण ठहरने वाला ही पदार्थ करण कहा जा सकता है इसलिये क्षण विनाशिक होने से मन ज्ञान का करण नहीं हो सकता। बौद्ध सिद्धान्त में कहा भी है–'षण्णामनंतरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः' अर्थात् छह आयतनों के पीछे अतीत विज्ञान है वह मन है। इस रीति से क्षण विनाशिक होने से मन करण नहीं हो सकता। इसी तरह इन्द्रियों को भी क्षण विनाशिक माना है और उन्हें अतीत विज्ञान बतलाया है इसलिए इन्द्रियाँ भी करण नहीं हो सकतीं। यदि यह कहा जायगा कि जिस समय ज्ञान मौजूद है उसी समय होने वाले मन और इन्द्रियाँ करण हो सकते हैं कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि जिस मनुष्य के सींग उत्पन्न होते हैं वे एक साथ होते हैं वहाँ पर यह बात नहीं कि दोनों सींग एक साथ उत्पन्न हुए हैं इसलिये दाहिनी ओर के सींग का

बाईं ओर का सींग करण माना जाय। इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जो पुरु आत्मा को न मानकर ज्ञान को ही पदार्थ माननेवाला है और उसे क्षण विनाशिक मानत है उसका माना हुआ ज्ञान करण के व्यापार की अपेक्षा बिना किये कर्ता नहीं कहा ज सकता और भी यह बात है कि—

बौद्ध लोग प्रकृति का जो अर्थ है उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं मानते। ज्ञान शब्द की प्रकृति ज्ञा धातु है क्योंकि ज्ञा धातु से युट् प्रत्यय करने पर ज्ञान शब्द की सिद्धि होत है तथा उस ज्ञा धातु का अर्थ जानना मात्र है उससे भिन्न आत्म पदार्थ है नहीं जिसे कर्त माना जाय इसलिए प्रकृति का अर्थ ज्ञान कर्ता नहीं हो सकता।

यदि ज्ञान को कर्ता मान भी लिया जाय तो ज्ञान सिवाय एक क्षण के दूसरे क्षण में नहीं रह सकता और उस में रहने वाला कर्ता पन भी सिवाय एक क्षण के दूसरे क्षण में नहीं रह सकता। इस रीति से जब ज्ञान में रहने वाला कर्तृत्वधर्म क्षणविनाशिक है तब जिस का उच्चारण अनेक क्षणों में हो सकता है ऐसे कर्ता शब्द से वह नहीं कहा ज सकता। यदि कदाचित् कर्तृत्व को कहने वाले कर्ता शब्द को भी क्षण विनाशिक मान लें सो भी ठीक नहीं। कर्तृशब्द कर्तृत्व अर्थ को अनेक क्षण ठहर कर ही कह सकता है किन्तु एक क्षण ठहरकर वह कर्तृत्व अर्थ को कभी नहीं कह सकता। यदि यहाँ पर यह कह जाय कि हम ज्ञान की संतान मान लेंगे। संतानी पदार्थ अनेक क्षणस्थायी होगा और वह कर्ता कहा जा सकेगा तो कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। भेद और अभेद का विकल्प उठा कर पहिले संतान का स्पष्टता से खंडन कर आए हैं। यहां पर अवक्तव्यवादी का कहना है कि—

आत्मा पदार्थ माना नहीं जाता। ज्ञान कर्ता आदि बन नहीं सकता। जब कोई पदार्थ किसी रूप से सिद्ध नहीं हो सकता तब अवाच्य तत्त्व मानना ही ठीक है। क्योंकि समस्त धर्मों में किसी प्रकारका कर्ता कर्म आदि व्यापार नहीं बन सकता। इसलिए वे वचन के विषय नहीं हो सकते इसलिए ज्ञान के कर्तृत्व आदि के निषेध से हमारा (अवक्तव्य वादियों का) अभिमत सिद्ध होने से हमारे घर में रत्नों की वर्षा के समान अत्यन्त हर्ष होना ठीक नहीं। उनको अवाच्य कहना भी तो वचन का ही विषय है। यदि सब धर्मोंको सर्वथा अवाच्य माना जायगा तो अवाच्य धर्म भी वचन से न कहा जा सकेगा इसलिए जिस तरह मेरी मा वंध्या है यह कहना स्ववचन बाधित है उसी तरह सब धर्मोंको अवाच्य मानकर अवाच्य धर्म का कहना भी स्ववचन बाधित है। तथा जीव अजीव आदि तत्त्व प्रमाणसिद्ध है। यदि सर्वथा अवाच्य ही तत्त्व मान लिया जायगा तो जीव अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञान का उपाय ही लुप्त हो जायगा। इसलिए केवल अवाच्य तत्त्व नहीं माना जा

सकता। और यह बात है कि जिस तरह जिस मनुष्य को सफेद और नीला आदि का ज्ञान है वही मनुष्य यह कह सकता है कि यह पदार्थ सफेद है, नीला आदि नहीं। किन्तु जिसे "यह सफेद है और यह नीला आदि नहीं ऐसा ज्ञान नहीं" वह उपर्युक्त विशेष को नहीं जान सकता उसी तरह जो मनुष्य कर्तृ साधन और कारण आदि साधन का जानकार है वहीं यह विशेष जान सकता है कि यह कर्तृसाधन और करण आदि साधन है। किन्तु जिसे यह ज्ञान नहीं कि यह कर्तृसाधान है और यह करण आदि साधन नहीं है, वह उपर्युक्त विशेष नहीं जान सकता। क्षणिकवादी बौद्धों के मत में ज्ञान पदार्थ एक क्षण रहकर विनश जाने वाला है और प्रत्यर्थवशवर्ती है अर्थात् एक ज्ञान एक ही पदार्थ का विषय करता है इसलिए वह कर्तृसाधन और करण आदि साधन इन दोनों धर्मों को विषय नहीं कर सकता इस रीति से यह कर्तृसाधन है, करण आदि साधन नहीं। इस प्रकार के विशेष ज्ञान के न होने से 'जानातीति ज्ञानं' जो जाने वह ज्ञान है इस रूप से ज्ञान को कर्तृसाधन नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि यदि आत्मा पदार्थ नहीं माना जायगा ज्ञान ही माना जायगा तो ज्ञान कर्ता वा करण आदि न हो सकेगा।

अस्तित्वेऽप्यविक्रियस्य तदभावोऽनभि संबंधात् ॥११॥

पृथगात्मलाभाभावात् ॥ १२ ॥

नैयायिक और वैशेषिकों का सिद्धान्त है कि जो पदार्थ आत्मा इन्द्रिय मन और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह भिन्न माना जाता है। ज्ञान पदार्थ आत्मा इन्द्रिय मन और पदार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इसलिये वह आत्मा से भिन्न है। तथा आत्मा पदार्थ निष्क्रिय है। कोई भी उसमें क्रिया नहीं। यद्यपि ऐसा मानने से नैयायिक आत्मा पदार्थ स्वीकार करते हैं तथापि ज्ञान उनके मत में करण नहीं माना जा सकता। क्योंकि परशु से देवदत्त काष्ठ छेदता है। यहाँ पर देवदत्त से भिन्न परशु तीक्ष्ण भारी और कठिन आदि अपने विशेष स्वरूपों से प्रत्यक्ष सिद्ध है और वह करण कहा जाता है। यदि ज्ञान आत्मा से भिन्न माना जायगा तो उसका भी कुछ विशेष स्वरूप प्रसिद्ध होना चाहिए सो प्रसिद्ध है नहीं। इसलिए वह करण नहीं हो सकता। इस रीति से निष्क्रिय आत्मा को मान भी लिया जाय और ज्ञान उसका गुण भी स्वीकार कर लिया जाय तो भी सर्वथा भिन्न होने से उसका आत्मा के साथ किसी प्रकार सम्बन्ध न रहने के कारण वह करण आदि नहीं कहा जा सकता। और भी यह बात है कि—

अपेक्षाभावात् ॥ १३ ॥

देवदत्त के हाथ में रहने वाला परशु, ऊपर को उठना नीचे को पड़ना रूप देवदत्त द्वारा की जाने वाली क्रियाओं की अपेक्षा रखता है। बिना इन क्रियाओं की अपेक्षा किए परशु अपना काम नहीं कर सकता इसलिए वह करण कहा जाता है। ज्ञान कर्ता आत्मा द्वारा की जाने वाली किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि आत्मा निष्क्रिय है। किसी प्रकार की उसमें क्रिया नहीं मानी गई इसलिए वह करण नहीं कहा जा सकता।

तत्परिणामाभावात् ॥ १४ ॥

जिस समय देवदत्त छेदन रूप क्रिया से परिणत होता है उस समय उसके सम्बन्ध से छेदन क्रिया में प्रवृत्त परशु करण माना जाता है। नैयायिक और वैशेषिकों के मत में आत्मा निष्क्रिय है उसमें किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध माना नहीं इसलिए वह ज्ञान रूप क्रिया से परिणत हो नहीं सकता। आत्मा को ज्ञान रूप क्रिया से परिणत हुए बिना ज्ञान करण नहीं कहा जा सकता। इसलिए आत्मा का सद्भाव मानने पर भी वह निष्क्रिय और ज्ञान गुण सर्वथा उससे भिन्न माना जायगा तो ज्ञान, करण आदि नहीं कहा जा सकता। तथा—

अर्थांतरत्वे तस्याज्ञत्वात् ॥ १५ ॥

संसार में यह बात दीख पड़ती है कि जो पदार्थ ज्ञान से भिन्न माना जाता है वह जड़ कहा जाता है जिस तरह घट पट आदि द्रव्य ज्ञान से भिन्न है। इसलिए वे जड़ हैं। यदि आत्मा को भी ज्ञान से सर्वथा भिन्न माना जायगा तो वह भी जड़ कहा जायगा। चेतन नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि जिस तरह दंड मनुष्य से सर्वथा भिन्न है तो भी उस के संबंध से मनुष्य दंडी कहा जाता है। जिसके हाथ में दंड रहता है वही दंडी के नाम से पुकारा जाता है अन्य नहीं उसी तरह ज्ञान भी आत्मासे भिन्न कहे तो भी उसके संबन्ध से आत्मा चेतन कहा जा सकता है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। जो पदार्थ ज्ञान स्वभाव होगा उसी के साथ ज्ञान का संबंध हो सकता है किन्तु जो ज्ञान से सर्वथा भिन्न है उसके साथ ज्ञान का संबंध नहीं हो सकता। आत्मा को ज्ञान से सर्वथा भिन्न माना गया है। इसलिए जिस तरह ज्ञान स्वभाव न होने के कारण मन और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का सम्बन्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान स्वभाव नहीं हो सकता इसलिये आत्माके साथ भी ज्ञान का संबंध नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान स्वभाव के अभाव में आत्मा के साथ ही ज्ञान का संबध है। मन और इन्द्रियों के साथ ऐसा नियम नहीं हो सकता। तथा दंड के सम्बन्ध से मनुष्य

जिस प्रकार दंडी कहा जाता है उस प्रकार ज्ञानके संबंध से आत्मा भी ज्ञानी चेतन कहा जा सकता है। यहाँ जो दृष्टांत दिया है वह विषम दृष्टांत है क्योंकि आपस में पृथक् रूप से सिद्ध जो दंड दंडी का सम्बन्ध है उसमें अपने स्वरूपसे प्रसिद्ध दंड का केवल विशेषण रूप से ग्रहण है। किन्तु दंडी दंडरूप वा दंडकी क्रियारूप परिणत नहीं होता। आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध में ज्ञान केवल विशेषण रूप से ही ग्रहण नहीं है किन्तु आत्मा ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर अहित का विचारना-जानना रूप ज्ञानकी क्रिया से परिणत होता अनुभव में आता है इसलिये दृष्टांत में विशेष्य का विशेषण की क्रियारूप परिणत होना है। यह स्पष्ट विषमता होने से, दंडी उदाहरण ठीक नहीं तथा ज्ञान को कर्ता करण और भाव साधन स्वरूप माना है। नैयायिक आदि के मत में कर्ता आदि तीनों स्वरूप ज्ञान बन नहीं सकता, इसलिये जिस समय ज्ञान कर्ता माना जायगा उस समय करण अंश में अज्ञानी है, जिस समय करण माना जायगा उस समय कर्ताअंश में अज्ञानी है। इस रूप से जब ज्ञान भी अज्ञानी हो जाता है और ज्ञान से सर्वथा भिन्न होने के कारण आत्मा अज्ञानी है ही, इसलिये जिस तरह जो मनुष्य जन्म से अन्धे हैं उन दोनों का आपस में सम्बन्ध हो जाने पर भी दोनों अन्धे ही कहे जाते हैं, देखने वाले नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके देखने की शक्ति का अभाव है। उसी तरह जब ज्ञान और आत्मा दोनों जड़ हैं तब ज्ञान और आत्मा का आपस में सम्बन्ध भी हो जाय तो भी वे चेतन नहीं कहे जा सकते, जड़ ही रहेंगे। इस लिये ज्ञान के सम्बन्ध से भी आत्मा चेतन नहीं कहा जा सकता। तथा—यदि ज्ञान के मानने में कुछ विशेषता न मानी जायगी और "ज्ञायते अनेन तत् ज्ञानं" जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है। इस रूप से उसे करण साधन ही मान जायगा तो इन्द्रिय और मन को भी ज्ञान कहना पड़ेगा। क्योंकि इन्द्रियों और मन के द्वारा भी पदार्थ जाने जाते हैं। तथा और भी यह बात है कि—नैयायिक लोग आत्मा को व्यापक सर्वत्र रहने वाला मानते हैं। जो व्यापक होता है उसमें कोई भी क्रिया नहीं होती। इस रीति से आत्मा उनके मत में निष्क्रिय है एवं ज्ञान भी उनके मत में निष्क्रिय माना गया है क्योंकि "क्रियावत्वं द्रव्यस्येव लक्षणं" अर्थात् क्रिया द्रव्य में ही रहती है, गुण पदार्थ में नहीं। ज्ञान गुण है इस लिए उसमें क्रिया नहीं रहती। इस रीति से नैयायिक और वैशेषिक मत में आत्मा और ज्ञान दोनों निष्क्रिय हैं। जो क्रिया रहित निष्क्रिय होता है वह कर्ता और करण नहीं हो सकता इसलिये ज्ञान न कर्ता हो सकता और न करण हो सकता है। इस प्रकार आत्मा के मानने पर भी यदि वह ज्ञान से सर्वथा भिन्न माना जायगा तो आत्मा को जड़ कहना पड़ेगा। ज्ञान भी कर्ता और करण न बन सकेगा, दोनों पदार्थों का अभाव ही हो जायगा।

सांख्य सिद्धान्त में भी पुरुष का ज्ञान करण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें बुद्धि ज्ञान प्रकृति का विकार स्वरूप है, इन्द्रिय मन अहंकार और महत्तत्त्व के व्यापार से उत्पन्न है, सत्ता और विकल्प रूप अभिमान का परिणाम स्वरूप है तथा पुरुष शुद्ध निष्क्रिय नित्य निर्विकार स्वरूप माना है। संसार में यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो कर्ता क्रियावान् होता है वही करण का प्रयोग करता दीख पड़ता है। जिस तरह देवदत्त तलवार से शिर छेदता है यहां वह क्रियावान् ही देवदत्त कर्ता परशु करण को उठाकर शिर में मारता दीख पड़ता है। सांख्यमत में पुरुषको क्रियारहित माना है इसलिए करणके साथ उसका किसीप्रकार का सम्बन्ध न होनेके कारण उसका ज्ञान करण नहीं कहा जासकता। ज्ञानको कर्ता भी नहीं माना जासकता क्योंकि देवदत्ततलवारसे शिर छेदता है। यहाँपर तलवार करण रूपसे संसार में प्रसिद्ध है और जब वह खूब पैनी भारी कठिन आदि उचित विशेषणों से युक्त होने से सुन्दर जान पड़ती है उस समय तलवार की प्रशंसा में यह कह दिया जाता है कि वाह यह तलवार खूब अच्छी तरह से छेदन क्रिया करती है। इस रीति से तलवार में कर्ता के कार्य का अरोपण कर उसे कर्ता कह दिया जाता है। ज्ञान में इस रूप से कर्ता के कार्य का अध्यारोप नहीं किया जा सकता क्योंकि तलवार जिस तरह करण रूप से संसार में प्रसिद्ध है उस तरह ज्ञान, करण रूप से प्रसिद्ध नहीं। यदि प्रसिद्ध न होने पर भी हठात् उसे करण माना जायगा तो जो ऊपर ज्ञान को करण मानने से अनेक दोष कह आए हैं उन दोषों के कारण वह करण न हो सकेगा। इसलिये ज्ञान किसी रूप से कर्तृसाधन नहीं कहा जा सकता। ज्ञान को भाव साधन भी नहीं मान सकते, क्योंकि जिस पदार्थ में विकृत होने की शक्ति है उसी का भाव विकार होता दीख पड़ता है। जिस तरह चावलों में विकृत होनेकी शक्ति है इसलिये उसमें सीझना आदि भावहो सकते हैं और "पचनं पाकः" पकना ही पाक है यह कहा जाता है किन्तु जिसमें विकृत होने की शक्ति नहीं है उनमें भाव-विकार उत्पन्न नहीं हो सकता जिस तरह आकाश निर्विकार पदार्थ माना है इसलिये उसमेंकिसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता। सांख्यमत में पुरुषको विक्रियारहित निर्विकार माना गया है। इसलिए उसके ज्ञान में भावरूप परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु वह जैसा का तैसा ही रहेगा। इस रीति से ज्ञान को भाव साधन नहीं कहा जा सकता।

तथा जो प्रमाण होता है वह अज्ञान की निर्वृत्ति आदि फलों से युक्त होता है। ज्ञान को प्रमाण माना गया है उसका भी कोई न कोई फल अवश्य होना चाहिये। परन्तु ज्ञान के सिवाय और दूसरा कोई फल अन्य हो नहीं सकता और जिस ज्ञानको प्रमाण माना है यदि वही फल भी हो तो यह बात भी विरुद्ध है इसलिए परमत में ज्ञान को प्रमाण मानना

भी युक्त नहीं जान पड़ता। यदि उससे अन्य दूसरा ज्ञान माना जायगा और पहिला ज्ञान उसका फल माना जायगा, सो भी अयुक्त है। क्योंकि वह फल आत्मा का होगा ज्ञान का नहीं। परन्तु आत्मा को भी निष्क्रिय माना है इसलिये वह फल आत्मा में भी नहीं हो सकता। इस रीति से ज्ञान भावसाधन माना ही नहीं जा सकता। यदि यह कहा जायगा कि जानना रूप जो अधिगम है उसे प्रमाण न मानकर फल ही मान लिया जायगा कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। क्योंकि बिना मुख्य के उपचार नहीं हो सकता प्रमाण मुख्य है इसलिए उसके बिना जानना रूप फल नहीं हो सकता। यदि यहाँ पर भी कहा जाय कि आकार के भेद से जानने रूप अधिगम में प्रमाण और फल की कल्पना हो सकती है अर्थात् ज्ञानस्वरूप को प्रमाण और अज्ञान निवृत्ति आदि आकारों को फल इस प्रकार एक ही जानना रूप अधिगम को प्रमाण और फल मानने में कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है वे आकार, अकारवान्, ज्ञानस्वरूप प्रमाण से भिन्न हैं वा अभिन्न? जिस समय भेदाभेद विकल्प उठाया जायगा उस समय अनेक दोष अकार उपस्थित होंगे और उनसे जानना रूप अधिगम को प्रमाण और फल न माना जा सकेगा।

जो तत्त्व को निर्विकल्पक मानने वाले हैं। कोई भी भेद नहीं मानते उनके मत में तो ज्ञान में किसी प्रकार के आकारकी कल्पना कही नहीं हो सकती इसलिए उनके मत में किसी प्रकार के आकार के न होने से फल की कल्पना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जायगा कि बाह्यमें पदार्थोंका भेद न होने से वाह्य पदार्थों की अपेक्षा ज्ञानमें आकार न हो अन्तरंग आकार मान लिया जायगा और उसे फल मान लिया जायगा? सो ठीक नहीं वाह्य पदार्थों के आकार के बिना अन्तरंग आकार नहीं बन सकता। इसलिये वह फल-स्वरूप नहीं हो सकता इस प्रकार जो मनुष्य एकांती हैं उनके द्वारा माने गये ज्ञान में प्रमाण और फल दोनों नहीं घट सकते, जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान के आदेश के मानने वाले हैं, परमऋषि भगवान सर्वज्ञद्वारा प्रणीत नयभंगों के गूढ़ विस्तार के जानकार हैं और अनेकान्तवाद के प्रकाश से जिनके ज्ञानरूपी नेत्र प्रकाशमान हैं उन के एक ही पदार्थ में अपेक्षा से अनेक पर्यायों का संभव होने से प्रमाण और फल एक ही ज्ञान में घट जाते हैं। इसलिये अनेकान्तवाद की अपेक्षा एक ही ज्ञान कर्ता करण और भाव साधन माना जा सकता है और एक ही ज्ञान में प्रमाणपना और फलपना सिद्ध हो सकता है इसलिये पदार्थों का स्वरूप अनेकान्तवाद की अपेक्षा ही सुनिश्चत है।

Jnanam astavikalpam mati-sruta-avadhayah ajnanajnanani,
Manah-paryayah kevalam api pratyaksa-paroksa-bhedam cha—[5].

Padapatha.— मदिसुदओही अणाणणाणाणि Matisuda-ohi anananan-ani, the Jnana and Ajnana of Mati, Sruta and Avadhi. अवि Avi, also. मणपज्जय Manapajjaya, Manah paryaya. केवलं Kevalam, kevala. णाणं Nanam, Jnana. अट्ठवियप्पं Atthaviyappam, of eight varieties. च Cha. also. पच्चक्ख-परोक्ख-भेयं Pachchakkha-parokkha-vheyam, has the varieties Pratyaksa and Paroksa.

5. Jnana is of eight kinds, viz., Jnana and Ajnana of Mati, **Sruta** and Avadhi, Manah-paryaya and Kevala. (It is) also divided into Pratyaksa and Paroksa (from another point of view.)

COMMENTARY.

In the previous verse, the first stage of cognition, viz., Darsana (undifferentiated knowledge) has been described. In this verse the next stage, Jnana detailed knowledge, with its varieties, is being described.

The eight kinds of Jnana are (1) Mati Jnana, (2) Sruta Jnana, (3) Avadhi Jnana, (4) Manah-paryaya Jnana, (5) Kevala Jnana, (6) Kumati or Ajnana of Mati,(7) Ku-sruta or Ajnana of Sruta and (8) Vibhangavadhi or Ajnana of Avadhi.

Kundakundacharya has summed up all of them in the following verse:—

"आभिणिबोधिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि ।
कुमदिसुद-विभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ।।"
[पञ्चास्तिकायसमयसार: । ४१]

i. e., "Abhinibodhika or Mati Sruta, Avadhi, Manah-paryaya and Kevala—these are the five varieties of Jnana. Kumati, Ku-Sruta and Vibhanga—these three also are connected with Jnana."

The three last-mentioned are nothing but false knowledge of the first three. It will, therefore, be sufficient to explain the first five varieties only of Jnana. Umasvami has also mentioned them in Sutra 9, Chapter I of Tattvarthadhigama Sutra. [e. g., "मति-श्रुतावधि-मनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।"]. It should be remembered that

these varieties of Jnana constitute the two sorts of Pramanas recognised in Jaina Philosophy ("तत् प्रमाणे ।" तत्त्वार्थसूत्र १ । १०)

Mati Jnana is knowledge derived through the senses, including the knowledge which arises from the activity of the mind. Sruta Jnana is knowledge derived through symbols or signs (e. g., words which are symbols of ideas, gestures, etc.) Avadhi Jnana is the psychic knowledge which is directly acquired by the soul without the medium of the activity of the mind or the senses. Knowledge in the hypnotic state may be cited as an example of Avadhi Jnana. Manah-paryaya Jnana is the knowledge of the ideas and thoughts of others. Mind reading is an instance of this kind of knowledge. Kevala Jnana is omniscience or knowledge unlimited as to space, time or object.

In our everyday life we have Mati Jnana and Sruta Jnana but there are instances, though rare, of persons who, under a hypnotic trance, have knowledge of certain things (Avadhi Jnana) and of persons who can read the throughts of others (Manah-paryaya Jnana). though the exact nature of the last two kinds of knowledge have not yet been understood, there is no doubt of the possibility of their existence. The mention, therefore, of these kinds of knowledge by ancient Jaina writers proves that at that time there were evidences which led them to believe in these two forms of knowledge. The occult powers attainable by Yogis which are mentioned in Yoga Philosophy of the Hindus also support the view that in ancient India occult sciences were by no means unknown. The last-mentioned knowledge, Kevala-Jnana or omniscience, which correspond to the knowledge of the sages called Sarvajnas or Trikaladarsis in the Puranas of the Hindus. is, according to the Jaina tradition, only possessed by those who have reached the highest point of elevation. The Tirthankaras and Ganadharas are said to possess such a kind of knowledge.

Though it is not possible to understand the real nature of knowledges called Avadhi Jnana, Manah-paryaya Jnana and

Kevala Jnana, we can describe fully the remaining two kinds of knowledge, viz., Sruta Jnana and Mati Jnana. Sruta Jnana is knowledge derived from words spoken by a person, from reading books, from seeing gestures or facial ex pressions and from all other kinds of symbols or signs. Mati Jnana requires much detailed consideration; for it gives us an idea of that part of the Jaina psychology which treats of Perception and Memory.

In Jaina psychology four stages in Mati Jnana are usually recognised. These are called (1) Avagraha, (2) Iha, (3) Avaya and (4) Dharana.

In works on Jaina Nyaya philosophy, we find that Pramana is of two kinds.—Pratyaksa (independent) and Paroksa (dependent). Pratyaksa is clear knowledge or cognition that this object is of such and such a character, without depending upon any other kind of knowledge. That cognition, which is not clear by itself, i. e. that which depends upon some other kind of know-edge is Paroksa.❀ Pratyaksa or independent knowledge is of two kinds. Sanvyavaharika and Paramarthika. Sanvyavaharika again is of two kinds, viz., Indriya-nivandhana (caused through the senses) and Anindriya-nivandhana (not caused through the sen-

---

❀ "प्रमाणं द्विधा ।" I. I. 9.
"प्रत्यक्षं च परोक्षं च ।" I. 1. 10.
"विशदः प्रैत्यक्षं ।" I. 1. 13.
"प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ।" I, 1. 14.
"अविशदः परोक्षम् ।" I. 2. I.— [Pramana Mimamsa].
"तद्द्वेधा ।" II. I. "प्रत्यक्षेतरभेदात् ।" II. I. "विशदं प्रत्यक्षं ।" II 3.
"प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।" II. 4.
"परोक्षमितरत् ।" III. I. —[Pariksamukha Sutra]
"तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ।" II. I. "स्पष्टं प्रत्यक्षम् ।" II. 2.
"अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ।" II. 3. "अस्पष्टं परोक्षम् ।"
III. 1.—[PramanNaya.tattvalokalankara].

ses.) † The senses recognised in Jaina philosophy are the eye, the ear, the nose, the tongue and the skin. Mind (Manas) is called No-indriya Anindriya ‡ (Not Indriya). This Sanvyavaharika variety of Pratyaksa is what we have in our everyday life. The processes of Preception and Memory are dependent upon this variety of Pratyaksa only. We shall, therefore, deal with Sanvyavaharika Pratyaksa leaving aside Paramarthika Pratyaksa which includes the little understood occult knowledges—Avadhi, Manah-paryaya and Kevala mentioned previously. *

Sanvyabahara is the act of satisfying a desire to cognize. (" मीचीन: प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहार: संव्यवहार: ।" Pramana Mimamsa Vritti) This is the essence of Sanvyavaharika Pratyaksa which, according to Jaina philosophers, is of four kinds, viz., Avagraha, Iha, Avaya, and Dharana.❀ These four are identical with the

---

† "तद् द्विप्रकारं साँव्यवहारिकं पारमार्थिकं च ।"
तत्राद्यं द्विविधमिन्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रिय निबन्धनं च ।
(Pramana-Naya-tattvalokalankara, II 4, 5).

"इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशत: सांव्यवहारिकम् ।" [Pariksa-mukha Sutra, II 5]

‡ "स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु:श्रोत्राणीन्द्रियाणि ।"
I. 1. 22.—(Pramana Mimamsa)

"मनोऽनिन्द्रियमिति नो इन्द्रियमिति च उच्यते ।" [Pramana Mimamsa Vritti

* Paramarthika Pratyaksa is divided in to classes, Sakala (Perfect) and Vikala (Imperfect). Kevala Jnana comes under Sakala and Avadhi and Manah-Paryaya come under Vikala Pratyaksa.

"तद्विकलं सकलं च ।" "तत्र विकलमवधिमन:पर्यंयज्ञानरूपतया द्वेधा ।" सकलं तु.... केवलज्ञानम् ।" [Pramana-Naya-tattavalokalankara. II. 19, 20 and 23]

Hemchandra also mentions Kevala, Avadhi and Man*a*h-paryaya under Pratyaksa.

["तत्-सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ।"
"तत्तारतम्येऽवधिमन:पर्यायौ च ।" —Pramana Mimamsa I. 1. 15 and 18]

❀ "एतद्द्वितयमवग्रहेहावायधारणाभेदादेकशश्चतुर्विकल्पम् ।"
[Pramana-Naya-tattvalokalankara. II. 6]

"इन्द्रियमनोनिनित्तोऽवग्रहैहावायधारणात्मा साँव्यवहारिकम् ।"
[Pramana Mimamsa I. 1. 21.]

For a detailed account of this part of Jaina philosophy, the reader may refer to my translation of pramamsa Mimamsa, published in the 'Jaina Gazette', 1955.

four stages of Mati Jnana already mentioned by us, and we shall now proceed to explain each of these four varieties.

The first stage, Avagraha, consists in the general knowledge of an object when it is brought into contact with a sense organ. First of all, there is an excitation in the sense organs by the stimulus (viz., the object present in the outside world). Then there is an excitation in the consciousness. Thus, in the first stage a person is barely conscious of the existence of an object. ‡

The second stage, Iha, consists in the desire to know the particulars of the object †, e. g., a desire to know whether it is this or that. Thus, similarities and differences of this object with other objects become the subject of consciousness in this stage.

In the first stage (Avagraha), we have for example simply the knowledge of a man, but in the second stage (Iha) we desire to know the particulars of this man, e. g., whether he is a resident of Karnata or Lata country, etc. ❀

In the third stage, Avaya, there is a definite finding of the particulars which we desired to know in the second stage. The second stage is merely an attempt to know the particulars, while the third stage consists of the ascertainment of these particulars. †

The fourth stage, Dharana, consists of the lasting impression

---

‡ "विषयविषयिसंनिपातानन्तर—समुद्भूत—सत्तामात्र—गोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तर—सामान्याकार—विशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः ।"

[Pramana-Naya-tattvalokalankara II. 7]

"अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तर—मर्थग्रहणमवग्रहः ।" [Pramana Mimamsa I. 1.27]

† "अवगृहीतार्थविशेषाकाङ्क्षणमीहा ।" Pramana Nayatattava lokalankara. II. 8

"अवग्रहीतविशेषकाङ्क्षणमीहा ।" —Pramana-Mimamsa I. 1. 28.

❀ अवग्रहेण विषयीकृतो योऽर्थोऽवान्तर—मनुष्यत्वादिजातिविशेषलक्षणस्यस्य विशेषः कर्णाटलाटादिभेदस्तस्याकाङ्क्षणं भवितव्यताप्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यमीहेत्यभिधीयते ।"

Ratnakaravatarika. II. 8.

† "ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ।"

[Pramana-Naya-tattvalokalankara II 9 and Pramamasa I. 1.30]

which results after the object, with its particulars, is definitely ascertained. ‡ It is this impression (संस्कार) which enables us to remember the object afterwards. Memory, therefore, is the result of these four successive stage of Mati Jnana.

Now we shall turn to that part of verse 5 of Dravya-Samgraha which, after laying down the eight varieties of Jnana, says that it may also be divided into two classes from another point of view. These two classes are respectively known as Pratyaksa and Paroksa.

We have already given a detailed account of Pratyaksa and it now remains to narrate briefly Paroksa knowledge.

Paroksa knowledge is said to be of five kinds: (1) Smarana (2) Pratyabhijnana, (3) Tarka, (4) Anumana and (5) Agama. Smarana is simply the remembrance of an object. Pratyabhijnana is the recognition of an object by noticing similarities and difference. The difference between Smarana and Pratyabhijnana may be understood from the following cxamples. We see a certain man. We then remember that we had seen him previously. This is Smaranas We go to a forest and see a strange creature. Then we remember that we have heard or read about such a creature, and we identify it. This is pratyabhijnana. This corresponds to Upamana Pramana recognised in the Hindu philosophies. Tarka or Uha consists of the knowledge of an universal concomitance of any two things (e. g., wherever there is smoke, there is fire). This is the same as Vyapti Jnana mentioned in the Nyaya philosophy of the Hindus. Anumana is inference and is either Svartha (for one's own self) ar Parartha (for others). There is a detailed treatment of Anumana in Jaina Nyaya philosophy, similar to that found in the Nyaya philosophy of the Hindus. Agama is knowledge derived through the words of one who is trustworthy. This also is recognised in different systems

‡ "स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा ।" [Praman Naya-tattvalokalankara II. 9]
"स्मृति-हेतुर्धारणा ।" [Pramana Mimamsa. I. 1. 29].

of Hindu philosophy, such as Vednta, Nyaya, Sankhya, Mimamsa, etc. ❀

We finish this brief survey of defferent kinds of knowledg by saying that, as we have mentioned in our notes to verse 4 Dravya-Samgraha that there are certain Karmas called Darsanavaraniya Karmas which obscure the different varieties of Darsana, so there are also Karmas which obscure the dlfferent varieties of Jnana. These are known as Jnanavaraniya Karmas. Umasvami in his Tattvarthadhigama Sutra has mentioned that Jnanavaraniya Karmas are of five sorts which obscure Mati, Sruta, Avadhi, Manah-paryaya anb Kevala knowledge respectively. ['मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानाम् ।" तत्वार्थाधिगम-सूत्र, ८ । ६ ।]

Now, a doubt is started by the commentator of Dravya-Sam-

❀ "प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ।" III. 2.
"संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।" III. 3.
दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।" III. 5.
उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।" III. 11.
साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ।" III. 14.
'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।" III. 99. [Pariksamukha Sutra]
"स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पञ्चप्रकारम्" III. 2.
"तत्र संस्कारप्रबोधसंभूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ।" III 3.
"अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।" III. 5.
"उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधन सम्बन्धाद्यालम्बनं इदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः ।" III. 7.
आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ।" IV. 1. [Pramana-Naya-Tattvalokalankara.]
"स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः ।" 1. 2. 2.
"वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ।" 1. 2. 3.
"दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्-सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।" 1. 2. 4.
"उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।" 1. 2. 5.
"साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ।" 1. 2. 7. [Pramana Mimamsa.]

graha. He says that in Tark-Sastra (Nyaya philosophy) of the Jainas we find that Mati Jnana, with its four varieties, Avagraha, Iha, Avaya and Dharana, is included under Sanvyavaharika Pratyaksa. But Umasvami in his Tattvartha Sutra says plainly that Mati and Sruta Jnanas are not Pratyaksas, but Paroksas. ❀ We have the following aphorisms in Tattvartha Sutra:—

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।" I. 9,

"आद्ये परोक्षम् ।" I 11.

"प्रत्यक्षमन्यत् ।" I. 12.

i. e., "Knowledge is of five kinds: Mati, Sruta, Avadhi, Manahparyaya and Kevala. The first two are called Paroksa and the rest are known as Pratyaksa."

Now, this is apparently in contradiction with the works on Jaina Nyaya philosophy some of which we have already quoted in our notes. How can this apparent contradiction be explained away?

The commentator says that Umasvami's aphorism is to be regarded as a general ordinance (उत्सर्गः) while the sayings of the writers on Jaina Nayaya philosophy should be taken as a special rule or exception. † (अपवादः)

In special or exceptional cases the general rule should not be followed. In the present instance also, though the general rule as laid down in Tattvartha Sutra says that Mati and Sruta Jnanas

---

❀ "अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति, कथं प्रत्यक्षं भवति ?"

† "परिहारमाह। तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानम् । यदि तदुत्सर्गव्याख्यानम् न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति ? तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातं ? यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत् प्रत्यक्षं भण्यते ।"

are Paroksa knowledge, there are particular exceptional cases, when these should called Pratyaksa. The commentator further says that we all know that the knowledge of our own happiness and misery is Pratyaksa, but if we say that, according to Tattvartha Sutra, Mati and Sruta Jnanas are always Paroksa, the knowledge of our happiness or misery should also become Paroksa, which is absurd. *

अब आठ भेद सहित ज्ञानोपयोग का प्रतिपादन करते हैं :—

अट्ठचदुणाणदंसण, सामण्णं जीव लक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया, सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ — (अट्ठ चदु) (यथा क्रम से आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन) (णाणं) ज्ञान और (दंसण) दर्शन (सामण्णं) (सामान्य से) (जीव लक्खणं) जीव का लक्षण (भणियं) कहा गया है। (ववहारा) अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय से (पुण) पुनः (सुद्धणया) शुद्धनिश्चय नय से (सुद्धं) शुद्ध निरुपाधि ऐसे (दंसण) दर्शनोपयोग (णाणं) ज्ञानोपयोग (जीव लक्खणं) जीव का लक्षण कहा गया है।

निश्चय नय से अनन्त सुख वीर्यादि भाव वाला तथा ज्ञान दर्शन स्वभाववान् जीव है। अनन्त ज्ञान से युक्त श्री वीतराग केवली भगवान् ने जीव का स्वरूप कहा है।

---

‡ The commentator lays down in the following passages certain cases where Sruta Jnana is wholly Paroksa, where it is partially Paroksa and where it is not at all Paroksa but Pratyaksa:—

"शब्दात्मकं श्रुतज्ञानं परोक्षमेव तावत्। स्वर्गापवर्गादिबहिर्विषयपरिच्छित्ति-परिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षम्। यत् पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्प-रूपोऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तद् ईषत्-परोक्षम्। यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते।"

*"यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादि-संवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति, न च तथा।"

यहाँ पर सामान्य रूपसे इस कथन का यह तात्पर्य है कि इस लक्षण से संसारी तथा मुक्त जीव की विवक्षा नहीं है अथवा शुद्ध अशुद्ध ज्ञानदर्शन की भी विवक्षा नही है सो कैसे ?

इस शंका का उत्तर यह है कि विवक्षा का अभाव ही सामान्य का लक्षण है ऐसा कहा है। किस अपेक्षा से जीव का सामान्य लक्षण कहा है ? इसका उत्तर यह है कि ववहारा अर्थात् व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा है। यहां केवलज्ञान केवल दर्शन के प्रति शुद्ध-सद्भूत-शब्द से वाच्य (कहने योग्य) अनुपचरित सद्भूत-व्यवहार है तथा कुमति, कुश्रुत व कुअवधि इनमें उपचरितद्-असद्भूत-व्यवहार नय है।

(सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं) णाणं शुद्धनिश्चय नयसे शुद्ध अखंड केवलज्ञान तथा केवल दर्शन ये दोनों जीव के लक्षण हैं। यहां ज्ञान दर्शनरूप उपयोग की विवक्षा में उपयोग शब्द से विवक्षित पदार्थ के जानने रूप वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार का ग्रहण किया जाता है और शुभ अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगों की विवक्षा उपयोग शब्द से शुभ अशुभ तथा शुद्ध भावना रूप अनुष्ठान जानना चाहिये। यहाँ सहज शुद्ध निर्विकार परमानन्दरूप साक्षात् उपादेय जो अक्षय सुख है उसका उपादान कारण होने से केवलज्ञान और केवल दर्शन ये दोनों उपादेय हैं। इस प्रकार नैयायिक के प्रति गुण, गुणी अर्थात ज्ञान और आत्मा इन दोनों के एकान्त रूप से भेद के निराकरण के लिए उपयोग के व्याख्यान द्वारा तीन गाथा समाप्त हुई।

विवेचनः—इस गाथा में ग्रन्थकार ने ज्ञान और दर्शन का विवेचन किया है आत्म स्वभाव ज्ञान दर्शनमय है। यहाँ पर सामन्यरूपसे इस कथन का तात्पर्य यह है कि इस लक्षण में संसारी तथा मुक्त जीव की विवक्षा व शुद्धाशुद्ध ज्ञान दर्शन की विवक्षा नहीं है।

समाधानः—विवक्षा का अभाव ही सामान्य का लक्षण है ऐसा कहा है। असद्भूत सद्भूत किसे कहते हैं ?

इसका समाधान प्रवचन सार में इस तरह कहा है किः—

> जो णवहि संज्जाया जे खुले णट्ठाभवीम पज्जाया ।
> ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

जो पर्याय उत्पन्न नहीं हुए हैं ऐसे अनागत अर्थात् भविष्यकाल के और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गये, ऐसे अतीतकाल के पर्यायों को असद्भूत कहते हैं, क्योंकि वे वर्त-

मान नहीं है। परन्तु ज्ञान की अपेक्षा ये ही दोनों पर्याय सद्भूत भी हैं। क्योंकि केवल-ज्ञान में प्रतिबिम्बित हैं और जैसे भूत-भविष्यकाल के चौबीस तीर्थंकरों के आकार पाषाण (पत्थर) के स्तम्भ में चित्रित रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञान में अतीत ज्ञेयों के आकार प्रतिबिम्बित होकर वर्तमान होते हैं।

ज्ञान में असद्भूत पर्याय ज्ञान में प्रत्यक्ष है। इसमें किसी प्रकार की सहायता लेनी नहीं पड़ती है। जो ज्ञान भूत भविष्यत पर्यायों को नहीं जाने तो फिर उस ज्ञान की महिमा ही क्या रही ? कुछ भी नहीं। ज्ञान की प्रशंसा तो यही है कि वह सब को प्रत्यक्ष जानता है इसलिए भगवान् के दिव्य ज्ञान में तीनों काल की समस्त पर्याय एक ही बार प्रत्यक्ष प्रतिभासित होती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अनन्त महिमा सहित सर्वज्ञ का ज्ञान ऐसा ही आश्चर्य करने वाला है। इन्द्रिय जनित ज्ञान अतीत अनागत पर्यायों के जानने में असमर्थ है। जितने मति ज्ञानी जीव हैं उन सब के पहिले तो इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होता है पीछे अवग्रह भेदों से ईहादि भेदों से पदार्थों का निश्चय होता है। इसलिए अतीत अनागत काल सम्बन्धी वस्तुएं उनके ज्ञान में नहीं झलकती क्योंकि उन वस्तुओं से इन्द्रिय का संयोग नहीं होता इनके सिवाय वर्तमान काल सम्बन्धी भी जो सूक्ष्म परिमाण आदि हैं तथा स्वर्ग मेरु आदि दूरवर्ती और अनेक अमूर्तिक पदार्थ हैं उनको इन्द्रिय संयोग न होने के कारण मतिज्ञानी नहीं जान सकता। इन्द्रिय ज्ञान से स्थूल घटपटादि पदार्थ जाने जाते हैं इसलिए इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष, हीन तथा हेय है। केवल ज्ञान की तरह प्रत्यक्ष नहीं है अतीन्द्रिय ज्ञान सब को जानता है इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान ही सर्वज्ञ पद है। जो इन्द्रिय ज्ञान से सर्वज्ञ मानते हैं वे प्रत्यक्ष मिथ्या बोलते हैं क्योंकि जो पदार्थ वर्तमान होवे मूर्तिक स्थूल प्रदेश सहित होवे तथा निकट होवे उसी को इन्द्रिय ज्ञान क्रम से कुछ कुछ जान सकता है। अप्रदेशी अमूर्तिक तथा अतीत अनागत काल सम्बन्धी जो पदार्थ हैं उनको नहीं जान सकता। ऐसे ज्ञान से सर्वज्ञ पद भी कहाँ से मिल सकता है ? अर्थात् कहीं से भी नहीं।

जब तक आत्मा विकल्प रूप पदार्थों को जानता है तब तक उसको क्षायिक ज्ञान नहीं होता क्योंकि जो जीव सविकल्पी है वह प्रत्येक पदार्थ में रागी हुआ मृग तृष्णावत् उस गर्मी में तपी हुए वालू में जल की सी बुद्धि रखता हुआ कर्मों को भोगता है इसलिए उसके निर्मल ज्ञान का लाभ नहीं है परन्तु क्षायिक ज्ञानी के भावरूप इंद्रियों के अभाव से पदार्थों में सविकल्प रूप परिणति नहीं होती है। क्योंकि निरावर्ण अतींद्रिय ज्ञान से अनन्त सुख अपने साक्षात् अनुभव गोचर है। परोक्ष ज्ञानी के इन्द्रियों के आधीन सविकल्प रूप जो परिणति है वह कर्म संयोग से प्राप्त हुए पदार्थ को रोकता है।

संसारी जब जीवों के कर्म का उदय है परन्तु अब उदय बन्ध का कारण नहीं है। यदि कर्म जनित इष्ट अनिष्ट भावों में जीव रागी द्वेषी मोही होकर परिणमता है तभी बन्ध होता है इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान तथा कर्म के उदय से उत्पन्न क्रियाएं बन्ध का कारण नहीं हैं बन्ध के कारण केवल राग द्वेष मोह भाव हैं। इसलिए ज्ञानी जीव को पर वस्तु राग द्वेष उत्पन्न करने वाले हैं ऐसा जान कर अपने आत्मा में स्थिर होकर एक अखंड अविनाशी चिदानन्द घन आत्म स्वरूप का ही ध्यान करने योग्य है।

दर्शन में दो उपयोग होते हैं भाव दर्शन उपयोग, स्वभाव दर्शन उपयोग। नियमसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि:—

चक्खु अचक्खु ओही, तिरिणवि भणिदं विभावदिच्छति।
पज्जाओ दुवियप्पयो, सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥ १४ ॥

इस गाथा में अशुद्ध दर्शन और शुद्ध अशुद्ध पर्याय सूचना है। जैसे मतिज्ञानावर्णी कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान मूर्तिक पदार्थ को जानता है वैसे चक्षु दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से चक्षु दर्शन मूर्तीक पदार्थों को देखता है। जैसे श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावर्णी कर्म के क्षयोपशम से श्रुत द्वारा द्रव्य श्रुत अर्थात् द्वादशांगरूप जिन वचन में कहे हुए मूर्तीक और अमूर्तीक समस्त वस्तुओं को परोक्ष रूप से जानना है ऐसे ही अचक्षुदर्शनावर्णी कर्म के क्षयोपशम से अचक्षुदर्शन, स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र के द्वारा अपनी अपनी इन्द्रिय के विषय को सामान्य रूप से देखता है, अर्थात् मालूम करता है। जैसे अवधिज्ञान अवधिज्ञानावर्णी कर्म के क्षयोपशम से समस्त मूर्तिक पदार्थों को जानता है ऐसे ही अवधिज्ञानावर्णी अवधिदर्शन कर्म के क्षयोपशम से मूर्तीक पदार्थों को देखता है। इस प्रकार उपयोग का व्याख्यान किया। अब पर्याय का स्वरूप कहते हैं।

परि समंतात् भेदम् एति गच्छति इति पर्यायः

जो सर्व तरफ से भेद को प्राप्त हो अर्थात् जो परिणमन करे सो पर्याय है। प्रथम स्वभाव पर्याय है, यह छहों द्रव्यों में साधारण है, अर्थ पर्याय रूप है, वचन और मन के अगोचर है, अत्यन्त सूक्ष्म है। आगम प्रमाण से अनुभव करने योग्य है तथा छः प्रकार की वृद्धि और छः प्रकार की हानि करके सहित है। अनन्त भागवृद्धि, अनन्त गुणवृद्धि, इसी तरह से छः भेद रूप हानि है। यह वृद्धि हानि अगुरू लघु गुण में होती है। इसका दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे समुद्र में जल उतना ही है उस में जो तरंगें उठती हैं फिर बैठ जाती है उनमें समुद्र के जल में हानि नहीं होती। जैसे निर्मल शुद्ध रत्न की प्रभा में चमक

की चंचलता है, कभी हीन कभी तीव्र है उसी प्रकार इस आगमोक्त वृद्धि और हानि को समझना। दूसरी अशुद्ध पर्याय है जो नर नारक तिर्यंच और देवरूप है। इस को व्यञ्जन पर्याय भी कहते हैं।

अथ सति पर भावे शुद्ध मात्मानमेकं।
सहजगुणमणीना माकरं पूर्ण बोधम्।
भजति निशित बुद्धि र्यः पुमान् शुद्ध दृष्टिः।
स भवति परम श्री कामिनी काम रूपः।
इति पर गुण पर्य्ययेषु सत्सत्तमानां।
हृदय सरसि जाते राजते कारणात्मा।
सपदि समय सारं तं परं ब्रह्म रूपं।
भज भजसि निजोत्थं भव्य शार्दूल सत्वम्।
क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिद् शुद्ध पर्य्यायकैः।
सनाथमपि जीवतत्व ममाथं समस्तै रिदं।
नमामि परभावयाभि सकलार्थ सिद्ध्यै सदा॥ १४॥

यहां टीकाकार कहते हैं कि जो मनुष्य उत्कृष्ट भाव के होने पर निर्मल बुद्धि होता हुआ स्वाभाविक गुण रत्न की खान पूर्ण ज्ञानमय एक अपने शुद्ध आत्मा का भजन करता है। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव मोक्ष रूपी स्त्री का वर होता है। इस प्रकार उत्कृष्ट गुण और पर्याय के होने पर उत्तम पुरुषों के हृदयरूपी सरोवर में जो कारण रूप आत्मा शोभायमान होता है। हे भव्य रूपी सिंह, तू उसी ब्रह्म रूप समयसार आत्मा को भजन कर, जो अपने ही स्वभाव में उदय मान है। यही आत्मा कहीं अपने समीचीनगुणों से शोभता है,कहीं अशुद्ध गुणोंसे विराजता है कहीं अपने स्वाभाविक पर्यायों से, तथा कहीं अशुद्ध पर्यायों से शोभता है। ऐसा होने पर भी यह जीव तत्त्व समस्त विभाव गुण पर्याय से रहित है, मैं सदा ही अपने २ सर्व प्रयोजनों की सिद्धि के लिये उसी तत्त्व को नमन करता हूँ और उसी की बार २ भावना करता हूं।

स्वभाव विभाव पर्याय को स्पष्ट करेंगे।

नर नारक पशु और देव के चार मनुष्य विभाव पर्याय कही गई है जो पर्याय कर्मों की उपाधि से रहित है वह स्वभाव पर्याय है।

स्वभाव पर्याय के मध्य में स्वभाव पर्याय दो भेदरूप कथन की जाती है। पहली कारण शुद्ध पर्याय व दूसरी कार्य शुद्ध पर्याय। इस लोक में शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा से आदि और अन्त दोनों से रहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभाव से शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान स्वभाविक, दर्शन स्वाभाविक, चारित्र स्वभाविक तथा परम वीतराग सुखमय शुद्ध अंतरंग तत्त्व रूपस्वभाव अनन्त चतुष्टय जो निजस्वरूप है उसके साथ विराजमान जो पंचम पारिणामिक भाव की परिणति है वही कारण शुद्ध पर्याय है। कारण शुद्ध पर्याय का मनन कार्य शुद्ध पर्याय की उत्पत्ति का साधन है। आदि सहित और अन्त रहित जो अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभाव से शुद्ध ऐसे सद्भूत व्यवहार नय के द्वारा केवल ज्ञान केवल दर्शन सुख और केवल वीर्य करके सहित फलरूप अनन्त चतुष्टय के साथ में परम उत्कृष्ट क्षायिक भाव की जो शुद्ध परिणति है वही कार्य शुद्ध पर्याय है। अर्थात् शुद्ध आत्मा के शुद्ध निश्चय स्वरूप के साधने से ४ घातिया कर्मों का नाश होता है, जब क्षायिक भाव की प्राप्ति होकर अरहंत अवस्था प्राप्त होती है। अथवा पूर्व सूत्र में कहे हुए सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय के अभिप्राय से छह द्रव्यों में साधारण सूक्ष्म जो अर्थ पर्याय हैं, वे भी शुद्ध पर्याय हैं, ऐसा जानना योग्य है। इस तरह संक्षेप से शुद्ध पर्याय के भेद कहे। जब व्यन्जन पर्याय को कहते हैं। जिस करके पदार्थ प्रकट हो सो व्यन्जन प्रर्याय है। जैसे खाट आदि की पर्याय अपने नेत्र गोचर है अथवा आदि और अन्त सहित मूर्तीक निज जाति सिवाय विजातीय विभाग स्वभाव को जो धारे तथा जो दिखलाई पड़े और नाश हो जाय सो व्यन्जन पर्याय है। संसारी जीवों के आत्म ज्ञान के विना अपनी पाई हुई जो पर्याय उसी रूप अपना स्वभाव कर लेने से जो अपने शुभ अशुभ से मिले मिश्र परिणाम होते हैं उनके निमित्त से यह जीव व्यवहार नय करके नर होता है, अर्थात् मनुष्य के आकार नर पर्याय भोगता है। यही संसारी जीव कुछ शुभ कुछ मिश्र और मायाचाररूप परिणाम करके तिर्यन्च की काय में जाता है, व्यवहार नय करके एकेन्द्रियादि के आकार होकर तिर्यन्च पर्याय भोगता है। यही जीव अपने केवल शुभ परिणामों से बाँधे हुए कर्मों के निमित्त से व्यवहार नय से देव का आकार और शरीर ग्रहण कर देवपर्याय को भोगता है। (अशुभ परिणाम से बाँधे हुए कर्मों से व्यवहार नय करके नरक पर्याय को भोगता है) यह चारों गतिरूप जीव के शरीरों की प्रगटता सो विभाग व्यंजन पर्याय है। इन पर्यायों का विशेष स्वरूप अन्य आगम से जानना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि जीव के विभाव होने पर भी जो कोई सम्यग्दृष्टि तत्त्वाभ्यास में अपनी बुद्धि को जमा करके ऐसा मानता है कि शुद्ध आत्मा के स्वभाव सिवाय और कोई मेरा कल्याणकारी नहीं है वह जीव मुक्ति रूपी लक्ष्मी का पति होता है।

इस लिए जीव तू अपने स्वभाव को छोड़कर पर स्वभाव में रमण करते हुये अनादि

काल बीत गया परन्तु तूने इसके द्वारा होनेवाले अनेक प्रकारके शुभ अशुभ कर्म के निमित्त से चारों गतियों में भ्रमण करते हुए अनेक पर्याय तूने पाई। कभी मनुष्य कभी चक्रवर्ती कभी महाराजा इत्यादि अनेक पर्याय धारण किया परन्तु तेरी इन्द्रिय तृष्णा अभी तक दूर नहीं हुई। इसलिए विभाव को त्याग कर स्वभाव में रमण कर। जैसे तत्त्व भावना में कहा भी है:—

रामाः पापविरामास्तनयपरिजना निर्मिता बह्वनर्था।
गात्रं व्याध्यादिपात्रं जितपवनजवा मूढ लक्ष्मीरशेषा।
किं रे दुष्टं त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतु-
र्येन त्वं स्वार्थ निष्ठो भवसि न सततं बाह्यमत्यस्यसर्व ॥९८

भावार्थ—आचार्य ने दिखलाया है कि यह मोही जीव जिन जिन सांसारिक पदार्थों को अपना माना करता है वे सब पदार्थ इस आत्मा के सच्चे हित में बाधक हैं। आत्मा का यथार्थहित स्वात्मानुभव की प्राप्ति करके आत्मानन्द का विलास करना है और धीरे २ बन्धनों से मुक्त होकर परमात्म पद माना है। इस वैराग्यमई कार्य में जितने भी राग के कारण हैं वे सब बाधक हैं। स्त्रियों का सम्बन्ध वास्तव में गृहजंजाल का बीज है, मोह को पैदा कराने वाला है। पुत्र पुत्रियों की संतति का व उसके साथ अनेक हिंसादि पापों के निरन्तर कराने का निमित्त है। पुत्र व परिवार सर्व मोह के कारण हैं, उन के राग में फंसा हुआ प्राणी आत्म हित से दूर हो जाता है। उन के निमित्त से बहुत से न करने योग्य कामों को मोही जीव कर डालता है। शरीर का सम्बन्ध ही दुःख का हेतु है। क्षुधातृषा तो इसके नित्य के रोग हैं। ज्वर खांसी, स्वांस, फोड़ा, फूंसी आदि अनेक रोग और इसके साथ लगे हुए हैं। जिस लक्ष्मी को पा करके ये प्राणी संतोष मानते है उसके रहने का बहुत कम भरोसा है। पुण्य के क्षय होते ही राज्य का भी नाश हो जाता है क्षण मात्र से धनवान प्राणी निर्धन हो जाता है ऐसी दशा में कौन सा ऐसा पदार्थ इस जगत में है जो प्राणी को सुख का कारण हो? वास्तव में क्षणभंगुर चेतन व अचेतन पदार्थों के साथ रहने का जब भरोसा नहीं है केवल इनके निमित्त से सुखी होना मानना मात्र भ्रम है इस संसार के भयानक बन में जिस जिस शरीर का व्यवहारिक आश्रय लिया जावे वे सब नाशवन्त प्रगट होते है तब उन से स्थायी सुख कैसे हो सकता है। इस लिये आचार्य शिक्षा देते हैं कि हे आत्मन्! तू अपनी भूल को छोड़कर अपना मोह बाहरी पदार्थों से हटा। मात्र अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाय इसी से तेरा भला होगा।

श्री अमितगति आचार्य ने कहा है कि—

श्रियोपाया घ्रातास्तृणजलचरं जीवित मिदं।
मनश्चित्रं स्त्रीणां भुजगकुटिलं कामजसुखम्।
क्षणध्वंसी कायः प्रकृतितरले यौवन धने।
इति ज्ञात्वा सन्तः स्थिरतरधियः श्रेयसि रताः॥ ३३२॥

भावार्थ—राज्य पाटादि लक्ष्मी सब नाशवन्त हैं, यह जीवन घास पर पड़े हुए ओस की बूँद के समान चंचल है, स्त्रियों के मन की गति बड़ी विचित्र है। कामभोग का सुख सांप की चाल के समान बड़ा टेढ़ा व सदा एकसा रहने वाला नहीं है। यह शरीर क्षणभर में नाशवन्त है तथा जंवानी व धन स्वभाव से ही चंचल हैं ऐसा जानकर अति स्थिर बुद्धि के धारी सन्त पुरुष इन पदार्थों में रति न करके अपने आत्मकथाण में लग जाते हैं।

हे आत्मन्! नीचे लिखे अनुसार सदा इस प्रकार की भावना करना तेरे लिये योग्य है—

Astachaturjnanadarsane samanyam jivalaksanam bhanitam.
Vyavaharat suddhanayat suddham punah darsanam jnanam.—(6)

Padapatha—सामण्णं Samannam, in a general sense. जीवलक्खणं Jivalakkhanam, the characteristic of Jiva. ववहारा Vavahara, according to Vyavahara Naya. अट्ठचदुणाणदंसण Atthachadunanadamsana, the eight Jnanas and four Darsanas. भणियं Bhaniyam, is narrated पुण Puna, again. सुद्धणया Suddhanaya, according to Suddha Naya. सुद्धं Suddham, Suddha (Pure). दंसणं Damsanam, Darsan (perception). णाणं Nanam, Jnana (knowledge).

6. According to Vyavahara Naya, the general characteristic of Jiva are said to be eight kinds of Jnana and four kinds of Darsana. But according to Suddha Naye, (the characteristics of Jiva) are pure Jnana and Darsana.

COMMENTARY.

The commentator Brahmadeva says that Jiva is said in a

general sense to have the characteristics of eight kinds of Jnana and four kinds of Darsana. By the word "Samanya" or "in a general sense" in the original verse we should understand "when we do not desire to distinguish between Samsari (leading a mundane existence) or Mukta (liberated) Jivas or when we do not distinguish between pure and impure Jnana and Darsana." † In this verse the author says that really Jiva possesses the characteristics of pure Jnana and Darsana, but from the ordinary of common sense point of view, we recognise that Jiva has eight kinds of Jnana and four kinds of Darsana. Among the eight kinds of Jnana, varieties of impure or false knowledge are also included, but these can only be said in a general sense to be the characteristics of Jiva, for in Mukta or liberated Jiva, these are not possible. So Jiva in its pure state has only the characteristics of pure Jnana and Darsana.

The commentator says that verses 4–6 of Dravya Samgraha by explaining Upayoga refute the doctrine of Nyaya Philosophy, viz., that a thing and its qualities are permanently distinct. * It should be remembered that in Nyaya Philosophy the identity of a quality and the possessor of that quality is never recognised. Here it is said that Jnana and Darsana are not only the qualities of Jiva, but are identical with it. Now the question may arise how can this be possible ? Can we not conceive of qualities ass eparated from the possessor of the same ? The answer is that Jainism examines everything from different standpoints and though from the realistic point of view Jiva and its qualities are identical, we say from the ordinary or commonsense point of veiw thatt hese are distinct. That is to say, in Jainism there is no dogmatic assertion as in Nyaya Philosophy that there can be no identity between a

† "सामान्यमिमि कोऽर्थः ? संसारिजीव--मुक्तिजीवविवशा नास्ति, अथवा शुद्धाशुद्ध-ज्ञानदर्शनविवक्षा नास्ति ।"

Commentary on Dravya-Samgraha, verse 6. By Brahmadeva.

* "एवं नैयायिकं प्रति गुणगुणिभेदैकान्तनिराकरणार्थमुपयोगव्याख्यानेन गाथात्रयं गतम् ।"
Commentary on Dravya-Samgraha, Verse 6. By Brahmadeva.

quality and the possessor of that qualities. On the contrary, the identity of Jiva and its qualities is recognised. Of course from the ordinary point of view we may recognise qualities as distinct from the possessor of them. That is to say, we can conceive the qualities as distinguishable, but not distinct from their possessor, that is, this separate existence is not real. In Panchastikayasamayasara also we find the following verse which expresses a similar view:—

"दंसणणाणाणि तहा जीवणिवद्धाणि णएणभूदाणि ।
ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो ॥"

[Verse No. 52]

"Darsana and Jnana, in a similar manner, are identical with Jiva and not separable from it. Only in common parlance we separate (Darsana and Jnana from Jiva), but in reality there is no such separation."

अब अमूर्तिक तथा अतीन्द्रिय आत्मा के ज्ञान से रहित तथा मूर्त जो पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं उनमें आसक्त जीव ने जो मूर्तिक कर्म उपार्जन किया है। उस के उदय से व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव मूर्तिक है तथापि निश्चय नय से अमूर्तिक ऐसा उपदेश देते हैं:—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधा दो ॥७॥

अन्वयार्थ—(वण्ण) वर्ण रंग श्वेत पीत हरित् अरुण कृष्ण इस प्रकार पाँच वर्ण वाले (रस) पाँच तिक्त, कटुक, कषाय, मिष्ट, अम्ल इस प्रकार पाँच प्रकार का रस (दो गंधा) दो प्रकार का गंध सुगंध और दुर्गंध (अट्ठ फासा) आठ प्रकार का स्पर्श हल्का, भारी, कड़ा, नरम, रुखा, चिकना, ठंडा और गरम इस प्रकार आठ प्रकार का स्पर्श (णिच्छया) शुद्ध निश्चय नय से (जीवे) जीव चिदानन्द स्वरूप जीव में (णो संति) नहीं है। अर्थात् ५ रूप ५ रस २ गंध और ८ स्पर्श इस प्रकार २० भेद आत्मा में नहीं है। ये गुण पुद्गल में पाये जाते हैं। (तदो) तदा इस कारण यह जीव (अमुत्ति) अमूर्त्तिक है। इसलिए बंध रहित है। (ववहारा) असद्भूत व्यवहार नय से अनन्त परिवर्तन स्वरूप मोहनीय कर्म के

निमित्त से मिथ्यात्व, असंयत, कषाय स्वरूप ऐसे अशुद्ध भाव परिणाम निमित्त के कारण जीव में प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश रूप बंध स्वरूप होनेके कारण (बंधादो) मूर्तिक है व्यवहार नय की अपेक्षा यह आत्मा मूर्तिक है।

शंका—प्रथम गाथा में जीव का लक्षण ज्ञान और दर्शनमय कहा था इसलिए जीव का लक्षण ज्ञानोपयोगमयी है अतएव जीव अमूर्तिक है तो फिर इस जीव को कर्म बंध कैसे होता है ? समाधान यह जीव निश्चय नय से अमूर्तिक है और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय से मूर्तिक है। जीव को कर्म बंध पहले के रागादि परिणाम के द्वारा होने के कारण संतान रूप से बीज और अंकुर के समान अनादि वासना वासित से युक्त पंचेन्द्रिय विषय वासना रूपी अनुराग से उपार्जित मूर्त कर्म से मूर्तिक होने के कारण यह जीवात्मा मूर्तिक होकर परस्पर निमित्त ऐसे द्रव्यकर्म भावकर्म वाले होकर इसके चारों चतुर्गति रूप चक्कर में हमेशा भ्रमण करने वाले होने के कारण मूर्त पंचेन्द्रिय विषय में परिवर्तन करने वाला मूर्तिक कहलाता है। और जिस समय रागादि पंचेन्द्रियादि विषयों को विरक्त होकर भिन्न आत्म स्वरूप नित्य निरंजन ज्ञानरूप भावना करते हुए अमूर्त भावना की प्राप्ति को प्राप्त होता है। अर्थात् शुद्धात्म प्रप्ति का अनुभव कर्ता है। अर्थात् शुद्धात्म पद को प्राप्त होत है। ऐसा इस का तात्पर्य है।

आत्मा व्यवहार नय के अपेक्षा मूर्तिक है और निश्चय नय की अपेक्षा अमूर्तिक है। इस तरह आत्मा नित्य अनित्य दोनों नय को ग्रहण करने वाला है। अकलंकदेव ने अपने स्वरूप सम्बोधन में कहा भी है कि—

नावक्तव्यः स्वरूपाद्यैः निर्वाच्यः परभावतः ।
तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः ॥ ७ ॥

वह आत्मा अपने स्वरूप की अपेक्षा वक्तव्य (कहे जाने योग्य) होने से सर्वथ अवक्तव्य (न कहे जाने योग्य) भी नहीं है और पर पदार्थों के स्वरूप की अपेक्षा अवक्तव्य होने से सर्वथा वक्तव्य भी नहीं है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अपने धर्मों की अपेक्षा से कहा जाता है या पुकारा जाता है पर के धर्मों की अपेक्षा से नहीं व्यवहार किया जाता। जैसे कि आम का फल आम के नाम से कहा जाता है, केला अमरूद आदि के नाम से नहीं कहा जाता। इसलिए प्रत्येक वस्तु में अपने स्वभाव से कहे जाने की योग्यता व अन्य पदार्थों की स्वभाव से न कहे जाने की योग्यता समझते हुए आत्मा में भी ऐसा समझना चाहिये।

स स्याद्विधि-निषेधात्मा स्वधर्म परधर्मयोः ।
स मूर्त्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥ ८ ॥

वह आत्मा अपने धर्मों का विधान करने वाला व अन्य पदार्थों के धर्मों का अपने में निषेध करने वाला और ज्ञान से आकार होने से वह आत्मा मूर्तिक तथा पुद्गलमय शरीर से भिन्न होने के कारण अमूर्तिक है।

आत्मा में जैसे स्वरूप की अपेक्षा विधिरूप धर्म है वैसे पर के स्वरूप की अपेक्षा निषेध रूप धर्म भी है। क्योंकि जैसे ज्ञानादि आत्मिक धर्मों की अपेक्षा आत्मा की सत्ता शुद्ध होती है। वैसे रूप रस आदि पुद्गल के धर्मों की अपेक्षा आत्मा की सत्ता नहीं सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त ज्ञान का पुञ्ज होने के कारण जैसे आत्मा मूर्तिक कहा जाता है उसी तरह पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ न होनेसे अमूर्तिक भी कहलाता है।

इत्याद्यनेक धर्मत्वं बन्धमोक्षौ तयोः फलम् ।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ॥ ९ ॥

इस प्रकार पहले कहे हुए क्रम के अनुसार यह आत्मा अनेक धर्मों को स्वयं धारण करता है और उनके धर्मों की फल स्वरूप बन्ध और व मोक्ष रूप भी कारणाधीन स्वयं परिणमनता है।

भावार्थ—यह आत्मा राग द्वेषादि कारणों से कर्म का बन्ध करके पराधीन व दुःख भी अपने आप ही होता है, और ज्ञान, ध्यान, जप, तप, आदि कारण से बन्ध अवस्था को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त कर स्वाधीन भी स्वयं ही हो जाता है। आत्मा बंधवान् किस तरह से हुआ ?

समाधान—शुद्धोपयोग से च्युत होकर अशुभ परिणत अर्थात् पर द्रव्य में रमण होकर बंधन के कारण बंध करने वाला हुआ। पर को ही अपनी आत्मा माना है इसलिए पर रूप हुआ। जैसे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि—

व्यवहार निश्चयो यः प्रबुद्ध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलम् विकलं शिष्यः ॥

भावार्थ—जो शिष्य व्यवहार नय और निश्चय नय दोनों को समझ कर मध्यस्थ या वीतरागी हो जाता है या किसी एक नय के पक्षपात से रहित हो जाता है वही जिन वाणी को समझने के पूर्ण फल को प्राप्त करता है।

यह जगत व्यवहार नय से देखते हुये अनन्त भेद रूप विचित्र दिखलाई पड़ता है। यह राजा है, यह रंक है, यह स्वामी है, यह सेवक है,यह धनवान है,यह निर्धनहै, यह सुन्दर है, यह कुरूप है, यह बलवान है, यह निर्बल है, यह विद्वान है, यह मूर्ख है, यह गुरु है, यह शिष्य है, यह पूज्य है, यह पूजक है, यह बन्दनीय है, यह बन्दना करने वाला है, यह साधु है, यह गृहस्थ है, यह शत्रु है, यह मित्र है, यह पिता है, यह पुत्र है, यह माता है, यह पुत्री है, यह बांधव है, यह अन्य है, यह पुरुष है, यह स्त्री है, यह बालक है, यह जवान है, यह वृद्ध है, यह शिशु है, यह निरोगी है, यह सरोग है, यह हिन्दु है, यह मुसलमान है, यह पारसी है, यह सिक्ख है, यह जर्मन है, यह जापानी है, यह अंग्रेज है, यह फ्रांसीसी है, यह अमेरिकन है, यह अफ्रीकावासी है, यह शूद्र है, यह पर्वत है, यह गोरा है, यह काला है, यह क्षत्री है, यह वैश्य है, यह ब्राह्मण है, यह नदी है, यह सूर्य है, यह चन्द्र है, यह स्वर्ग है, यह नर्क है, यह स्वदेश है, यह परदेश है, यह भारत है, यह विदेह है, यह घर है, यह जंगल है, यह वन है, यह उपवन है, यह सुवर्ण है, यह कांच है, यह रत्न है, यह पाषाण है, यह महल है, यह स्मशान है, यह फूल है, यह कंटक है, यह शय्या है, यह भूमि है, यह चाँदी है, यह लोहा है, यह ताँबा है, यह मिट्टी है, यह निर्मल है, यह मैली है, यह घट है यह पट है, इत्यादि जितने कुछ भेद प्रभेद हैं ये सब व्यवहार नय की दृष्टि में हैं, यही दृष्टि राग द्वेष मोह का कारण है, जिन चेतन पदार्थों से अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु पशु आदि से अपना स्वार्थ साधना है अथवा जिन अचेतन पदार्थों से अर्थात् घर, वस्त्र वर्तन सामान आदि से अपना मतलब निकलता है उन से तो राग होता है तथा जिन पुरुषों से व स्त्रियों से अपने स्वार्थ साधन में हानि पड़ती है अथवा जो घर, वस्त्र, बर्तन या सामान अपने चित्त को कष्टप्रद मानते हैं उन से द्वेष पैदा हो जाता है। व्यवहार नय की दृष्टि से देखते हुये अहंकार व ममकार पैदा होते हैं। मैं राजा हूँ, मैं धनवान हूँ, मैं बड़ा हूं, मैं दीन हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं निरोगी हूँ, मैं सुन्दर हूं, मैं कुरूप, हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ इत्यादि अहंबुद्धि होती है। यह तन मेरा है, यह धन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह घर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह खेत मेरा है,यह आभूषण मेरा है,यह भोजन मेरा है, यह ग्रंथ मेरा है, यह मंदिर मेरा है, इत्यादि ममकार बुद्धि पैदा होती है। इस अहंकार ममकार के द्वारा वर्तन करते हुये चारों कषायों की प्रबलता हो जाती है। और यह मोही प्राणी संसार के झंझटों में व सुख तथा दुःख में उलझा रहता है, कभी अपने सच्चे सुख को व अपनी सच्ची सुख को व अपनी सच्ची शान्ति को नहीं पाता है।

निश्चय नय से देखते हुये ये सब ऊपर लिखित भेद नहीं दिखते हैं। ये सब भेद

जीव और पुद्गल इन दो मूल द्रव्यों के निमित्त हैं। बस जो निश्चय से देखता है उसे सर्व ही जीव संसारी या सिद्ध, नारकी, देव, पशु मनुष्य छोटे, बड़े, राजा, रंक आदि रूप अपने शुद्ध केवल स्वभाव में ही दिखते हैं। सब ही पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्यके धारी परमात्मा रूप ही दिखते हैं। आप भी अपने को परमात्मा रूप दिखता है, अन्य सब भी परमात्मा रूप दिखते हैं। इस दृष्टि से देखते हुए ही समताभाव की जागृति होती है, राग द्वेष का अभाव होता है शत्रु मित्र की कल्पना मिटती है, अमनोज्ञ पदार्थका भेद दूर हो जाता है इष्ट व अनिष्ट का द्वैत मिट जाता है। यही दृष्टि वीतरागभाव को पैदा करती है।

व्यवहार नय से १४ मार्गणा के भेद कि यह अमुक गतिवाला है यह अमुक इन्द्रिय वाला है इत्यादि अथवा १४ गुण स्थान के भेद कि यह मिथ्यात्वी है, यह सम्यक्ती है। यह साधु है, यह केवली है, इत्यादि संसारी जीवों में दिखते हैं, परन्तु शुद्ध निश्चयनय से देखते हुए सर्व ही जीव शुद्ध एक रूप परमात्मा है। समताभाव लाने के लिए हमको व्यवहार नय से देखना बन्द करके निश्चय नय से देखने का अभ्यास करना चाहिए। यही कारण है कि जो साधु या गृहस्थ सामायिक में तन्मय होते हैं वे उपसर्ग करने वाले पर व प्रशंसा करने वाले पर समता भाव रखते हैं। वीतराग भाव का साधक निश्चयनय के द्वारा अवलोकन करना है। तत्त्व विचार के समय आत्मध्यान जगाने के लिए निश्चयनय का आश्रय ही कार्यकारी है। जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार-कलश में कहा है कि:—

इदमेव तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो नहि ।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्यागाद्बन्ध एव हि ॥

भावार्थ— मतलब यही है कि शुद्ध निश्चय नय को भी छोड़ना न चाहिये क्योंकि जबतक इसका सहारा होगा तब तक कर्म का बंध न होगा तथा इस नय के त्याग। होते ही कर्म का बंध होगा। दोनों श्लोकों में आचार्य ने निश्चय नय को प्रधान करके समता भाव का स्वरूप दिखलाया है। यह सच्ची तत्त्वभावना का एक प्रकार है।

वास्तव में समताभाव लेने के लिये ऐसी ही भावना कार्यकारी है। श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चय पंचाशत में कहते हैं—

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यान्नाप्नोत्यशुद्धमेवस्वम् ।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम् ॥१८॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्मा को शुद्ध स्वरूप मय ध्याता है वह शुद्ध आत्मा को पाता है तथा जो अशुद्ध रूप अपने को ध्याता है वह अशुद्ध ही आत्मा को पाता है। जैसे कोई मनुष्य सोने से सोने का कड़ा व लोहे से लोहे का कड़ा बना लेता है।

पूज्यपाद आचार्य ने इसका आत्म सिद्धि के बारे में बहुत सुन्दरता के साथ समझाया है कि:—

नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तेः ।
अस्त्यात्मानादिबद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी ।।
ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरूपसमाहारविस्तार धर्मा ।
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत हतो नान्यथा साध्यसिद्धिः।।२

यहाँ बौद्धों का कहना है कि:—

दीपक में से तेल खत्म हो जाय तो दीपक दिशा या विदिशा इत्यादि के तरफ न जाकर जहाँ का तहाँ सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है,उसी तरह दुःखका या कर्मका तथा इन्द्रियादि सुख दुःख का नष्ट होने से आत्मा का अभाव होता है उसी को आत्मा मुक्त हो गया ऐसे बौद्ध मत का कहना है।

परन्तु आत्मा के अभाव को मोक्ष मानना ठीक नहीं है। ऐसी मोक्ष की इच्छा कोई भी बुद्धिमान नहीं करेंगे क्योंकि बुद्धिमान मनुष्य अपने खुदका नाश करने की इच्छा नहीं करते है। आत्मा नाम का एक पदार्थ है और पदार्थ कभी भी नाश नहीं होता है इस लिये आत्मा का सर्वथा अभाव होने से मोक्ष होता है। ऐसे कहने वाले बौद्धों का कथन सर्वथा असंगत है।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन आत्मा के नौ विशेष गुणों का अत्यन्त नाश होना यही आत्मा का मोक्ष है। ऐसे योग मत वाले मानते हैं। परन्तु ऐसे मानना उन का ठीक नहीं है। अगर गुणों का नाश हो जाय तो गुणी जो आत्मा है उन का नाश अवश्य होगा। जिस तरह अग्नि के उष्णता का नाश होने से अग्नि का रहना अवश्य है उसी प्रकार आत्मा के गुणों का नाश होने से आत्मा तत्व का अभाव जरूर होगा और इस तरह होने से जैसे 'नास्ति विद्यते भावः ततो नात्यंतसंक्षयः' इस सर्व मान्य तत्त्व को बाधा अवश्य आवेगी। मोक्ष प्राप्ति के लिये कोई भी व्रत नियम तप चारित्र इत्यादि का आचरण नहीं करेंगे। क्योंकि इस से अपने स्वतः का नाश होगा। परन्तु इससे आत्म सिद्धि होना भी कठिन है।

इसलिए योग मतवाले को ऐसा मानना ठीक नहीं है। अपने आपको दुर्गति से बचाने के लिये तथा गुणोंके उत्कर्ष करनेके लिए व्रत तप दान पूजा संयम इत्यादि का पालन करना पड़ता है। अगर व्रतादिक से हानि होगी या आत्माके गुणोंका नाश होगा तो कौन बुद्धिमान व्रतादि करके अपनी हानि कर लेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा। इसलिए इनकी कल्पना यह योग्य नहीं है। मोक्ष में आत्मा अनन्त गुणों से संपन्न होता है।

चार्वाक आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं, इसलिये आत्मा को मोक्ष होता है यह कल्पना उनको मान्य नहीं है, परन्तु सुख दुःख का अनुभव जड वस्तु को कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा। अतः जो चेतन आत्मा है उन्हीं को अनुभव होता है, इसलिए आत्म तत्व को मानना ही पड़ेगा और आत्म तत्त्व को मानने के बाद पाप, पुण्य बन्ध मोक्ष इत्यादि कल्पना माननी पड़ती है। इसलिये चार्वाक मतवाले की आत्मा को नहीं मानना यह बात ठीक नहीं है। अर्थात् बात अयोग्य है। ज्ञानदर्शन स्वरूप आत्मा सदा से है और सदा रहेगा उसका अभाव मानना ठीक नहीं है।

जैनाचार्यों ने मोक्ष का स्वरूप बतलाने के लिये इस श्लोक के द्वारा खुलासा किया है। मोक्ष आत्मा को होता है, ऐसे कहा है। आत्म तत्व चार्वाक मतवाले के अलावा सर्व दर्शन मतावलम्बियों को मान्य है, परन्तु आत्मा के स्वरूप के विषय में अन्य दर्शन वालों की कुछ कल्पना भिन्न २ है, उसका थोड़ा विवेचन यहाँ करते हैं।

सांख्य दो तत्व मानते हैं। एक आत्म तत्व और दूसरा प्रकृति तत्व। यह आत्मा शुद्ध है उसको बन्ध या मोक्ष कुछ भी नहीं है। केवल प्रकृति बांधी जाती है और वही मुक्त होती है ऐसा कहते हैं, पर यदि ऐसा है तो आत्मा हमेशा निराकुल होना चाहिए और अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य पदार्थ में कभी भी आसक्त नहीं होना चाहिये था किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये आत्मा को कर्म का बन्ध होता है और वही बंध का नाश करके मोक्ष पदकी प्राप्ति कर लेता है ऐसा मानना ही पड़ेगा। जिसकी वजहसे आत्माको बंध और मोक्ष माना है उसी वजह से यह आत्मा अनादि काल से कर्म से बद्ध हुआ है, ऐसा मानना चाहिये। अगर ऐसा नहीं मानोगे तो कर्मों से बद्ध होने से पहले आत्मा शुद्ध होना चाहिये, ऐसा ठहरेगा अगर पहले शुद्ध होता तो अशुद्ध कैसे होगया ? इसलिए आत्मा अनादि काल से कर्मबद्ध हुआ है ऐसा जैनाचार्यों ने माना है। आत्मा अच्छा है या बुरा, पर सुख दुःखादि फल आत्माको ही भोगना पड़ता है अन्यको नहीं। कुछ करनेवाला आत्मा अच्छा या बुरा काम कैसे करेगा ? अर्थात् नहींकर सकता? इसलिए सांख्य मत में माना गया आत्मा तत्व ठीक नहीं है। पूर्ण शुद्ध आत्मा उस कर्म फलका अनुभव कैसे कर लेता है यह आश्चर्यका-

एक बात है। शुद्ध आत्मा ही अगर सांसारिक सुख दुःख का अनुभव लेने में आ जाय तो संसारी और मुक्त ऐसा भेद ही नहीं रहेगा। प्रकृतिबद्ध आत्मा अशुद्ध है और वह स्वतःकर्म करता हुआ उनका फल भी भोगता है ऐसा मानना युक्ति गत है, पुण्य व पाप उत्पन्न करने वाले कर्म का नाश किया जाय तो आत्मा मुक्त होता है। आत्मा ज्ञान और दर्शन स्वभाव को धारण करने वाला है तो अचेतन या केवल चैतन्य स्वरूप को नहीं है। तो अनन्त ज्ञान के गुणों का पुंज है, आत्मा व्यापक नहीं है, स्वतः शरीर प्रमाण है और नाम कर्म के उदय से उनको जैसा छोटा मोटा शरीर मिलेगा, उसी प्रकार उस शरीर के आकारवाला होकर वह रहता है। वह कर्म बद्ध होने के कारण अपने प्रदेश को विस्तृत या संकोच करने में आता है। दीपक पर छोटा या बड़ा पात्र ढकने से उस वर्तन के बराबर जैसे उसका आकार होगा उसी तरह उसमें रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी छोटे या बड़े शरीर के आकार होकर रहता है। आत्मा में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह तीन स्वभाव हैं, इसका उदाहरण ऐसे समझना चाहिये कि मनुष्य मरकर देव हो गया, इस स्थान में मनुष्य का नाश, देव पर्याय की उत्पत्ति आत्मा का तत्त्व की दृष्टि से ध्रौव्य। दूसरा उदाहरण यह है कि अपने कड़े को तोड़कर कुण्डल बना लिया यहाँ कड़े की अवस्था बदल कर अगर दूसरी अवस्था प्राप्त हो गई तो भी सोना का सोना ही रह गया। इससे जगत के सभी पदार्थ इन तीन अवस्थाओं को धारण करते हैं, ऐसा सिद्ध होता है।

नैयायिक सर्वथा नित्य ही मानते हैं परन्तु ऐसे आत्मा में कैसे सम्भव होगा? बौद्ध आत्मा को अनित्य ही मानते हैं। ऐसे मानने से जो मैं छोटा होता वही मैं अब मोटा हो गया हूँ यह अनुभव प्रत्येक प्राणियों को नहीं होगा। इसलिये आत्मा में ऊपर कहे हुए के अनुसार तीन स्वभाव मानने ही चाहिये।

आत्मा में ज्ञान, दर्शन, शक्ति सुख गुण इत्यादि मानना ही चाहिये। अगर ऐसे नहीं मानेंगे तो उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा को अज्ञानी ही माने तो उनको मोक्ष कैसे मिलेगा? इसलिए जैनाचार्यों ने जो आत्मा का स्वरूप कहा है वह युक्ति युक्त ठहरता है।

Varnah rasah pancha gandhau dvau sparsah astau nischayat jive,
No santi amurttih tatah vyavaharat murttih bandhatah.

Padapatha.—णिच्चया Nichchaya, according to Nischaya Naya. जीवे Jive, in Jiva. वण्ण Vanna, colour. रस Rasa, taste. पंच Pancha,

five. दो Do, two. गंधा Gandha, smells. अट्ठ Attha, eight. फासा Phasa, touch. णो No, not. संति Santi, are. तदो Tado, therefore. अमुत्तिAmuti, without from. ववहारा Vavahara, according to Vyavahara Naya. बंधादो Bandhado, form Bandha (bondage). मुत्ति Mutti, possessed of form.

7. According to Nischaya Naya, Jiva is without form, because the five kinds of colour and taste, two kinds of smell, and eight kinds of touch are not present in it. But according to Vyavahara Naya [Jiva] has form through the bondage [of Karma.]

COMMENTARY.

Jiva is naturally invisible, but "when the soul is attacked by the passions...it takes on the Pudgala (material) particles fit for the bondage of the karmas, just as a heated iron-ball takes up water-particles in which it is immersed. This is the bondage of the Karmas." † Thus "the naturally invisible soul is compounded in a very subtle way with visible, tangible matter, and is in a sense there by rendered visible, as lemen-juice is rendered sweet by the addition of sugar and water. In its pure state the soul (Jiva) is invisible, just as in itself the lemon-juice is sour." ‡

We should therefore remember that, according to the Jaina belief, Jiva, in its natural or real state, is invisible. But it combines with Pudgala or matter. This combination is the bondage (Bandha) which produces karmas. When Jiva thus combines itself with Pudgala (matter), it leaves its invisible state and becomes visible to us. It is Pudgala (matter) which has form and when Pudgala combines itself with Jiva, the taste. colour, smell and touch of the former which are the requisites of its form, are attributed to the really formless Jiva, and we say that Jiva has form. Every form of mundane life which we see is a Jiva in its impure and visible state in combination with Pudgala. Therefore, accord-

† A. B. Latthe—"An Introduction to Jainism," "pages 9-10.
‡ Herbert Warren—"Jainism," pages 10-11.

ing to Vyavahara Naya, that is to say, from the ordinary or common sense point of view, we may say that Jivas have form, but we must remember that according to Nischaya Naya or the realistic point of view, Jivas are without form.

Brahmadeva in his commentary quotes a verse to sport this view:

"बन्धं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स ॥"

i. e. "In bondage (Jiva) is one (with Pudgala), but really according to definition, it is separate (from Pudgala). Hence formlessness does not always belong to Jiva."

Pudgala is said to possess touch, taste, smell and colour. ❀ Though these qualities are really inseparable from Pudgala, from the ordinary point of view we speak of them as separate from Pudgala. † Colours are of five kinds, viz., Blue (Nila), Yellow (Pita), White (Sukla), Black (Krisna), and Red (Lohita). ‡ The verieties of taste are Bitter (Tikta), Sour (Katu), Acid (Amla), Sweet (Madhura) and Astringent (Kasaya).* Smells are of two kinds, fragrance (Surabhi) and its opposite (Asurabhi).|| The eight kinds of touch are Soft (Mridu), Hard (Kathina), Heavy (Guru), Light (Laughu), Cold (Sita), Hot (Usna), Smooth (Snigdha) and Rough (Ruksa).+

❀ "स्पर्शरसगंधवन्तः पुद्गलाः ।" Tattvarthadhigama Sutra V. 23.

† "वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसा हि ।
दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति ॥" [पञ्चास्तिकायससयसारः ॥५२॥

‡ "वर्णा पंचधा नीलपीतशुक्लकृष्णलोहितभेदात् ।"
[Tattavaratharajavarttika No. 10 on Sutra V. 23]

* "तिक्त कटुकाम्लमधुरकषाया रस प्रकाराः ।"
[Tattavaratharajavarttika No. 8 on Surta V. 23]

||"गंधः सुरभिरसुरभिश्च ।" Tattvaratharajavarttika No. 9 on Sutra V.23.]

+ "मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षस्पर्शभेदाः ।"
[Tattavaratharajavarttika No. 7 on Sutra V.23]

The commentator says that the auther in this verse establishes the formlessness of Jiva which is contrary to the views held by (Kumarila) Bhatta (and his followers) and Charvaka. ("इति भट्टचार्वाकमतं प्रत्यमूर्त्तजीवस्थापनमुख्यत्वेन सूत्रं गतम्") Charvaka recognises nothing but what is capable of being perceived by the senses, hence a formless Jiva is contrary to his doctrine.

यद्यपि यह आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक (टंकोत्कीर्ण टांकी से उकेरी हुई मूर्ति के समान अविचल) ज्ञाता स्वभाव से जीव यद्यपि कर्म आदि के कर्तापन से रहित है फिर भी व्यवहार आदि नय की अपेक्षा कर्ता होता है, ऐसा कहते हैं—

पुग्गल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छय दो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्ध भावाणं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(आदा) आत्मा (ववहार दो) उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा (पुग्गल कम्मादीणं कत्ता) ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का तथा आदि शब्द से औदारिक वैक्रियिक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि ६ पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल पिंड रूप नोकर्म हैं उनका तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से बाह्य विषय घट पट आदि का भी यह जीव कर्ता होता है। 'णिच्छय णयदो चेदण कम्मणादा' और निश्चय नय की अपेक्षा से यह आत्मा चेतना कर्मों का कर्त्ता है। (सुद्धणया) शुद्ध निश्चय नय से (सुद्धभावाणं) शुद्ध भावों का करने वाला है संसार बंधन को नष्ट करके आठ प्रकार के कर्मों को नष्ट करने वाला है।

इस प्रकार आत्मा का आराधन करना चाहिए।

इस गाथा में कर्ता के स्वरूप का वर्णन करेंगे।

विवेचन:—ग्रन्थकार ने इस भिन्न क्रम रूप व्यतीत सम्बन्ध से बीज के पद को ग्रहण करके व्याख्यान किया है। व्यवहार नय की अपेक्षा से पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है जैसे मन वचन तथा शरीर की क्रिया से रहित बीज रूप आत्म तत्त्व की जो भावना है उस भावना से शून्य होकर उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का तथा आदि शब्द से औदारिक वैक्रियिक और आहार रूप तीन शरीर का आहारादि छः पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्गल पिण्ड रूप नौ कर्म हैं उनका तथा उपचरित् असद्भूत व्यवहार नय से बाह्य विषय घटपट आदि का भी यह जीव

कर्त्ता होता है। परन्तु निश्चय नय की अपेक्षा से यह आत्मा चैतन्य कर्मोंका कर्त्ता है। वह इस तरह की रागादि विकल्प उपाधि से रहित निष्क्रिय परम चैतन्य भावना से रहित है। ऐसे जीव ने रागादि को उत्पन्न करने वाले कर्म का जो उपार्जन किया है उन कर्मों के उदय होने पर निष्क्रिया और निर्मल आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त होता हुआ यह जीव भाव कर्म शब्द से वाच्य जो रागादि विकल्प रूप चेतन कर्म है, उनका अशुद्ध निश्चय नय से कर्ता होता है। अशुद्ध निश्चय का अर्थ यह है कि कर्म उपाधि से उत्पन्न होने से अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय में होने से निश्चय कहा जाता है। इस रीति से अशुद्ध और निश्चय इन दोनों को मिला कर अशुद्ध निश्चय कहा जाता है। जब जीव शुभ, अशुभ, मन, वचन, काय इन तीनों योग के व्यापार से रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव से परिणमन करता है तब अनन्त ज्ञान सुख आदि सिद्ध भावों का छद्मस्त अवस्था में भावना रूप से विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नय से कर्ता होता है और मुक्त अवस्था में शुद्ध निश्चय नय से अनन्त-ज्ञानादि शुद्ध भावों का कर्ता है। किन्तु परिणमन करते हुए शुद्ध अशुद्ध भावों का कर्तव्य जीव में जानना चाहिये और हस्त आदि के ज्ञाता रूप परिणामों के कर्ता को पर न समझना चाहिये। क्योंकि नित्य निरंजन निष्क्रिय ऐसे अपने आत्म स्वरूपी आत्मा से रहित जीव में कर्म आदि का कर्ता कहा गया है। इसलिए उस शुद्ध आत्मा में ही भावना करनी चाहिये। अन्य मतावलम्बी सांख्य मत के अनुसार एकान्त से जीव कर्ता नहीं है। जीव अपने कर्म का कर्ता शुद्ध अशुद्ध भाव के अनुसार रागादि कर्म के बंध के कारण स्वयमेव अपने शुभ और अशुभ कर्म का कर्ता है परन्तु जीव या ईश्वर किसी जगत का कर्ता धर्ता नहीं है। इस मत का निराकरण करने के लिये इस गाथा में ग्रन्थकार ने वर्णन किया है।

इस प्रकार मोक्ष सुख प्राप्ति की इच्छा करने वाले भव्य जीव को तर्क वितर्क के साथ आत्म स्वरूप को अच्छी तरह जानकर सुख में या दुःख में यथाशक्ति आत्मा का नित्य ही रागद्वेष रहित चिन्तवन करना चाहिये। अर्थात् सुख सामग्री के मिलने पर राग नहीं करना चाहिये और अनिष्ट समागम में द्वेष नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये सब इष्ट अनिष्ट परमात्मा की कुछ भी हानि नहीं कर सकते। इसका सम्बन्ध केवल शरीर से रहता है ऐसा विचार करना चाहिये। फिर अकलंक देव ने कहा है कि:—

इत्याद्यनेकधर्मत्वं बन्धमोक्षौ तयोः फलम् ।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणैः स्वयमेव तु ॥९॥

इस प्रकार पहले कहे हुए क्रम के अनुसार यह आत्मा अनेक धर्मों को स्वयं धारण करता है और उनके धर्मों के फल स्वरूप बंध व मोक्ष रूप भी कारणाधीन स्वयं परिणमता है।

यह आत्मा राग-द्वेषादि कारणों से कर्म का बन्ध करके पराधीन व दुःखी भी अपने आप ही होता है और ज्ञान, ध्यान, जप, तप, आदि कारणों से बन्ध अवस्था को नष्ट करके मुक्ति को प्राप्त कर स्वाधीन भी स्वयं ही हो जाता है।

कर्ता यः कर्मणां भोक्ता तत्फलानां स एव तु।
वहिरन्तरुपायाभ्यां तेषां मुक्तत्वमेव हि ॥ १६ ॥

जो आत्मा बाह्य शत्रु आदि व अन्तरंग राग-द्वेष आदि कारणों से ज्ञानावरणादिक कर्मों का कर्ता व उसके सुख दुःखादि फलों का भोक्ता है, वही आत्मा बाह्य स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि का त्याग करने से कर्मों के कर्ता भोक्तापने के व्यवहार से मुक्त भी है। अर्थात् जो संसार दशा में कर्मों का कर्ता व भोक्ता है वही मुक्त दशा में कर्मों का कर्ता भोक्ता नहीं भी है।

नियमासार में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि:—

कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मजभावेणादि, कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥ १८ ॥

यह आत्मा पुद्गल कर्म का कर्त्ता और भोक्ता होता है सो व्यवहार नय से है। कर्म से उत्पन्न हुए जो भाव का कर्ता और भोक्ता है सो अशुद्ध निश्चय नय से है।

इस गाथा में कर्तापने का कथन है। निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से यह आत्मा द्रव्य कर्म जो ज्ञानावरणादि का कर्ता और उनके फल से सुख दुःख का भोक्ता है वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नय से सम्पूर्ण मोह राग द्वेष आदि भाव कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से नौ कर्म औदारिक शरीरादि का कर्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से आत्मा घट पट रथ गाड़ी आदि पदार्थों का कर्ता है। इस प्रकार अशुद्ध जीवका स्वरूप कहा। भावार्थ—आचार्य यह बतलाते हैं कि कोई एक अनादि शुद्ध बुद्ध ईश्वर कर्ता नहीं है, किन्तु यह संसारी अशुद्ध आत्मा ही नाना प्रकार की अवस्थाओं का बनानेवाला और अपने ही कर्तव्य के अनुसार सुख दुःख फलों का भोगने वाला है। शुद्ध निश्चय नय

से जो वस्तु के यथार्थ शुद्ध स्वभाव को बतलाने वाला है उसकी अपेक्षा यह आत्मा निज शुद्ध पारिणामिक भाव का ही कर्ता और भोक्ता है परन्तु अशुद्ध निश्चय नय से जो वस्तु के अशुद्ध भाव को बतलाने वाला है उसकी अपेक्षा यह आत्मा पूर्व बांधे कर्मों के परिणमन के निमित्त से पैदा होने वाले रागद्वेषादि औपाधिक भावों का कर्ता और भोक्ता है। अत्यन्त निकट अर्थात् जिसको मात्र कल्पना ही नहीं किया है किन्तु जो वास्तव में सम्बन्धित है तथा जो असद्भूत अर्थात् आत्मा की सत्ता में नहीं है, ऐसा जो व्यवहारनय के द्वारा देखा जाय तो वही आत्मा द्रव्य कर्मों का कर्ता और उनके बाह्य प्रकट होने वाले सुख दुःख का भोक्ता है। तथा दूरवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से यह आत्मा स्थूल शरीरका कर्ता है। तथा कल्पना मात्र से उपचरित और असद्भूत व्यवहार नय से यह आत्मा पर पदार्थ का अपने से अर्थात् अपने प्रदेशों से विल्कुल सम्बन्ध रहित घट पटादि का कर्ता है। यहाँ टीकाकार ने आत्मा अनुभव करके कहा है कि जो आत्मा रागद्वेष मोह में लिप्त हो रहा है वह यदि परम गुरु के चरणकमल की सेवा करे तो उसके प्रसाद से स्वाभाविक शुद्धात्मरूप जो विकल्प अर्थात् भेदरहित है उसकी पहचान करके मोक्ष रूपी स्त्री का वर हो जाता। क्योंकि भाव कर्म रागादि के रोकने से द्रव्य कर्म रुकते हैं और द्रव्यकर्मों के संवर से संसार निरोध है। यह मूढ़ जीव सम्यग्ज्ञान रूपी भाव से छूटा हुआ शुभ तथा अशुभ अनेक प्रकार के कर्मों को करता है। यदि यही जीव कर्म रहित मोक्ष मार्ग की थोड़ी भी इच्छा करके उसको जाने तो उसका कल्याण हो जाय; क्योंकि इस लोक में उसकी रक्षा का उपाय दूसरा नहीं है। जो जीव कर्म जनित सम्पूर्ण बाधारूप सुख को त्यागता है वही सम्यग्दृष्टी भव्य आत्मा कर्म रहित निराकुल आनन्दसमूह मोक्षरूपी अमृत के समुद्र में डूबे हुए अत्यन्त ही शुद्ध चैतन्यमय एक रूप अद्वितीय अपने आत्मिक भाव को प्राप्त करता है। मुझ में वास्तव में कोई विभाव नहीं है। इसलिये मुझे उसकी कोई चिन्ता नहीं है। मैं निरन्तर अपने हृदय कमल में विराजमान सर्व कर्म से रहित एक शुद्धआत्मा का ही अनुभव करता हूं, क्योंकि उसके विना अन्य किसी भी प्रकार से निश्चय करके इस जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसारी जीव में सांसारिक विभाव गुण होते हैं। परन्तु सिद्ध जीवके नित्य समस्त ही सिद्ध किये हुए निज उत्कृष्ट गुण रहते हैं। यह कथन भी व्यवहारनय से ही है। निश्चयनय से न तो सिद्ध ही है और न संसारी ही है। बुद्धिमानों का जैसा स्वभाव है वैसा ही है, उस आत्मा में विकल्प करना कि आत्मा संसारी है अथवा यह आत्मा सिद्ध है यह सब व्यवहार नय से है।

सांख्य मतों के कर्तावाद के समाधानः—

इस लोक अर्थात् जगत के कर्ता ईश्वर को तुम यदि नहीं मानते हो तो बिना कर्ता के जगत कैसे बना ?

समाधानः—लोक अनादि निधन है और इसका कोई कर्ता धर्ता नहीं है जीव अपने आप ही सुख दुःख का कर्ता है। अर्थात् कर्म का कर्ता है।

बिना कर्ता के लोक बना कैसे ? कोई भी कर्ता अवश्य होना चाहिए।

समाधान—जिसमें जीवादि पदार्थ अपनी २ पर्यायों सहित देखे जावें उसे लोक कहते हैं। तत्वों के जानकार आचार्यों ने लोक का यही स्वरूप बतलाया है जहां जीवादि द्रव्यों का विस्तार निवास हो उसे क्षेत्र कहते हैं। सार्थक नाम होने के कारण विद्वान् पुरुष लोक को ही क्षेत्र कहते हैं। जीवादि पदार्थों को अवगाह देने वाला यह लोक अकृत्रिम है, किसी का बनाया हुआ नहीं है, नित्य है, इसका कभी सर्वथा प्रलय नहीं होता, अपने आप ही बना हुआ है और अनन्त आकाशके ठीक मध्य भाग में स्थित है। कितने ही लोग कहते हैं कि इस लोक का बनाने वाला कोई न कोई अवश्य है। ऐसे २ लोगों का दुराग्रह दूर करने के लिए यहाँ सर्व प्रथम सृष्टिवाद की ही परीक्षा की जाती है। यदि यह मान लिया जाय कि इस लोक का कोई बनाने वाला है तो यह विचार करना चाहिये कि वह सृष्टि के पहले लोक की रचना करने के पूर्व सृष्टि के बाहर कहाँ रहता था ? किस जगह बैठ कर लोक की रचना करता था ? यदि यह कहो कि वह आधार रहित और नित्य है तो उसने इस सृष्टि को कैसे बनाया ? और बना कर कहाँ रक्खा ? दूसरी बात यह है कि आप ने उस ईश्वर को एक तथा शरीर रहित माना है इससे भी वह सृष्टि का रचयिता नहीं हो सकता क्योंकि एक ही ईश्वर अनेक रूप संसार की रचना करने में समर्थ कैसे हो सकता है ? तथा शरीर रहित अमूर्तिक ईश्वर से मूर्तिक वस्तुओं की रचना मूर्तिक पुरुषों द्वारा ही होती है जैसे कि मूर्तिक कुम्हार से मूर्तिक घट की ही रचना होती है। एक बात यह भी है—जब कि संसार के समस्त पदार्थ कारण सामग्री के बिना नहीं बनाये जा सकते तब ईश्वर उसके बिना ही लोक को कैसे बना सकेगा ? यदि यह कहो कि वह पहले कारण सामग्री को बना लेता है बाद में लोक को बनाता है तब यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। कारण सामग्री को बनाने के लिये भी कारण सामग्री की आवश्यकता होती है। यदि ईश्वर उस कारण सामग्री को भी पहले बनाता है तो उसे द्वितीय कारण सामग्री के योग्य तृतीय कारण सामग्री को उसके पहले

भी बनाना पड़ेगा और इस तरह उस परिपाटी का कभी अन्त नहीं होगा। यदि यह कहो कि वह कारण सामग्री स्वभाव से अपने आप ही बन जाती है, उसे ईश्वर ने नहीं बनाया है तो यह बात लोक में भी लागू हो सकती है। मानना चाहिये कि लोक भी स्वतः सिद्ध है उसे किसी ने नहीं बनाया। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी विचारणीय है कि उस ईश्वर को किसने बनाया? यदि उसको किसी ने बनाया है तब तो ऊपर लिखे अनुसार अनवस्था दोष आता है और यदि वह स्वतः सिद्ध है—उसे किसीने भी नहीं बनाया है तो रह लोक भी स्वतः सिद्ध हो सकता है—अपने आप बन सकता है। यदि यह कहो कि वह ईश्वर स्वतन्त्र है तथा सृष्टि बनाने में समर्थ है, इसलिए सामग्री के बिना ही इच्छा मात्र से लोक को बना लेता है तो आपकी यह इच्छा मात्र है। इस युक्ति शून्य कथन पर भला कौन बुद्धिमान मनुष्य विश्वास करेगा? एक बात यह भी विचार करने योग्य है कि यदि वह ईश्वर कृतकृत्य है—सर्व कार्य पूर्ण कर चुका है, उसे अब कोई कार्य करना बाकी नहीं रह गया है तो उसे सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही कैसे होगी? क्योंकि कृतकृत्य पुरुष को किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती। यदि यह कहो कि वह अकृतकृत्य है तो वह फिर लोक को बनाने के लिये समर्थ नहीं हो सकता। जिस प्रकार अकृतकृत्य कुम्हार लोक को नहीं बना सकता। एक बात यह भी है कि आपका माना हुआ ईश्वर अमूर्तिक है निष्क्रिय है, व्यापी है और विकार रहित है। सो ऐसा ईश्वर कभी भी लोक को नहीं बना सकता क्योंकि यह ऊपर लिख आये हैं कि अमूर्तिक ईश्वर से मूर्तिक पदार्थों की रचना नहीं हो सकती। किसी कार्य को करने के लिये हस्त पादादि के संचालन रूप कोई न कोई क्रिया अवश्य करनी पड़ती है परन्तु आपने तो ईश्वर को निष्क्रिय माना है इसलिए वह लोक को नहीं बना सकता। यदि सक्रिय मानो तो वह असंभव है क्योंकि क्रिया उसी के हो सकती है जिसके कि अधिष्ठान से कुछ क्षेत्र बाकी बचा हो परन्तु आपका ईश्वर तो सर्वत्र व्यापी है वह क्रिया किस प्रकार कर सकेगा? इसके सिवाय ईश्वर को सृष्टि रचने की इच्छा भी नहीं हो सकती क्योंकि आपने ईश्वर को निर्विकार माना है। जिसकी आत्मा में राग द्वेष आदि विकार नहीं है उसकी इच्छा का उत्पन्न होना असम्भव है। जब कि ईश्वर कृतकृत्य है तथा धर्म अर्थ काम मोक्ष में किसी की चाह नहीं रखता तब सृष्टि के बनाने में इसे क्या फल मिलेगा? इस बात का भी तो विचार करना चाहिए, क्योंकि बिना प्रयोजन केवल स्वभाव से ही यदि सृष्टि की रचना करता है तो उसकी वह रचना निरर्थक सिद्ध होती है। यदि यह कहो कि उसकी यह क्रीड़ा ही है क्रीड़ा मात्र से ही जगत को बनाता है तब तो दुःख के साथ कहना पड़ेगा कि आपका ईश्वर बड़ा मोही है, बड़ा अज्ञानी है, जो कि बालकों के समान निष्प्रयोजन

कार्य करता है। यदि यह कहो कि ईश्वर जीवों के शरीरादि उनके कर्मों के अनुसार ही बनाता है अर्थात् जो जैसा कर्म करता है उसके वैसे ही शरीरादि की रचना करता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार मानने से आपका ईश्वर ही नहीं ठहरता। उसका कारण यह है कि वह कर्मों की अपेक्षा करने से जुलाहे की तरह परतन्त्र हो जायगा और परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं रह सकेगा, क्योंकि जिस प्रकार जुलाहा सूत तथा अन्य उपकरणों के कारण परतन्त्र होता है तथा परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं कहलाता उसी प्रकार आप का ईश्वर भी कर्मों के परतन्त्र है तथा परतन्त्र होने से ईश्वर नहीं कहला सकता। ईश्वर तो सर्वत्र स्वतन्त्र हुआ करता है। यदि यह कहो कि जीव के कर्मों के अनुसार सुख दुःखादि कार्य अपने आप होते रहते हैं ईश्वर उनमें निमित्त माना ही जाता है तो भी आप का यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जब सुख दुःखादि कार्य कर्मों के अनुसार अपने आप सिद्ध हो जाते हैं तब खेद है कि आप व्यर्थ ही ईश्वर को पुष्ट करते हैं, कदाचित् यह कहा जावे कि ईश्वर बड़ा प्रेमी है, दयालु है, इस लिये वह जीवों का उपकार करने के लिये ही सृष्टि की रचना करता है तो फिर उसे इस समस्त सृष्टि के बहु भाग को दुखी क्यों बनाता है ? एक बात यह है कि सृष्टि के पहले जगत था या नहीं यदि था तो फिर स्वतः सिद्ध वस्तुके रचने में उसने व्यर्थ परिश्रम क्यों किया ? और यदि नहीं था तो उसकी रचना नहीं कर सकता। यदि सृष्टि का बनाने वाला ईश्वर मुक्त है, कर्म मल कलंक से रहित है तो वह उदासीन–रागद्वेष से रहित होने के कारण जगत की सृष्टि नहीं कर सकता और यदि संसारी है–कर्म मल कलंक सहित है तो वह हमारे तुम्हारे समान ही ईश्वर नहीं कहलायेगा तब सृष्टि किस प्रकार रचेगा ? इस तरह यह सृष्टि वाद किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता। जरा इस बात का भी विचार कीजिए कि वह ईश्वर लोक को बनाता है इसलिए लोक के समस्त जीव उसकी सन्तान के समान हुए फिर वही ईश्वर लोक को नष्ट करता है इसलिए लोक के समस्त जीव उसकी सन्तान के समान हुए फिर वही ईश्वर सबका संहार भी करता है इसलिए उसे अपनी सन्तान के नष्ट करने का भारी पाप लगता है। कदाचित् यह कहो कि दुष्ट जीवों का निग्रह करने के लिए ही वह संहार करता है तो उससे अच्छा तो यही है कि वह दुष्ट जीवों को उत्पन्न ही न करे यदि आप यह कहें कि जीवों के शरीरादि की उत्पत्ति किसी कारीगर से ही हो सकती है क्योंकि उनकी रचना एक विशेष प्रकार की है। जिस प्रकार किसी ग्राम आदि की रचना विशेष प्रकार की होती है अतः वह किसी बुद्धिमान् कारीगर का बनाया हुआ होता है उसी प्रकार जीवों के शरीरादिक की रचना भी विशेष प्रकार की

है अतः वे भी किसी बुद्धिमान कर्ता के बनाये हुए हैं और वह बुद्धिमान कर्ता ईश्वर ही है। परन्तु आप का यह हेतु ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने में समर्थ नहीं क्योंकि विशेष रचना आदि की उत्पत्ति अन्य प्रकार से भी हो सकती है। इस संसार में शरीर इन्द्रियां सुख दुःख आदि जितने भी अनेक प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं उन सब की उत्पत्ति चेतन–आत्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले कर्मरूपी विधाता के द्वारा ही होती है। इस लिए यह निर्विवाद है कि संसारी जीवों के अंगोपांग आदि में जो विचित्रता पाई जती है वह स निर्माण नामक कर्म रूपी विधाता की कुशलता से ही उत्पन्न होती है। इन कर्मों की विचित्रता से अनेक सौन्दर्य को प्राप्त हुआ यह लोक ही इस बात को सिद्ध कर देता है कि शरीर इन्द्रिय आदि अनेक रूप धारी संसार का कर्ता संसारी जीवों की आत्मायें ही हैं और कर्म उनके सहायक हैं। अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्म के उदय से प्रेरित होकर शरीर आदि संसार की सृष्टि करते हैं। विधि, सृष्टा, विधाता, देव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्म रूपी ईश्वर के पर्याय वाचक शब्द हैं इन के सिवाय और कोई लोक का बनाने वाला नहीं है। जब कि ईश्वर वादी पुरुष आकाश काल आदि की सृष्टि ईश्वर के बिना ही मानते हैं तब उन का यह कहना कहाँ रहा कि संसार की सब भी वस्तुएँ ईश्वर के द्वारा ही बनाई गई हैं? इस प्रकार प्रतिज्ञा भंग होने के कारण शिष्ट पुरुषों को चाहिये कि वे ऐसे सृष्टिवादी का निग्रह करें जो कि व्यर्थ ही मिथ्यात्व के उदय से अपने दूषित मत का अहंकार करता है। इस लिए मानना चाहिए कि यह लोक काल द्रव्य की भांति ही अकृत्रिम है, अनादि निधन है। आदि अन्त से रहित है और जीव अजीव आदि तत्वों का आधार हो कर हमेशा प्रकाशमान रहता है। न इसे कोई बना सकता है। और न इसका कोई नाश कर सकता है। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक इसके तीनभेद हैं।

इस बात से यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है। और ईश्वर जीवों को कर्म का फल देता है। ईश्वर निराकार कर्म रहित व सम्पूर्ण जगत और कर्म से रहित है नित्य निरन्जन अविनाशी अमूर्तिक ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है। और व्यवहार नय से कर्म का कर्ता भोक्ता उसी के अनुसार कर्म चेतना कर्मफल चेतना इत्यादि का भोगने वाला है। इस प्रकार कर्ता का अधिकार पूर्ण हुआ।

Pudgalakarmmadinam kartta vyavaharatah tu nischayath
Chetanakarmmanam atma suddhanayat suddha-bhavanaṁ.—(8).

Padapatha.—ववहारदो Vavaharado, according to Vyavahara Naya. आदा Ada, Jiva. पुग्गलकम्मादीणं Puggalakammadinam, of the Pudgala Karmas. कत्ता Katta, doer. दु Du, but. णिच्चयदो Nichchaya-do, according to Nischaya Naya. चेदणकम्माण Chedanakammana, of the thought karmas. सुद्धणया Suddhanaya, according to Suddha Naya. सुद्धभावाणं Suddhabhavanam, of the Suddha Bhavas.

8. According to Vyavahara Naya, Jiva is the doer of the Pudgala Karmas. According to Nischaya Naya, (Jiva is the doer of) Thought Karmas. According to Suddha Naya, (Jiva is the doer) of Suddha Bhavas.

COMMENTARY

In this verse the Jaina doctrine of causation as to the orgin of the world is briefly treated. Causes are generally accepted to be of two kinds. Upadana (Substantial Cause) and Nimitta (Determining Cause). Take the case of an earthen pot. The Upadana or the Substantial Cause of the earthen pot is the earth, and its Nimitta or Determining Cause is the potter and his implements. First of all, the potter forms an idea of the shape, size, etc., of the pot which he is going to make. This existence of the pot in the idea may be called the resultant in consciousness of the potter. Then follows the existence of the pot which we can perceive by our senses. According to Jaina Metaphysics, Jivas are only possessed of infinite knowledge, etc., and are not agents. But causation is attributed to Jivas from different points of view. First, Jivas are said to be agents of their own resultants, viz., infinite knowledge, bliss, etc. This is according to Suddha (Pure) Naya. Again, according to Nischaya Naya, Jivas are said to be causes of the thought karmas which precede the Pudgala-karmas preceptible by us. According to Vyavahara Naya, Jivas are also recognised as agents of even these Pudgala-karmas.

Karmas are generally understood to be of two sorts—Dravyakarmas and Bhava-karmas. To return to our example of the making of a pot, the existence of a pot in the mind of a potter

may be said to be a Bhava-karma, while the material existence of the pot perceptible by our senses is known to be a Dravya-karma. Now, the potter is directly the cause of the Bhava-karma, and that Bhava-karma again is the cause of the Dravya-karma. It should, therefore, be remembered that, according to Nischaya Naya, the potter is the agent of the Bhava-karma (the pot existing in idea). accroding to Vyavahara Naya, that of the Dravya-karma (the pot perceptible by us).

Similarly, in the case of Jivas, they are really possessed of the characteristics, viz., infinite kowledge, bliss, etc. Jivas, therefore may be said to be the agents of these characteristics according to Suddha Naya. Next, we may say that the Jivas are agents of those mental attitudes and conditions which favour the influx of particles of matter. Attachment, aversion, etc., may be mentioned as examples of such states of Jivas. These are the thought karmas. According to Nischaya Naya, Jivas are said to be the agents of these classes of karmas. When the Jivas cause such thought karmas to be produced, these thought karmas, on the other hand, lead to the generation of the material karmas or Dravya-karmas. The Jivas are not, therefore, the direct causes of Dravya-karmas. It is according to Vyavahara Naya only that we can speak of Jivas as agents of Dravyakarmas. The very essence of Dravyakarmas consists of particles of matter, and these are in no way akin to consciousness—the characteristic of Jivas. The Upadana or substantial cause of a Dravya-karma is therefore Pudgala or matter, and their Nimitta or determining cause is the Bhavakarma, viz., that condition of the Atma which render it capable of assimilating the particular Dravya-karma. Thus a Jiva is neither the Upadana nor the Nimitta cause of Dravyakarmas, according to Nischaya Naya. It is only from the Vyavahara point of view that we say that the Jivas are causes of Dravyakarmas. But, in reality, (according to Nischaya Naya), Jiva is only the agent of its own attitudes (Bhavas). In Panchastikaya-samayasara, we have: "Atma is the agent of its own Bhavas, as it causes its own

resultants. But it is not the agent of Pudgala-karmas. This should be undersood to be the precept of the Jina." ❀

The universe is therefore made up of Jivas and Ajivas. Pudgala or matter is the substantial cause of every material thing, while different Bhava or thought karmas are the detemining cause of these. Jivas cause these thought karmas to be produced. Thus two sorts of substances, material and spiritual, may be regarded to be the cause of all kinds of manifestations. There are may units of this spiritual substance possessed of qualities which are known as Jivas, and there are also many units of material substance (Pudgala), which again have their own characteristic qualities. These two kinds of substances act and re-act upon each other, and aconstant state of activity is going on in this universe.

The Jaina doctrine of the causation of the world should therefore be remembered as quite distinct from the same of Hindu philosophies, like Vedanta, which asserts that the whole of the universe is one homogeneous spiritual Brahma, or, like Charvaka, which avers that the universe is made up of matter only.

The commentator, Brahmadeva says that this verse refutes the doctrine of the Sankhya philosophy that Purusa (corresponding to Jiva of the Jainas) is always Udasina (lit. indifferent, i. e., without activity), for here it is recognised that Jiva is an agent. †

अब यद्यपि आत्मा शुद्धनय से विकार रहित परम आनन्द रूप लक्षण का धारक सुख रूपी अमृत को भोगने वाला है, तो भी अशुद्ध नय से संसार में उत्पन्न हुए जो सुख दुःख हैं उनका भोगने वाला है ऐसा कहते हैं—

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गल कम्मफलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छय णयदो चेदण भावं खु आदस्स ॥९॥

❀ "कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥ [Verse 61]

† "एवं सांख्यमतं प्रत्येकान्ताकर्तृत्वनिराकरण-मुख्यत्वेन गाथा गता ।"
[Brahmadeva's Commentary on verse 8, Dravya-samgraha.]

अन्वयार्थ—(ववहारा सुहदुक्खं पुग्गल कम्मफलं पभुंजेदि) व्यवहार नय की अपेक्षा से पुद्गल कर्मों के फल सुख दुःख को भोगता है और निश्चय नय से आत्मा चैतन्य भाव ज्ञान दर्शन का भोगने वाला है। यह चेतन भाव आत्मा का अपना ही है। जिस प्रकार अपने शुद्ध आत्म-अनुभव से उत्पन्न पारमार्थिक सुखरूप अमृतमय भोजन पाता हुआ आत्मा उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे इष्ट अनिष्ट पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख तथा दुःख का भोगता है उसी तरह असद्भूत व्यवहार नय से अंतरंग सुख तथा दुःख को उत्पन्न करने वाले द्रव्यकर्म साता असाता के उदय को भोगते हैं तथा अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा हर्ष व विषाद रूप दुःख को भोगता है; पर शुद्ध नय से तो परमात्मा स्वभाव के सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से उत्पन्न अविनाशी आनन्द रूप लक्षण का जो धारक सुखामृत है उसे भोगता है।

यहाँ पर जिस स्वाभाविक सुखामृत भोजन के अभाव से आत्मा इन्द्रियों के सुखों को भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है इसलिये ज्ञानी जीव के लिये वही अतीन्द्रिय सुख सब प्रकार से ग्रहण करने योग्य है ऐसा अभिप्राय है। अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय से पुद्गल कर्मों के फल को आत्मा भोगता है व अनुभव करता है। अशुद्ध निश्चय नय से रागद्वेषादि भावों को भोगता है और शुद्धनिश्चय से यथाख्यात मोहादि भावों से रहित स्व स्वभाव में रमण करने वाले अत्यन्त पवित्र स्वभाव वाले भेद विज्ञान संपन्न आसन्न भव की दृष्टि से यहाँ वर्णन किया है। (णिच्छयणयदो) निश्चय नय से आत्मा इस प्रकार के भावों को भोगता है। सुखानुभूति अखंड अविनाशी भेदविज्ञान संयुक्त अपने आत्मामें जिन्होंने रुचि प्राप्त कर ली है उसे स्वभाव कहते हैं और पंच इन्द्रियों में आसक्त भोग विषयों में लीन हुआ संसार में भ्रमण करता है। वही अतीन्द्रियसुख सब प्रकार से ग्रहण करने योग्य है, यह अभिप्राय है।

विवेचन—इस गाथा में ग्रन्थकार ने कहा है कि व्यवहार नय से आत्मा सुख दुःख रूप पुद्गल कर्म का भोगता है।

ऊपर की गाथा में हमने कर्ता भोक्ता का वर्णन किया था। आत्मा के साथ अनादि काल से कर्म रूप बीज अंकुर के समान परम्परा से चले आ रहे हैं। इस कारण यह आत्मा अपने निज शुद्ध स्वरूप से गिर कर अशुद्ध पर पर्यायों में रमण करता हुआ अपने शुभाशुभ कर्मों के द्वारा उपार्जन किये हुए कर्म फल का भोक्ता स्वयंमेव होने के कारण ऊँच नीच गतियों को धारण करता हुआ हमेशा कुम्हार के चक्र के समान चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है। पूर्वोपार्जित कर्मों के अनु ार कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच,

कभी पशु, कभी देव इस तरह अनादि काल से अनेक पर्यायों का धारण करने वाला होने के कारण यह आत्मा शुभाशुभ कर्मों का भोगने वाला हो गया है। इस लिये द्रव्य कर्म में मूर्तिक पना है परन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा यह आत्मा अमूर्तिक अखंड अनन्त रस रूपी समुद्र से अपने आप में भरा हुआ है और अपने से आप ही अपने रस को उत्पन्न कराकर आप ही पीकर हमेशा संतुष्ट रहने वाला है। अज्ञान से पुद्गल का संसर्ग करने के कारण मूर्तिक को प्राप्त होकर पुद्गल द्रव्य का कर्ता कहलाता है। पंचाध्यायी में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि—

जम्हा कम्मफलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥१४०॥

जो जीव विषयों से रहित परमात्मा की भावना से पैदा होने वाले सुखमयी अमृत के स्वाद से गिरा हुआ है, वह जीव उदय में आकर प्राप्त हुए कर्मों का फल भोक्ता है। वह कर्म फल मूर्तिक पंच इन्द्रियों के विषय रूप है तथा हर्ष विषाद रूप सुख दुःखमयी है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से अमूर्तिक है तथापि अशुद्ध निश्चय नय से परमार्थ रूप व अमूर्तिक परम आल्हादमयी लक्षणधारी निश्चय के विपरीत होने के कारण से यह विषयों का सुख दुःख हर्ष विषाद रूप मूर्तिक है, क्यों कि निश्चय पूर्वक स्पर्शादि पांच इन्द्रियों से रहित मूर्तिक शुद्ध आत्म तत्व से विपरीत जो स्पर्शनादि मूर्तिक इन्द्रियां हैं, उनके द्वारा ही भोगा जाता है। अतएव जिनका यह सुख दुःख कार्य है वे भी मूर्तिक हैं क्योंकि कारण के सदृश ही कार्य होता है। मूर्तिक कार्य रूप अनुमान से उनका कारण भी मूर्तिक जाना जाता है। पांचों इन्द्रियों के स्पर्शादि विषय मूर्तिक हैं तथा वे मूर्तिक इन्द्रियों से भोगे जाते हैं। उन से सुख दुःख होता है वह भी स्वयं मूर्तिक है। इस तरह कर्म को मूर्तिक सिद्ध किया गया, यह सूत्र का अर्थ है।

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने कर्म बंध को मूर्तिक या पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल द्रव्य का कार्य सिद्ध किया है। यद्यपि कार्माण वर्गणा अनन्त पुद्गल परमाणुओं का स्कंध है तथापि वह इतना सूक्ष्म है कि हम किसी भी इन्द्रिय से उसे मालूम नहीं कर सकते। जो वस्तु इन्द्रियगोचर नहीं होती है उसका अनुमान उसके कार्य को देखकर किया जाता है क्योंकि साध्य का साधन यह है "कार्यात् कारणानुमानं" यानी कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। कारण को जानने के लिये अनेक दृष्टांत प्रत्यक्ष में मिल सकते हैं, उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं। (१) आत्मा को हम किसी भी

इन्द्रिय से नहीं देख सकते हैं परन्तु उसके ज्ञानमयी कार्य को देखकर ही यह निश्चय करते हैं कि इस शरीर में जीव है या इस शरीर में जीव नहीं है। (२) मानव का मुख देखकर उसके परिणामों का पता लगा लेते हैं—उदास मुख शोकित या उदासीन मन का चिह्न है, रक्त चक्षु सहित विकारी मुख बताता है कि यह प्राणी क्रोधी हो रहा है और (३) स्त्री का शरीर बता देता है कि यह गर्भस्था है। (४) हर एक मानव के अनन्त माता पिता हो चुके हैं यह ज्ञान भी अनुमान से होता है, हम ने अनन्त को देखा नहीं है। (५) स्कंधों को देख कर उनके कारण रूप परमाणुओं की सत्ता का ज्ञान होता है। (६) समय, पल, घड़ी इस व्यवहार काल रूप कार्य से निश्चय कालाणु रूप द्रव्य काल का अनुमान होता है। (७) बालू पर घोड़े के व सिंह के पग के चिह्न को देखकर यह निश्चय किया जाता है कि यहाँ से घोड़ा या सिंह अवश्य गया है। (८) नदी के मध्य में उठी हुई भूमि को देखकर यह निश्चय करते हैं कि यहाँ बहती हुई नदी ने मिट्टी जमा की है इत्यादि कार्यों से कारण का ज्ञान निश्चय रूप से होता है उसी तरह कर्मों के फल को देखकर कर्म मूर्तिक है "ऐसा अनुमान" करना योग्य है। घातिया कर्मोंका फल ज्ञान दर्शन व वीर्य को घात करना तथा मोह उत्पन्न करना है। जैसे सूर्य पर बादल आ जाने से व एक मूर्तिक के ऊपर परदा पड़ जाने से हम सूर्य या मूर्ति को स्पष्ट नहीं देख सकते उसी तरह ज्ञानावरण व दर्शनावरण के उदय से हम पूर्ण दर्शन ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। जितना उनका क्षयोपशम या घटाव है उतना ही देख जान सकते हैं। शरीरमें शक्ति न होने पर भी किसी चोर को या सिंहादि पशुओं को देखकर कायरता आ जाती है, वीर्य निर्बल हो जाता है उसी तरह अन्तराय कर्म आत्म बल को घटाता है। जैसे भांग, चरस, शराब आदि नशों के पीने से ज्ञान बिगड़ जाता है इसी तरह मोहके उदय होने से ज्ञान विपरीत काम करता है। यदि मोहनीय कर्म का भेद क्रोधकषाय मूर्तिक न होता तो उसके उदय से शरीर पर उसका फल न दीखता। मुख की चेष्टा बिगड़ जाना, लाल आँख हो जाना, शरीर का कांपना ये सब क्रोध के उदय के चिह्न हैं। जैसे ज्वराविष्ट परमाणुओं का अनुमान मुख को देखकर वैद्य कर लेता है वैसे ही तत्वज्ञानी मुख की चेष्टा देखकर यह अनुमान कर लेते हैं कि इस की आत्मा में क्रोध, भय, काम, भाव या अभिमान आदि हैं—अघातिया कर्मों के फल प्रत्यक्ष प्रगट हैं। शरीर की रचना उच्च व नीच परमाणुओं से होना नाम व गोत्र कर्म के कार्य हैं। साताकारी व असाताकारी सामग्री जैसे सुन्दर मकान, पर्याप्त धन, भोजन, वस्त्र, स्त्री, पुत्र, सेवक व दुःखदाई स्थान, अल्प भोजन, फटे वस्त्र, कलहकारिणी स्त्री, आज्ञा उल्लंघन करने वाले पुत्र व सेवक आदि वेदनीय कर्म के कार्य हैं। आयु कर्म का कार्य किसी शरीर में बना रहता है। इन सब पुण्य व पाप रूप बाहरी कार्यों को सब

जीवों में विचित्र प्रकार का देखकर यही अनुमान होता है कि ये पुण्य पाप कर्म के उदय के कार्य हैं क्योंकि ये कार्य अमूर्तिक हैं इसलिए इनका कारण भी अमूर्तिक है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

सातावेदनीय कर्म के उदय से ही भोगने योग्य पांचों इन्द्रियों के इष्ट विषय के पदार्थ मिलते हैं। ये पदार्थ मूर्तिक हैं इस से इनका कारण कर्म मूर्तिक है। ये विषय मूर्तिक स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इंद्रिय से भोगे जाते हैं जो कि मूर्तिक हैं। इसलिए इन का कारण कर्म मूर्तिक है। दुःख के विदित होने पर शरीर में निर्बलता व मुख पर उदासी प्रगट दिखती है क्योंकि ये कार्य मूर्तिक हैं इसलिए इनका कारण इष्ट व अनिष्ट विषयों में राग व द्वेष करना मोहनीय कर्म का प्रभाव है। अतएव मोहनीय कर्म पौद्गलिक हैं। गाथा का यही आशय है। अमूर्तिक से अमूर्तिक के अन्तरंग विशेष गुणों को बाधा नही पहुंच सकती है—यह मूर्तिक पौद्गलिक ही बाधा कारी है—अशुद्ध आत्मा अनादि काल से अमूर्तिक होकर भी मूर्तिक के समान हो रहा है। क्योंकि कोई भी आत्मा का प्रदेश कर्म बंध रहित शुद्ध नहीं है। इसलिए इस मूर्तिक आत्मा पर मूर्तिक कर्मों का प्रभाव पड़ता है। सिद्ध भगवान् साक्षात् अमूर्तिक हैं, उनके पास अनन्त कर्म वर्गणाएँ बंधी हुई मौजूद हैं तथापि वे उनके अनन्त ज्ञानादि स्वभावों में कुछ भी अन्तर नहीं डाल सकतीं। पुद्गलों में बड़ी शक्ति होती है-बिजली जातिके ही द्वारा शक्तिमान् होती है। तैजस वर्गणा से अनन्त गुणी शक्ति कार्माण वर्गणा में है इसीलिए कर्म के उदय में बड़ी भारी शक्ति है। सातावेदनीय पुण्य कर्म के आकर्षण से बहुत दूरकी इष्ट वस्तु सामने आ जाती है। एक मुनि बिना किसी को कहे हुए अटपटी प्रतिज्ञा मन में धारण कर भिक्षा के लिए जाते हैं। उनके सातावेदनीय पुण्य कर्म के बल से किसी भी ग्रहस्थ के दिल में उसी के अनुमान कार्य करने की भावना पैदा हो जाती है अथवा किसी गृहस्थ के तीव्र पुण्य के उदय से जो व्यवस्था गृहस्थ ने की है तथा "मुनि को दान करूंगा।" यह भाव किया है उसी के अनुकूल प्रतिज्ञा करने का भाव मुनि महाराज के मन में पैदा हो जाता है। जैसे—दंडक वन में राम, लक्ष्मण, सीता ने मिट्टी के बर्तनों में रसोई बनाई थी और दानके भाव किये थे। तदनुकूल दो मुनि जो उसी बन में आए थे उन्होंने भिक्षार्थ आते हुए मन में यह प्रतिज्ञा की थी कि यदि कोई राजपुत्र मिट्टी के बर्तनों में रसोई बनावेगा तभी आज हम भोजन करेंगे, अन्यथा नहीं। मुनि महाराज इसी प्रतिज्ञा को मन में धारण कर भिक्षार्थ निकाले बस मुनि को भोजन का लाभ व दातार को पात्रदान का लाभ हो जाता है। इस तरह विचारवान प्राणी को निश्चय हो जायगा कि कर्म मूर्तिक पुद्गलकृत नहीं होते तो उनके मूर्तिक कार्य न होते इसलिए कर्मों को मूर्तिक निश्चय करना योग्य है। वास्तव में पुद्गल कर्म

ही इस जीव का घात कर रहा है व भवसागर में भ्रमण करा रहा है जैसा श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसार कलश में कहा है:—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये, वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादि पुद्गलविकारविरुद्ध शुद्ध-चैतन्यधातुमयमूर्त्तिरयं च जीवः ॥१२-२॥

इस जीव के अनादि काल से होने वाले अज्ञानमयी नाट्य में वर्णादि मयी पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नहीं। अर्थात् उसी की संगति से यह जीव भ्रमण कर रहा है, रागी द्वेषी हो रहा है व शरीर आदि की प्राप्ति कर रहा है, क्योंकि निश्चय से यह जीव तो रागद्वेषादि पुद्गल के विकारों से विरुद्ध है, वीतरागी तथा शुद्ध है और चेतनामयी अमूर्तिक धातु के एक आकाश के समान मूर्तिक है।

इस प्रकार जीव कर्म फल को नहीं भोक्ता है ऐसा कहने वाले बौद्ध नैयायिकादि का निरूपण करते हैं:—

नैयायिक कहते हैं कि अमूर्तिक जीव के साथ मूर्तिक पुद्गल द्रव्य का कैसे सम्बन्ध हुआ ?

इसका समाधान—विकार रहित शुद्ध आत्मा के अनुभव को न पाकर इस जीव ने जो अनादि संतान द्वारा कर्म बांध रक्खे हैं जो मूर्तिक कर्म जीव की सत्ता में तिष्ठ रहे हैं, वे ही कर्म स्वयं स्पर्शादिवान होने के कारण मूर्तिक होते हुए नवीन आए हुए मूर्तिक स्पर्शादिवान कर्मों का संयोग रूप से स्पर्श करते हैं इतना ही नहीं वे ही मूर्तिक कर्म अमूर्तिक व अतीन्द्रिय निर्मल आत्मानुभव से विपरीत जीव के मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि परिणाम का निमित्त पाकर आए हुए नवीन मूर्तिक कर्मों के साथ अपने ही स्निग्ध रूक्ष परिणति के उपादान कारण से एकमेक होने रूप बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह मूर्तिक कर्मों के परस्पर बंध की विधि बताई। अब इस मूर्तिक जीव का मूर्तिक कर्मों के साथ बन्ध किया है उसे कहते हैं। शुद्ध निश्चय से यह जीव अमूर्तिक है तथापि व्यवहार नय से अनादि कर्म बंध से विकार रहित व सदा आनन्दमयी एक लक्षणधारी सुखरस के स्वाद से विपरीत जो मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादि परिणाम है उनके भावों से परिणमन करता हुआ यही कर्म बन्ध सहित मूर्तिक जीव उन कर्म वर्गणायोग्य पुद्गलों को अपने प्रदेशों में अवकाश देता है। इसका अर्थ यह है कि उनको बांधता है अर्थात् यह जीव ही अपनी निर्मल आत्मानुभूति से विपरीत रागादि परिणाम द्वारा कर्म भाव में परिणत हुए कर्म-

वर्गणा योग्य पुद्गल की वर्गणाओं से अवगाह पाता है। अर्थात् उनसे बंध जाता है। यहाँ यह भाव है कि निश्चय से अमूर्तिक है तथापि व्यवहार से मूर्तिक है। इसी से जीव में कर्म बंध सम्भव है।

अब नैयायिक मीमांसक तथा सांख्य मतके अनुयायी जिस तरह आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक मानते हैं वैसा नहीं है, ऐसा उनका समाधान करने के लिये आगे की दशवीं गाथा को कहते हैं।

Vyavaharat sukhadukham pudgalakarmaphalam prabhunkte.
Atma nischayanayatah chetanabhavam khalu atmanah.—[9].

Padapatha.—आदा Ada, Jiva. ववहारा Vavahara, according to Vyavahara Naya. सुहदुक्खं Suhadukkham, happiness and misery. पुग्गलकम्मफलं Puggalakammaphalam, the fruits of Pudgala karma. पभुंजेदि Paphufijedi, enjoys. णिच्चयणयदो Nichchyanayado, according to Nischaya Naya. आदस्स Adassa, of Jiva. चेदणभावं Chedanabhavam, conscious Bhava. खु Khu, only.

9. According to Vyavahara Naya, Jiva enjoys happiness and misery, the fruits of Pudgala karmas. According to Nischaya Naya, Jiva has conscious Bhavas only.

COMMENTARY

It has already been laid down that Atma (or soul) is entirely distinct in its characteristics from Pudgala (or matter). The essence of Jiva or Atma is consciousness which is altogether absent from Pudgala or matter. Hence, as in the previous verse it has been laid down that a spiritual substance (Jiva) cannot be the cause of Pudgala-karmas (i. e., material karmas), so in this verse it is shown that Jivas from their very nature are unaffected by the fruits of Pudgala-karmas. Really speaking, Jivas only enjoy eternal bliss which is their essential characteristic. Therefore, according to Nischaya Naya, a Jiva should only be regarded as an enjoyer of bliss resulting from its characteristic of consciousness. But through the generation of attachment, aversion, etc., Jivas attain

such a condition that they become ready for the assimilation of matter. It is only in such states of Jivas that there is influx of matter in them. When there is such an influx of matter, the Jivas have to enjoy sorrow and delight, happiness and misery, as these are the fruits of Pudgala-karmas. Thus, really, a Jiva, through its characteristic consciousness is incapable of being affected by happiness or misery—the fruits of material karmas. It is only when matter assimilates itself with a Jiva that we see the fruits of material karmas also in that Jiva and say that this Jiva is enjoying happiness or misery the fruits of material karmas. But it should be remembered that this enjoyment of the fruits of karma by a Jiva is only apparent, but not real. Really speaking, Jivas enjoy bliss only, which is the resultant of its characteristic consciousness.

The commentator says that this verse refutes the doctrine of the Buddistic philosophy that an agent does never enjoy the fruits of karma.*

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्चयणय दोअसंखदेसो वा ॥१०॥

अन्वयार्थः—(अणुगुरुदेहपमाणो) निश्चय नय से अपने देह से भिन्न तथा केवलज्ञान आदि अनंत गुणों की राशि से अभिन्न, ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अभाव से तथा देह की ममता के मूल कारण आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप संज्ञा आदि समस्त राग आदि विभावों में आसक्ति के होने से जीव ने जो शरीर नाम कर्म उपार्जन किया, उसके उदय होने पर अपने छोटे तथा बड़े देह के बराबर होता है । (उपसंहारप्प सप्पदो) संकोच तथा विस्तार स्वभाव से आत्मा (असमुहदो) सात प्रकार के समुद्घात वाला, (ववहारा) अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नय से जघन्य से लेकर नित्य निगोद सूक्ष्म लब्ध पर्याप्तक सूक्ष्म देह प्रमाण वाला उत्कृष्ट से एक हजार योजन प्रमाण युक्त महामत्स के स्थूल देह के प्रमाण वाला (चेदा) आत्मा (णिच्चयणयदो) कर्म उपाधि से

* "एवं कर्त्ता कर्मफलं न भुंक्त इति बौद्धमतनिषेधार्थं भोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण सूत्रंगतम् ।"
[Brahmadeva's Commentary on verse 9; Dravya-samgraha.]

निरपेक्ष शुद्ध निश्चय नय से (असंखदेसो) अविनाशी पुद्गल परमाणु प्रमित संख्यात प्रदेश वाला (वा) शब्द से सर्व पदार्थ परिच्छित रूप केवलज्ञान प्रमाणमय है।

तीव्राक्षिरोग शिरोरोगशूले मोदलादि वरिं।
तीव्र व्यथे गळेक्किदागळु शरीरादियोरकेगेकप्रदेशदिंतोट्टु शरीर
तीव्र गुणबाह्याभ्यंतरम् कार्माण शरीर वेरसु।
जीव प्रदेशं पोरं पोण्मुवुदु वेदना समुद्घातं ॥१॥

तीव्र चक्षुरोग, शिर के रोग शूल इत्यादि अत्यन्त वेदना के द्वारा होने वाले रोग से बाह्याभ्यंतर निमित्त से कार्मणशरीर में एक क्षेत्रावगाह से उत्पन्न होकर शरीर में वेदना उत्पन्न करने वाले को वेदना समुद्घात कहते हैं।

तीव्रक्रोधादि गळदेडे पूर्वोक्त क्रमदिं जीव प्रदेशं,
पोर पोण्मुवुदु कषायसमुद्घातं ॥ २ ॥

तीव्र कोधादि कषायों के द्वारा पहले के समान जीव प्रदेशों में से जो परिस्पंद उत्पन्न होता है उसे कषाय समुद्घात कहते हैं।

देवर्कलंतकंतुनारकरुं भोगभूमिजरुसकलचक्रवर्तिगळबेल्लि-
माणु विलियरद्धिं प्राप्तमतिगळुं तम्ममनक्के बंदंते पलतेरद-
देहं गळं विगुर्विसुवल्लिखंडिसिवेरागदेमूलशरीर दोळेनुं कुंददे
पोण्मे वेक्रिक शरीरंगळोळेल्लं जीव प्रदेशव्यापिसुवुदुं वेक्रियिक समुद्घातं ॥३॥

देव, नारकीय, भोग भूमिज मनुष्य चक्रवर्ती तथा ऋद्धिधारी मुनि अपनी इच्छानुसार किसी प्रकार की विक्रिया अर्थात् छोटे-बड़े या अन्य शरीर उत्पन्न करने के लिये मूल शरीर को न त्याग कर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर गमन करना है उसको विक्रय समुद्घात कहते हैं।

एल्लियानुं जीवक्के पूर्वोपाजितायुष्यस्थितयंतरमुहूर्तमुळिदुदवांगळुं।
शरीरादिं पोर पोण्मि एक प्रदेशदिं तोट्टु मुंदण गतियस्था-
न पर्यंत जीव प्रदेश निमिर्व्वुदु मरणान्तिक समुद्घातं ॥४॥

मरण के समय में मूल शरीर को न त्याग कर जहाँ इस एक आत्मा ने आगामी आयु बांधी है उसको छूने के लिये जो आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना है उसे मरणान्तिक असुद्घात कहते हैं।

एल्ला संसारी जीवंगळिगे दारुणदपुव्विन वण्णमागि युंडाहार मनिक्कि-सुवुदु तेजशरीरमेंबुदाहार विल्लदेडे देहादि गळुसुडवु ददुवेबसुर किच्चेबुदु अपे-ल्लियानु । तेजो लब्धि प्राप्त रप्पमहातेजो धनगें बहिरंतरंगनिमित्तं वडदु शुभाशुभपरिमंगळादेडे । यथा क्रमदिं दक्षिण भुजदिं पोर मोट्टु प्राणिगळ्गे पीडानिमित्तमुमागिदजीव प्रदेशं । वेरसु नाल्वत्तेण्गावुद नीळ सूवत्तारु गावुद गळमुमागि निमिर्व्वदु तेजस्समुद्घातं ।।५।।

अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर क्रोधित संयम के निधान महा मुनि के बायें कन्धे से सिन्दूर के ढेर के समान कान्तिमान् बारह योजन लम्बे सूच्यंगुल के संख्यात भाग प्रमाण मूल विस्तार और नौ योजना के अग्र विस्तार वाला विलाव के आकार का धारक पुरुष निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर मुनि जिस पर क्रोधी हों उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे ।

प्रमत्तरप्पदिव्य तपस्विगळेल्लियानुं परमागमद सूक्ष्मपदार्थं गळे नानुं संदेह मादेडेयवर गुणातिशय सामर्थदि । दवळप्रतिमाकारमुमेक हस्त प्रमाण-मुमप्पाहार शरीर जीव प्रदेशं बेरसुमांगदिं पोरमट्टु सर्वज्ञादिगळिर्द्द क्षेत्र पर्यंत सलुवुदाहारक समुद्घातं ।।६।।

पद और पदार्थ में जिसे कुछ शंका उत्पन्न हुई हो उस परम ऋद्धि के धारक महर्षि के मस्तक में से मूल शरीर को न छोड़कर निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकल कर अन्तर्मुहूर्त्त में जहाँ कहीं भी केवली को देखता है, तब उन केवली के दर्शन से अपने आश्रय मुनि को पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न कराकर पुनः अपने स्थान में प्रवेश कर जावे, तो उसे आहारक समुद्घात कहते हैं ।। ६ ।।

सयोगि भट्टारकर्गेल्लियागु आयुस्थितियिंद संसार स्थितियाधिकमादोडे-नाल्कुकर्मदास्थितियं । समानरपंतादि जीवप्रदेशक्के संहरण विसर्जनंगळमार्प-नामकर्म मे निमित्तमागे दंडकपाट प्रतर लोकपूरणं गलेंव विकल्पदिं जीव प्रदेश निमिर्पुदु । केवलि समुद्घातविर्तिसमुद्घातं पोरगागिजीव निजकर्म वशदिं कैकोळलपट्टशरीर प्रमाण नप्पनेंबुदर्थं । अनादि संसार दोळुनाना प्रकार देह ग्रहणक्के कारणयागुत्तिर्प देहव्यामोहमं बिट्टु तद्व्यतिरिक्त नप्पनिजशुद्धात्म दर्पपिंगिसलार नेंबुदु भावार्थं ।। ७ ।।

केवलियों के जो दण्ड कपाट प्रतर या लोक पूरण होता है उसे सातवाँ केवली समुद्घात कहते हैं।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस गाथा में बतलाया है कि समुद्घात के बिना यह जीव व्यवहार नय से संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से असंख्यात प्रदेश का धारक है। 'अणुगुरुदेहपमाणो' अर्थात् निश्चय नय से अपने देह से भिन्न तथा केवल ज्ञानादि अनन्त गुणों की राशि से अभिन्न आत्म स्वरूप की प्राप्ति के अभाव से तथा देह की ममता के मूल कारण आहार भय मैथुन और परिग्रह रूप संज्ञा आदि समस्त रागादि विभावों में आशक्ति के होने से जीव शरीर नाम कर्म उपार्जन किये हुये के उदय होने पर अपने छोटे तथा बड़े देह के बराबर होता है।

कोई शंका करता है कि:—शरीर प्रमाण वाला कौन है ?

उत्तर में—"चेदा" यानी यह चेतना जीव है।

प्रश्न—किस कारण से ?

उत्तर—"उपसंहारप्पसप्पदो" अर्थात् संकोच तथा विस्तार स्वभाव से यानी शरीर नाम कर्म से उत्पन्न हुआ विस्तार तथा संकोच रूप जीव का धर्म है। उनसे यह जीव अपने देह के प्रमाण होता है।

प्रश्न—क्या इसके प्रति कोई दृष्टान्त है ?

उत्तर—हाँ है, जैसे दीपक किसी बड़े पात्र से ढक दिया ज.ता है तो उस पात्र के भीतर विस्तार में प्रकाश करता है और यदि छोटे पात्र में रख दिया जाता है तो उस पात्र के भीतर संकोच में प्रकाश करता है।

प्रश्न—पुनः अन्य किस कारण से जीव देह प्रमाण है ?

उत्तर—"असमुहदो" अर्थात् समुद्घात के न होने से वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली नामक सात समुद्घातों के न होने से जीव शरीर के बराबर होता है। यानी समुद्घात की दशा में तो जीव देह के प्रमाण होता है तथा देह से बाहर भी रहता है, किन्तु समुद्घात के बिना देह प्रमाण ही रहता है। सात समुद्घातों का लक्षण ऊपर के कथनानुसार इस प्रकार है कि:—वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहार तथा सातवाँ केवली-समुद्घात।

समुद्घात का अर्थ यह है कि अपने मूल शरीर को न छोड़ते हुये जो आत्मा के कुछ प्रदेश देह से बाहर निकल कर उत्तर देह के प्रति जाते हैं, उसको समुद्घात कहते हैं।

इसी प्रकार गोम्मटसार जीव कांड में भी कहा है कि:—

वेयण कसाय वेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो ।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमश्रो केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥

समुद्घात के सात भेद हैं। वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवल। इनका स्वरूप लेश्या मार्गणा के क्षेत्राधिकार में कहा जा चुका है इसलिए यहाँ पर नहीं कहा है।

मूल सरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥६६७॥

मूल शरीर को न छोड़कर तैजस कार्मण रूप उत्तर देह के साथ २ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।

अब आगे नयों का विभाग कहते हैं:—"ववहारा" अनुपचरित-असद्भूत—व्यवहार नय से जीव अपने शरीर के बराबर है तथा "णिच्छयणयदो असंखदेसो वा" निश्चय नय से लोकाकाश प्रमाण जो असंख्य प्रदेश हैं उन प्रमाण असंख्यात प्रदेशों का धारक यह आत्मा "असंख देसो वा" यहाँ जो 'वा' शब्द दिया है उस शब्द से ग्रन्थ कर्त्ता ने यह सूचित किया है कि स्व संवेदन (आत्मानुभूति) से उत्पन्न हुये केवल ज्ञान की उत्पत्ति की अवस्था में ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार नय द्वारा आत्मा लोक-अलोक व्यापक है; किन्तु नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य मतानुयायी जिस तरह आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक मानते हैं, वैसा नहीं है। इसी तरह पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों के विकल्पों से रहित जो ध्यान का समय है उस समय आत्म-अनुभव रूप ज्ञान के विद्यमान होने पर भी बाहरी विषय रूप इन्द्रिय ज्ञान के अभाव से आत्मा जड़ माना गया है; परन्तु सांख्य मत की तरह आत्मा सर्वथा जड़ नहीं है। इसी तरह आत्मा राग, द्वेष आदि विभाव परिणामों की अपेक्षा से (उनके न होने से) शून्य होता है; किन्तु बौद्धमत के समान अनन्त ज्ञानादि की अपेक्षा शून्य नहीं है। तथा अणुमात्र शरीर आत्मा है। यहाँ अणु शब्द से उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण जो लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म-निगोद शरीर है उस शरीर का ग्रहण करना चाहिये और पुद्गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिये। एवं गुरु शरीर शब्द से एक हजार योजन प्रमाण जो महामत्स्य का शरीर है उसको ग्रहण करना चाहिये और मध्यम अवगाहना से मध्यम शरीरों का ग्रहण है। तात्पर्य यह है कि जीव देह के साथ ममत्त्व के निमित्त से देह को ग्रहण कर संसार में

भ्रमण करता है, इसलिये देह आदि के ममत्त्व को छोड़कर निर्मोह अपने शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिये। इस प्रकार 'जीव स्वदेह मात्र है' इस व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई।

Anugurudehapramanah upasamharaprasarpabhyam chidatma.
Asamudghatat vyavaharat nischayanayatah asankhyadesah va.— (10).

Padapatha—. ववहारा Vavahara, according to Vyavahara Naya. चेदा Cheda, the conscious Jiva. उवसंहारप्पसप्पदो Uvasamharappasappado, by contraction and expansion. असमुहदो Asamuhado, without Samudghata. अणुगुरुदेहपमाणो Anugurudehapamano, equal in extent to a small or a large body. वा Va, but. णिच्चयणयदो Nichchayanayado, according to Nischaya Naya, असंखदेसो Asankhadeso, existent in innumerable Pradesas.

10. According to Vyavahara Naya, the conscious Jiva, being without Samudghata, becomes equal in extent to a small or a large body, by contraction and expansion; but, according to Nischaya Naya, (it) is existent in innumerable Pradesas.

COMMENTARY

That portion of Akasa, which is obstructed by one indivisible atom, is known as a Pradesa. (See verse 27 of Dravya-samgraha). That portion of Akasa in which Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Kala exist, is known as Lokakasa, and the Akasa beyond it is called Alokakasa. * Really speaking, Jivas fill up innumerable Pradesas in Lokakasa. But, from the ordinary point of view, we speak that a Jiva becomes equal in extent to a small or a large body, by contraction and expansion, when it is without Samudghata.

Samudghata has been thus defined: "Samudghata is the exit of Jiva from the body to another form, without leaving the original

---

* For a detailed description of Lokakasa and Alokakasa, see verse 20 of Dravyasamgraha.

body altogether." † Seven kinds of Samudghata are recognised in Jaina philosophy, viz., Vedana, Kasaya, Vikriya, Maranantika, Teja, Ahara and Kevali. ‡ When the Atma goes out of its restraining body particles through excessive pain, without leaving the original body, we have an illustration of Vedana-samudghata. When, at the rise of excessive anger, etc., the Atma goes out of its material confines without leaving the body to injure others, we have Kasaya-samudghata. The expension of the Atma from its Pradesas, without leaving the body, owing to some perturbation due to lust, etc., is called Vikriya-samudghata. The exit of the Atma, without leaving the original body, to that Pradesa where it has fixed its residence, at the time of death of a being, is Maranantika-samudghata. Teja-samudghata are of two sorts—Subha and Asubha. It is said that when a great sage perceives some cause of harm to his mind, he becomes angry, and at that time a red figure, twelve yojanas in length and nine yojanas broad, pointed at the top and broad at the bottom, issues forth from the left shoulder of the sage and, after destroying that cause of evil, consumes itself with the sage. This is Asubha-samudgata. There is a Jaina story that such a figure issued forth from the body of the sage, Dwaipayana, and, destroying Dwarika, destroyed itself with the sage *. The exit of a white form, having an extent similar to that mentioned in Asubha-

---

† "मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स । णिग्गमणं देहादो हवदि समुद्घादयंणाम ॥"

‡ "वेयणकसायविउव्वियमारणंतिउसमुद्घादो । तेजाहारो छठ्ठो सत्तमउ केवलीणं तु ॥"

[Verse quoted in Brahmadeva's Commentary.]

* Brahmadeva has thus referred to in his commentary: 'द्वीपायनवत्" We find a mention of this story in the following passage quoted from the commentary by Srutasagara Suri on Yasastilaka Champu by Somadeva Suri:

"उर्जयन्ता गिरौ किल अरिष्टनेमिभगवतः समवसरे नारायणो गणधरदेवेन चापृच्छत हे भगवन्, एवं समृद्धद्वारवत्या किं कुतोऽपि व्ययो भविष्यति ? इति । वरदत्तः गणधर उवाच, अनया चिन्तया किम् ? इति ब्रुवन्नपि हरिणा कृतनिर्बन्धो बभाषे, द्वादशवर्षेषु गतेषु द्वैपायनकुमारात् दाहो भविष्यति । तद्वचन द्वैपायनः श्रुत्वा असत्यं कर्तुमिच्छुः गृहीतवृक्षः द्वादशापि वर्षाणि पूर्वदेशे अतिक्रम्य अधिकमासमलक्षयन् द्वारवतीद्वारदेशे कृतकायोत्सर्गः पाणिविह्वलितमतिना मातङ्गेन विहितखलतिमस्तगुञ्जादाघश्च (?) कोपादग्निकुमारो भूत्वा तां नगरीं ददाह ।"

samudguata, from the right shoulder of a sage who becomes full of commiseration at some calamity of the people, like a famine or an epidemic, is known as Subha-samudghata. This, after destroying the calamity, enters its own place. The exit of a white figure, one cubit in length, from the head of a sage, to resolve a doubt by seeing some Kevali (possessed of infinite knowledge), is know as Ahara-samudghata. In a certain stage throught the rise of all kinds of Karmas, a Kevali's form expands and fills up the whole Lokakasa, without leaving the original body. This is called Kevali-samudghata.

A description of these forms clearly illustrates the belief of various subtle forms by the Jainas. In all cases, when a Jiva does not assume these forms, it fills up either a lrage or a small body. This theory of the Jainas is severely criticised in the Vedanta philosophy of the Hindus. Sankaracharya, in his commentany on Vedanta-sutra, Adhyaya II, Pada II, Sutra 34, had said that if it is admitted that a Jiva is equal in extent to its body, it is impossible that the same Jiva can enter into the bodies of a fly and an elephant. This is not the place to discuss the point in detail. We shall simply mention the view held by Jainas with respect to this point. The Jainas say that as a lamp, placed respectively in a small pot and a room, illuminates the whole of the space between each of these, so a Jiva contracts and expands, according to the dimensions of different bodies. A better example can be given by mentioning the case of gases like oxygen, which fills up the whole of the space within different vessels, having small or large dimensions. But this expansion and contraction of Jivas, according to different bodies, are only recognized from the Vyavahara point of view. According to Nischaya Naya, Jivas can fill up innumerable Pradesas in Lokakasa.

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी ।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥११॥

अन्वय—(होंति) अल्पज्ञ जीव अतीन्द्रिय अमूर्तिक अपने परमात्म स्वभाव के

अनुभव से उत्पन्न जो सुख रूपी अमृत रसको न पाकरके इन्द्रियों से उत्पन्न तुच्छ सुख की अभिलाषा करते हैं उस इन्द्रिय जनित सुख में आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवोंका घात करते हैं। उस जीव घात से उपार्जन किये, त्रस, स्थावर नाम कर्म के उदय से स्वयं त्रस, स्थावर होते हैं। "पुढविजलतेयवाऊवणप्फदीविविहथावरेइन्दी" पृथ्वी, जल, तेज, तथा वनस्पति जीव कितने हैं ?–अनेक प्रकार के हैं। शास्त्र में कहे हुए अपने अपने भेद से बहुत प्रकार के हैं। स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर एकेन्द्रिय जाति कर्म के उदय से स्पर्शन इन्द्रिय संहित एकेन्द्रिय होते हैं। इसीप्रकार क्रम से उनके आकार जल कायिक का आकार जलबिन्दु के समान, पृथ्वी कायिक का आकार मसूर की दालके समान, अग्नि कायिक का आकार सुई के नोक के समान, वायु कायिक का आकार ध्वजा के समान, वनस्पति कायिक का आकार बेल, घास, वृक्ष के समान आकारों को धारण करनेवाले एकेन्द्रिय कहलाते हैं। 'विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा" दो, तीन, चार तथा पांच इन्द्रियों वाले त्रस नाम कर्म के उदय से त्रस जीव भी होते हैं। वे कैसे हैं ? (संखादि) शंख आदि। स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों वाले शंख, कृमि, कौड़ी, सीप, गेंडुआ लट आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन रसना तथा घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले कुन्थु पिपीलिका (कीड़ी) जूं, खटमल, आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु (नेत्र) इन चार इन्द्रियों वाले डांस, मच्छर, मक्खी भौंरा, बर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियों वाले मनुष्य देव, नारकी, तिर्यञ्च आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं।

सारांश यह है कि निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव निज परमात्म स्वरूप की भावना से उत्पन्न जो परमार्थ सुख है उसको न पाकर जीव इन्द्रियों के सुख में आसक्त होकर जो एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा करते हैं उस से त्रस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं, इस कारण त्रस और स्थावरों में जो उत्पत्ति होती है उसको मिटाने के लिए पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा में भावना करनी चाहिये।

विवेचनः–ग्रन्थकारने ऊपरकी गाथामें नैयायिक मीमांसक और बौद्ध इत्यादि की शंका दूर करने के लिए १०वीं गाथा में बताया है कि आत्मा देह प्रमाण है, अपने देह के आकार संकोच विस्तार को धारण करने वाला है और सात समुद्घात करने वाला होने के संकोच विस्तार वाला है; परन्तु सर्व व्यापी नहीं है। इस तरह ऊपर की गाथा में सूचित करके इस गाथामें जीव भेद बताया है। यह जीव अपने शुभाशुभ कर्म फल के अनुसार पृथिवी जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर शरीर को धारण करने

वाला स्थावर जीव है और ये सब एक स्पर्श इन्द्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदि दो तीन, चार, पांच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं। यह संसारी आत्मा अपने निजात्म स्वरूप से गिरा हुआ होकर अनादि काल से स्थावर इन्द्रिय पर्याय को धारण करते हुए दीर्घ संसारी होकर अनन्त दुःख उठाते हुए संसार रूपी महान् समुद्र में गोता खा रहा है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीवों से आश्रय किये हुए शरीर बहुत प्रकार के हैं तो भी वे शरीर उन जीवों को वास्तव में मोहगर्भित स्पर्श इन्द्रिय के विषय को देते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय आदि से रहित, अखंड एक ज्ञान का प्रकाश रूप आत्मा का स्वरूप है। उसकी भावना से रहित होकर तथा संसारी सुख के लिए स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में लंपटी होकर इस जीव ने जो स्पर्शनेंद्रिय मात्र को उत्पन्न करने वाला एकेन्द्रिय जाति नामा नाम कर्म बांधा है उसी के उदय के काल में यह संसारी जीव स्पर्शन इन्द्रिय ज्ञान मात्र क्षयोपशम को पाकर एक इन्द्रिय पर्याय में मात्र स्पर्श के विषय के ज्ञान से परिणमन करता है।

यहाँ संसारी जीवों में जो एक स्पर्शन इन्द्रिय मात्र की सहायता से जाननेवाले जीव हैं वे पांच प्रकार के हैं। इनमें कर्म फल चेतना की प्रधानता है। यद्यपि गौणता से ये भी रागद्वेष पूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार अपने पोषणनिमित्त कुछ कर्म करते हैं तथापि इनका कर्म प्रगट नहीं होता है। वृक्ष अपनी पुष्टी के लिये पानी व मिट्टी को नीचे से लेकर सर्व शरीर मात्र में पहुंचाता है। वृक्षों में नाड़ी है, वे अन्य जन्तुओं के समान जीते हैं; उन पर विष और मद्य का बुरा असर पड़ता है. यह बात आज कल विज्ञान ने प्रयोग करके सिद्ध कर दी है। सर्वज्ञ के आगम में सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन चारों में भी जीवों का निवास माना है, सो विज्ञान की खोज में कभी न कभी आ जायेगा। गीली मिट्टी खेत व खान की सचित्त है। वही जब सूख जाती है तब जीव रहित अचित्त हो जाती है। कुएँ वापिका नदी का पानी जो बहता हुआ शीतल है वह जीव सहित सचित्त है, पर वही पानी यदि गर्म हो जावे, व गर्म कर दिया जावे व छिन्न-भिन्न किया जावे तो जीव रहित अचित्त हो जाता है। जलता हुआ अग्नि का चिनगारा व जलती हुई लौ सचित्त है। यदि कोयला मात्र हो लौ न उठती हो तो जीव रहित अचित्त अग्नि है। पवन यदि ठंडी है तो सचित्त है। यदि गर्म है या बारबार रगड़ खाई हुई है तो अचित्त हो जाती है। वनस्पति भी सूखने से व छिन्न-भिन्न करने से,व पकने से अचित्त हो जाती है। इन एकेंद्रिय जीवों के चार प्राण होते हैं, जिनसे ये जीते हैं और उनके वियोग से ये मर जाते हैं।

स्पर्शनेंद्रिय,काय,बल, आयु और श्यासोच्छ्वास। यह सब कोई जानते हैं कि हवा के बिना वृक्ष कभी जी नहीं सकते, इसी तरह मिट्टी भी हवा के बिना मर जायगी तथा जल भी हवा के बिना सड़ जायगा, व अग्नि भी हवा के बिना बुझ जायगी। इसी से सिद्ध है कि जैसे हम हवा के बिना जी नहीं सकते वैसे ये भी नहीं जी सकते। इसलिये ये प्राणी हैं। ये एकेन्द्रिय जीव स्पर्शनेंद्रिय से स्पर्श का ज्ञान करते हुये साताकारी स्पर्श से सुख व असाताकारी स्पर्श से दुःख मान लिया करते हैं। यद्यपि ये स्पर्श योग्य पदार्थों के नामादि नहीं जानते हैं तथापि ज्ञानशक्ति से विषय को जानते हैं और मोह व राग के कारण दुःखी या सुखी होते हैं। इन जीवों के भी चार संज्ञाएँ पाई जाती हैं— १. आहार भोजन की इच्छा, २ भय—अपनी रक्षार्थ भय, ३मैथुन—स्पर्श करने का राग इनके नपुंसक वेद होता है, दोनों ही स्त्री-पुरुष संबंधी रागभाव होता है। किसी के पुरुष सम्बन्धी भाव अधिक किसी के स्त्री सम्बन्धी भाव अधिक होता है,४ परिग्रह—अपने शरीर व अपने पुष्टि के कारण पदार्थों में ममता-वृक्षों के भीतर ये बातें दीख पड़ती हैं। वे भोजन की इच्छा से मिट्टी या पानी को खींचते हैं। कुल्हाड़ी मारे जाने पर भयवान् होते हैं,एक वृक्ष का अंग दूसरे अंग से मैथुन रूप में मिलता है तभी वृक्ष में फूल आता है। जैसे स्त्री पुष्पवती होती है और वही फूल फिर फल की दशा में परिणमन कर जाता है। जो बातें हम एक दो इन्द्री या तेइन्द्री जीव में जो चल फिर सकता है, देखते हैं कि वह भय से भागता है, परस्पर दो जन्तु मैथुन रूप से मिल जाते हैं। वे आहार खोजते हैं, वे ही सब बातें वृक्षादि एकेंद्रियों में होती हैं, मात्र रसनादि इन्द्रिय और वचनबल, इन वृक्षादि में नहीं होता है।

शंका—स्थावर किसे कहते हैं ?

समाधान—स्थावरनामा नाम कर्म के उदय से ये स्थावर हैं। ये स्वयं बुद्धि पूर्वक गमन करते व ठहरते नहीं दीख पड़ते हैं। जैसे और कोट आदि स्वयं चलते व ठहरते दिखाई पड़ते हैं वैसे ये अपने स्वभाव से कोई ठहरे रहते हैं व कोई चलते रहते हैं।

शंका—पृथिवीकायिक के कितने भेद हैं ?

समाधान—छत्तीस भेद हैं। उनका भावार्थ जो समझ में आया सो नीचे लिखा जाता है। १. मिट्टी, २. बालू, ३. शर्करा या कंकड, ४. उपल ५. पाषाण, शिला, ६. लवणोदक या लवण, ७. ताम्बा, ८. त्रपु या एक प्रकार का शीशा, ९. सीसक, १०. चांदी, ११. सोना १२. हीरा, १३. हरताल, १४. हिंगुल, १५. मनःशिल, १६. तूतिया, १७. अंजन, १८. प्रवाल, १९. किरोलक, २०. अभ्रक, २१. लोहा, २२. मसार, २३. गल्ल, २४. बादरमणि, २५. गोमेद, २६. रूचकांक, २७. स्फटिक, २८. वैडूर्य, २९. चन्द्रकांत, ३०. जलकान्त

३१. सूर्यकान्त, ३२. गेरू, ३३. चन्दन, ३४. वर्चूर, ३५. रूचक, ३६. मोठ।

शंका—जल कायिक के कितने भेद होते हैं ?

समाधान—ओस, बर्फ की बूँद, शुद्ध जल, मेघ जल, शीत आदि।

शंका—अग्नि कायिक के कितने भेद होते हैं ?

समाधान—जलता अंगारा, अर्चि या दीपक की लौ, मुर्मर।

शंका—पवन कायिक जीव के कितने भेद होते हैं ?

समाधान—घनवायु, तनुवायु, गुंजा, मंडलि, उत्कलि इत्यादि।

शंका—वनस्पति कायिक के कितने भेद होते हैं ?

समाधान—वनस्पति कायिक जीव मूल, अग्रभाग, पर्व या पौरी, कन्द,स्कन्ध, बीज से पैदा होने वाले या संमूर्छन होते हैं। ये दो प्रकार के हैं—एक प्रत्येक दूसरे अनन्त-कायिक या साधारण। प्रत्येक वनस्पति में एक काय का स्वामी एक होता है जब कि साधारण वनस्पति में एक काय के स्वामी अनन्त होते हैं।

शंका—क्या पांचों पृथ्वी कायिक आदि पंचेन्द्रिय ही होते हैं ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रिय आवरण मति ज्ञान के क्षयोपशम के लाभ से अन्य इन्द्रिय आवरण के उदय से तथा नौ इन्द्रिय आवरण के उदय से ये जीव स्पर्शन इन्द्रिय मात्र के धारी एकेन्द्रिय होते हैं। यहाँ यह अभिप्राय है कि सर्व उपाधि से रहित शुद्ध सत्ता मात्र धारी पदार्थ को कहने वाली निश्चय नय से यद्यपि जीव पृथिवी आदि पांच भेदों से शून्य हैं तथापि व्यवहार नय से ये जीव एकेन्द्रिय जाति नामा नाम कर्म के उदय से मन रहित एकेन्द्रिय होते हैं। इस एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म का बंध तब होता है जब शुद्ध मन में प्राप्त स्वसंवेदन ज्ञान न होकर अशुद्ध मन में होनेवाला राग आदि रूप अपध्यान होता है।

इस गाथा में आचार्य ने यह नियम कर दिया है कि ये पांच स्थावर काय धारी जीव जो सब मिलके अनन्तानन्त हैं, मात्र एक स्पर्शनेन्द्रिय के धारी मन रहित होते हैं। वनस्पति कायिक जीवों में ही निगोद जीव गर्भित हैं। उसके दो भेद हैं—एक नित्य-निगोद, दूसरा इतर या चतुर्गति निगोद। नित्य निगोद में जीवों की अक्षय और अनंत-राशि है, जो सदा से निगोद पर्याय में ही पड़े हुए साधारण वनस्पति रूप में आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं के वशीभूत हो संसार के कष्टों को व जन्म मरण को पुनः २ उसी जाति की पर्याय में भोगते रहते हैं। यह निगोद जीवों की खान है। यहाँ से छः मास आठ समय में छः सौआठ जीव निकल कर अन्य पर्याय धारण करते हैं,

यह नियम है। इतर निगोद वह है कि नित्य निगोद से निकले हुए जीव चारों गतियों में भ्रमण करते २ पाप कर्म बांधकर जब फिर निगोद में जाकर जन्मते हैं, उन जीवों को इतर निगोद या चतुर्गति निगोद शरीर धारी कहते हैं। वृत्तिकार ने कहा है कि जो मानव आत्मा के अनुभव को न पाकर रागी, द्वेषी, होते हुए दूसरे की हानि में हर्ष व वृद्धि में द्वेष भाव रखते हुए अपध्यान करते हैं वे एकेन्द्रिय जाति नामा नाम कर्म बांधकर अन्य पर्याय में एकेन्द्रिय होकर जन्मते हैं। दूसरे स्वर्ग तक के देव अन्य देवों से ईर्षा भाव रखने के कारण व सम्पत्ति के वियोग से आर्त्तध्यान करने के कारण मरकर एकेन्द्रिय जन्म धारण करते हैं।

जैसा तत्त्वार्थसार में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः।
तिर्यक्त्वमानुषत्वाभ्यामासहस्रारतः पुनः ॥१६६॥२॥

अर्थात् ईशान स्वर्ग तक के देव एकेन्द्रिय तक का जन्म धारण कर सकते हैं तथा बारह स्वर्ग तक के देव पंचेन्द्रिय पशु तथा मनुष्य हो सकते हैं।

आज कल के अन्य मतियों का कहना है कि जो पांचों स्थावर जीव हैं उसमें चेतनता नहीं है। इसलिए पृथ्वी कायिकादि जीवों में चेतना गुण है इस बात को सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त पूर्वक निरूपण करेंगे।

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥१२१॥

जिस प्रकार अंडों में बढ़ते हुए गर्भ में तिष्ठते हुए और मूर्छा को प्राप्त हुए मनुष्य जीते हैं उसी तरह से एकेन्द्रिय जीव जानने योग्य हैं।

जैसे अंडों के भीतर के तिर्यंच गर्भस्थ पशु या मूर्छागत मानव इच्छा पूर्वक व्यवहार करते नहीं दीखते हैं तैसे इन एकेन्द्रियों को जानना चाहिये, परन्तु अंडों में जन्मने वाले प्राणियों के शरीर की पुष्टि या वृद्धि को देखकर बाहरी व्यापार करना न दीखने पर भी भीतर चैतन्य है, ऐसा जाना जाता है। यही बात गर्भ में आए हुए पशु या मानवों की भी है। गर्भ बढ़ता जाता है इसी से चेतना की सत्ता मालूम होती है। मूर्छागत मानव तुरन्त मूर्छा छोड़ सचेत हो जाता है। इसी तरह एकेन्द्रियों के भीतर भी जानना चाहिये। जब गर्भस्थ शरीर या अंडे या मूर्छाप्राप्त प्राणी म्लानित होजाते हैं अर्थात्

बढ़ते नहीं या उनके शरीर की चेष्टा बिगड़ जाती है तब यह अनुमान होता है कि उनमें जीव नहीं रहा उसी तरह एकेन्द्री जीव जब म्लानित या मर्दित हो जाते हैं तब वे जीव रहित अचित्त हो जाते हैं। यहाँ यह भाव लेना योग्य है कि यह जीव निश्चय नय से स्वाधीनता सहित अनन्तज्ञान तथा अनन्तसुख का धारी है तथापि व्यवहारनय से पराधीन इन्द्रिय सुख में आसक्त होकर जो कर्म बाँधता है उस कर्म के उदय से अंडज आदि के समान एकेन्द्रिय होकर आत्मा को दुःखों में पटक देता है।

इस गाथा में यह बात सिद्ध है कि वनस्पति, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि इन पांचों स्थावरों के शरीरों की वृद्धि होती है। जैसे अंडों की व गर्भस्थ प्राणी के अंगों की बढ़ती देख कर जीव के अस्तित्व का ज्ञान होता है वैसे एकेन्द्रियों की बढ़ती देखकर उन में जीव की सत्ता है ऐसा अनुमान करना चाहिए। जैसे अंडों के व गर्भ के प्राणी बिलकुल असमर्थ हैं—उन को यदि कोई निर्दयी नष्ट करे, वध करे, कष्ट दे, ताड़े तथा गर्मी सरदी पहुंचावे तो वे जीव पराधीन हो सब सहते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय से विषय ग्रहण कर मोह द्वारा द्वेषभाव उत्पन्न कर दुःखी होते हैं वैसे ही एकेन्द्रिय जीव असमर्थ हैं—कोई उनको नष्ट करे, तोड़े, मरोड़े, दलमले, गर्मी सरदी पहुंचावे, काटे व तपावे तो वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। असमर्थपने से पराधीन रहकर स्पर्शनेन्द्रिय से जानकर व मोह के कारण द्वेष भाव जागृत कर सब कष्टों को सहते हैं। मूर्छा प्राप्त मानव का दृष्टान्त मात्र बुद्धि-पूर्वक व्यापार न करने की अपेक्षा एकेन्द्रियों के लिये दिया गया है। एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और बादर। जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में न आवें व जो किसी से बाधा को न पावें न स्वयं बाधा दें—पर्वतादि के भीतर भी हों व उनके भीतर से निकल जा सकें वे सब सूक्ष्म एकेन्द्रिय हैं तथा जो आधार में हों, इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में आवें बाधा करें व बाधा को पावें वे सब बादर एकेन्द्रिय हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद ये पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जो सूक्ष्म हैं वे तीन लोक में सर्वत्र हैं। बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि व निगोद जीव जो बादर हैं उनमें से ही कुछ हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में आते हैं। प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है। इनमें जिन प्रत्येक वनस्पति के आश्रय निगोद, साधारण या अनन्तकाय वनस्पति जब तक रहती है तब तक वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक व जब उनके आश्रय से अनन्तकाय नहीं रहती है तब वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाते हैं। श्री गोम्मटसार जी में कहा है—

बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तद्देहा।
घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं ॥ १८३ ॥

तद्देहमंगुलस्स असंखभागस्स बिंदमाणं तु ।
आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा ॥१८४॥

इन एकेंद्रियों का शरीर बादर तथा सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से बादर तथा सूक्ष्म होता है। जिनका शरीर रुकने वाला, घात किया जाने वाला, अन्य को रोकने वाला तथा अन्य का घातक हो, तो उसे बादर शरीरधारी जीव कहते हैं तथा जिनका शरीर दूसरे को घाते नहीं व दूसरे से उनका घात न हो वे एकेंद्रिय सूक्ष्म होते हैं। इनमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चार कायवाले एकेंद्रियों के शरीर बहुत छोटे होते हैं। सामान्यपने से दोनों के बादर और सूक्ष्म भेद वाले इन चारों के शरीर घनांगुल के असंख्यातवें भाग से बड़े कभी नहीं होते हैं तथा आधार में अर्थात् अन्य पुद्गलों के आश्रय से जिनका शरीर हो वे बादर हैं तथा सर्वत्र लोक में, जल में, थल में या आकाश में निरंतर आधार की अपेक्षा बिना जिनके शरीर हैं वे जीव सूक्ष्म हैं। जल थल रूप आधार से इनके शरीर के गमन का नीचे ऊपर इत्यादि कहीं भी रुकना नहीं होता है। यहां निरंतर का अर्थ यह है कि बीच में तीनों लोकों का कोई भी स्थान इन सूक्ष्म जीवों से खाली नहीं है। इससे पाठकों को ज्ञान हो जायगा कि लोकाकाश सर्वत्र जीवों से ठसाठस भरा हुआ है तथा इन पृथ्वी आदि चारों का शरीर बहुत ही छोटा होता है। एक रत्तीभर मिट्टी में, एक बून्द पानी में एक अग्नि की लपक में, एक वायु के महीन झोंके में अनेक एकेंद्रियों के समूह हैं—ऐसा जानकर दयावानोंको इनका व्यवहार यत्न पूर्वक करना योग्य है। जिससे इनकी हिंसा कम हो, इस तरह वर्तना योग्य है। स्वच्छंद व निर्दयी होकर इनका घात करना योग्य नहीं है।

* अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि वायु ये चार बादर भी हैं तथा सूक्ष्म भी हैं। इन बनस्पति में प्रत्येक साधन दो प्रकार के हैं।

---

* मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीज बीजरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंत काया य ॥

जिन वनस्पतियों का बीज मूल, पर्व, अग्र कन्द अथवा स्कन्ध है, अथवा जो बीज से ही उत्पन्न हो जाती है, यद्वा सम्मूर्छन हैं, वे सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं। वनस्पति अनेक प्रकार की होती हैं। कोई तो मूल से उत्पन्न होती है; जैसे अदरख हल्दी आदि। कोई अग्र से उत्पन्न होती है, जैसे ईख बेंत आदि। कोई कन्द से उत्पन्न होती है, जैसे सूरण आदि। कोई स्कन्ध से उत्पन्न होती हैं जैसे गुलाब। कोई पर्व (पंगोली) से उत्पन्न होती हैं जैसे ढाक। परन्तु ये सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनों प्रकार की होती है। विशेष जानकारी गोम्मटसार से करें।

शंका—बादर किसको कहते हैं ?

समाधान—जैसे स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा भी है—

साहारणा वि दुविहा अणाइकाला य साइकाला य।
ते वि य बादरसुहमा सेसा पुण वायरा सव्वे ॥१२५॥

साधारण जीव दो प्रकार के हैं। अनादि काल से नित्य निगोद सादि कालसे इतर निगोद की अपेक्षा से ये दोनों बादर भी हैं और सूक्ष्म भी है तथा शेष प्रत्येक बनस्पति त्रस से बादर ही है। अब आगे साधारण का स्वरूप कहते हैं। जिन अनन्तानन्त प्रमाण जीव के आहार उच्छ्वास काय आयु साधारण समान है वे साधारण जीव हैं।

गोम्मटसार में भी कहा है कि :—

जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
चंकमइ जत्थ एक्को चंकमणं तत्थ णंताणं ॥१२६॥

जहां एक साधारण जीव निगोदिया उत्पन्न होता है वहां उसके साथ ही अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं और जहां एक निगोदिया जीव मरता है वहाँ उसके साथ ही अनन्त समान आयुवाले मरते हैं।

सूक्ष्म बादर का स्वरूप :—

ण य जेसिं पडिखलणं पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं।
ते जाण सुहुमकाया इयरा पुण थूलकाया य॥१२७॥

जिस जीव का पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के द्वारा रुकावट न हो उस जीव को सूक्ष्म जानना चाहिये। जो इनसे रुक जाते हैं उनको बादर कहते हैं। प्रत्येक का स्वरूप कहते हैं।

पत्तेया वि य दुविहा णिगोदसहिदा तहेव रहिया य।
दुविहा होंति तसाविय वितिचउरक्खा तहेव पंचक्खा॥ १२८

प्रत्येक बनस्पति भी दो प्रकार की होती है। एक निगोद सहित और दूसरी निगोद रहित है। त्रस भी दो प्रकार के हैं। दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय ऐसे तो विकल त्रय हैं और दूसरे पञ्चेन्द्रिय।

इसलिये दयालु श्रावक को जिससे इनकी हिंसा कम हो इस तरह वर्तना योग्य है। स्वच्छंद व निर्दयी हो इन का घात करना योग्य नहीं है। एकेंद्रिय प्राणों के घात करने से चार प्राणों का घात होता है। वे चार प्राण स्पर्शनेन्द्रिय, काय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास हैं। इनके वियोग का नाम मरण है। इस प्रकार स्थावर जीवों की व्याख्या की की गई। अब दयालु श्रावकों को दो इन्द्रिय को भी जीव समझकर उसकी भी रक्षा करनी चाहिये। दोइन्द्रिय कौन सी हैं। इनका भेद बतलाते हैं।

संवुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते वे इन्दिया जीवाः ॥१२२॥

शुद्ध निश्चय नय से यह जीव द्वीन्द्रिय के स्वरूप से पृथक् तथा केवल ज्ञान और केवल दर्शन से अभिन्न अर्थात् तन्मय शुद्ध अस्तिकाय है। ऐसे शुद्ध आत्मा की भावना के द्वारा जो सदा सानन्दमयी एक लक्षण सुख—रसका आस्वाद आता है उसको न पाकर स्पर्शन और रसना इन्द्रिय आदि के विषयों के सुख के रसास्वाद में मग्न जीवों ने जो द्वीन्द्रिय जातिनामा नाम कर्म का बंध किया था उस कर्म के उदय काल में वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रिय रसनेन्द्रिय के आवरण नामा मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के लाभ से शेष इन्द्रियों के आवरणरूप कर्मों के उदय पर तथा नोइन्द्रिय मन के आवरणरूप कर्म के उदय होने पर ये जीव द्वीन्द्रिय विना मन के होते हैं।

तत्वार्थसार में भी कहा है कि:—

शम्बूकः शंखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनोमताः॥

शम्बूक, शंख, सीप, गंडूपद, कौड़ी, पेट के बल चलने वाले कीड़े आदि द्वीन्द्रिय प्राणी हैं

अब तीन इंद्रियों के भेदों को कहते हैं।

जूगागु भीमक्कणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइन्दिया जीवा ॥१२३॥

विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमयी आत्म पदार्थ के अनुभव से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्दमयी एक सुखामृत रस है उसके स्वाद से रहित होकर तथा स्पर्शन, रसना व नासिका इन्द्रिय के विषयों के सुख में मूर्छित हो कर जिन जीवों ने त्रीन्द्रिय जाति नामक

नाम कर्म बांध लिया है उसके उदय के आधीन होकर तथा वीर्यान्तराय के और स्पर्शन रसना, व घ्राणइन्द्रिय सम्बन्धी मतिज्ञान के आवरण के क्षयोपशम लाभ होने से तथा शेष इन्द्रियों के मतिज्ञानावरण के उदय होने पर तथा नौइन्द्रिय जो मन है उसके आवरण के उदय होने पर तेन्द्रिय जीव मन रहित होते हैं, यह सूत्र का अभिप्राय है।

श्री कुलभद्र आचार्य सार समुच्चय में कहते हैं--

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखम्।
तच्च कर्मविबन्धाय दुःखदानैकपंडितम् ।।।७७।।

इन्द्रियों के द्वारा जो सुख है वह सच्चा सुख नहीं है वह सुख का आभास है, मात्र सुखसा मालूम पड़ता है। यह इन्द्रिय सुख कर्मों को बांधने वाला है तथा दुःखों को देने में प्रवीण है।

तत्वार्थसार में तेंद्रिय जीवों के उदाहरण इस तरह बताए हैं।

कुन्थुः पिपीलिकाकुम्भीवृश्चिकश्चेन्द्रगोपकाः।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ।।५४।।

कुन्थु, चींटी, कुम्भी, बिच्छु, इन्द्रगोपक, घुन, खटमल, जूं आदि तीन इन्द्रिय धारी जन्तु होते हैं। ये कर्म फल चेतना से सुखी व दुःखी अपने को मानते हैं तथा अपने इन्द्रियों की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये रागद्वेष पूर्वक काम करते हुए कम चेतना का अनुभव करते हैं।

आगे चार इन्द्रियों के भेदों को कहते हैं।

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतंगमादीया।
रूपं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंत ।।१२४।।

जो मिथ्यादृष्टि जीव निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान की भावना से उत्पन्न सुख रूपी अमृत रस के पान से विमुख हैं तथा स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों के अनुभव में लीन हैं वे चौ इन्द्रिय जाति नामा नाम कर्म बांधते हैं। इस नाम कर्म के उदय के आधीन होकर तथा वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इंद्रिय का आवरण रूप मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के लाभ से और नौइन्द्रिय के आवरण के उदय से चारइन्द्रियधारी मन रहित होते हैं, यह अभिप्राय है।

तत्वार्थसार में कहा है कि:--

मधुपः कीटकोदंशमशकौ मक्षिकास्तथा।
वरटाशलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ।।५५।।

मधुमाखी, कीटक, डांस, मच्छर, मक्खी, भिड़ टीडी आदि चार इन्द्रिय जीव होते हैं। जो अज्ञानी इन्द्रियों के विषयों के अति लोलुपी होते हैं। वे ही ऐसा नाम कर्म बांधते हैं जिस से चार इन्द्रिय जीव होते हैं। जो निगोद से निकल कर पृथ्वीकायादि होते २ द्वीन्द्रिय से ते इन्द्रिय व ते इन्द्रिय से चौ इन्द्रिय होते हैं। उनके कषाय के उदय की मंदता से जब कभी ऊँची जाति का नाम कर्म बन्ध जाता है तब वे ऊँची स्थिति में जन्म पाते हैं। सो ऐसा दीर्घकालान्तर अवसर कभी किसी को मिलता है। हम को विचारना यह चाहिये कि हमने बहुत भ्रमण करते हुए किसी मंद कषाय से बांधे हुए पुण्य के प्रताप से जब पंचेन्द्रिय सैनी मानव जन्म पाया है तब हम ऐसा कार्य फिर न करें जिस से हम पंचेन्द्रिय से चौइन्द्रिय आदि हो जावें। इस वर्तमान जीवन को दुर्लभ रत्न के समान समझकर इस की सफलता आत्म कल्याण के पुरुषार्थ से कर लेनी चाहिये। मानव जीवन को निरर्थक खो देने से फिर ऐसा समय मिलना कठिन होगा। एक समय भी धर्म भावना के बिना न गवांना चाहिये।

श्री कुलभद्राचार्य ने सारसमुच्चय में कहा है कि:—

क्षणेऽपि समतिक्रान्ते सद्धर्मपरिवर्जिते।
आत्मानं मुषितं मन्ये कषायेन्द्रियतस्करैः ॥५९॥
धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव।
आयुःकर्मणि संक्षीणे पश्चात्वं किं करिष्यसि ॥६०॥
धर्ममाचर यत्नेनमा भवस्त्वं मृतोपमः।
सद्धर्म चेतसां पुंसां जीवितं सफलं भवेत् ॥६१॥
मृता नैव मृतास्ते तु ये नराः धर्मकारिणः।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नरा पापकारिणः ॥६२॥
धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातकंविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥६३

मैं ऐसा मानता हूं कि जो एक क्षण भी सत्य धर्म की सेवा बिना बीतता है उससे कषाय व इन्द्रिय रूपी चोरों के द्वारा मैंने आप को ठगा लिया है जब तक तेरी आयु दृढ़ है तब तक धर्म कार्य में बुद्धि रख। जब आयु कर्मका क्षय हो जायगा तब तू क्या करेगा? धर्म को यत्न से साधन कर, मृतक के समान मत रह। जिन के चित्त में यह धर्म बसता है उन्हीं का जीवन सफल है। जो मानव धर्म को आचरण करने वाले हैं वे मर जाने पर

भी नहीं मरे हैं तथा जो मानव पाप कर्म करने वाले हैं वे जीते हुए भी मरे हुए हैं । इस लिए दुःख रूपी रोगों को नाश करने वाले को धर्म रूपी अमृत सदा पीना चाहिये जिसके पीने से जीवों को सदा उत्तम सुख मिलता है ।

आगे पंचेन्द्रिय के भेदों को कहा है कि:—

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसफ्फासगन्धसद्दण्हू ।
जलचरथलचरखचरा वलिया पंचेन्दिया जीवाः ॥१२५

इसमें यह अर्थ किया गया है कि तिर्यञ्च पंचेन्द्रियोंमें कोई २ बड़े बलवान होते हैं जैसे जलचरों में ग्राह, थलचरों मेंअष्टापद, खचरों में भेरुंडपक्षी । जो बहिरात्मा जीव दोष रहित परमात्मा के ध्यान से उत्पन्न निर्विकार तात्विक आनन्दमई सुख से विपरीत इन्द्रिय सुख में आसक्त हैं वे पंचेन्द्रिय जाति नाम का नामकर्म बांध लेते हैं। उस के उदय को पाकर, वीर्यांतराय कर्म तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्णइंद्रिय ज्ञान के आवरण कर्म क्षयोपशम के लाभ से तथा नोइंद्रिय जो मन है उसके द्वारा ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म के उदय होने पर कोई जीव पंचेन्द्रिय मन रहित होते हैं तब वे शिक्षा, वार्तालाप व उपदेश ग्रहण की शक्ति से शून्य होते हैं तथा कोई नोइंद्रियज्ञान के आवरण के क्षयोपशम के लाभ से भी मन सहित सैनी पंचेन्द्रिय होते हैं। इन पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के सैनी और असैनी दो भेद रूप हैं। तथा एकेन्द्रिय से लेकर चार इंद्रिय तक तो सब असैनी ही होते हैं। यहाँ किसी ने शंका की कि असैनी जन्तुओं के क्षयोपशम ज्ञानसे विचार होता है तथा क्षयोपशम से उठने वाले विकल्प को ही मन कहते हैं। यह विकल्प जब असैनी को है तब उनको असैनी क्यों कहा है ? इसका समाधान वृत्तिकार करते हैं कि असैनी को कार्य कारण की व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है—वे पहले से ही हर एक विषय में यह नहीं विचार कर सकते कि ऐसा करने से यह लाभ होगा व यह हानि होगी—असैनी जीव अपने अपने स्वभाव से बिना हानि लाभ विचारे काम करते हैं जैसे—चींटी गन्ध के विषय में व आहार आदि संज्ञा रूप से जो चतुराई रखती है वह उसके जातिस्वभाव से है, अन्य विषयों में उसका ज्ञान विचार नहीं कर सकता है । मन में यह शक्ति है कि तीन जगत व तीन काल सम्बन्धी व्याप्तिज्ञान रूप केवल ज्ञान में जो परमात्मा आदि तत्त्व जाने गए हैं उनको परोक्ष रूप से जान सकता है इसलिए वह केवल ज्ञान के समान है ।

इस गाथा में पांच इन्द्रिय धारी जीवों के उदाहरण हैं । जो मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से ऐसी शक्ति आत्मा से प्रकट कर पाते हैं जिससे वे पांचों इन्द्रियों से ज्ञान कर

सकते हैं—एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक तो सब जीव तिर्यंच ही होते हैं, पंचेन्द्रियों में भी चार इन्द्रिय के समान मन रहित असैनी तिर्यंच होते हैं तथा इन तिर्यंचों में सैनी तिर्यंच भी होते हैं। वे तीन प्रकार के होते हैं—जो पानी में पैदा होते व जीते हैं जैसे— मछली, ग्राह आदि जलचर। जो चार पद वाले घूमते हैं जैसे गाय, बैल, घोड़ा, ऊँट, हाथी, कुत्ता, हिरण ऐसे थलचर तथा जो आकाश में उड़ते हैं जैसे कबूतर, मोर, काक, चील, तोता, मैना ऐसे आकाशचर असैनी। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के दृष्टांत किसी शास्त्र में देखने को नहीं प्राप्त हुए। ऐसा सुना जाता है कि समुद्र में कई जाति के सर्प होते हैं वे असैनी होते हैं तथा जंगल में सम्मूर्च्छन उत्पन्न होने वाले तोते व मूषक असैनी होते हैं। मनुष्य, देव, नारकी सब मन सहित तिर्यंच होते हैं। जिन के मन होता है वे ज्ञान में बहुत बली होते हैं—वे पहले से ही हानि व लाभ विचार कर काम करते हैं, कहीं भय का कारण मालूम हो तो पहले से टल जाते हैं, उपकारी को पहचान कर उसके साथ उपकार करते हैं तथा जो हानिकारक मालूम होता है उसके नाश का उद्यम करते हैं। यदि कोई संकेत किया जावे तो समझ लेते हैं। यदि शिक्षा दी जावे तो ग्रहण कर लेते हैं। तर्क वितर्क कर सकते हैं। जीव आदि सूक्ष्म पदार्थों को भी जान सकते हैं। जिन के मन नहीं होता वे इन बातों से रहित होते हुए अपनी इन्द्रियों के विषयों के वशीभूत होते हुए आहार की इच्छा से आहार ढूंढते हैं, भय मालूम होने पर भागते हैं, मैथुन के भाव से एक दूसरे को स्पर्श करते हैं, परिग्रह के भाव से मूर्छावान या शरीर में व अपनी संग्रह की हुई वस्तु में अनुरागी होते हैं—मन सहित हिरण वन में अग्नि लगी हुई जानकर पहले से ही बच जायगा, उधर जायगा नहीं जब कि मन रहित एक पतंगा दीपक में एक दूसरे को जलते हुए देखकर भी यह न विचार कर सकेगा कि मुझे दीपक के पास न जाना चाहिये किन्तु फिर भी आंख के विषय का प्रेरा चला जायगा। तत्वार्थसार में संज्ञी का लक्षण ऐसा ही कहा है—

यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते।
अतस्तु विपरीतो यः सो संज्ञी कथितो जिनैः ॥६३॥

जो शिक्षा व क्रिया रूप अर्थ को ग्रहण करने वाला है वह मन सहित संज्ञी है। जो इस से विपरीत है वह मन रहित असंज्ञी है।

श्री गोम्मटसार जी में भी कहा है कि:—

सिक्खाकिरियुवदेसा लावग्गाहा मणोवलंवेण।
जो जीवो सो सण्णीतव्विवरोओ असण्णी दु ॥६६१॥

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तत्वमिदरं च ।
सिक्खदि णामेणेदिय समणो अमणो य विवरीदो ॥६६२

हित अहित को करने व छोड़ने रूप शिक्षा, हाथ, पग को इच्छा से चलाने आदि रूप क्रिया, उंगली आदि से संकेत करके उपदेश किया हुआ विधि विधानादि सो उपदेश, श्लोकादि का पाठ सो अलाप, इनका समझने वाला जो मन उसके अवलम्बन से मनुष्य, बैल, हाथी, तोता इत्यादि जीव संज्ञी नामक हैं। इस लक्षण से उल्टा लक्षण धारी जीव सो असंज्ञी है। जो पहले कर्तव्य अकर्तव्य की मीमांसा करें, विचारें, तत्व कुतत्त्व को सीखें, नाम से बुलाया हुआ आ जाय सो जीव मन सहित सैनी है। जो इससे उल्टा हो, वह असैनी है।

आगे एकेन्द्रिय आदि के भेद से जिन जीवों को कहा है उनके चार गति होती है, ऐसा कहते हैं—

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया ।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ॥१२६॥

देवों के चार समूह हैं, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। मनुष्यों के दो भेद हैं—एक वे जो भोग भूमि में जन्मते हैं। दूसरे वे जो कर्मभूमि में पैदा होते हैं। तिर्यंच बहु प्रकार हैं। पृथ्वी आदि पांच एकेन्द्रिय तिर्यंच हैं। शम्बूक आदि दो इन्द्रिय, जूँ आदि तीन इन्द्रिय, डांस आदि चार इन्द्रिय, ऐसे तीन प्रकार विकलत्रय तिर्यंच हैं। जल में चलने वाले, भूमि में चलने वाले तथा आकाश में उड़ने वाले ऐसे ऐसे द्विपद चौपद आदि पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं। रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम, महातम ऐसी सात पृथ्वी हैं जिन में सात नरक हैं। उनमें निवासी नारकी हैं। यहां सूत्र का भाव यह है कि जो जीव सिद्ध गति की भावना से रहित हैं अथवा सिद्ध के समान अपना शुद्ध आत्मा है, इस भावना से शून्य हैं उन जीवों ने जो नरकादि चार गति रूप नाम कर्म बांधा है उसके उदय के आधीन ये जीव देव आदि गतियों में पैदा होते हैं।

इस गाथा में यह दिखलाया है कि चार तरह की गति या जीवन की अवस्था जगत भर में पाई जाती है। कर्म बंधन सहित जीव इन में से किसी अवस्था को धारण करता हुआ संसार के दुःख और सुखों को भोगता है और रागद्वेष मोह के कारण नए कर्मों को बांधता है। जैन सिद्धान्त में चार आयु कर्म व चार ही गति नाम के नाम कर्म

बताए हैं। जब एक जीव किसी शरीर को त्यागता है तब आगे के लिए जैसा आयु कर्म बांधा होता है उसी आयु का व तदनुकूल गति का उदय हो जाता है—इन्हीं के उदय की प्रेरणा से विशेष गति की ओर खिंचा हुआ चला जाता है। आयु के उदय से किसी गति में बंधा रहना होता है व गति के उदय से किसी गति में बंधा रहना होता है व गति के उदय से विशेष अवस्था प्राप्त होती है। एक जीव चार में से एक ही प्रकार की आयु का बंध अपने परिणामों के अनुसार करता रहता है तथापि जिस आयु का उदय शुरू होता है उस आयु के साथ हो जाता है। देवों की अवस्था विशेष पुण्य के उदय से अन्यों से विलक्षण होती है। अस्थि, मांस, रुधिर रहित दिव्य चमकते हुए आहारक वर्गणाओं का बना हुआ उनका वैक्रियिक शरीर बहुत सुडौल परम सुन्दर मनुष्य के आकार पांच इन्द्रिय और मन रहित होता है। हाथ, पग, मुख, नासिका, चक्षु,कर्ण मस्तक आदि सब मनुष्य के समान आकार वाले होते हैं। उनके सींग, पूँछ आदि बीभत्स व कई हाथ, पग आदि ऐसा रूप नहीं होता है। उनमें इस जाति का कर्म का उदय होता है जिससे वे अपने शरीर के कई शरीर व चाहे जैसे अच्छे या बुरे शरीर बना सकते हैं—पुण्य के उदय से उनको श्वास बहुत देर पीछे आता है तथा भूख भी बहुत दिनों पीछे लगती है। यदि एक सागर का आयु हो तो पन्द्रह दिन पीछे श्वास होगा व एक हजार वर्ष पीछे भूख लगेगी। उनको बाहर से कोई वस्तु खाने की जरूरत नहीं पड़ती न उन्हें मुख चलाना पड़ता है—उनके कंठ में ऐसी कुछ शुभ वर्गणाएं होती हैं जिनसे अमृत की बून्दें झड़ जाती हैं और तुरन्त भूख मिट जाती है। इनके शरीर में रोग, व निगोदिया जीव नहीं होते—काम सेवन की इच्छा भी उच्च देवों में कमती २ होती है। सोलह स्वर्ग के ऊपर अहमिंद्र देवों में कोई देव किसी अन्य देव की देवी के साथ कुशील भाव नहीं करता है न एक दूसरे की सम्पत्ति चुराते हैं, अपने २ पुण्य के उदय से जो प्राप्त है उसी में एक दूसरे की सम्पत्ति देखकर ईर्षा भाव होता है तथा बड़े देवों की आज्ञानुसार छोटे देवों को सेना, वाहन आदि का रूप धारण करना पड़ता है। इस कारण उनके चित्त में मानसिक दुःख रहता है तथा जब आयु में छः मास शेष रहते हैं तब उनके आभूषणादि की काँति उनको मंद मालूम पड़ती है। तब वे अवधि ज्ञान से अपना मरण होना निश्चय करके "यह सब सम्पत्ति छूट जायगी" ऐसा ध्यान में लेकर आर्त ध्यान करते हैं। तब वे तिर्यंच आयु बांध कर मध्य लोक में आकर पृथ्वी, जल तथा वनस्पति कायिक जीव हो जाते हैं। देवों में इन्द्रियों के भोग की सामग्री बहुत होती है और एक प्रकार का भोग एकेन्द्रिय द्वारा एक समय में होता है। अतएव उनके एकको छोड़ दूसरे को, दूसरे को छोड़ तीसरे को भोगने की बहुत आकुलता रहती है। देवियों की आयु देवों के मुका-

बले थोड़ी होती है—सोलहवें स्वर्ग की देवी की आयु पचपन पल्य की होती है तब वहाँ बाईस सागर की उत्कृष्ट आयु देव की होती है और एक सागर दश कोड़ा कोड़ी पल्य का होता है। इस कारण एक देव को अपनी नियोगिनी बहुत सी देवियों का मरण पुनः २ देखना पड़ता है। जिस का वियोग उनके चित्तमें रहता है। देव गतिमें भी जो मिथ्यादृष्टि व विषय लम्पटी हैं वे दुःखी हैं—वहाँ भी वे ही सुखी व संतोषी रहते हैं जो सम्यग्दृष्टि और तत्वज्ञानी हैं। जैसे देव गति पुण्य के उदय को जीव के साथ असंख्यात वर्षों तक रखती है वैसे ही नरक गति पाप के उदय को असंख्यात वर्षों तक रखती है। नरक की सात पृथ्वियां हैं, उनमें नारकी महा भयानक शरीर के आकार रखने वाले पंचेन्द्रिय सैनी पैदा होते हैं। मूल में उनके भी शरीर का आकार मनुष्य के समान होता है, परन्तु उनमें अपने ही शरीर को अनेक आकार रूप बदलने की शक्ति है। इससे वे इच्छानुसार सिंह, स्याल, भेड़िया आदि अनेक भयानक पशु का रूप रख लेते हैं। नारकी एक दूसरे को देख कर क्रोधित हो जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को नाना प्रकार दुःख देते हैं। नरक की भूमि बड़ी दुर्गन्धमय होती है,पानी अत्यन्त खारा होता है। वे नारकी निरन्तर भूख प्यास की वेदना से आकुल रहते हैं, नरक की पृथ्वी की मिट्टी व नदी का खारा जल खाते पीते हैं तथापि उनकी भूख-प्यास मिटती नहीं है। जैसे देव गति में यह संसारी प्राणी दश-हजार वर्ष की आयु से लेकर तैंतीस सागर की आयु तक सुख भोगता है वैसे नरक गति में नारकी दश हजार वर्ष की आयु से लेकर तैंतीस सागर की आयु तक दुःख भोगता है। तिर्यंच गति कुछ कम पाप के उदय से होती हैं। एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि से लेकर पंचेन्द्रिय सैनी पशु, घोड़ा, बंदर, हाथी आदि सब इस गति में हैं—इनकी पराधीन व दुःखमय अवस्था सबको प्रत्यक्ष प्रगट है। ये तिर्यंच जो क्षुद्र होते हैं उनको अनेक प्रकार मनुष्य के व्यापारों से अपने प्राण देने पड़ते हैं—मांसलोलुपी मनुष्यों के कारण पंचेन्द्री सैनी बकरे, भैंस, गाय आदि पशु बड़ी निर्दयता से वध किये जाते हैं। इस गति के अपार दुःख भी विचारने से शरीर में रोमांच हो जाते हैं। मनुष्य गति कुछ पुण्य कुछ पाप दोनों के उदय से होती है। ये मनुष्य ढाई द्वीपों में पैदा होते हैं,इनमें तीस भोग भूमियाँ हैं जहाँ सदा ही युगल स्त्री पुरुष साथ पैदा होते हैं और एक युगल को जन्म देकर साथ ही मरते हैं। कल्पवृक्षों से मन के अनुसार वस्तु प्राप्त हो जाती है। मन्द कषाय से संतोष के साथ ये अपने दीर्घ जीवन को बिताते हैं। इसलिए मर कर देव गति में ही जाते हैं। ढाई द्वीप में एकसौ साठ विदेह क्षेत्र हैं। यहाँ सदा कर्म भूमि रहती है, जहाँ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या, शिल्प छः कर्मों से आजीविका हो तथा मोक्षमार्ग के लिये क्रियाएँ पालना सम्भव हों वह कर्म भूमि है। भरत तथा ऐरावत ढाई द्वीप में दस हैं। इनमें अवसर्पिणी

और उत्सर्पिणी काल का पालन होता रहता है। अवसर्पिणी के पहले, दूसरे, तीसरे काल में तथा उत्सर्पिणी के चौथे, पांचवें, छठे काल में भोग भूमि की रचना होती है। शेष तीन तीन कालों में कर्म भूमि होती है। ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात द्वीप समुद्रों में युगल तिर्यंच पैदा होते हैं। इसलिए यहाँ भी भोग भूमि है। अन्त में आधे स्वयंभूरमण द्वीप व पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में कर्म भूमि है। वहाँ तिर्यंच होते हैं। इस तरह चारों गतियों में ये जीव कर्म बंध सहित होते हुए पूर्व में बांधे कर्मों का फल भोगते हुए नए कर्मों को भी हर एक गति में बांधते रहते हैं। जहाँ तक मोह का उपशम या नाश नहीं होता है वहाँ तक संसारी जीव हर एक समय बिना किसी अन्तर के, अपने तीव्रतर, तीव्र मन्द, मंदतर कषाय के उदय के आधीन रागद्वेष मयी भावों से कर्मों का बंध अंतर्मुहूर्त्त की स्थिति से लेकर सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर तक बांधा करते हैं—चारों ही गतियों में क्रमसहित ज्ञान होता है व विषयवांछा होती है। जो कभी तृप्त नहीं होती है, इससे यह संसारी प्राणी सदा दुःखी ही रहता है।

श्री कुलभद्र आचार्य ने सारसमुच्चय में कहा है:—

अनेकशस्त्वया प्राप्ता विविधा भोगसम्पदः।
अप्सरागणसंकीर्णे दिवि देवविराजिते ॥ १४१ ॥
पुनश्च नरके रौद्रे रौरवेऽत्यन्तभीतिदे ।
नानाप्रकारदुःखौघैः संस्थितोऽसि विधेर्वशात् ॥१४२॥
तिर्यग्गतौ च यद्दुःखं प्राप्तं छेदनभेदनैः ।
न शक्तस्तत् पुमान् वक्तुं जिह्वाकोटिशतैरपि ॥१४६॥
संसृतौ नास्ति तत्सौख्यं यन्न प्राप्तमनेकधा ।
देवमानवतिर्यक्षु भ्रमता जन्तुनानिशं ॥१४७॥
चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन् संसारेऽत्यन्त भीतिदे ।
सुखदुःखान्यवाप्तानि भ्रमता विधियोगतः ॥१४८॥
एवं विधमिदं कष्टं ज्ञात्वात्यन्तविनश्वरम् ।
कथं न यासि वैराग्यं धिगस्तु तव जीवितम् ॥१४६॥
जीवितं विद्युता तुल्यं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
सन्ध्यारागसमः स्नेहः शरीरं तृणबिन्दुवत् ॥१५०॥
शक्रचापसमा भोगाः सम्पदो जलदोपमाः ।
यौवनं जलरेखेव सर्वमेतदशाश्वतम् ॥१५१॥

हे आत्मन् ! तूने देव गति में देव और देवियों में भरे हुए स्थान में नाना प्रकार की भोग सम्पदाएं बार बार पाई हैं तो भी तृप्त नहीं हुआ। अत्यन्त भयानक, क्रूर भाव से पूर्ण नर्क में भी कर्मों के उदय से जाकर नाना प्रकार के दुःखों में पड़ा हुआ है। तिर्यंचगति में छेदन भेदन आदि से जो २ दुःख तूने पाया है, उसको करोड़ों जबानों से भी कोई मनुष्य नहीं कह सकता है। इस संसार में भ्रमते हुए इस जीव ने देव, मनुष्य व तिर्यंच गति में जो कुछ सुख था वह बार २ पा लिया है परन्तु तृप्त न हुआ। कर्मों के उदय से चारों ही गतियों में इस भयानक संसार के भीतर घूमते हुए अनेक सुख तथा दुःख पाए हैं।

इस प्रकार अत्यन्त क्षणभंगुर व कष्टमयी संसार की अवस्था को जानकर क्यों नहीं वैराग्य भाव को प्राप्त करता ? यदि वैराग्य न पाएगा तो तेरा जीवन धिक्कार के योग्य है। यह जीवन बिजुली के समान चंचल है, पदार्थों का संयोग स्वप्न के समान है, स्नेह संध्या की लाली के समान है तथा शरीर तृण पर पड़े हुए जल बिन्दु के समान क्षणभंगुर है। ये भोग इन्द्रधनुष के समान हैं, सम्पत्ति मेघों के समान है, जवानी जल की रेखा के समान है—ये सभी बातें क्षणभंगुर हैं।

इसलिये ज्ञानी जीव को पंचम गति मोक्ष को ही उपादेय जान उसी की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना योग्य है।

अब आगे की गाथा में उसी त्रस तथा स्थावरपन को १४ जीव समासों द्वारा निरूपण करते हैं।

Prithivijalatejovayuvanaspatayah vividhasthavaraikendriyah.

Dwikh-trika-chatuh-pancha-ksah trasajivah bhavanti sankhadayah.—(11)

Padapatha.—पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी Pudhavijalateuvauvanapphadi, the earth, water, fire, air and plants. विविहथारेइंदी Viviha-thavare indi, various kinds of Sthavara, possessed of one sense. विगतिगचदुपंचक्खा Viga-tiga-chadu-panchkkha, of two, three, four and five senses. संखादी Sankhadi, conches, etc. तसजीवा Tasajiva, the Trasa Jivas. होंति Honti, are.

11. The earth, water, fire, air and plants are various kinds of Sthavara possessed of one sense. The Trasa Jivas, conches, etc., are possessed of two, three, four and five senses.

COMMENTARY

Jivas are classified under two principal heads—Samsari (leading a wordly existence) and Mukta (liberated). In verses 11—13 of Dravya-samgraha the Samsari Jivas with their sub-divisions are described, and the characteristics of Mukta Jiva are mentioned in verse 14.

In this verse, two varieties of Samsari Jivas are enumerated. Samsari, viz., Sthavara (Immobile) and Trasa (mobile; capable of spontaneous movement.) Earth, water, fire, air and vegetables are Sthavara Jivas and possess only one sense, viz., the sense of touch. Those Jivas which possess more than one sense are called Trasa Jivas. These might possess two, three, four or fiive senses. ⊛ Worms, oysters, conches, etc., are Trasa Jivas possesssing two senses, taste and touch. Ants, bugs, lice, etc., are Trasa Jivas having three senses, touch, taste and smell. Mosquitoes, flies, bees, etc., are Trasa Jivas of four senses, touch, taste, smell and sight. Men, birds, beasts, Gods, inmates of Hell etc., are Trasa Jivas, possessing all the five senses. viz., touch, taste, smell, sight and hearing. †

⊛"संसारिणो मुक्ताश्च ।"
"संसारिणस्त्रसस्थावरा: ।"
"पृथिव्यप् तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा: ।"
"द्वीन्द्रियादयस्त्रसा: ।"

Tattvarthadhigama Sutra II, 10, 12—14.

† In the Panchastikaya-samaya-sara, we have the following verses, the sense of which has been summarised in the Commentary:—

"पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदि जीव-संसिदा काया ।
देंति खलु मोहवहुलं फासं वहुगा वि ते तेसिं ।।····
एदे जीवनिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया ।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ।।····
संवुक्कमादुवाहा संखा सप्पो अपादगा य किमी ।
जाणंति रसं फासं जे ते वे-इंदिया जीवा ।।

It should be remembered that, though really Jivas have two characteristics, viz., pure Jnana and Darsana, it is owing to the different karmas that they assume bodies of various kinds possessed of one, two, three, four or five senses. That Jiva which resorts to earth for its body, is called Prithivi-kaya (i. e., having earth as its body). Stones, etc. are examples of this class of Jivas. So also there are Jivas who resort to water, air or fire to have bodies.

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा या ॥ १२ ॥

अन्वय—(समणा अमणा) समस्त शुभ, अशुभ विकल्पों से रहित जो परमात्मरूप द्रव्य है उससे विलक्षण अनेक तरह के विकल्प जाल रूप जो है वह मन है, उस मन से सहित जो जीव हैं उनको समनस्क संज्ञी कहते हैं तथा मन से शून्य अमनस्क यानी असंज्ञी (णेया) जानना चाहिये। (पचिंदिय) पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा असंज्ञी दोनों होते हैं। परन्तु संज्ञी तथा असंज्ञी ये दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होते हैं। नारकी, मनुष्य और देव संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। (णिम्मणा परे सव्वे) पंचेन्द्रिय से भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चारइन्द्रिय जीव मन रहित असंज्ञी होते हैं। (बादरसुहमेइंदी) बादर और सूक्ष्म जो एकेन्द्रिय जीव हैं वे भी आठ पाखुड़ी के कमल के आकार जो द्रव्य मन और उस द्रव्य मनके आधारसे शिक्षा, वचन और उपदेश क्रिया आदिका ग्राहक भाव-मन इन दोनों के न होने से असंज्ञी ही हैं। (सव्वे पज्जत्त इदरा या) इस प्रकार संज्ञी और असंज्ञी दोनों पंचेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रय तथा बादर, सूक्ष्म दो तरह के एकेन्द्रिय ये सात भेद हुए। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन ये ६ पर्याप्तियां हैं। इनमें से एकेन्द्रिय जीव आहार, शरीर एक इन्द्रिय

जूगागु भीमक्कुणपिपीलिया विच्छियादिया कीडा।
जानंति रसं फासं गंधं ते-इंदिया जीवा॥
उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरा पतंगमादीया।
रूपं रसं च गन्धं फासं पुण ते वि जाणंति॥
सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा वालिया पंचेंदिया जीवा॥"

[Verses 110, 112, 114—117.

तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियां होती हैं। विकलेन्द्रिय (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय) तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

जेहिं अरणेया जीवा गाज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था जीवसमासात्ति विएणेया ॥७०॥

जिन के द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकार की जाति जानी जायं उन धर्मों को अनेक पदार्थों का संग्रह करने वाले होने से जीव समास कहते हैं ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् उन धर्म विशेषों को जीव समास कहते हैं कि जिन के द्वारा अनेक जीव अथवा जीव की अनेक जातियों का संग्रह किया जा सके।

उत्पत्ति के कारण की अपेक्षा लेकर उसका लक्षण बताते हैं।

तसचदुजुगाणमज्झे अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये।
जीवसमासा होंति हु तब्भवसारिच्छसामण्णा ॥७१॥

त्रस स्थावर बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त प्रत्येक साधारण इन चार युगलों में से अविरुद्ध त्रसादि कर्मों से युक्त जाति नाम कर्म का उदय होने पर जीवों में होने वाले ऊर्ध्वतासामान्य रूप या तिर्यक् सामान्यरूप धर्मों को जीव समास कहते हैं। एक पदार्थ के काल क्रम से होने वाली अनेक पर्यायों में रहने वाले समान धर्म को ऊर्ध्वतासामान्य अथवा सादृश्य सामान्य कहते हैं। एक समय में अनेक पदार्थ गत सदृश धर्म को ऊर्ध्व सामान्य अथवा सादृश्य सामान्य कहते हैं। एक समय में अनेक पदार्थगत सदृश धर्म को तिर्यक् सामान्य कहते हैं। यह ऊर्ध्वता सामान्य रूप या तिर्यक् सामान्य रूप धर्म, त्रसादि युगलों में से अविरुद्ध कर्मों से युक्त एकेन्द्रियादि जाति नाम कर्म का उदय होने पर उत्पन्न होता है। इसी को जीव समास कहते हैं।

जीव समास के चौदह भेदों को गिनाते हैं।

बादरसुहमेइंदियवितिचउरिंदियअसरिणसरणी य।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ॥ ७२ ॥

एकेन्द्रिय के दो भेद हैं, बादर तथा सूक्ष्म। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि पंचेन्द्रिय, संज्ञिपंचेन्द्रिय ये सातों ही प्रकार के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही प्रकार के होते हैं। इसलिये जीव समास के सामान्य से चौदह भेद हुए।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, नित्य निगोद, इतर निगोद । इन छह के बादर सूक्ष्म के भेद से बारह भेद हुए । तथा प्रत्येक के दो भेद, एक सप्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इस तरह त्रस के पांच भेद हैं। सब मिलाकर उन्नीस भेद होते हैं। ये सभी पर्याप्त, निर्वृत्य पर्याप्त, लब्ध्य पर्याप्त होते हैं । इसलिये उन्नीस का तीन के साथ गुणा करने पर जीव समास के उत्तर भेद ५७ होते हैं। जीव-समास के उक्त ५७ भेदों के भी अवांतर भेद दिखाने के लिये स्थानादि चार अधिकारों को कहते हैं।

स्थान, योनि, शरीर की अवगाहना, कुलों के भेद इन चार अधिकारों के द्वारा सम्पूर्ण जीव समासों का क्रम से निरूपण करना चाहिये। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति भेद को स्थान कहते हैं। कन्दमूल, अण्डा, गर्भ रस, स्वेद आदि उत्पत्ति के आधार को योनि कहते हैं । शरीर के छोटे बड़े भेदों को देहावगाहना कहते हैं। भिन्न २ शरीर की उत्पत्ति को कारणीभूत नौकर्मवर्गणा के भेदों को कुल कहते हैं।

सामान्य से (द्रव्यार्थिक नय से) जीव का एक ही भेद है, क्योंकि जीव कहने से जीव-मात्र का ग्रहण हो जाता है। इसलिये सामान्य से जीवसमास का एक भेद, त्रस और स्थावर की अपेक्षा से दो भेद तथा एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय) सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रिय) की अपेक्षा से तीन भेद हैं। यदि पंचेन्द्रिय के दो भेद कर दिये जांय तो जीवसमास के एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा पांच भेद हैं अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय। पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति ये पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार काय की अपेक्षा छह भेद हैं। यदि पांच स्थावरों में त्रस के विकल और असंज्ञी संज्ञी इस प्रकार दो भेद करके मिला दिये जांय तो सात भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इस तरह चार भेद करके मिलाने से नव भेद होते हैं और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी इस तरह पांच भेद करके मिलाने से दस भेद होते हैं।

पांच स्थावरों के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा पांच युगल होते हैं। इनमें त्रस सामान्य का एक भेद मिलाने से ग्यारह भेद जीव समास के होते हैं तथा इन्हीं पांच युगलों में त्रसके विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय दो भेद मिलाने से बारह, और त्रस के विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी इस प्रकार तीन भेद मिलाने से तेरह और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय ये चार भेद मिलाने से चौदह तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये पांच भेद मिलाने से पन्द्रह भेद जीव समास के होते हैं। पृथ्वी अप तेज वायु नित्यनिगोद इतरनिगोद

इनके बादर सूक्ष्म की अपेक्षा छह युगल और प्रत्येक वनस्पति इनमें त्रस के उक्त विकले-न्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये तीन भेद मिलाने से सोलह और द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलाने से सत्रह तथा पांच भेद मिलाने से अठारह भेद होते हैं।

पृथ्वी अप तेज वायु नित्यनिगोद इतरनिगोद के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा छह युगल और प्रत्येक का प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित की अपेक्षा एक युगल मिलाकर सात युगलों में त्रस के उक्त पांच भेद मिलाने से जीवसमास के उन्नीस भेद होते हैं। इस प्रकार एक से लेकर उन्नीस तक जो जीवसमास के भेद गिनाये हैं, इनका एक दो तीन के साथ गुणा करने पर क्रम से उन्नीस, अड़तीस, सत्तावन, जीवसमास के अवान्तर भेद होते हैं।

उक्त उन्नीस भेदों की तीन पंक्ति करनी चाहिये। उनमें प्रथम पंक्ति सामान्य की अपेक्षा से है दूसरी पंक्ति अपर्याप्त तथा पर्याप्त की अपेक्षा से है और तीसरी पंक्ति पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा से है।

जीवसमास के उक्त ५७ भेदों में से पंचेन्द्रिय के छह भेद निकालने से एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सम्बन्धी ५१ भेद शेष रहते हैं। कर्म भूमि में होने वाले तिर्यंचों के तीन भेद हैं, जलचर, थलचर, नभचर। ये तीनों ही तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी होते हैं तथा गर्भज के और सम्मूर्छन होते हैं, परन्तु गर्भजों में पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं, इसलिये गर्भज के बारह भेद, और सम्मूर्छनों में पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीनों ही भेद होते हैं, इसलिये सम्मूर्छनों के अठारह भेद, सब मिलाकर कर्मभूमिज तिर्यंचों के तीस भेद होते हैं। भोग भूमि में पंचेन्द्रिय तिर्यचों के थलचर नभचर दो ही भेद होते हैं। और ये दोनों ही पर्याप्त तथा निर्वृत्य पर्याप्त होते हैं। इसलिये भोग भूमिज तिर्यंचों के चार भेद और उक्त कर्म भूमिज सम्बन्धी तीस भेद, उक्त ५१ भेदों में मिलाने से तिर्यग्गति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीवसमास के ८५ भेद होते हैं। भोग भूमि में जलचर सम्मूर्छन तथा असंज्ञी जीव नहीं होते।

मनुष्य देव नारक सम्बन्धी भेदों को गिनाते हैं। आर्यखण्ड में पर्याप्त निर्वृत्य-पर्याप्त तीनों ही प्रकार के मनुष्य होते हैं। म्लेच्छखण्ड में लब्ध्य पर्याप्त को छोड़ कर दो प्रकार के ही मनुष्य होते हैं। इसी प्रकार भोगभूमि कुभोगभूमि, देव, नारकियों में भी दो दो प्रकार के ही भेद होते हैं। इसलिये सब मिलाकर जीवसमास के ६८ भेद हुए।

योनि के तीन भेद हैं, शंखावर्त कूर्मोन्नत वंशपत्र। उनमें से शंखावर्त योनि में गर्भ नियम से वर्जित है। कूर्मोन्नतयोनि में तीर्थंकर, अर्धचक्री, चक्रवर्ती तथा बलभद्र

और अपि शब्द के सामर्थ्य से साधारण पुरुष भी उत्पन्न होते हैं। तीसरे वंशपत्र योनि में साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं, तीर्थंकरादि महापुरुष नहीं होते।

जन्म तथा उसकी आधारभूत गुण योनि के भेदों को गिनाते हैं।

जन्म तीन प्रकार का होता है, सम्मूर्छन, गर्भज और उपपाद। तथा इनके आधारभूत सचित शीत संवृत्त, अचित उष्ण विवृत और मिश्र, ये गुण योनियां होती हैं। इनमें से यथासम्भव प्रत्येक सम्मूर्छनादि जन्म के साथ लगा लेनी चाहिये।

किन जीवों के कौनसा जन्म होता है यह बताते हैं। पोत (जो उत्पन्न होते ही भागने लगें, जैसे शेर बिल्ली हिरन आदि) जरायुज (जो जेर के साथ उत्पन्न हों), अण्डज (जो अण्डे से उत्पन्न हो) इन तीन प्रकार के जीवों का गर्भ जन्म ही होता है देव नारकियों का उपपाद जन्म ही होता है। शेष जीवों का सम्मूर्छन जन्म ही होता है। उपपाद जन्म की अचित ही योनि होती है। गर्भ जन्म की मिश्र योनि ही होती है तथा सम्मूर्छन जन्म की सचित अचित मिश्र तीनों तरह की योनि होती है। उपपाद जन्म में शीत और उष्ण दो प्रकार की योनि होती है। शेष जन्मों में शीत उष्ण मिश्र तीनों ही योनि होती है। उपपाद जन्म वालों की तथा एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत ही होती है। और विकलेन्द्रियों की विवृत ही होती है। गर्भ जीवों की योनि नियम से मिश्र (संवृत विवृत की अपेक्षा) होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवों की विकलेन्द्रियों की तरह विवृत योनि ही होती है।

उक्त गुण योनि की उपसंहार पूर्वक विशेष संख्या को बताते हैं।

पूर्वोक्त क्रमानुसार सामान्य से योनियों के नियम से नव ही भेद होते हैं। विस्तार की अपेक्षा इनके चौरासी लाख भेद होते हैं।

योनि सम्बन्धी विस्तृत संख्या को दिखाते हैं।

नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथ्वी जल अग्नि वायु इन प्रत्येक की सात सात लाख, वनस्पति की दशलाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय इन प्रत्येक की दो २ लाख अर्थात् विकलेन्द्रिय की छह लाख, देव नारकी तिर्यंच इन प्रत्येक की चार २ लाख मनुष्य की चौदह लाख, सब मिलाकर ८४ लाख योनि होती है।

किस गति में कौनसा जन्म होता है ? यह दो गाथाओं द्वारा दिखलाते हैं।

देवगति और नरकगति में उपपाद जन्म ही होता है। मनुष्य तथा तिर्यंचों में गर्भ और सम्मूर्छन दो ही प्रकार का जन्म ही होता है, किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियों का सम्मूर्छन जन्म ही होता है। कर्मभूमियों में पंचेन्द्रिय, तिर्यंच

गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं । तिर्यंचों जो भोगभूमियाँ तिर्यंच हैं वे गर्भज ही होते हैं और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे भी गर्भज ही होते हैं ।

लब्ध्यपर्याप्तकों की कहाँ २ सम्भावना है और कहाँ २ नहीं है, यह बताते है ।

उपपाद और गर्भ जन्म वालों में नियम से लब्ध्य पर्याप्तक नहीं होते । और सम्मूर्छन मनुष्य नियम से लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं । नारकियों का द्रव्यवेद तथा भाववेद नपुंसक ही होता है । मनुष्य और तिर्यंचों के तीनों ही (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) वेद होते हैं । देव और भोग भूमियों के पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है । शरीरावगाहना की अपेक्षा जीव समासों का निरूपण करने से उत्कृष्ट और जघन्य शरीर की अवगाहनाओं के स्वामियों को दिखाते हैं ।

उत्पन्न होने से तीसरे समय में सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव की अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की जघन्य अवगाहना होती है और उत्कृष्ट अवगाहना-मत्स्य के होती है ।

इन्द्रिय की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण बताते हैं ।

पद्म (कमल) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, महामत्स्य इनके शरीर की अवगरा हना क्रम से कुछ अधिक एक हजार, योजन, बारह योजन, तीन कोस, एक योजन, हजा योजन लम्बी समझनी चाहिए ।

पर्याप्तक द्वीन्द्रियादिकों की जघन्य अवगाहना का प्रमाण क्या है ? और उसके धारक जीव कौन २ हैं यह बताते हैं ।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों में अनुधारी कुन्थु काणमक्षिका सित्थमत्स्य के क्रम से जघन्य अवगाहना होती है । इसमें प्रथम की घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण है और पूर्व की अपेक्षा उत्तर की अवगाहना क्रम से संख्यात गुनी २ अधिक है ।

जघन्य से लेकर उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त जितने भेद हैं उनमें किस भेद का कौन स्वामी है ? और अवगाहना की न्यूनाधिकता का गुणाकार क्या है ? यह पांच गाथाओं द्वारा बताते हैं ।

एक कोठे में सूक्ष्म, निगोदिया, वायुकाय, तेजकाय, जलकाय तथा पृथ्वीकाय इनका क्रम से स्थापन करना । इसके आगे दूसरे कोठे में वायु काय, तेजकाय, जलकाय, पृथ्वीकाय निगोदिया प्रतिष्ठित इन का कर्म से स्थापन करना और तीसरे कोठे में अप्रतिष्ठित द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय का क्रम से स्थापन करना । इसके आगे उक्त सोलह स्थानों में से आदि के ग्यारह स्थानों में से आदि ग्यारह स्थानों की तीन श्रेणी

मांडना चाहिये। छठे कोठे में अप्रतिष्ठित प्रत्येक द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रिय का स्थापन करना। इसके आगे के कोठे में क्रम से त्रीन्द्रिय, चौन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अप्रतिष्ठित प्रत्येक पंचेन्द्रिय का स्थापन करना। इन सम्पूर्ण चौंसठ स्थानों में बयालिस स्थान उत्तरोत्तर गुणित क्रम हैं। आदि के सोलह स्थान जघन्य अपर्याप्तक के हैं और प्रथम द्वितीय तृतीय श्रेणी क्रम से पर्याप्तक तथा पर्याप्तक की जघन्य उत्कृष्ट और उत्कृष्ट समझनी चाहिये। श्रेणी के आगे के प्रथम कोठे में (छठे कोठे में) पर्याप्तक की जघन्य और दूसरे कोठे में अपर्याप्तक की उत्कृष्ट तथा तीसरे कोठे में पर्याप्तक की उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यात का गुणाकार है, और इसके आगे संख्यात का गुणाकार है। सूक्ष्म और बादरों का गुणाकार स्वस्थान में क्रम से आवली और पल्य के असंख्यातवें भाग है और श्रेणिगत बाईस स्थान अपने २ एक प्रति भाग प्रमाण अधिक २ हैं। जघन्य अवगाहना के प्रमाण में एक प्रदेश और मिलाने से जो प्रमाण होता है वह असंख्यात भाग वृद्धि का आदि स्थान है। इसके आगे भी क्रम से एक २ प्रदेश की वृद्धि करनी चाहिये। जघन्य अवगाहना के प्रमाण में जघन्यपरीतासंख्यात का भाग देने से जो लब्धि आवे उतने प्रदेश जघन्य अवगाहना में मिलाने पर असंख्यात भाव वृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है।

असंख्यात भाग वृद्धि के उत्कृष्ट स्थान के आगे एक प्रदेश की वृद्धि करने से अवक्तव्य भाग वृद्धि का प्रारम्भ होता है। इसमें एक २ प्रदेश की वृद्धि होते होते जघन्य अवगाहना के प्रमाण में उत्कृष्ट संख्यात का भाग देने से जो लब्धि आवे उसमें एक कम करके जघन्य प्रमाण में जब मिला दिया जाय तब अवक्तव्य भाग वृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। इसके आगे एक और मिलाने से संख्यात भाग वृद्धि का प्रथम होता है। और इसके आगे एक २ की वृद्धि करते २ जब जघन्य का जितना प्रमाण है उस में उसका (जघन्य का) आधा और मिलाने से संख्यात भाग वृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। इसके आगे भी एक प्रदेश की वृद्धि करने पर अवक्तव्य वृद्धि का प्रथम स्थान होता है। जघन्य के प्रमाण में एक कम जघन्य का ही प्रमाण और मिलाने से अवक्तव्य वृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है और इसमें एक प्रदेश और मिलाने से संख्यातगुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है।

जघन्य को उत्कृष्ट संख्यात से गुणा करने पर संख्यातगुणवृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। इस संख्यात गुणवृद्धि के उत्कृष्ट स्थान में ही एक प्रदेश की वृद्धि करने पर अवक्तव्यगुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है।

जघन्य अवगाहना का जघन्य परीतासंख्यात के साथ गुणा करके उसमें से एक घटाने पर अवक्तव्य गुण वृद्धि का उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसमें एक प्रदेश की वृद्धि होने पर असंख्यातगुणवृद्धि का प्रथम स्थान होता है।

इस असंख्यातगुणवृद्धि के प्रथम स्थान के ऊपर क्रम से एक २ प्रदेश की वृद्धि होते होते जब सूक्ष्म अपर्याप्त वायु कार्य की जघन्य अवगाहना की उत्पत्ति के योग्य आवलि के असंख्यातवें भाग का गुणाकार उत्पन्न हो जाय तब क्रम से उस वायु काय की अवगाहना होती है। जिस प्रकार सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्त से लेकर सूक्ष्म अपर्याप्त वातकाय की जघन्य अवगाहना पर्यन्त प्रदेश वृद्धि के क्रम से अवगाहना के स्थान बताये, उसी प्रकार आगे भी तैजस्कायिक से लेकर पर्याप्त पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त सम्पूर्ण जीव समासों के प्रत्येक अन्तराल में प्रदेश वृद्धिक्रम से अवगाहना स्थानों को समझना चाहिये।

जिन जीवों की प्रथम जघन्य अवगाहना का और अनन्तर उत्कृष्ट अवगाहना का जहाँ २ पर वर्णन किया गया है उनके मध्य में जितने भेद हैं उन सबका मध्य के भेदों में अन्तर्भाव होता है।

इस प्रकार स्थान योनि तथा शरीर की अवगाहना के निमित्त से जीव समास का वर्णन करके कुलों के द्वारा जीव समास का वर्णन करते हैं।

पृथ्वीकाय के बाईस लाख कुलकोटि हैं, जलकाय के सात लाख कुलकोटि हैं। जलचरों के कुल साढ़े बारह लाख कोटि, पक्षियों के बारह लाख कोटि, पशुओं के दश लाख कोटि, छाती के सहारे चलने वाले जीव दुमुही आदि के नव लाख कोटि कुल हैं। देव, नारकी तथा मनुष्य इनके कुछ क्रम से छब्बीस लाख कोटि, पच्चीस लाख कोटि तथा बारह लाख कोटि हैं। पूर्वोक्त प्रकार से भिन्न २ जीवों के कुलों की संख्या को बताकर सबका जोड़ कितना है, यह बताते हैं।

सम्पूर्ण जीवों के समस्त कुलों की संख्या एक कोड़ा कोड़ी सतानवे लाख तथा पचास हजार कोटि है।

शंका—पर्याप्त किसे कहते हैं?

जिस प्रकार घट पट आदि के अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं इसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार के होते हैं। जो पूर्ण हैं उनको पर्याप्त कहते हैं और जो अपूर्ण हैं उनको अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्त कितने हैं और उनका स्वामी कौन है?

समाधान:—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इस प्रकार पर्याप्त के छह भेद हैं। जिन में एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार पर्याप्ति, और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,

चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञि पंचेन्द्रिय के मनःपर्याप्ति को छोड़कर शेष पांच पर्याप्ति होती हैं और संज्ञी जीवों के सभी पर्याप्तियां होती हैं। एक शरीरको छोड़कर नवीन शरीरके कारण भूत जिस नौ कर्म वर्गणा को जीव ग्रहण करता है उसको खल रस भाग रूप परिणमावने की शक्ति के पूर्ण होने को शरीर पर्याप्ति कहते हैं तथा उसी नौ कर्म वर्गणा के स्कन्ध में से कुछ वर्गणाओं को अपनी २ इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं । इसी प्रकार कुछ स्कन्धों को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं और वचन रूप होने के योग्य पुद्गल स्कन्धों को (भाषा-वर्गणा को) वचन रूप परिणमावने की जीव की शक्ति के पूर्ण होने को भाषा पर्याप्ति कहते हैं। तथा द्रव्य मन रूप होने के योग्य पुद्गल स्कन्धों को (मन वर्गणा को) द्रव्य मन के आकार परिणमावने की शक्ति के पूर्ण होने को मनः पर्याप्ति कहते हैं । इन छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार पर्याप्ति ही होती है और द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञि पंचेन्द्रिय पर्यन्त मनः पर्याप्ति को छोड़कर पांच पर्याप्ति होती हैं। और संज्ञि जीवों के सभी पर्याप्ति होती हैं। जिन जीवों के पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है उनको पर्याप्त, और जिन की पूर्ण नहीं होती है उनको अपर्याप्त कहते हैं। अपर्याप्त जीवों के भी दो भेद हैं एक निवृत्य पर्याप्त दूसरा लब्ध्य पर्याप्त। जिन की पर्याप्ति अभी तक पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु अन्तर्मुहूर्त के बाद नियम से पूर्ण हो जायगी उनको निर्वृत्य पर्याप्त कहते हैं और जिन की अभी तक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई और पूर्ण होने से प्रथम ही जिसका मरण भी हो जायगा—अर्थात् अपनी आयु के काल में जिस की पर्याप्ति कभी पूर्ण न हो उसको लब्ध्य पर्याप्तक कहते हैं। सम्पूर्ण पर्याप्ति के पूर्ण होने में कितना समय लगता है, सो बतलाते हैं:—

सम्पूर्ण पर्याप्तियों का आरम्भ तो युगपत् होता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रम से होती है। इनका काल यद्यपि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तर का कुछ २ अधिक है, तथापि सामान्य की अपेक्षा सब का अन्तर्मुहूर्त मात्र ही काल है । एक साथ सम्पूर्ण पर्याप्तियों के प्रारम्भ होनेके अनतर अन्तर्मुहूर्त काल में आहार पर्याप्ति पूर्ण होती है और उससे संख्यात भाग अधिक काल में शरीर पर्याप्ति पूर्ण होती है। इसी प्रकार आगे २ की पर्याप्ति के पूर्ण होने में पूर्व २ की अपेक्षा कुछ २ अधिक २ काल लगता है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। क्योंकि असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्यात भेद हैं। कारण असंख्यात के भी असंख्यात भेद होते हैं। इसलिये सम्पूर्ण पर्याप्तियों के समुदाय का काल भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है ।

अब आगे पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त काल बतलाते हैं—

पर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव अपनी २ पर्याप्तियों से पूर्ण होता है, तथापि जब तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक उसको पर्याप्त नहीं कहते, बल्कि निर्वृत्य पर्याप्त कहते हैं। इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन इन पर्याप्तियों के पूर्ण न होने पर भी यदि शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो गई है तो वह जीव पर्याप्त ही है। किन्तु उससे पूर्व निर्वृत्य पर्याप्तक कहा जाता है।

अब आगे लब्ध्य पर्याप्त का स्वरूप बतलाते हैं—

अपर्याप्त नाम कर्म के उदय होने से जो जीव अपने २ योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्तकाल में ही मरण को प्राप्त हो जाँय उसको लब्ध्य पर्याप्तक कहते हैं। अर्थात् जीवों का अन्तर्मुहूर्त में ही मरण होता है, और दूसरे प्रकार से इन जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकार की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है, ऐसा समझना चाहिये। यह अन्तर्मुहूर्त एक श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है। इस प्रकार के लब्ध्य पर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी में पाये जाते हैं।

प्रश्न--यदि एक जीव एक अन्तर्मुहूर्त में लब्ध्य पर्याप्तक अवस्था में ज्यादे भवों को धारण करे तो कितने कर सकता है?

उत्तर--एक अन्तर्मुहूर्त में एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस मरण और इतने ही भवों को (जन्म) भी धारण कर सकता है। अर्थात् एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव यदि निरन्तर भवों को धारण करे तो ६६३३६ जन्म और इतने ही मरणों को धारण कर सकता है, अधिक नहीं।

उक्त भवों में एकेन्द्रियादिक में से किस २ के कितने २ भवों को धारण करता है? विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के ८० भव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के ६०, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के ४० और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के २४, तथा एकेन्द्रियों के ६६१३२ भवों को धारण कर सकता है, अधिक नहीं।

एकेन्द्रिय की संख्या को स्पष्ट करते हैं।

स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण और प्रत्येक वनस्पति, इस प्रकार सम्पूर्ण ग्यारह प्रकार के लब्ध्य पर्याप्तकों में से प्रत्येक के ६०१२ भेद होते हैं। स्थूल पृथ्वी, सूक्ष्म पृथ्वी, स्थूल जल, सूक्ष्म जल, स्थूल वायु, सूक्ष्म वायु, अग्नि, सूक्ष्म अग्नि, स्थूल साधारण, सूक्ष्म साधारण तथा प्रत्येक वनस्पति इन ग्यारह प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों में से प्रत्येक के ६०१२ भव होते हैं। इसलिये

११ को ६०१२ से गुणा करने पर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के उत्कृष्ट भवों का प्रमाण ६६१३२ निकलता है।

समुद्घात अवस्था में केवलियों के भी अपर्याप्तता कही है सो किस अपेक्षा से? सकती है?

जिस सयोग केवली का शरीर पूर्ण है और उसके पर्याप्ति नाम कर्म का उदय भी मौजूद है तथा काय योग भी है, उसके अपर्याप्तता किस प्रकार हो सकती है? तो इसका कारण योग का पूर्ण न होना ही बताया है। जिसके अपर्याप्त नाम कर्मका उदय हो अथवा जिसका शरीर पूर्ण न हुआ हो उसको अपर्याप्त कहते हैं। क्योंकि पहले "जीव सरीरम-पुण्णं णिव्वत्तिअपुण्णगो ताव" ऐसा कह आये हैं। अर्थात् जबतक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक की अवस्था को निर्वृत्यपर्याप्ति कहते हैं। परन्तु केवली का शरीर भी पर्याप्ति है और उनके पर्याप्ति नाम कर्म का उदय भी है तथा काय योग आदि सभी मौजूद हैं, तथापि उनके कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण तीनों ही समुद्घात अवस्था में योग पूर्ण नहीं है इसीलिये उनको आगम में गौणता से अपर्याप्ति कहा है। मुख्यता से अपर्याप्त अवस्था जहाँ पर पाई जाती है ऐसे प्रथम द्वितीय चतुर्थ और छट्ठे ये चार ही गुणस्थान हैं।

किस २ गुणस्थान में पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था पाई है?

लब्ध्यपर्याप्तक मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक प्रथम द्वितीय चतुर्थ और छट्ठे गुणस्थान में होते हैं और पर्याप्ति उक्त चारों और शेष सभी गुणस्थानों में पाई जाती है। प्रथम गुणस्थान में लब्ध्यपर्याप्ति, निर्वृत्यपर्याप्ति व पर्याप्ति तीनों अवस्था होती है। सासादन असंयत और प्रमत्तमें निर्वृत्यपर्याप्त पर्याप्त ये दो अवस्थायें होती हैं। उक्त तथा शेष सभी गुणस्थानों में पर्याप्ति पाई जाती है। प्रमत्त गुणस्थान में जो निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था कही है, वह आहारक मिश्रयोग की अपेक्षा से है। अर्थात् सयोग-केवली भी निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं।

सासादन और सम्यक्त्व के अभाव का नियम कहां २ पर है?

द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर व भवनवासी ये तीन प्रकार के देव, तथा सम्पूर्ण स्त्रियों की अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होता और सासादन सम्यग्दृष्टी अपर्याप्त नारकी नहीं होता। सम्यक्त्वसहित जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों में और समस्थ स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता और सासादन सम्यग्दृष्टि मरण कर नरक में नहीं जाता।

अब प्राणप्ररूपणा कहते हैं—

जिस प्रकार आभ्यन्तर प्राणों के कार्यभूत नेत्रों का खोलना, वचन प्रवृत्ति उच्छ्वास निःश्वास आदि वाह्य प्राणों के द्वारा जीव जीते हैं, उसी प्रकार जिन आभ्यन्तर इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशमादिक द्वारा जीव में जीवितपने का व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं। जिन के सद्भाव में जीव में जीवितपने का और वियोग होने पर मरणपने का व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं। ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियों के कार्य रूप हैं अर्थात् प्राण और पर्याप्ति में कार्य और कारण का अन्तर है। क्योंकि गृहीत पुद्गल स्कन्ध विशेषों को इन्द्रिय वचन आदिरूप परिणमावने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति और वचन व्यापार आदि की कारणभूत शक्ति को तथा वचन आदि को प्राण कहते हैं।

प्राणों के भेदः—

पांच इन्द्रियप्राण—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। तीन बल प्राण मनो बल, वचनबल, कायबल। श्वासोच्छ्वास तथा आयु इस प्रकार ये दश प्राण हैं।

द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के प्राणों की उत्पत्ति की सामग्री बताते हैं।

मनोबल प्राण और इन्द्रिय प्राण वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण से उत्पन्न होते हैं शरीर नामकर्म के उदय से कायबलप्राण होता है। श्वासोच्छ्वास और शरीरकर्म के उदय से प्राण–श्वासोच्छ्वास उत्पन्न होते हैं। स्वनामकर्म के साथ शरीर नामकर्म का उदय होने पर वचनबल प्राण होता है। आयुकर्म के उदय से आयुःप्राण होता है। वीर्यान्तराय और अपने २ मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मनोबल और इन्द्रिय प्राण, निज और पर पदार्थ को करने में समर्थ लब्धिनामक भावेन्द्रिय रूप होते हैं। इसी प्रकार अपने २ पूर्वोक्त कारण से उत्पन्न होने वाले कायबलादिक प्राणों में शरीर की चेष्टा उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वास की प्रवृत्ति में कारणभूत शक्तिरूप श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनव्यापार को कारण भूत शक्तिरूप वचनबल प्राण, नरकादि भव धारण करने की शक्तिरूप आयुःप्राण होता है।

प्राणों के स्वामीः—

इन्द्रिय काय आयु ये तीन प्राण, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही के होते हैं। किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्त के ही होता है। और वचनबल प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रियादि के ही होता है। तथा मनोबल प्राण संज्ञि पर्याप्त के ही होता है।

एकेन्द्रियादि जीवों में किस के कितने प्राण होते हैं इसका नियम बताते हैं:—

पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रिय के दशप्राण होते हैं। शेष के पर्याप्तकों के एक २ प्राणकम होता जाता है किन्तु एकेन्द्रियों के दो कम होते हैं। अपर्याप्तक संज्ञि और असंज्ञि पंचेन्द्रिय के सात प्राण होते हैं। और शेष के अपर्याप्त जीवों के एक २ प्राण कम होता जाता है। पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय के सब ही प्राण होते हैं। असंज्ञिके मनोबल प्राण को छोड़कर बाकी नव प्राण होते है। चतुरिन्द्रिय के श्रोत्रेन्द्रिय को छोड़कर आठ, और एकेन्द्रिय के रसनेन्द्रिय तथा वचनबल को छोड़कर बाकी और प्राण होते हैं। यह सम्पूर्ण कथन पर्याप्तक की अपेक्षा से है। अपर्याप्तक में कुछ विशेषता है। वह इस प्रकार है कि संज्ञि और असंज्ञि पंचेन्द्रिय के श्वासोच्छ्वास वचनबल मनोबल को छोड़कर बाकी पांच इन्द्रिय कायबल आयुःप्राण इस प्रकार सात प्राण होते हैं। आगे एक २ कम होता गया है—अर्थात् चतुरिन्द्रिय के श्रोत्र को छोड़कर बाकी ६ प्राण, त्रीन्द्रिय के चक्षु को छोड़कर पांच, और द्वीन्द्रिय के घ्राण को छोड़कर ४ तथा एकेन्द्रिय के रसना को छोड़कर बाकी तीन प्राण होते हैं।

Samanaskah amanaskah jneyah panchendriyah nirmanaskah pare sarvve.
Badara-suksmaikendriyah sarvve Paryaptah itare cha. (12).

Padapatha—पंचेंदिय Pnachendiya, (Jivas) possessing five senses. समणा Samana, having mind. अमणा Amana, without mind. णेया Neya, are known. परे Pare, the rest. सव्वे Savve, all. णिम्मणा Nimmana, without mind. एइंदी Eindi, (Jivas) possessing one sense. बादर-सुहमा Badara-suhama, Badara and Suksma. सव्वे Savve, all. पज्जत्त Pajjatta, Paryapta (complete). य Ya, and. इदरा Idara, opposite (of Paryapta).

12. (Jivas) possessing fiive senses are known (to be divided into) those having mind and those without mind. All the rest are without mind. (Jivas) having one sense (are divided into two classes) Badara and Suksma. All (of these have again two varieties each) Paryapta and its opposite.

COMMENTARY

In this verse the fourteen varieties of Jiva commonly known as Jiva-samasa in Jain philosophy are briefly described. In Gom-

matasara (Jiva-kanda) another work of the author of Dravya-samgraha each of these varieties has been described in detail. The verse in Gommatasara which is parallel to this verse is as follows:—

"वादर-सुहुमे-इंदिय बितिचउरिंदिय असण्णिसण्णी य ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ॥"

[गोम्मटसार । जीवकाण्ड । ७२ ।]

i, e., "Jivas of one sense divided into two classes, Badara and Suksma, Jivas of two, three and four senses, Jivas having and not having Sanja, Paryapta and Aparyapta, thus they (the Jivas) are of fourteen kinds."

The accompanying table (Chart No. II.) illustrates these fourteen varieties of Jivas. It will be remembered that in Verse 11 it was told that Jivas are fiirst of all divided into two varieties Samsari and Mukta. The Samsari Jivas are subdivided into Trasa and Sthavara. The Sthavara Jivas possessed of one sense are again divided into Badara (gross) and Suksma (subtle). A Badara form is that which is fettered by matter. A Suksma form is not so fettered. That is to say, a Suksma is a subtle form unfettered by material things, earth, etc., while Badara is exactly its opposite. In Jaina philosophy it is said that all the universe is the place of existence of Suksma Jivas possessing one sense. It is also said that Badara Jivas possessing one sense must have some Adhara (substratum) in order to exist.

Jivas of five senses may be either with mind or without mind Those with mind are also known as Sanji, or having Sanja. *

Sanja consists of attempt to gain what is beneficial and leave what is harmful and a judgment of good and bad. †

* "संज्ञिनः समनस्काः ।" [Tattvarthadhigama Sutra II. 5. 24.]

† "हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोषविचारणात्मिका संज्ञा" । [Tattvartharaja-varttika on Sutra II.5,24.]

Paryapti has been thus illustrated in Gommata-sara:—

"जह पुण्णापुण्णाइं गिहघड़वत्थादियाइं दव्वाइं ।
तह पुण्णिदरा जीवा पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा ॥"

[Jiva-kanda. Verse 118.]

i. e. "As things like rooms, jars, cloths, etc., are full or empty, so Jivas should be understood to be complete or incomplete (Paryapta and Aparyapta)."

Ahara (taking food and drink), Sarira (Body), Indriya (the five senses), Anaprana (Respiration), Bhasa (Speech) and Manas (Mind), these six exist in Jivas and make them complete (Paryapta). Of these the first four make Jivas havig one sense complete, and the first five make Jivas having two, three and four senses complete. As for Jivas having five senses, all the six are necessary to make them complete. ‡ In absence of these the Jivas are incomplete (Aparyapta).

अब शुद्ध पारिणामिक परमभाव का ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसकी अपेक्षा सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं तो भी अशुद्ध नय से चौदह मार्गणा स्थान और चौदह गुण स्थानों सहित होते हैं ऐसा बतलाते हैं:—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १३ ॥

अन्वय—(मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया) जिस प्रकार पूर्व गाथ के कहे हुए चौदह जीव समासों से जीवों के चौदह भेद होते हैं उसी तरह मार्गणा और गुणस्थानों से भी होता है ऐसा जानना चाहिए। (चउदसहि) प्रत्येक चौदह २ संख्या (असुद्धणया) अशुद्ध नय की अपेक्षा से (संसारी) संसारी जीव होते हैं (सव्वे सुद्धा

‡ "आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो ।
चत्तारि पंच छुप्पि य एइंदियवियलसण्णीणं ॥"

[गोम्मटसार:, जीवकाण्ड: ११९]

हु सुद्धणया) ये ही सभी संसारी जीव शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से शुद्ध यानी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञायक रूप एवं स्वभाव धारण करने वाले हैं।

विवेचन—इस गाथा में ग्रन्थकार ने मार्गणा और गुण स्थान का निरूपण किया है। अशुद्ध नय की दृष्टि से जीव चौदह गुणस्थान तथा चौदह प्रकार का बतलाया गया है और शुद्ध नय की अपेक्षा से संसारी जीव सम्पूर्ण शुद्ध है। यह आत्मा अनादि काल से अपने अपने अखण्ड अविनाशी निज शुद्धात्मा के उपयोग से च्युत होकर हमेशा योनियों में भ्रमण करता हुआ दीर्घ संसारी होकर द्रव्य, क्षेत्र, भव, भाव और काल ऐसे पांच परावर्तन संसार में भ्रमण करता हुआ महान् भयानक संसार रूपी बांध (गड्ढे) में तड़फड़ाता हुआ पड़ा है। और इस समय महान् भयानक सघन जंगल में इसका अरण्य रोदन सुनने वाला कोई भी नहीं है केवलमात्र एक सद्गुरु ही इसका रुदन सुनकर उपदेश रूपी रस्सी के द्वारा इस दुःखी जीव को खींच सकते हैं, अन्यथा और कोई सहायता देने वाला नहीं है। जब तक कि सद्गुरु का समागम न होगा तब तक यह जीवात्मा ऊपर के चौदह गुणस्थान वाला कहलाकर चौदह प्रकार का रूप धारण करने वाला होता रहेगा। इसका कारण एक मिथ्यात्व ही है। इस मिथ्यात्व के द्वारा यह जीवात्मा कभी संज्ञी कभी असंज्ञी कभी पंचेन्द्रिय कभी दो इन्द्रिय, एकेन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इत्यादि पर्याय को धारण करते हुए चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है।

अर्थात् ऊपर की १२ वीं गाथा में कहे हुए समनस्क, अमनस्क जीव अपने २ कर्मानुसार होते हुए गुणस्थान मार्गणा स्थान इत्यादि चौदह स्थान के अशुद्ध उपयोग को प्राप्त होते हुए अशुद्ध स्थान को प्राप्त हुए हैं अर्थात् यह चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थान धारण करने वाला या चौदह स्थान को प्राप्त करने वाला यह जीवात्मा अकेला है।

इस गाथा में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि शुद्ध नय की दृष्टि से सम्पूर्ण संसारी शुद्ध हैं और अशुद्ध नय की दृष्टि से चौदह मार्गणा चौदह गुणस्थान इत्यादि की अपेक्षा से अशुद्ध हैं।

जिस प्रकार पूर्व गाथा में कहे हुए १४ जीव समासों से जीव के चौदह भेद होते हैं उसी तरह मार्गणा और गुणस्थानों से भी होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—कितनी संख्या वाले मार्गणा और गुणस्थान होते हैं ?

उत्तर—चौदह संख्या से।

प्रश्न—किस अपेक्षा से ?

उत्तर—अशुद्धनय अशुद्ध नय की अपेक्षा से।

प्रश्न—मार्गणा और गुणस्थानों से अशुद्ध नय की अपेक्षा से चौदह प्रकार के कौन कौन होते हैं ?

उत्तर--(संसारी) अर्थात संसारी जीव होते हैं। (सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया) वे ही संसारी जीव शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से शुद्ध यानी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञायक रूप एक स्वभाव धारक हैं। अब शास्त्रों में सिद्ध जो दो गाथा है, उनके द्वारा गुणस्थानों को कहते हैं--

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देस विरदोय।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहमो य ॥९॥
उवसंत खीण मोहो सजोग केवलीजिणो अजोगीय।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धियणादव्वा ॥१०॥

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्व करण, अनिवृत्तकरण, सूक्ष्म सांपराय इस सूत्र में चौथे गुण स्थान के साथ अविरत शब्द अन्त्य दीपक है। इसलिये पूर्व के तीन गुणस्थानों में भी अविरतपना समझना चाहिये। तथा छट्ठे गुणस्थान के साथ का विरत शब्द आदि दीपक है। इसलिए यहाँ से लेकर संपूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं।

उपशांत मोह, क्षीणमोह सयोग केवली जिन, अयोग केवली जिन ये १४ जीव-समास हैं और सिद्ध जीव समासों से रहित हैं अर्थात् इस सूत्र में च शब्द जो पड़ा हैं इससे यह सूचित होता है कि जीव सामान्य के दो भेद हैं एक संसारी दूसरा मुक्त। मुक्तअवस्था संसारपूर्ण की ही होती है। संसारियों के गुणस्थानकी अपेक्षा चौदह भेद है। इस के अनन्तर क्रम से गुणस्थानों में से रहित युक्त या सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। इस दूसरी गाथा में सयोग शब्द अन्त्य दीपक है इस लिए पूर्व के मिथ्यादृष्टि भी गुणस्थान-वर्ती जीव योग सहित होते हैं और जिन शब्द मध्यदीपक है इससे असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगी पर्यन्त सभी जिन होते हैं। केवली शब्द आदि दीपक है। इसलिए सयोगी तथा सिद्ध तीनों ही केवली होते हैं, यह सूचित होता है।

अब गुणस्थानों में से प्रत्येक का संक्षेप से लक्षण कहते हैं:—स्वाभाविक शुद्ध केवल ज्ञान, केवल दर्शनरूप जो अखण्ड प्रत्यक्ष प्रतिभा समय जो निज परमात्मा आदि षट द्रव्य पाँच अस्तिकाय, सात तत्व और नौपदार्थों में तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोष रहित वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नय विभाग से जिस जीव के श्रद्धान नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है। इस के परिणामों के क्रम इस तरह हैं —

(१) पाषाणरेखा के समान अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ में से कसी एक के उदय से जो प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व से गिरकर जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त न हो तब तक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनोंके बीच के परिणाम वाला जीव सासादन है। जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों को वीतराग सर्वज्ञ के कहे अनुसार मानता है और अन्य मत के अनुसार भी मानता है वह मिश्रदर्शनमोहनीय कर्म के उदय से दही और गुड़ मिले हुए पदार्थ की भाँति मिश्रगुणस्थान है।

शंका--चाहे जिससे हो मुझे तो एक देव से मतलब है अथवा सभी देव वन्दनीय हैं, निन्दा किसी भी देव की न करनी चाहिये, इस प्रकार वैनयिक और संशय मिथ्यादृष्टि मानता है, तब उसमें तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है?

इसका उत्तर यह है कि--वैनयिक मिथ्यादृष्टि तथा संशय मिथ्यादृष्टि तो सभी देवों में तथा सब शास्त्रों में से किसी एक की भक्ति के परिणाम से "मुझे पुण्य होगा" ऐसा मानकर संशय रूप से भक्ति करता है, उसको किसी एक देव में निश्चय नहीं है और मिश्रगुणस्थान वर्ती जीव के दोनों में निश्चय है। बस, यही अन्तर है। जो स्वाभाविक अनन्तज्ञान आदि अनन्त गुणका आधारभूत निज परमात्म द्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि पर द्रव्य त्याज्य है इस तरह सर्वज्ञ देव प्रणीत निश्चय व व्यवहार नय को साध्य साधक भाव से मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध, आदि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से मारने के लिये कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भांति आत्म निन्दादि सहित होकर इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थानवर्ती है। पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होकर भूमि रेखादि के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय का अभाव होने पर अन्तरंग में निश्चय नय से एक देश राग आदि से रहित स्वाभाविक सुख के अनुभव लक्षण तथा बाह्य में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनके एक देश-त्याग रूप पाँच अणुव्रतों में और दर्शन व्रत सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग इस तरह भेद हैं जैसे कि—

दंसणवयसामाइय पोसहसचित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुच्छिट्ठदेसविरदेदे ॥४७६॥

इस गाथा में कहे हुए जो श्रावक के एकादश स्थान हैं उनमें से जो किसी एक में है वह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक होता है। वही सम्यग्दृष्टि धूलि की रेखा के समान क्रोध आदि प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय का अभाव होने पर निश्चय नय से अन्तरंग में

राग आदि उपाधि रहित निज शुद्ध-अनुभव से उत्पन्न सुखामृत के अनुभव लक्षण के धारक और बाहरी विषयों में सम्पूर्ण रूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के त्याग रूप पांच महाव्रतों का जब पालन करता है तब बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहितहोता हुआ छठे गुणस्थान वर्ती प्रमत्तसंयत होता है। वही जलरेखा के तुल्य संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर प्रमाद रहित जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है उसमें मल उत्पन्न करने वाले व्यक्त अव्यक्त प्रमादों से रहित होकर सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्त संयत होता है और वही जीव संज्वलन कषायका मन्द उदय होने पर अपूर्व परम आह्लाद सुख के अनुभव रूप अपूर्व करण में उपशमक या क्षपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है। देखे सुने और अनुभव किये हुये भोगों की वांछादि रूप सम्पूर्ण संकल्प तथा विकल्परहित अपने निश्चल परमात्म स्वरूप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिन जीवों के एक समय में परस्पर अन्तर नहीं होता वे वर्ण तथा अवयवरचना भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण उपशमक क्षपक संज्ञा के धारक, अप्रत्याख्यानावरण आदि इक्कीसप्रकार की चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं। सूक्ष्म-सांपराय परमात्म तत्त्व भावना के बल से जो सूक्ष्म सांपराय लोभ कषायके उपशमक और क्षपक हैं वे दशम गुणस्थानवर्ती हैं। परम उपशम मूर्ति निज आत्मा के स्वभाव अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह को उपशम करने वाले ग्यारहवें गुण स्थानवर्ती होते हैं। उपशम श्रेणी से भिन्न क्षपक श्रेणी के मार्ग से कषाय रहित शुद्ध आत्मा की भावना के बल से जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गये हैं वे बारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। मोह के नाश हनो के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल में ही निज शुद्ध आत्मानुभव रूप एकत्व वितर्क अविचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान में स्थिर होकर उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों को एक साथ सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान किरणों से लोक अलोक के प्रकाशक तेरहवें गुण-स्थानवर्ती जिन भास्कर (सूर्य) होते हैं और मन, वचन कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में कारण जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द रूप योग है उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन होते हैं। तदनन्तर निश्चय रत्नत्रयात्मक कारण भूत समयसार नामक जो परम-यथाख्यात चारित्र है उससे पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानों से रहित ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों से रहित तथा सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणों से गर्भित निर्नाम (नाम रहित)। निर्गोत्र (गोत्र रहित) आदि अनन्त गुण सहित सिद्ध होते हैं।

यहाँ शिष्य पूछता है कि केवलज्ञान हो जाने पर जब मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रय की पूर्णता हो गई तो उसी समय मोक्ष होना चाहिये, सयोगी और अयोगी इन दो गुण

स्थानों में रहने का कोई समय ही नहीं है ?

इस शंका का परिहार करते हैं कि केवलज्ञान हो जाने पर यथाख्यात चारित्र तो हो जाता है किन्तु परम यथाख्यात चारित्र नहीं होता है। यहाँ दृष्टान्त यह है कि जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता, किन्तु उसको चोर के संसर्ग का दोष लगता है उसी तरह सयोग केवलियों के चारित्र के नाश करने वाले चारित्रमोह के उदय का अभाव है तो भी निष्क्रिय शुद्ध आत्मा के आचरण से विलक्षण जो योगों का व्यापार है वह चारित्र का दूषण उत्पन्न करता है। तीनों योगों से रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अन्त समय को छोड़कर शेष चार अघातिया कर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समय में उन अघातिया कर्मों का मन्द उदय होने पर चारित्र में दोष का अभाव हो जाता है इस कारण उसी समय अयोगी जिन मोक्ष को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार चौदह गुणस्थानों का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब चौदह मार्गणाओं को कहते हैं गति इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा तथा आहार इस तरह क्रम से गति आदि चतुर्दश मार्गणा जाननी चाहिये।

गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥१४१॥

निज आत्मा की प्राप्ति से विलक्षण नारक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव गति भेद से गतिमार्गणा चार प्रकार की है। अतीन्द्रिय शुद्ध, आत्मतत्व के प्रतिपक्षभूत एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेद से इन्द्रियमार्गणा पांच प्रकार की है। शरीर रहित आत्मतत्व से भिन्न पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय के भेद से काय मार्गणा छह तरह की होती है। व्यापार रहित शुद्ध आत्मतत्व से विलक्षण मनोयोग वचनयोग तथा काययोग के भेद से योग मार्गणा, तीन प्रकार की है अथवा विस्तार से सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग भेद से चार मनोयोग हैं। ऐसे ही सत्य, असत्य, उभय, अनुभय इन चार भेदों से वचनयोग भी चार प्रकार का है। एवं औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र आहारक, आहारकमिश्र और कार्माण ऐसे काययोग सात प्रकार के हैं। सब मिलकर योगमार्गणा पन्द्रह प्रकार की हुई। वेद के उदय से उत्पन्न होने वाले रागादिक दोषों से रहित जो परमात्मद्रव्य है उससे भिन्न स्त्री वेद, पुंवेद, और नपुंसकवेद ऐसे तीन प्रकार की वेद मार्गणा है। कषाय रहित शुद्ध आत्मा के स्वभाव से प्रतिकूल क्रोध, मान, माया, लोभ

भेदों से चार प्रकार की कषाय मार्गणा है। विस्तार से अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन भेद से १६ कषाय और हास्यादिक भेद से ६ नौ कषाय सब मिलकर पच्चीस प्रकार की कषाय मार्गणा है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल पांच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान इस तरह ८ प्रकार की ज्ञान मार्गणा है। सामायिक छेदोपस्थापन, परिहार विशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये पांच प्रकार के चारित्र और संयमासंयम तथा असंयम ये दो प्रतिपक्षी संयममार्गणा सात प्रकार की है। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन इन भेदों से दर्शनमार्गणा चार प्रकार की है। कषायों के उदय से रंगी हुई जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है उससे भिन्न जो शुद्ध आत्मतत्व से विरोध करनेवाली कृष्ण नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल ऐसी ६ प्रकार की लेश्यामार्गणा है। भव्य और अभव्य भेद से भव्यमार्गणा दो प्रकार की है।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि—शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप जो शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से जीव गुणस्थान तथा मार्गणास्थानों से रहित है ऐसा पहले कहा गया है— अब यहाँ भव्य अभव्य रूप से मार्गणायें भी आपने पारिणामिक भाव से कहा, सो यह तो पूर्वापर विरोध है ?

अब इस शंका का समाधान करते हैं कि पूर्व प्रसंग में तो शुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा से गुण स्थान और मार्गणा का निषेध किया है और यहाँ पर अशुद्ध पारिणामिक भाव रूप से भव्य तथा अभव्य तीनों मार्गणा से भी घटित होते हैं। यदि कदाचित् ऐसा कहो कि शुद्ध अशुद्ध भेद से पारिणामिक भाव दो प्रकार का नहीं है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि, यद्यपि सामान्यरूप से पारिणामिक भाव शुद्ध है ऐसा कहा जाता है तथापि अपवाद व्याख्यान से अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण जीव 'भव्याभव्यत्वानि च' इस तत्त्वार्थ सूत्र में जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व इन भेदों से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का कहा है। उनमें शुद्ध चैतन्य रूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने से शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा है तथा जो कर्म से उत्पन्न दश प्रकार के प्राणों रूप जीवत्व है वह जीवत्व भव्यत्व तथा अभव्यत्व भेद से तीन तरह का है और ये तीनों विनाशशील होने के कारण पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे जाते हैं।

इसकी अशुद्धता किस प्रकार से है ?

इस शंका का उत्तर यह है कि यद्यपि ये तीन अशुद्ध पारिणामिक व्यवहार,

नय से संसारी जीव में हैं; तथापि "सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया" इस वचन से ये तीनों भाव शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा नहीं हैं और मुक्त जीवों में तो सर्वथा ही नहीं हैं। इस कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावों में से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यान के समय ध्येय यानी—ध्यान करने योग्य होता है, ध्यानरूप नहीं होता। क्योंकि, ध्यान पर्याय विनश्वर है और शुद्ध पारिणामिक द्रव्य रूप होने के कारण अविनाशी है, यह सरांश है। सम्यक्त्वमार्गणा तीन प्रकार की है। औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक और मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन विपक्ष भेदों के साथ छह प्रकार की भी सम्यक्त्वमार्गणा जाननी चाहिये। संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व से विलक्षण जो परमात्मा का स्वरूप है उससे भिन्न संज्ञीमार्गणा संज्ञी तथा असंज्ञी भेद से दो प्रकार की है आहारक, अनाहारक जीवों के भेद से आहारमार्गणा भी दो प्रकार की है। इस प्रकार चौदह मार्गणाओं का स्वरूप जानना चाहिये। इस रीति से "पुढविजलतेयवाऊ" इत्यादि दो गाथाओं और तीसरी गाथा (णिवकम्मा अट्ठगुणा) के तीन पदों गुण जीवा पज्जती पाणासण्णाय-मग्गणा ओय उवओगो विय कम सो वीसं तु परूवणा भणिया इत्यादि गाथा में कहा हुआ स्वरूप धवल, जयधवल, और महाधवला प्रबन्ध नामक जो तीन सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनके बीज-पद की सूचना ग्रन्थकार ने की है। (सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया) इस तृतीय गाथा के चौथे पाद से शुद्ध आत्मतत्व के प्रकाशक पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समय-सार इन तीनों प्राभृतों का बीज पद सूचित किया है। यहां गुणस्थान और मार्गणाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों तथा क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्ध आत्मा का स्परूप है, अतः ये साक्षात् उपादेय हैं और जो शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप कारण समयसार है वह उसी उपादेय-भूत का विवक्षित एकदेश शुद्ध नय द्वारा साधक होने से परम्परा से उपादेय है। इनके सिवाय और सब त्याज्य हैं और जो अध्यात्म ग्रन्थ का बीज पद भूत शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहा है वह तो उपादेय है ही। इस प्रकार जीवाधिकारी में शुद्ध, अशुद्ध जीव के कथन की मुख्यता से सप्तम स्थल में तीन गाथा समाप्त हुई।

* गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णाय मग्गणाओ य।
उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा ॥२॥

गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इस प्रकार ये बीस प्ररूपणा पूर्वाचार्यों ने कही है।

सुशीला उपन्यास से उद्धृत—

* कोई यहाँ भव्य प्राणी अपने आत्महित की इच्छा से प्रश्न करता है कि हे गुरु देव ! कृपा करके बतलाओ कि मोक्षमार्ग प्राप्त होने का क्या क्रम है ?

यह सुनकर आचार्य महाराज ने कहा कि—आज का तुम्हारा प्रश्न बहुत ही उत्तम हुआ। इसके उत्तर को सुनकर तुम्हें बहुत समाधान तथा संतोष होगा। जैन मार्ग का सच्चा गौरव इसी विषय के सुनने से प्रकट होगा।

कारण के दो भेद हैं—एक समर्थकारण और दूसरा असमर्थ कारण। सहकारी समस्त सामग्री के सद्भाव पूर्वक सम्पूर्ण प्रतिबन्धकों के अभाव को समर्थ करण कहते हैं। कार्य की सिद्धि असमर्थ कारण से नहीं होती। किन्तु समर्थ कारण के सद्भाव होते ही हो जाती है। मोक्ष का समर्थ कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता तथा पूर्णता है। उसके होते ही तत्काल मोक्ष होता है। परन्तु इन तीनों की एकता पूर्णता युगपत् नहीं होती, क्रम पूर्वक होती है। तुम्हारा प्रश्न इसी क्रम के विषय में है। अच्छा तो मैं अब इसके उत्तर का प्रारम्भ करता हूं।

अनादि काल से चतुर्गति में परिभ्रमण करते हुए जीवों में से जिस जीव का अर्ध पुद्गल परावर्तन प्रमाण संसार काल शेष रहता है वह जीव सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का पात्र होता है। क्षयोपशम, देशना, विशुद्धि, प्रायोगिक तथा करण इन पांच लब्धियों का सन्धान होते हीं सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व (दर्शनमोह) तथा अनन्तानुबंधी चार कषाय इन पांच प्रकृतियों का उपशम होता है। उस समय आत्मा में जो सम्यग्दर्शन परिणाम प्रगट होता है वह प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के लाभ से आत्मा में जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उनसे मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खंड हो जाते हैं। इससे पहले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोहनीय कर्म की एक मिथ्यात्व प्रकृति ही थी।

उक्त तीन खण्डों में से एक खण्ड को सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं। विशुद्ध परिणामों के बल से इन परमाणुओं में अनुभाग शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वे सम्यक्त्व का निर्मूल घात तो नहीं कर सकते, परन्तु शंका आदि मल उत्पन्न करते हैं। दूसरे खण्ड का नाम मिश्र प्रकृति है। इसके परमाणुओं का अनुभाग इस प्रकार क्षीणाक्षीण हो जाता है कि इसके उदय से आत्मा में मिश्रित दही गुड़ के स्वाद की तरह सम्यक्त्व तथा मिथ्यास्वरूप जुदे २ परिणाम स्वरूप ही हैं। अब इस जीव के सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्ष भूत दर्शनमोह की तीन प्रकृति तथा चारित्र मोह की अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्टय इस प्रकार सात प्रकृति हुई। इन सात प्रकृतियों में से यदि मिथ्यात्व प्रकृतियों का उदय हो जाय तो यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यादृष्टि संज्ञक प्रथम गुणस्थानवर्ती हो जाता है। यदि मिथ्यात्व का उदय न हो और अनन्तानुबन्धियों में से किसी एक का उदय हो जाय तो अनन्तानुबन्धी के उदय से स्वानुभूति रूप स्वरूपाचरण का घात हो जाता है। स्वरूपाचरण और सम्यग्दर्शन का अविनाभाव होने से स्वरूपाचरण के अभाव से प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन भी छूट जाता है।

यहाँ पर मिथ्यात्व प्रकृति का उदय न होने से मिथ्यात्व भी नहीं है तथा अनन्तानुबन्धी का उदय होने से सम्यग्दर्शन भी छूट गया, इसलिये इस जीव की इस अवस्था को सासादनगुण स्थान कहते हैं। जिस जीव के मिश्र प्रकृति का उदय हो जाता है वह मिश्र परिणामों का अनुभव करने से तीसरा मिश्र गुण स्थानवर्ती कहलाता है और जिस जीव के सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होता है उसके दर्शनमोह का क्षयोपशम होने से क्षयोपशम अथवा वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

यही वेदक सम्यग्दृष्टि जीव केवली अथवा श्रुतकेवली के पाद मूल में अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि बारह प्रकृति रूप परिणाम भावना) से दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्व, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक ये तीनों ही सम्यक्त्व सहित जीव चतुर्थ गुण स्थानवर्ती कहलाते हैं। चौथे गुणस्थान के ऊपर सम्यग्दृष्टि जीव ही होते हैं तथा सम्यग्दर्शन के सद्भाव से ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है। यहां इतना विशेष है कि प्रथमोपशम तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चौथे गुण स्थान से सातवें गुणस्थान पर्यन्त ही होते हैं और क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति चौथे, पांचवें, छट्ठे, सातवें इनमें से किसी एक में होती है।

सम्यग्दर्शन ग्रहण करने के पश्चात् कोई जीव प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से हिंसादिक पाँच पापों का सर्वथा त्याग करने से असमर्थ होकर उसका एक देश त्याग करके श्रावक के व्रतों को धारण करता हुआ देशोविरत संज्ञक पंचम गुणस्थानवर्ती होता है तथा जिस जीव के प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है और संज्वलन व नौ कषायरूप चारित्र मोहनीय कर्म का भेद उदय होता है वह चौथे अथवा पांचवें गुणस्थान को त्याग कर हिंसादिक पंचपापों को सर्वथा छोड़ अप्रमत्त संज्ञक सातवें गुण स्थान को धारण कर लेता है। पश्चात् संज्वलन तथा नौ कषाय के तीव्र उदय से विकथादिक प्रमादों को प्राप्त होकर प्रमत्त संज्ञक छठे गुणस्थान में पदार्पण करता है।

छठे और सातवें इन दोनों ही गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है और इन दोनों ही गुणस्थानों को यह जीव अनेक बार छोड़ता तथा ग्रहण करता है। जब तक सातवें गुणस्थानों में से यह जीव छठे गुणस्थान को जाया करता है तब तक सातवें गुणस्थान को स्वस्थानअप्रमत्त कहते हैं और जब यह जीव श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होता है तब इस गुणस्थान को सातिशय अप्रमत्त कहते हैं। श्रेणी शब्द का अर्थ नसेनी है। यहाँ उपमार्थ में श्रेणी शब्द का ग्रहण है। अर्थात् मोक्ष रूपी महल के शिखर पर चढ़ने के लिये जो नसेनी का काम देवे, उसे श्रेणी कहते हैं। अष्ट कर्मों का नाश किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और आठों कर्मों का सरदार मोहनीय कर्म है। अतः मोहनीय कर्म का नाश किये बिना शेष सात कर्मों का नाश नहीं होता।

इसलिये सबसे पहले मोहनीय कर्म नाश किया जाता है। इस मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं। जिन में से दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक चार। इस प्रकार ७ प्रकृति सम्यग्दर्शन को घात करती है। शेष चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृति चारित्र की घातक है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मुख्य तथा स्वरूपाचरण चारित्र का घातक है परन्तु उपचार से स्वरूपाचरण चारित्र के अविनाभावी सम्यग्दर्शन का घातक है। प्रथमोपशम श्रेणी चढ़ने का अधिकारी नहीं है और वेदक सम्यग्दृष्टि श्रेणी चढ़ने से पहले अनन्तानुबन्धी चतुष्क का

विसंयोजन करके दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है अथवा उन तीनों का उपशम करके द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होता है।

श्रेणी के दो भेद हैं—एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। जिसमें चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशम किया जाय उसको उपशम श्रेणी कहते हैं और जिसमें उक्त २१ प्रकृतियों का क्षय किया जाय उसको क्षपक श्रेणी कहते हैं। श्रेणी का प्रारम्भ आठवें गुणस्थान से होता है। सातिशय अप्रमत्त में श्रेणी के सम्मुख अवस्था है। दसवें गुणस्थान के अन्त में उपशम श्रेणी वाला २२ प्रकृतियों का उपशम कर चुकता है और क्षपक श्रेणी वाला क्षय कर चुकता है।

इसके पश्चात् चारित्र मोहनीय कर्म की उपशांत अवस्था को भोगने वाले जीव को उपशांत कषाय संज्ञक ग्यारहवें गुणस्थान का धारक कहते हैं और शान्त अवस्था को भोगने वाले जीव को क्षीणमोह संज्ञक बारहवें गुणस्थानका धारक कहते हैं। इन दोनों गुणस्थान वाले जीवों की विशुद्धता में कुछ भी अन्तर नहीं है।

केवल इतना विशेष है कि ग्यारहवें गुणस्थान वाला जीव अपने स्थान से च्युत होकर नीचे के गुणस्थानों में आता है और बारहवें गुण स्थानवाला अपने स्थान से नीचे न गिरकर ऊँचा चढ़ता हुआ नियम से मोक्ष को जाता है। ये दोनों ही गुणस्थान वाले समस्त कषायों के अभाव से वीतराग छद्मस्थ कहलाते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उपशम और क्षपक दोनों ही श्रेणी चढ़ सकता है, किन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी केवल उपशम श्रेणी ही चढ़ सकता है, क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता। क्षपक श्रेणी चढ़ने का अधिकार केवल क्षायिक सम्यग्दृष्टी को ही है।

चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों को उपशमावने तथा क्षपावने के लिये यह जीव अधःप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरण संज्ञक तीन करणों को करता है। उनमें से अधःप्रवृत्तकरण सातवें, अपूर्वकरण आठवें और अनिवृत्ताकरण नववें गुणस्थान में होता है। करण नाम परिणामों का है। इन परिणामों के प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता होती जाती है, जिससे कर्मों का उपशम तथा क्षय और स्थिति खण्डन तथा अनुभाग खण्डन होते हैं। इन तीनों करणों का काल यद्यपि सामान्यालय से अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है, तथापि अधःकरण के काल के सातवें भाग अपूर्वकरण का काल है और अपूर्वकरण के काल के संख्यातवें भाग अनिवृत्तकरण का काल है। अधःकरण के परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण हैं।

अपूर्वकरण के अधःकरण के परिणामों से असंख्यातलोकगुणित हैं और अनिवृत्तकरण के काल के जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम हैं। इन सब का खुलासा अंक संदृष्टि द्वारा करते हैं:—

कल्पना करो कि अधःकरण के काल के समयों का प्रमाण १६, अपूर्व करण के काल के समयों का प्रमाण ८ और अनिवृत्त करण के समयों का प्रमाण ४ है। अधःकरण परिणामों की संख्या ३०७२, अपूर्वकरण के परिणामों की संख्या ४०९६ और अनिवृत्त करण के परिणामों की संख्या ४ है। एक समय में एक जीव के एक परिणाम होता है इसलिये एक जीव अधःकरण १६ परिणामों को ही धारण कर सकता है।

अधःकरण के परिणाम जो १६ से अधिक कहे गये हैं वे नाना भाँति के जीवों की अपेक्षा से कहे गये हैं। यहाँ इतना विशेष है कि अधःकरण के १६ समयों में से प्रथम समय में यदि कोई भी जीव अधःकरण मांडैगा, तो उसके अधःकरण के समस्त परिणामों में से पहले १३२ परिणामों में से कोई एक परिणाम होगा। अर्थात् तीन काल में चाहे जब, चाहे जो, जब कभी, अधःकरण मांडैगा, तो उसके पहले समय में नम्बर १ से नं० १६२ तक के परिणामों में से उसकी योग्यता के अनुसार कोई एक परिणाम होगा।

इसी प्रकार किसी भी जीव के उसके अधःकरण मांडने के दूसरे समय में नंबर ४० से लगाकर नम्बर २०५ तक १६६ परिणामों में से कोई एक परिणाम होगा इसी प्रकार आगे के समयों में भी मेरे हाथ में जो यह यंत्र है उसके अनुसार जान लेना चाहिये कि अधःकरण के पुनरुक्त परिणाम केवल ६१२ हैं और समस्त समयों में संभव पुनरुक्त और अपुनरुक्त परिणामों का जोड़ ३०७२ है।

इस अधःकरण के परिणाम चय (समानवृत्ति) वर्द्धित हैं अर्थात् पहले समय के परिणाम से द्वितीय समय के परिणाम जितने अधिक हैं उतने ही उतने द्वितीयादिक समयों के परिणामों से तृतीयादिक समयों के परिणाम अधिक हैं।

इस दृष्टांत चयका प्रमाण ४ है, स्थान का प्रमाण १६ और सर्वधन का प्रमाण ३०७२ है। प्रथम स्थान में वृद्धि का अभाव है, इसलिये अन्तिम स्थान में एक घाटि पद (स्थान) प्रमाण चय-वर्द्धित है। एक घाटि पद के आधे को चय और पद से गुणा करने से १५ × ४२ × १६४८० चय-धन का प्रमाण होता है।

भावार्थ—प्रथम समय के समान समस्त समयों में परिणामों को भिन्न समझकर वर्धित प्रमाण के जोड़ को चयधन वा उत्तरधन कहते हैं। धन में से चय धन को घटाकर शेष में पद का भाग देने से प्रथम समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का प्रमाण होता है। इसमें क्रम में क्रम से एक २ चय जोड़ने से द्वितीयादिक समयों के परिणाम पुंज का प्रमाण होता है। एक घाटि पद प्रमाण चय मिलने से अन्त समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का प्रमाण १६२ × १५ × ४ = २२२ होता है।

एक समय में अनेक परिणामों की सम्भावना है इसलिये एक समय में अनेक जीव अनेक परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं। अतएव एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में विसदृशता है। एक समय में अनेक जीव एक ही परिणाम को ग्रहण कर सकते हैं इसलिये एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में सदृशता है।

भिन्न समयों में अनेक जीव अनेक परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं, इसलिये भिन्न समयों में नाना जीवों की अपेक्षा से परिणामों में विसदृशता है। जो परिणाम किसी एक जीव के प्रथम समय में हो सकता है, वही किसी जीव के दूसरे समय में, किसी तीसरे जीव के तीसरे समय में और किसी चौथे जीव के चौथे समय में हो सकता है। जैसे कि १६२ नम्बर के परिणामों की प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ समय में सम्भावना है।

इतना कहकर मुनिराज ने एक पत्र पर लिखा हुआ यंत्र सबको दिखलाया:—

अधःकरण यन्त्र

नं० समय	परिणामों की संख्या और नम्बर	अनुकृष्टि रचना			
१६	२२२ ६९१–९१२	५४ ६९१–७४४	५५ ७४५–७९९	५६ ८००–८५५	५७ ८५६–९१२
१५	२१८ ६३८–८५५	५३ ६३८–६९०	५४ ६९१–७४४	५५ ७४५–७९९	५६ ८००–८५५
१४	२१४ ५८६–७९९	५२ ५८६–६३७	५३ ६३८–६९०	५४ ६९१–७४४	५५ ७४५–७९९
१३	२१० ५३५–७४३	५१ ५३५–५८५	५२ ५८६–६३७	५३ ६३८–६९०	५४ ६९१–७४४
१२	२०६ ४८५–६९०	५० ४८५–५३४	५१ ५३५–५८५	५२ ५८५–६३७	५३ ७३८–६९०
११	२०२ ४३६–४३७	४९ ४३६–४८४	५० ४८५–५३४	५१ ५३५–५८५	५२ ५८६–६३७
१०	१९८ ३८८–४८५	४८ ३८८–४३५	४९ ४३६–४८४	५० ४८५–५३४	५१ ५३५–५८५
९	१९४ ३४१–५३४	४७ ३४१–३८७	४८ ३८८–४३५	४९ ४३६–४८४	५० ४८५–५३४
८	१९० २९५–४८४	४६ २९५–३४०	४७ ३४१–३८७	४८ ३८८–४३५	४९ ४३६–४८४
७	१८६ २५०–४३५	४५ २५०–२९४	४६ २९५–३४०	४७ ३४१–३८७	४८ ३८८–४३५
६	१८२ २०६–३८७	४४ २०६–२४९	४५ २५०–२९४	४६ २९५–३४०	४७ ३४१–३८७
५	१७८ १६३–३४०	४३ १६३–२०५	४४ २०६–२४९	४५ २५०–२९४	४६ २९५–३४०
४	१७४ १२१–२९४	४२ १२१–१६२	४३ १६३–२०५	४४ २०६–२४९	४५ ३५०–२९४
३	१७० ८०–२४९	४१ ८०–१२०	४२ १२१–१६२	४३ १६३–२०५	४४ २०६–२४९
२	१६६ ४०–२०५	४० ४०– ७८	४१ ८०–१२०	४२ १२१–१६२	४३ १६३–२०५
१	१६२ १–१६२	३९ १– ३८	४० ४०– ७९	४१ ८०–१२०	४२ १२१–१६२

इन सब बातों को ध्यान में रख कर पूर्वाचार्यों ने अधः प्रवृत्तकरण का लक्षण इस प्रकार कहा है:—

जम्हा उवरिमभावा हेट्टिम भावेहि सिरसगा होंति ।
तम्हा पढमं करणं अधापवत्तोति णिद्दिट्ठं ॥

क्योंकि इस कारण में उपरितन और अधःस्तर (ऊपर और नीचे के) समय सम्बन्धी परिणामों में सदृशता होती है, इसलिये इस करण का नाम अधःप्रवृत्त करण है । इस अधःकरण में रचना का अभिप्राय ऐसा है कि ऊपर और नीचे के समय संबन्धी परिणामों में जितने समय तक सदृशता की सम्भावना है, उतने ही उतने खंड समस्त समय सम्बन्धी परिणामों के किये गये हैं और उनमें से प्रत्येक खंड में परिणामों की संख्या इतनी इतनी है कि जितने जितने परिणाम क्रम से अनन्तर समयों में सदृश हैं ।

जैसे प्रथम समय सम्बन्धी परिणाम पुंज १६२ के ३९, ४०, ४१ और ५२ ये चार खण्ड इस क्रम से किये गए हैं कि नम्बर १–३९ तक ३९ ऐसे परिणाम हैं जो ऊपर किसी भी समय में नहीं पाए जाते, इतने ही परिणामपुंज का नाम प्रथम खण्ड है । दूसरे खण्ड मेंनम्बर ४०,४९ तक ४० परिणाम ऐसे हैं, जो प्रथम और द्वितीय दोनों समयों में पाये जाते हैं । तीसरे खण्ड में नम्बर ८०-१२० तक ४१ परिणाम ऐसे हैं, जो प्रथम द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन चारों समयों में पाये जाते हैं । इसी प्रकार अन्य समयों में भी जानना । अधःकरण के ये समस्त परिणाम ऊपर पूर्व परिणाम से उत्तर २ परिणाम अनन्त २ गुणी विशुद्धता लिए हुए हैं ।

जिस प्रकार अधःकरण में ऊपर और नीचे के समय संबंधी परिणामों में सदृशता पाई जाती है उसी प्रकार अपूर्वकरण के परिणामोंमें सदृशता नहीं पाई जाती । किन्तु प्रति समय अपूर्व २ ही परिणाम होते हैं । इसी लिए इस करण का नाम अपूर्वकरण है । अर्थात ऐसे परिणाम पहले संसार अवस्था में कदापि नहीं हुए थे । अंकसंदृष्टि से अपूर्वकरण की रचना इस प्रकार है :—

नम्बर समय	परिणामों की संख्या	परिणामों के नम्बर
८	५६८	३५२९—४०९६
७	५५०२	२९७७—३५२८
६	५३६	२४४१—२९७६
५	५२०	१९२१—२४४०
४	५०४	१४१७—११२०
३	४८८	९२९—१४१६
२	४७२	४५७— ९२८
१	४५६	१—४६५

इस यंत्र में सर्वधन ४०९६ चय का प्रमाण १६ स्थान का प्रमाण ८ है । चय धन का प्रमाण ७-१६-८-४४८ । प्रथम समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का प्रमाण ४०९६-१४८-४५६ है । एक घाटि पद प्रमाण चय जोड़ने से अन्त समय सम्बन्धी परिणाम पुंज का प्रमाण ४५६-७-१६-५६८ होता है । इस यंत्र से सर्वथा स्पष्ट है कि एक समय में अनेक परिणामों की सम्भावना होने से अनेक जीव अनेक तथा एक परिणामों को ग्रहण कर सकते हैं । इसलिये एक समय में नाना जीवों की अपेक्षा से सदृशता दोनों में हो सकती है । किन्तु जो परिणाम निम्न समय में सम्भव है वह परिणाम ऊपर के समय में कदापि सम्भव नहीं है । इसलिये निम्न समयों में नाना जीवों की अपेक्षा से विसदृशता ही है सदृशता नहीं हैं ।

जिस प्रकार नाना जीवों के एक साथ में संस्थानादिक की अपेक्षा से भेद है उसी प्रकार एक समय में नाना जीवों के परिणामों में जहाँ भेद नहीं हो उसे अनिवृत्तकरण कहते हैं । उसकी अंकसंदृष्टि से रचना इस प्रकार है:—

नम्बर समय	परिणाम संख्या	परिणाम संख्या
४	१	४
३	१	३
२	१	२
१	१	१

इस अनिवृत्तकरण के काल के ४ समय हैं और चार ही उसके समस्त परिणामों का प्रमाण है । इसलिये एक समय में एक ही परिणाम है । अतएव एक समय में अनेक जीवों के परिणाम सदृश ही होते हैं, विसदृश नहीं होते । तथा भिन्न समयों में विसदृश होते हैं, सदृश नहीं होते । जिस प्रकार यह स्वरूप दृष्टान्त द्वारा कहा है उसी प्रकार यथार्थ में लगा लेना चाहिये । दृष्टांत को ही यथार्थ न समझ लेना चाहिये । इस प्रकार नववें गुणस्थान का स्वरूप कहकर अब आगे दशवें गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं ।

अनेक प्रकार अनुभागशक्ति को धारण करने वाली कर्म वर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं । नववें गुणस्थान से पहले संसार अवस्था में जो स्पर्द्धक पाये जाते हैं उनको पूर्वस्पर्द्धक कहते हैं । अनिवृत्तकरण के परिणामों से जिन का अनुभाग क्षीण हो गया है उनको अपूर्व स्पर्द्धक कहते हैं ।

इसी प्रकार अनिवृत्तकरण के परिणामों से जिनका अनुभाग अपूर्वस्पर्द्धक से भी क्षीणतर हो गया है उसको वादर कृष्टि कहते हैं तथा जिन का अनुभाग वादरकृष्टि से भी क्षीणतर हो गया

है उसको सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं। तीन करण के परिणामों के क्रम से लोभ कषाय के बिना चारित्र मोहनीय की शेष बीस प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय होने पर सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभ कषाय के उदय को अनुभव करते हुए जीव के सूक्ष्म सांपराय संज्ञक दशवां गुणस्थान होता है। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के स्वरूप पहले कह चुके हैं। अब आगे तेरहवें गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं।

इस जीव के अनादि बद्ध अष्ट कर्मों की १४८ प्रकृति है। उनमें से तद्भवमोक्षगामी जीव के नरक तिर्यंच और देव आयु इन तीन प्रकृतियों की सत्ता ही नहीं होती है। जिस काल में यह जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है तब पूर्वोक्त सात प्रकृतियों का क्षय कर लेता है। इस प्रकार तद्भव मोक्षगामी जीव के सातवें गुणस्थान के अन्तिम दश प्रकृतियों की सत्ता नष्ट हो गई तथा नववें गुणस्थान में ३६ प्रकृतियों का नाश करके दशवें गुणस्थान में लोभप्रकृतिका नाश पूर्वक बारहवें गुणस्थान के अन्त में १६ प्रकृतियों का नाश करता है।

इस प्रकार चार घातिया कर्मों की ४७ और अघातिया कर्मों की १६ कुल मिलकर ६३ प्रकृतियों के नाश होने से इस जीव के केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा योगों का इसके सद्भाव है। इस कारण यह जीव सयोगकेवली संज्ञक तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहलाता है।

इस तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव को सकलपरमात्मा तथा अर्हन् कहते हैं। इनके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप, अनन्तचतुष्टय प्रगट होते हैं। ये अपनी दिव्यध्वनि द्वारा भव्य जीवों को धर्मोपदेश देकर संसार में मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति करते हैं।

यहाँ इस जीव के मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की तो पूर्णता हो गई है परन्तु कषायों का सर्वथा नाश होने पर भी योगों का सद्भाव होने से योग और कषाय के अभाव स्वरूप चारित्र की पूर्णता नहीं हुई है। इसी कारण अभी मोक्ष भी नहीं हुई। मूल शरीर को बिना छोड़े आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने का नाम समुद्घात है।

इस समुद्घात के सात भेद हैं। १. वेदनासमुद्घात, २. कषायसमुद्घात, ३. आहारकसमुद्घात, ४. वैक्रियिक समुद्घात, ५. मारणांतिकसमुद्घात, ६. तैजसमुद्घात और ७. केवलसमुद्घात। वेदना के निमित्त से आत्मप्रदेशों के बाहर निकलने का नाम वेदनासमुद्घात है! कषाय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने का नाम कषाय समुद्घात है।

छठे गुणस्थानवर्ती मुनि की शंका उत्पन्न होने पर जो आहारक शरीर का पुतला मस्तक से निकलकर केवली के निकट शंका दूर करने को जाता है उसके साथ आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने का नाम आहारक समुद्घात है। देवादिक अनेक शरीर धारणादिक रूप जो विक्रिया करते हैं, उसके निमित्त से आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलने का नाम वैक्रियक समुद्घात है। मरण से पहले उत्पत्ति स्थान को स्पर्श करने के लिये आत्मप्रदेश का शरीर से बाहर निकलने का नाम मारणांतिक समुद्घात है। शुभाशुभ तैजसशरीर के साथ आत्म प्रदेशों के बाहर निकलने का नाम तैजससमुद्घात है।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव के आयु कर्म की स्थिति से शेष कर्मों की स्थिति जब हीनाधिक होती है तब उन सब कर्मों की स्थिति समान करने के लिये केवल समुद्घात करता है। इस केवल-समुद्घात के चार भेद हैं—दण्ड, कपाट प्रतर और लोक पूर्ण। प्रथम व्यास वाले गोल दण्डाकार हो जाते हैं। इसको दण्डकेवल समुद्घात कहते हैं। दूसरे समय में जब आत्मा के प्रदेश पूर्व पश्चिम अथवा उत्तर और दक्षिण दिशा में लोकांत को स्पर्श करें और चौड़ाई में शरीर की चौड़ाई के प्रमाण हों, ऐसी अवस्था को कपाट समुद्घात कहते हैं। वातवलय के बिना समस्त लोक में जब तीसरे समय आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते हैं, ऐसी अवस्था को प्रतरसमुद्घात कहते हैं। चौथे समय में जब आत्मा के प्रदेश वातवलय सहित समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं, ऐसी अवस्था को लोकपूर्ण समुद्घात कहते हैं। इसके पश्चात पुनः पांचवें समय में दण्डरूप और आठवें समय में पुनः शरीराकार हो जाते हैं।

इस प्रकार केवल समुद्घात करने के पश्चात् अपने गुणस्थान के अन्त में योगों का निरोध करके अयोगकेवली संज्ञक चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान का काल अ इ उ ऋ लृ इन पांच महत्त्व अक्षरों के उच्चारण काल के समान है। इस गुणस्थान के उपान्त समय में ७२ और अन्त समय में १३ इस प्रकार ८५ प्रकृतियों का नाश करके ऊर्द्धगमन स्वभाव से मोक्षधाम को प्रस्थान करता है।

Marganagunasthanaih cha chaturddasbhih bhavanti tatha asuddhanayat.
Vijneyah samsarinah sarvve suddhah khalu suddhanayat. (13).

Padapatha—तह Taha, again. संसारी Samsari, Samsari (Jiva) असुद्धणया Asuddhanaya, according to Asuddha (impure) Naya. चउदसहि Chaudasahi, (according to) fourteen. मग्गणागुणठाणेहि Magganagunathanchi, Margana and Gunasthana. हवंति Havanti, are. य Ya, but, सुद्धणया Suddhanaya, according to Suddha (pure) Naya. सव्वे Savve, all. हु Hu, surely. सुद्धा Suddha, Suddha (pure). विण्णेया Vinneya, are to be known.

13. Again, according to impure (Vyavahara) Naya, Samsari Jivas are of fourteen kinds according to Margana and Gunasthana. But according to pure Naya, all Jivas should be understood to be pure.

COMMENTARY

This verse, if thoroughly understood, will make known to us the doctrine of Jainism about the gradual stages of development of soul.

The whole of the universe is full of very minute living beings technically called Nigoda. These infinite and conscious beings are not in an appreciable state of development. From these beings come out the developing souls and, after passing the different stages of development, become liberated. There is no chance of any soul in which development has once begun to go back to the original Nigoda state. Nowhere in the universe can we find an inch of space which does not contain Nigoda beings. These beings are therefore the source from which souls longing for development come out. The stages of development are fourteen in number and technically these are known as Gunasthanas. In Gommata-sara, we have the following list of the fourteen Gunasthanas:

"मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ट सुहुमो य॥
उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा॥"

[Jiva-kanda. 9,10.]

i. e. "the fourteen Gunasthanas should be known to be Mithyatva. Sasadana. Misra, Avirata-samyaktva, Desavirata, Virata-pramatta, Itara (i. e. Apramatta), Apurva. Anivritta, Suksma, Upasanta-ksinamoha, Sayogi-kevali-jina and Ayogi."

In the first stage, a person has no beliefs in the truth of Jaina doctrines. Even when these are taught to him, he does not believe in them, but on the contrary holds false beliefs, whether taught or not. The true doctrines appear to him as distasteful as sweet syrup to a man suffering from fever. ❀This stage is known as the Mithyatva Gunasthana.

❀ "मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चग्रत्थाणं।
....
मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो॥

The second is a transitory stage. When one loses true belief and comes to believe false doctrines as in the first stage, he passes through the second stage which is known as Sasadana. This is an intermediate stage in the fall from the heights of Samyaktva (right belief) to the level of Mithyatva (false belief). †

In the third or Misra stage, a person has true and false beliefs in a mixed way. That is to say, neither a desire to have true beliefs nor a wish to give up false ones, appear in his mind. Samyaktva and Mithyatva are mixed up, like curd and treacle. ❀

A person in the fourth stage controls excessive anger, pride, deceit and greed, † and does not doubt the truth of right doctrines. But, while in this stage, he is unable to control the moderate or

---

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥"

[Gommatasara, Jiva-kanda, 15, 17, 18.]

†"सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो ।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥"

[Gommatasara, Jiva-kanda, Verse 20.]

❀ "दहि-गुडमिव वामिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं ।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो ।"

(गोम्मटसार जीवकाण्ड० २२)

† It should be mentioned here that in Jainism the passions Krodha (anger) Mana (pride), Maya (deceit) and Lobha (greed) are known as Kasayas. These passions are of four degrees. The first and the most exccessive form of these is termed Anantanubandhi. The passions in this state are said to be as permanent as lines cut out on a stone. The next stage is Pratyakhyana and the passisons last like lines on earth. The third stage is called Apratyakhyana in which passions have their existence like lines on dust. In the fourth or Samjvalana state, the passions easily disappear like lines on water. The examples given show the gradual stages of duration and permanency of the passions. As a man passes through the successive stages of development, these various classes of passions disappear one by one.

slight degrees of anger, etc. However, an effort for self-control is made as the person appreciates the value of it, though the effort is successful only to a very limited extent.

In the fifth stage, a person becomes able to control moderate degrees of passions like anger, etc., and succeeds in establishing self-control to a greater extent than in the fourth stage.

In the sixth stage, a person begins to refrain from injury, falsehood, taking any substance which is not given to him, lust and a desire to have wordly possessions. But his attempts are not always successful.

In the seventh stage, a person succeeds in practising without any transgression, non-injury, truth, chastity, non-acceptance of things not presented and of possessions in general.

In the eighth stage, mild states of passions still arise, but the person enjoys an inexpressible delight by either checking or destroying their consequences.

A person in the ninth stage becomes void of the desire to have enjoyments which he saw, heard or partook of previously, and practises meditation about the true nature of his soul.

In the tenth stage, a person by meditation becomes capable of subduing or destroying the subtle forms of greed.

In the eleventh stage, a person gains the power to control all Mohaniya (intoxicating) Karmas × but these do not disappear altogether.

In the twelfth stage, all the passions and Mohaniya Karmas disappear altogether.

A person in the thirteenth stage destroys the Karmas called

× For an explanation of Mohaniya Karmas, see the commentar on Verse 14 (Page 42).

Jnanavaraniya, Darsana-varaniya and Antaraya ‡ and appears like the sun freed from clouds. He attains knowledge of everything existing in the universe. But in this stage, Yoga † still remains which disappears in next or fourteenth stage, and the person attains liberation.

Now we shall see what is meant by Marganas. Those states by, or conditions in which, the Jivas are found are known as Marganas; and these are fourteen kinds, viz., (1) Gati, (2) Indriya, (3) Kaya, (4) Yoga, (5) Veda, (6) Kasaya, (7) Jnana, (8) Samyana, (9) Darsana, (10) Lesya, (11) Bhavya, (12) Samyaktva, (13) Samjni and (14) Ahara. ❀

Gati or condition of existence is of four kinds, viz., existence (1) as inmates of hell (2) as inmates of heaven (3) as human beings and (4) as lower animals. +

Indriya or senses are, five, e.g., the senses of sight, hearing, touch, taste and smell. ×

---

‡ The first two Karmas have been described in commentaries on Verses 4 and 5. For an account of the third, see the commentary on Verse 14. [Page 42].

† Yoga is the fourth Margana described below.

❀ "जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ।
गइ-इंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य ।
संजमदंसणलेस्सा भवियासम्मत्तसण्णि आहारे ॥"

(गोम्मटसारः । जीवकान्डः । १४१ । १४२)

+ 'गइ-उदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई ।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइत्ति य हवे चदुधा ॥"

गोम्मटसारः, जीवकाण्ड, १४६ ।

× फासरसगंधरुवे सद्दे णाणं च चिण्हयं जेसिं ।"

गोम्मटसारः, जीवकाण्ड, १६६ ।

Kaya or body is of six kinds, viz., five kinds of Sthavara earth, water, fire, air and vegetable and Trasa. ×

Yogi is the power of a Jiva possessing activities of mind, speech and body by which particles of matter are attracted towards it. ❀ Yoga or union is mainly of three kinds, viz., (1) with respect to mind (2) with respect to speech and 3) with respect to body. The first two of these, again, are each of four kinds. Mind may be turned to things which are true, to things which are false, to things which are both true and false, and to things which are neither true nor false. Speech also might be directed to truth, falsehood, mixed truth and falsehood, and neither truth nor falsehood. Unity in body, again, is of seven kinds: (1) as in the bodies of human beings and lower animals which are fixed in limits (2) a mixed state of the first (3) as in the bodies of the inmates of heaven and hell which can increase or diminish (4) a mixed state of the third (5) as in thebody which comes out of the head of a sage in the sixth stage of development to go to a Kevali † (6) a mixed state of the fifth and (7) as in the forms which result form the eight kinds of Karma. ‡

Veda or sex is of three kinds, male, female and eunuch. Kasaya or passions are four: anger, pride, deceit and greed. Each of these is, again, of four kinds, according to different degrees of

---

× See a detailed description of Trasa and Sthavara Jivas in Verse 11. (Pages 31-32).

❀ "पुग्गलविवाइ-देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥"

[गोम्मटसारः, जीवकाण्ड, २१६]

† See the commentary on Verse 10. (Page 30).

‡ For a description of eight kinds of Karma, see the commentary on Verse 1 (Page 42).

intensity. +

Jnana is of eight kinds, Mati, Sruta, Avadhi, Manah-paryaya, Kevala, Kumati, Kusruta and Vibhangavadhi.*

Samyama or restraint consists of keeping the Vratas (vows) observing the Samitis, checking the Kasayas or passions, giving up the Dandas and controlling the Indriyas (senses). ❀

Darsana is of four kinds, Chaksu, Achaksu, Avadhi and Kevala. ×

Lesya is that by which a Jiva assimilates virtue and vice with itself. † Feelings arising from Yoga, coloured by passions, lead to Bhava-Lesya and the actual colours of bodies produced by such feelings are called Dravya-Lesya. The colours are black, blue, pigeon, golden, lotus-like and white. ‡ The first three are resultants of evil, and the last three of good emotions.

+All these sixteen kinds of Kasayas have been described in a footnote on page 38.

* See Verse 5. (Page 11.)

❀ "वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणियो ॥"
(गोम्मटसारः, जीवकाण्ड, ४६४)

See Verse 35.(Page 86) for a detailed description of Vrata and Samiti

×See Verse 4. (Page 10).

† "लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजयक्खादा ॥"
[गोम्मटसारः. जीवकाण्ड, ४८८]

‡ "किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्साय ।
लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण ॥
वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।"
गोम्मटसारः, जीवकाण्ड, ४६२, ४६३ ।

That quality by which a soul attains perfect faith, knowledg and conduct is known as Bhavyatva Guna, and that by which these are obstructed is called Abhavyatva Guna. Bhavya Margana defines Jivas which possess each of these sets of qualities.

Samyaktva is perfect faith in the Tattvas or principal tenets of Jainism.

Samjni Jivas are those who with the help of mind are capable of teaching, of action, of giving advice, and of conversation Asamjni Jivas are those who are incapable of these. ‡ In Samjni Margana, each of these classes of Jivas are described.

Ahara is the assimilation of material particles by Jivas to preserve bodies.

These are fourteen kinds of Margana.

Jivas may be viewed with reference to each of these Marganas or with reference to different Gunasthanas or stages of development. But it must be remembered that all these characteristics are attributed to Jivas from the ordinary point of view, for none of them really exist in Jivas.

अब सिद्धों का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इस बात को सिद्ध करने के लिये आगे की गाथा सूत्र को कहते हैं—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवयेहिं संजुत्ता ॥१४॥

अन्वय-(सिद्धा) सिद्ध परमेष्ठी (णिक्कम्मा) संपूर्ण द्रव्य भाव कर्मों को नाश किया हुआ (अट्ठगुणा) क्षायिक सम्यक्त्व इत्यादि आठ गुणों से युक्त (चरमदेहदो) अन्तिम

---

‡ "सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंवेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीयो असण्णी दु ॥"
गोम्मटसारः, जीवकाण्ड, ६६० ।

शरीर देह से (किंचूणा) किंचित् अवगाहन वाले (लोयग्गठिदा) ऊर्ध्व गति स्वभाव वाले होने के कारण उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से लोक के शिखर में विराजमान होनेवाला है । निश्चय नय से निजात्म प्रदेश में है (णिच्चा) से निश्चय सिद्ध सम्यक्त्व पर्याय से रहित (उप्पादादव एहि संजुत्ता) अगुरु लघुत्व गुणों से, षड् वृद्धि हानि रूप होकर परिणमन करने वाले अर्थ पर्याय की अपेक्षा से जो उत्पाद व्ययों में मिले हुए हैं तथा शुद्धाशुद्ध नयापेक्षा को लेकर नौ अधिकार से, जीव द्रव्य निश्चय किये हुए हैं और वे जीव द्रव्य बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार के हैं ।

ध्येय से परद्रव्य को ही अपना मानकर परद्रव्य के प्रति सन्मुख रहने वाले को बहिरात्मा कहते हैं । हेयोपादेय तत्त्व विचारमें अपने से भिन्न पुद्गल कर्म निर्मित रागादि दोषों से अलिप्त शुद्ध चैतन्य लक्षण निजात्म स्वरूप मय वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत नव पदार्थ में रत रहकर हमेशा आत्म स्वरूप का अवलोकन करने वाले को अन्तरात्मा कहते हैं ।

सम्पूर्ण कर्म कलंक को नाश कर सर्वज्ञ परमात्मा होता है । वह परमात्मा उस त्रि-विध आत्मा चतुर्दश गुणस्थानों में आवरण से ढका हुआ है ।

तारतम्य के भेद से तीन गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा कहलाता है । असंयत गुण स्थानवर्ती जीव जघन्य अन्तरात्मा है । देशव्रती से लेकर उपशांत गुण स्थान अन्तरङ्ग तारतम्य भेद से मध्यम अन्तरात्मा कहलाता है और क्षीण कषायवर्ती उत्कृष्ट आत्मरस संयोग केवली पर्यन्त उत्कृष्ट अन्तरात्मा है ।

शुद्ध नय से विवक्षित सिद्ध सदृश अयोग केवली परमात्मा कहलाता है और सिद्ध परमेष्ठी उत्कृष्ट परमात्मा कहलाता है । इस प्रकार तीन प्रकार के आत्म स्वरूप में संसार भ्रमण के कारण से बहिरात्मा स्वरूप हेय है और मोक्ष सुख के कारण अन्तरात्मा उपादेय है। शुद्ध ज्ञानानंद मय परमात्म रूप साक्षात् उपादेय है ।

इस प्रकार नमस्कारादि चतुर्दश गाथाओं से लेकर सिद्ध नय के लक्षण तक जीव द्रव्य अधिकार का निरूपण किया ।

अब आगे दो प्रकार के जीव द्रव्य मूर्त अमूर्त इन दोनों का निरूपण करने के लिये चार गाथाओं द्वारा सूत्र कहते हैं ।

Niskarmanah astagunah kinchidunah charamadehatah siddhah,
Lokagrasthitah nityah utpadavyayavyam samjuktah.—(14).

Padapatha—णिक्कम्मा Nikkamma, void of Karmas, अट्ठगुणा Attaguna, possessed of eight qualities. चरमदेहदो Charmadehado, than the final body. किंचूणा Kimchuna, slightly less. णिच्चा Nichcha, eternal. उप्पादवयेहि Uppadavayehi, Utpada and Vyaya. संजुत्ता Samjutta, consisting of. सिद्धा Siddha, liberated. लोयग्गठिदा Loyaggathida, existing at the summit of Loka.

14. The Siddhas (or liberated Jivas) are void of Karmas, possessed of eight qualities, slightly less than the final body, eternal, possessed of Utpada (rise) and Vyaya (fall), and existent at the summit of Loka.

COMMENTARY.

According to Jainism, Jivas, as long as they are not liberated, are connected with Karma. But a liberated Jiva is free from all Karmas. Karmas are recognised to be of eight kinds, viz., Jnanavaraniya, Darsanavaraniya, Vedaniya, Mohaniya, Ayu, Nama, Gotra and Antaraya. It has already been described in the commentaries on Verses 4 and 5 (Pages 10 and 16) that Jnanavaraniya and Darsanavaraniya Karmas are those which obscure infinite Jnana and Darsana of a Jiva. Vedaniya Karmas tend to produce pain and pleasure in a Jiva. Mohaniya Karmas infatuate Jivas, making these unable to distinguish right from wrong. Ayu Karmas sustain Jivas for a certain period and determine their tenure of existence. Nama Karmas give them their personalities, and Gotra Karmas conduce to their being produced in a particular social surrounding. Antaraya Karmas throw obstacles to the performance of right action by the Jivas. Thus all these varieties of Karmas * operate to make a Jiva have different qualities and characteristics in its Samsari or worldly state of existence. But as a Jiva begins to pursue the path of gradual development, these

---

* There are may sub-divisions of each of the eight kinds of Karmas mentioned above. A detailed description of these may be found in works like Tattvarthadhigama Sutra, Chapter VIII, Gommatasara, (Karmakanda) etc.

Karmas disappear one by one until at last the said Jiva becomes liberated.

Being void of Karmas, a Jiva resides at the top of the Loka, † and the following eight qualities can then be found in it: Samyaktva, Jnana, Darsana, Virya, Suksma, Avagahana, Agurulaghu and Avyavadha. Samyaktya is perfect faith or belief in the Tattvas or essential principles of Jainism. Jnana and Darsana have been explained in Verses 4 and 5. Virya (literally, power) is the absence of fatigue in having a knowlege of infinite substances. Suksma literally means fineness, and the possession of this quality makes a liberated Jiva incapable of being perceived by the senses, which can perceive the gross bodies only. Avagaha is interpenetrability, that is to say, one liberated Jiva can allow others to exist without obstruction, just as the light of a lamp does not prevent the interpenetration of the light of other lamps. Agurulaghu means "neither heavy nor light." By possessing this quality, a liberated Jiva does neither go up like a light thing nor go down like a heavy object, but remains stationary. Avyavadha is undisturbable bliss in which the disturbance of equilibrium caused by happiness or misery is entirely absent. In a word, a liberated Jiva being freed from Karmas goes up to the summit of the Loka and remains there stationary, possessed of perfect faith, power and infinite Jnana and Darsana and enjoying eternal bliss without obstructing other Jivas of the same kind. Such a Jiva has a body slightly less than the final body as recognised in the Jaina canons.

A liberated Jiva, again, is eternal in its essential character, though perpetual modifications of its may go on in its condition. To give an example of such modifications, we may say that a ball of gold has certain essential characteristics and may alway be said to possess these characteristics throughout its various modifications. Now, if we prepare a ring from this gold, we have an

† See commentary on Pages 56 and 58.

instance of a modification which arises (Utpada) from the original state of the ball of gold. Again, if the ring be destroyed, we shall have another modification consisting of the destruction (Vyaya) of the stage of existence of the ball of gold as a ring. Every substance in the universe is, according to Jainism, possessed of the quality of permanency (Nityatva), with generation (Utpada) and decay (Vyaya) of the modifications of itself. Being possessed of these qualities, is technically called 'Sat;' and this 'Sat' defines a substance (Dravya) in Jainism. ❀

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु ॥१५॥

अन्वय—(पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं) पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश (कालो) तथा काल (अज्जीवो) इन्हें अजीव द्रव्य (णेओ) जानना चाहिये (रूवो) रूपादि (गुणो) गुणों का धारक (अमुत्ति) अर्थात् अमूर्तिक है (सेसा दु) शेष के चारों द्रव्य अमूर्तिक हैं ।

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस गाथा में यह निरूपण किया है कि जीवाधिकार के बाद 'अज्जीवोपुणणेओ' पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये अजीव द्रव्य हैं तथा

❀ "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।"

"सद्द्रव्यलक्षणम्"

[Tattvarthadhigama Sutra V. 30. 29.]

Again—

"स्वजात्यपरित्यागेन भवान्तरावाप्तिरुत्पादः । तथा पूर्वभावविगमो व्ययः । ध्रुवे स्थैयकर्म्मणोध्र वतीति ध्रुवः ।"

[Tattvartharajavarttika V. 29 (1, 2 and 3.]

i. e. "Utpada is having a modification by a substance without leaving its own kind, (e. g., the transformation of a lump of clay into a pot.) Vyaya is the change or disappearance of a form (e. g., the change of a pot into pieces). Dhrauvya consists of the existence of the essential characteristics throughout different modifications (e.g., the existence of clay as such.)"

इसमें रूप आदि गुणों का धारक पुद्गल तो मूर्तिमान है और शेष के चारों द्रव्य अमूर्तिक हैं।

पूर्ण निर्मल केवलज्ञान व केवल दर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मतिज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय आदि रूप विकल अशुद्ध उपयोग है। ये उपयोग दो प्रकार के हैं। अव्यक्ति सुख दुःख स्वभाव स्वरूप कर्म फल चेतना है। इसका निरूपण चौथी गाथा में कर चुके हैं तथा मतिज्ञान आदि मनःपर्यय तक चारों ज्ञान रूप अशुद्ध उपयोग तथा निज चेष्टा पूर्वक इष्ट अनिष्ट विकल्प रूप से विशेष रूप जो परिणाम है वह कर्मचेतना है तथा वह कर्मचेतना केवल ज्ञानरूप शुद्ध चेतना है। इस तरह पूर्वोक्त लक्षण वाला उपयोग तथा चेतना जिस में नहीं है वह अजीव है ऐसा जानना चाहिये। 'पुग्गल धम्मो अधर्म्म आयासं कालो' वह अजीव ऊपर कहे के अनुसार पांच अजीव द्रव्य है पूर्ण और गलन स्वभाव सहित वाला पुद्गल है तथा क्रम से गति स्थिति अवगाह और वर्तना लक्षण वाले धर्म अधर्म आकाश और काल ये चारों द्रव्य हैं। यानी गति में सहायक धर्म ठहरने में सहायक अधर्म अवगाह देने वाला है। आकाश द्रव्य के और वर्तना तथा लक्षण वाला काल द्रव्य है। 'पुग्गल मुत्तो' पुद्गल अमूर्तिक द्रव्य है। क्योंकि पुद्गल सर्वादिगुणों यानी रूप आदि गुणों से सहित है। 'अमूत्ति सेसा हु' पुद्गल के सिवाय शेष कर्म अधर्म आकाश और काल ये चारों द्रव्य रूप आदि गुणों के न होने से अमूर्तिक हैं। जैसे अनन्तज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्तदर्शन तथा अनन्तसुख ये चारों गुण सब जीवों में साधारण हैं उसी प्रकार रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गलों में साधारण है। जिस प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु में रूप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय है तथा जिस तरह रागआदि स्नेह गुणसे कर्म बंध की दशा में ज्ञान दर्शन, सुख वीर्य इन चारों गुणों की अशुद्धता है उसी तरह स्निग्ध रूक्षत्व गुण से द्वनुक आदि बंध दशा में रूप आदि चारों गुणों की अशुद्धता है। जैसे स्नेह रहित निज परमात्मा की भावना के बल से रागआदि स्निग्धता का विनाश हो जाने पर अनन्त चतुष्टय शुद्धता है उसी तरह जघन्य गुणों का बंध नहीं होता है इसी वचन के अनुसार परमाणु में स्निग्ध रूक्षत्व गुण की जघन्यता होने पर रूप आदि चारों गुणों की शुद्धता समझनी चाहिये।

ज्ञानी जीव अपने शुद्ध बुद्ध निजानन्द अखंड अविनाशी सम्पूर्ण पर द्रव्य परभाव से भिन्न शुद्ध अर्थात् कर्मोपाधि से रहित चिदानन्द आत्मा को जुदा जानकर शुद्ध करण शुद्ध कर्म शुद्ध फल इन चारों भेदों से आत्मा को अभेदरूप समझता है। इससे एकता का निश्चय कर किसी किसी काल में भी परद्रव्य से एकपना मान के परिणमन नहीं करता,

वही जीव अभेद रूप ज्ञायकमात्र अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है। इसी कथन को विशेषता से दिखाते हैं। जैसे लाल पुष्प के संयोग से स्फटिकमणि में रागविकार उत्पन्न हो जाता है उसी तरह अनादि काल से पुद्गल कर्म के बंधन रूप उपाधि के सम्बन्ध से जिसके रागवृत्ति उत्पन्न हुई है ऐसा परकृत विकार सहित पूर्व ही अज्ञान दशा में संसारी था उस समय में भी मेरा अन्य द्रव्य कोई भी नहीं सम्बन्धी था ऐसी अवस्था में भी अकेला ही मैं अपनी भूल से सराग चैतन्य भाव से कर्ता हुआ मैं ही एक सराग चैतन्य भाव का मुख्य कारण हुआ इससे कारण भी मैं ही कहलाया। मैं ही एक सराग चैतन्य परिणति स्वभाव से अपने अशुद्ध भाव को प्राप्त हुआ इसलिये कर्म मैं ही हुआ तथा मैं ही एक सराग चैतन्य भाव से उत्पन्न और आत्मिक सुख से उल्टा दुःख रूप कर्म फल हुआ और अब ज्ञान दशा में जैसे रक्त पुष्प के संयोग के छूट जाने से स्फटिकमणि निर्मल स्वाभाविक शुद्ध हो जाता है वैसे मैं भी सर्वथा प्रकृतियों के विकार से रहित हुआ निर्मल मोक्ष मार्ग में प्रवर्तता हूं और तो अब भी मेरा कोई नहीं। अब मैं ही एक निर्मल चैतन्य भाव से स्वाधीन कर्ता हूं, मैं ही एक निर्मल चैतन्य भाव से शुद्ध स्वभाव का अतिशय साधने वाला करण हूं मैं एक निर्मल चैतन्य परिणाम स्वभाव से शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता हूँ, इसलिये कर्म हूं और मैं ही एक निर्मल चैतन्य स्वभाव से उत्पन्न आकुलता रहित आत्मिक सुखरूप कर्म फल हूँ, इसलिए ज्ञान दशा में भी मैं ही अकेला रहकर इन चारों भेदों से अभेद रूप परिणमन करता हूँ, दूसरा कोई भी नहीं।

PUDGLA

(Pud पुद् means 'to combine' and gala गल means to dissociate).

Hence the root meaning of the word Pudgala is: 'that which undergoes modifications by combinations and dissociations". The definition of Pudgala is so full of significance and deep meaning that those who are conversant with the developments in modern atomic physics can fully admire and appreciate the use of the word 'Pudgala' to denote matter. We shall describe in brief how one form of matter is changed into another form by the combinations and dissociations of elementary constituents of matter, viz. electrons and neutrons. The nature of the electrons has already been explained on p. 13. What neutrons are we shall explain in the following pages.

"In the last century the childish musings of the alchemists ‡ were regarded as things definitely of the past; science had no more use of them; it had triumphed—so it was thought—in establishing that elements were unchangable and indivisible. In the present centruy, however, the problem which the alchemists set themselves has again been revised, though in quite a different form. It will presently be seen that this very miracle of alchemy has been performed in the Cavendish Laboratory under Lord Rutherford's direction. In the phenomenon of radio-activity elements are seen transforming themselves of their own accord into others."

The World in Modern Science by Infeld.

As explained in figure 3 on page 15 all atoms are an assemblage of electrons and protons in different numbers. Uranium, a metal element, is radio-active. Radio-activity has nothing to do with radio broadcasting. It is a tecanical term which expresses a peculiar property of certain metals. Uranium emits, day and night, unceasingly three kind of rays which are denoted by Greek names, alpha, beta and gamma. Alpha rays are streams of particles which are formed by the partial combination of electrons and protons inside the nucleus of an atom. Beta rays are streams of electrons; and gamma rays are the rays of the nature of light. When an atom of radium. ❀ The atom of radium is again radio-active, i. e., it emits day and night the same three kinds of rays. When one atom of redium loses five alpha particles it is converted into the metal lead.

This is in confirmation of the part of the definition of Pudgala. This shows the dissociative (गलयन्ति) character of Pudgala Dravya, one form of matter changing into another form by the separation of electrons and protons. In the adjoining figure is given the full chain of radio-active changes in uranium.

---

‡ Radium is the costliest metal on earth, the present price being about Rs. 3,00,000 per tola. It is being successfully used in the treatment of cancer of the heart and other deadly diseases of the skin.

In confirmation of the above series of changes in uranium metal it may be mentioned that there exist, in the earth's crust, rocks which are rich in uranium. Radio-active disintegration, i.e. the breaking up of atoms by the emission of alpha and beta rays, is unceasingly proceeding in these rocks. Geological researches have shown that the end-product viz. lead metal is always found embedded in these rocks together with uranium in a fixed proportion. It is in fact with the help of the unranium—lead ratio that the age of these rocks is estimated, thus establishing beyound doubt that lead is formed by the gradual disintegration of uranium.

We shall now give an account of the work which has been done in the Cavendish Laboratory of England in order to produce one kind of atom from another kind artificially.

Fig. 5 shows the nucleus (central core) of an atom of nitrogen gas and at the right hand top corner of the same is shewn an alpha particle which has been used as a bullet in the experiment.

The above figure shows that an alpha particle bullet from an outside source is just on the point of being shot into the interior of the nucleus. What happens after the bombarment is shewn in the next figure No. 6.

In the words Prof. Infeld "The catastrophe produced by a collisions between the nucleus of the atom and the bombarding alpha particle expels a proton from the nitrogen atom. One asks, therefore, what further happens to the bullet which has caused the catastrophe ? What becomes of the alpha particle after the collision ? To this question, too, experiment gave its answer a few years ago. The bullet remains embedded in the nucleus at which it was projected. The resulting atom shewn in Fig. 6 is the atom of oxygen. There can be no better example of the combinational (पूरयन्ति) character of Pudgala Dravya. The comparison of

figures 5 and 6 clearly shows how the foreign alpha partcle has filled an empty place and produced an atom of oxygen from an atom of nitrogen. Thus the definition of Pudgale viz. (पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः) establishes itself fully. However we shall give two more illustrated examples before closing the subject.

Fig. 7 shows the bombardment of the nucleus of lithium atom with a proton bullet. The figure elearly shows that if a proton is added to the nucleus, another alpha particle will be completed, for there are already three protons and two electrons in the free state, and the addition of one more proton will make four protons and two electrons; that the means an alpha particle. This is another example of (पूरयन्ति) i.e. filling a gap. At the same time the lower figure shows that the nucleus bursts and the two alpha particles fly in opposite directions. i. e. (गलयन्ति) It shows that in this casethe process of (पूरयन्ति) combination and dissociation proceed side by side resulting in the transformation of a lithium atom into two alpha particles.

The case of beryllum metal is intersting. As Fig 8 shows there are two alpha particles and one neutron inside its nucleus. (Neutron is another fundamantal particle which consists of one proton and one elctron as in Fig. 2 of p. 14 but not separated by a distance ; they are infact, in very close union with each other)

The lower circle of Fig. 8 shows how the bullet gets embedded in the nucleus and the neutron is shot out. This is again a case of combination and partial dissociation. The resulting atom is an atom of carbon, i. e., beryllium is convented into carbon by the alpha particle bullet.

Experiments have been performed with many more metals but these examples will suffice. It should be noted that in all these experiments alpha particles or proton bullets of very great energy were produced by highly technical methods and then shot into the atoms so that the bullets may penetrate the interior of

5 and the nucleus and produce the transformations recorded.

This discussion leaves no doubt that the selection of the word Pudgala for matter if full of very deep meaning and must have been selected after a profound thinking. It is worthy of note that the use of this word is quite peculiar to Jainisim; it does not even exist in the lexicons edited by non-Jain writers.

Ajivah punah jneyah pudgalah dharmah adharmah akasam
Kalah, pudgalah murtha rupadigunah amurttayah sesah tu—[15]

Padapatha—पुण Puna, again. Puggala, Pudgala. धम्मो Dhammo, Dharma. अधम्म Adhamma, Adharma. आयासं Ayasam, Akasa. कालो Kalo, Kala, (Time). अज्जीवो Ajjivo, Ajiva. णेओ Neyo, to be known. पुग्गल Puggala, Pudgala. रुवादिगुणो Ruvadiguno, possessing the qualities, Rupa, etc. मुत्तो Mutto, having form. दु Du, but. सेसा Sesa, the rest. अमुत्ति Amutti, without form.

15. Again, Ajiva should be known to be Pudgala, Dharma, Adharma, Akasa and Kala. Pudgala has form and the qualities, Rupa, etc. But the rest are without form.

COMMENTARY.

We have now arrived at the end of the subdivisions of Dravya. The following table will illustrate the varieties of Dravya with sub-classes.
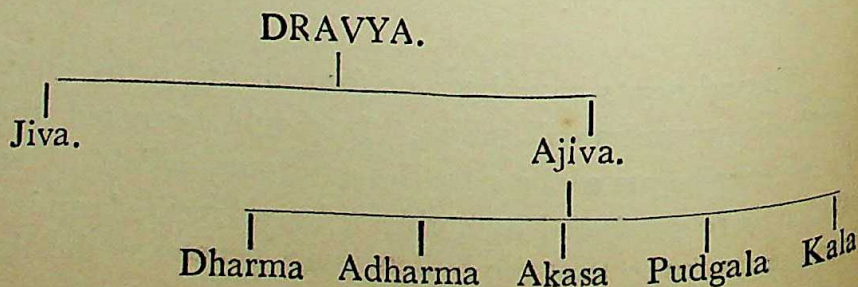
Innumerable passages might be quoted from all sorts of Jain works which contain a mention and description of these varieties of Dravya. In Tattvarthadhigama Sutra we have:—

"द्रव्याणि ।" [V. I ·]

"अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला" । [V. I].

"जीवाश्च ।" [V. 3].

"कालश्च ।" [V. 39].

i. e.. "The Dravyas are Dharma, Adharma, Akasa and Pudgala which are Ajivas having Kaya (body). The Jivas also (are Dravyas). Kala too is Dravya."

Jiva and the four Ajivas Pudgala, Dharma, Adharma, and Akasa have Kaya (body) and are known as Phanchastikayas (the Five Astikayas). Kala, though an Ajiva, has no body. It is Akaya (or without body). This is why Kala is mentioned separately and last of all in the Sutras quoted above.

In all the Jaina Puranas there is a description of Dravyas. We quote one verse ony from a manuscript of Vardhamana Purana by Bhattaraka Sakalakirti.

"अथ पुद्गल एवात्र धर्मोऽधर्मो द्विधा नभः ।
कालश्च पञ्चधैवेत्यजीवतत्त्वं जगौ जिनः ॥"

[Canto XVI. Sloka 15.]

i. e. "Then Jina (Mahavira) spoke about the five sorts of Ajiva, viz., Pudgala, Dharma, Adharma, Akasa and Kala.

As in all the Puranas so in all Jain Kavyas also we find enumeration and description of Dravyas. A peculiarity of Jain Kavyas is that in the last Canto of nearly all of these works we find a brief summary of the principles of Jainism. It is no wonder therefore that we shall find a description of Dravyas there. Two such passages are quoted here.

"धर्माधर्मौ नभः कालः पुद्गलश्चेति पञ्चधा ।
अजीवः कथ्यते सम्यग्जिनैस्तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥
षड्-द्रव्याणीति वर्ण्यन्ते समं जीवेन तान्यपि ।
विना कालेन तान्येव यान्ति पञ्चास्तिकायताम् ॥"

[Dharmasarmabhyudaya Kayya, Canto XXI. 81, 82]

"धर्माधर्मावथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ।
अजीवः पञ्चधा ज्ञेयो जिनागमविशारदैः ॥
एतान्येव सजीवानि षड्द्रव्याणि प्रचक्षते ।
कालहीनानि पञ्चास्तिकायास्तान्येव कीर्त्तिताः ॥"

[Chandraprabha-Charita Kavya, Canto XVIII. 67.68]

i. e., "Dharma, Adharma, Akasa, Kala and Pudgala—these five are called Ajivas. These with Jiva make up the six Dravyas. Excluding Kala, the remaining five make up the five Astikayas."

It is needless to quote any more parallel passages from works like Panchastikayasamayasara, Dravyanuyogatarkana, etc."

In the text we have "Pudgala has form." In Tattvarthadhigama Sutra, we find "The Pudgalas have Rupa" ["रूपिणः पुद्गलाः V. 5]. The following explanation of Rupa in this aphorism is found in the Tattvartharaja-va-rttika : "Though the word Rupa has various meanings, it is here synonymous with 'shape' according to the authority of the Sastras. Or it may be taken to mean a certain quality (viz., that quality which is capable of being perceived by the eyes "चक्षुर्ग्रहणयोग्यः")" ※ The word "Murttah" in our text signifies 'that which has Murtti (shape).' This Murtti should be understood to be the same as "Rupa" mentioned in Tattvar-

※ "रूपशब्दस्यानेकार्थत्वे मूर्तिपर्यायग्रहणं शास्त्रसामर्थ्यात् ।"
"गुणविशेषवचनग्रहणे वा ।"

Varttikas 2, 3 on Aphorism V. 5]

thadhigama Sutra. That is to say the word "Rupa" in our text is not used in the same sense as it is used in the Tattvarthadhigama Sutra. In the latter "Rupa" is used to denote "Shape or form" but in our text it is used to denote "Colour". In our taxt "Shape or form" is indicated by the word "Murtti" and not "Rupa." This should be remembered to avoid confusion.

In our text we have "Pudgalas have the qualities, Rupa, etc." The qualities are touch, taste, smell and colour. All these qualities are enumerated in Tattvarthadhigama Sutra "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" [V. 23] i.e., "Pudgalas have touch, taste, smell and colour." In Vardhamana-Purana by Sakalakirti also we have

"वर्णगन्धरसस्पर्शमयाश्चानन्तपुद्गलाः ।"

[Canto XVI. verse 16.]

i.e., "Pudgalas are endless and characterised by colour smell, taste and touch." The varieties of colour, etc., have already been mentioned in the commentary to Verse 7. (Page 23).

Thus we find that among the five varieties of Ajiva, Pudgala has shape and possesses colour, smell, taste and touch. The other four Ajivas, Dharma, Adharma, Kala and Akasa have no form.

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥ १६ ॥

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल संस्थान, भेद, तप, छाया, उद्योत और आतप सहित सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं ।

शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योग और आतप के सहित पुद्गल द्रव्य की पर्याय होती है । अब इसको विस्तार से बतलाते हैं—भाषात्मक और अभाषात्मक ऐसे शब्द दो तरह के हैं । उनमें भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक रूप से दो तरह का है । उनमें भी अक्षरात्मक भाषा संस्कृत, प्राकृत और उनके अपभ्रंशरूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य, म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार का कारण अनेक प्रकार का है । अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों में तथा

सर्वज्ञ की दिव्य-ध्वनि में है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैश्रसिक के भेद से दो तरह का है। उनमें वीणा आदि के शब्द को तत, ढोल आदि के शब्द को वितत, मंजीरे तथा ताल आदि के शब्द को घन और बंशी आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं। इस श्लोक में कहे हुए क्रम से प्रायोगिक (प्रयोग से पैदा होने वाला) शब्द चार तरह का है, विश्रसा अर्थात् स्वभाव से होने वाला जो वैश्रसिक शब्द बादल आदि से होता है, वह अनेक तरह का है तथा च शब्द से रहित निज परमात्मा की भावना से छूटे हुए तथा शब्द आदि मनोज्ञ, अमनोज्ञ, पंच-इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव ने जो सुस्वर तथा दुःस्वर नाम कर्म का वन्ध किया उस कर्म के उदय के अनुसार यद्यपि जीव में शब्द जान पड़ता है तो भी वह शब्द जीव के संयोग से उत्पन्न होने के निमित्त से व्यवहार नय की अपेक्षा जीव का शब्द कहा जाता है, किन्तु निश्चय नय से तो वह शब्द पुद्गल रूप ही है।

अब बंध को कहते हैं—मिट्टी आदि का पिण्ड रूप जो बंध है और जो कर्म नौ कर्म रूप बंध है वह जीव और पुद्गल के संयोग से होने वाला बंध है। यहाँ विशेष इतना है कि कर्म बंध से भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा की भावना से रहित अज्ञानी जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य बंध है और उसी तरह अशुद्ध निश्चय नय से जो वह रागादिक रूप भावबंध कहा जाता है वह भी शुद्ध निश्चय नय से पुद्गल का ही बन्ध है। बेल आदि की अपेक्षा बेर आदि फलों में सूक्ष्मता है और परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता है यानी—परमाणु की सूक्ष्मता किसी की अपेक्षा से नहीं है। बेर आदि की अपेक्षा बेल आदि में स्थूलता (बड़प्पन) है, तीन लोक में व्याप्त महास्कन्ध में सब से अधिक स्थूलता है। समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन और हुँडक ये ६ प्रकार के संस्थान व्यवहार नय से जीव के होते हैं, किन्तु संस्थान शून्य चेतन चमत्कार परिणाम से ही भिन्न होने के कारण निश्चय नय की अपेक्षा संस्थान पुद्गल का ही होता है। जो जीव से भिन्न गोल,त्रिकोण,चौकोर आदि प्रकट अप्रकट अनेक प्रकार से संस्थान के(आकार के)भेद जानने जाहिये। दृष्टि को रोकने वाला जो अन्धकार है उसको तम कहते हैं। पेड़ आदि के आश्रय से होने वाली तथा मनुष्य आदि की परछाईं रूप जो है उसे छाया जानना चाहिये। चन्द्रमा के विमान में तथा जुगुनू आदि तिर्यंच जीवों में "उद्योत" होता है। सूर्य के विमान में तथा सूर्यकान्त आदि मणि रूप पृथ्वी: काय में "आतप" जानना चाहिये। सारांश यह है कि जिस प्रकार शुद्ध निश्चय नय से जीव के निज-आत्मा की उपलब्धि रूप सिद्ध-स्वरूप में स्वभाव व्यंजन पर्याय विद्यमान होने पर भी अनादि कर्म बन्धन के कारण पुद्गल के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण के स्थान भूत रागद्वेष

परिणाम होने पर स्वाभाविक परमानन्द रूप स्व-भाव से भ्रष्ट हुए जीव के मनुष्य, नारक आदि विभाव-व्यंजन पर्याय होते हैं उसी तरह पुद्‌गल में भी निश्चय नय की अपेक्षा शुद्ध परमाणु दशारूप स्वभाव व्यंजन पर्याय के विद्यमान होते हुए भी "स्निग्ध तथा रूक्षता से बन्ध होता है।" इस वचन से राग और द्वेष के स्थानीय स्निग्ध तथा रूक्ष परिणाम के होने पर पहले बतलाये गये शब्द आदि के सिवाय अन्य भी शास्त्रोक्त सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव व्यंजन पर्याय जाननी चाहिये।

विवेचन—इस गाथा में आचार्यों ने पुद्‌गलों के अनेक भेद बतलाये हैं, यह आत्मा अनादि काल से अनन्त पुद्‌गल पर्याय को धारण करके छोड़ता चला आया है, फिर भी यह अज्ञानी अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण अनेक कार्माण रूपी पुद्‌गल पिंड को धारण कर जैसे जैसे मजदूर दूसरे के पराधीनता के कारण काबड़ी के बोझा को हमेशा कंधे पर रक्खे हुए घूमता रहता है उसी तरह यह आत्मा अपने निज स्वरूप से च्युत होकर इस जड़ यानी अनेक पुद्‌गल परमाणुओं तथा आठों कर्म रूपी पुद्‌गल पिंड से बने हुए कार्माणादि तीनों शरीर रूपी काबड़ी के बोझा को ढोते हुए गरीब मजदूर के समान अपने इन्द्रिय वासनाओं की तृप्ति के लिये चारों गतियों में यत्र तत्र भ्रमण कर रहा है। जब तक इस पुद्‌गल रूपी पिंड को यह अपने ऊपर से नहीं गिरायेगा तब तक इसको शान्ति नहीं मिल सकती।

अब पुद्‌गल द्रव्य के भेद तथा प्रभेद का स्वरूप कहते हैं—

पुद्‌गल द्रव्य के चार भेद हैं—जैसे कि कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है–

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पोग्गलकाया मुणेयव्वा ॥ ८० ॥

स्कंध, स्कंध देश तथा स्कंध प्रदेश ऐसे तीन प्रकार के स्कंध तथा परमाणु होते हैं और ये चार भेद पुद्‌गलकाय के होते हैं। यहाँ ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख रूप शुद्ध जीवास्ति से विलक्षण अर्थात् भिन्न होने के कारण "यह पुद्‌गल द्रव्य हेय तत्त्व माना गया है।"

इस पुद्‌गल द्रव्य का खुलासा इस प्रकार है—

पुद्‌गल का सब से मूल व जघन्य भेद एक अविभागि परमाणु होता है। उन परमाणुओं के मिलने से स्कंध बनते हैं, जिनके तीन भेद बताए हैं। स्कंध, स्कंध देश और स्कंध प्रदेश। जो कुछ इन्द्रिय गोचर है वह सब मूर्तिक पुद्‌गल द्रव्य है। बहुत से

सूक्ष्म स्कंध व परमाणु इन्द्रियों के द्वारा नहीं मालूम होते, उनका अनुमान उनके कार्यों को देखकर किया जाता है। जो परस्पर पूरे अर्थात् मिले और गले अर्थात् बिछुड़े उसे पुद्गल कहते हैं। छः द्रव्यों में से पुद्गल के ही भीतर मिलना, बिछुड़ना होता है। यही अपनी सजाति में परस्पर मिलकर स्कंध बन जाता है और स्कंधों के खंड खंड होकर उनके परमाणु हो जाते हैं। आत्मा के स्वभाव को ढकने वाले कर्म भी पुद्गल हैं, यदि ऐसा न होता तो संसारी आत्माएं अशुद्ध न होतीं। ज्ञानी को इन पुद्गलों के मध्य में पड़े हुए इस आत्मा को भिन्न देखकर उसका शुद्ध स्वभाव ध्यान में लेकर व पुद्गल को भिन्न जानकर उसे त्याग कर एक आत्मा का ही अनुभव करना योग्य है।

तत्त्वार्थसार में भी कहा है कि:—

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद्गलनादपि।
पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यंते पुद्गला इति ॥ ५५ ॥
अनुस्कंधभेदेन द्विविधा खलु पुद्गलाः।
स्कंधो देशः प्रदेशश्च स्कंधस्तु त्रिविधो भवेत् ॥ ५६ ॥

अपने अनेक भेद आदि के कारण तथा द्रव्यादि के निमित्त के वश से पुद्गलों में मिलने बिछुड़ने का स्वभाव है, इस कारण से स्वभाव के ज्ञाताओं ने इनको पुद्गल कहा है। इन पुद्गलों के मूल भेद दो हैं। परमाणु और स्कंध। फिर स्कंध और स्कंध प्रदेश।

स्कंधादि चार भेदों में से प्रत्येक का लक्षण बतायेंगे—

खंधसयलसमयत्थं तस्सदु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥ ८१ ॥

स्कंध बहुत से परमाणुओं का समुदाय है। उसके ही आधे परमाणुओं का स्कंध देश होता है। उस आधे के भी आधे का स्कंध प्रदेश होता है और परमाणु विभाग रहित सब से सूक्ष्म होता है।

इसका खुलासा—

मिले हुए समुदाय के घट पट आदि अखंड रूप को एक सकल कहते हैं। यह अनन्त परमाणुओं का एक पिंड है औरइसी की स्कंध संज्ञा है। इसका दृष्टान्त यह है कि:—

जैसे सोलह परमाणुओं को पिंडरूप करके एक स्कंध बना। इसमें एक एक परमाणु घटाते हुए नव परमाणुओं के स्कंध तक स्कंध के भेद होंगे अर्थात् नौ परमाणुओं का

जघन्य स्कंध सोलह परमाणुओं का उत्कृष्ट स्कंध शेष मध्यके भेद से जानिये। आठ परमाणुओं के पिंड को स्कंध देश कहेंगे क्योंकि वह सोलह से आधा रह गया इसमें से भी एक एक परमाणु घटाते जाने से पांच परमाणु के स्कंध तक स्कंध देश के भेद होंगे। उनमें जघन्य स्कंधदेश पांच परमाणुओं का तथा उत्कृष्ट आठ परमाणुओं का व मध्य के भेद हैं। चार परमाणुओं के पिंड को स्कंध प्रदेश संज्ञा कही जाती है। इसमें से भी एक २ परमाणु घटाते हुए दो परमाणु के स्कंध तक प्रदेश के भेद हैं अर्थात् जघन्य स्कंध प्रदेश दो परमाणु का स्कंध है, उत्कृष्ट चार परमाणु का स्कंध है तथा मध्य तीन परमाणु का स्कंध है। इन्हें स्कंध के भेद जानना चाहिये। सबसे छोटे विभाग रहित पुद्गल को परमाणु कहते हैं। परमाणुओं के परस्पर मिलने से स्कंध बनते हैं। दो परमाणुओं का द्वयणुक स्कंध होगा, तीन परमाणुओं के संघात से त्र्यणुक स्कंध होगा। इसी तरह अनंत परमाणुओं तक के स्कंध जानना चाहिये। इस तरह भेद और संघात तथा भेद संघात दोनों से अनन्त प्रकार के स्कंध हो जाते हैं अर्थात् परमाणु या स्कंधों के मिलने से स्कंध बनते हैं, बड़े स्कंधों के भेद से छोटे स्कंध बनते हैं तथा कुछ परमाणुओं के निकल जाने से व कुछ के मिल जाने से ऐसे भेद संघात दोनों से स्कंध बनते हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि ग्रहण करने योग्य परमात्म तत्त्व से ये सब पुद्गल भिन्न हैं यही अनुभव होना इस पुद्गल के ज्ञान का फल है।

नियमसार में भी कहा है कि:—

अण्णाणिरावक्खे जो परिणामो सो सहावपज्जाओ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहाव पज्जाओ ॥२८॥
पोग्गल दव्वं उच्चइ परमाणु णिच्छाएण इदरेण।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खदस्स ॥ २९ ॥

पर द्रव्य की अपेक्षा न रखने वाला जो परिणाम है सो स्वभाव पर्याय रूप एक अविभागी अबंध परमाणु है। जब परमाणु स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण परस्पर मिल जाते हैं तब स्कंध रूप जो अवस्था होती है सो पुद्गल की विभाव पर्याय है। निश्चय नय से एक परमाणु को ही पुद्गल द्रव्य कहते हैं, पर व्यवहार नय से स्कंधों को पुद्गल द्रव्य नाम कहा जाता है।

श्री तत्वार्थसार में भी कहा है—

अनंतपरमाणूनां संघातः स्कंध इष्यते ।
देशस्तस्यार्द्धमर्द्धं प्रदेशः परिकीर्तितः ॥ ५७ ॥
भेदा तथा च संघाता तथा तदुभयादिति ।
उत्पद्यन्ते खलु स्कंधा भेदा देवाणवः पुनः ॥ ५८ ॥

अनन्त परमाणु के मिलने तक स्कंध कहे जाते हैं। उसके आधे को स्कंध देश और आधे के आधे को स्कंध प्रदेश कहते हैं। भेद से तथा संघात से और भेद संघात दोनों से स्कंध बनते रहते हैं तथा परमाणु स्कंध के भेद से ही होते हैं।

ज्ञानी जीव को पुद्‌गल की रचना अनेक प्रकार जानकर कार्माण वर्गणा को भी पुद्‌गल स्कंध मानकर इन आठ कर्मों के प्रपंच से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करना योग्य है।

स्कंधों में भी व्यवहार नय से पुद्‌गलपना है।

शुद्ध निश्चय नय से सुख सत्ता चैतन्य बोध आदि शुद्ध प्राणों से जो जीता है वह वास्तव में सिद्ध स्वरूप जीव है। व्यवहार से जो आयु, बल, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्‌वास अशुद्ध प्राणों से जीता है तथा जिसके चौदह गुणस्थान व चौदह मार्गणा आदि के भेद से अनेक भेद हैं सो भी जीव है। वैसे ही निश्चय से परमाणु ही पुद्‌गल द्रव्य कहे जाते हैं। जैसे कि—

"वर्णगंधरसस्पर्शैः पूरणं गलनं च यत् ।
कुर्वन्ति स्कंधवत्तस्मात्पुद्‌गलाः परमाणवः ॥"

जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के परिणमन द्वारा पूरण गलन करते रहते हैं, अर्थात् जिनमें ये चार गुण अपने अंशों में वृद्धि हानि किया करते हैं वे परमाणु स्कंधों की तरह पुद्‌गल कहे जाते हैं। व्यवहार नय से दो परमाणु के स्कंध से लगाकर अनन्त परमाणुओं के पिंड तक बादर तथा सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त जो स्कंध हैं उनको भी पुद्‌गल के समान व्यवहार किया जाता है। वे छः प्रकार के हैं। जिनसे ही तीन लोक की रचना है। यहाँ यह तात्पर्य है कि जहाँ जीवआदि पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं उसे ही लोक कहते हैं। इस वचन से पुद्‌गल आदि छः द्रव्यों से यह लोक रचा हुआ है और अन्य किसी विशेष पुरुष ने न इसे बनाया है, न यह किसी के द्वारा नाश होता है और न यह किसी के द्वारा धारण किया हुआ है।

भावार्थ—तीन लोक में सूर्य, चन्द्रमा, तारों के विमान, अनेक पर्वत, नदी, वन, पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल आदि द्रव्य जो दिखलाई पड़ते हैं व जो सूक्ष्म स्कंध हैं जैसे—कार्मणवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा तथा आहार वर्गणा आदि जिन के क्रम से संसारी जीवों के कार्मण शरीर, भाषा, मन, तैजस शरीर तथा औदारिकादि तीन शरीर बनते हैं वे सब पुद्गल के परमाणुओं के वंध रूप स्कंध हैं। इन्हीं में परिणमन हुआ करता है। यद्यपि इन स्कंधों के अनन्त भेद होते हैं, तथापि स्थूल रूप से समझाने की अपेक्षा आचार्य ने इनके छः भेद किये हैं।

पुद्गल द्रव्य के मूल भेद दो हैं, परमाणु और स्कंध।

उनमें से स्कंध के छः भेद हैं तथा परमाणु के दो भेद हैं। उनमें जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इन चार धातुओं का कारण है उसे कारण परमाणु जानना चाहिये तथा स्कंधों का भेद करते २ जो अन्तिम अविभागी है उसे कार्य परमाणु जानना चाहिए। ऐसे परमाणुओं के दो भेद हैं। पुद्गलों के स्कंधों के छः भेद कौन कौन से हैं? सो बतलाते हैं—

पुढवी जलं च छाया चउरिंदिय-विसय कम्मपाओगा।
कम्मातीदा येवं छब्भेया पोग्गला होंति ॥ ८३ ॥

पृथ्वी, जल, छाया, चक्षु विषय को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषय, कर्मों के योग्य पुद्गल और कर्मों से सूक्ष्म स्कंध छह भेद रूप पुद्गल होते हैं।

भावार्थ—पुद्गलों के छः भेद इस तरह हैं कि—१.स्थूल स्थूल २.स्थूल ३. स्थूल सूक्ष्म, ४. सूक्ष्म स्थूल, ५. सूक्ष्म ६. सूक्ष्म, सूक्ष्म। जो खंड किये जाने पर स्वयमेव मिल न सकें वे स्थूल स्थूल हैं। जैसे पर्वत, पृथ्वी, घट, पट आदि। जो अलग २ किये जाने पर उसी क्षण ही स्वयं मिल सकते हैं वे स्थूल हैं, जैसे घी, तेल, जल आदिक। जिनको देखते हुए भी हाथ से पकड़कर अन्य स्थान में नहीं ले जा सकते वे स्थूल-सूक्ष्म हैं जैसे छाया, आताप अर्थात् धूप, प्रकाशादि। जो आंखों से नहीं दिखलाई पड़ें, वे सूक्ष्म स्थूल हैं जैसे आंख के सिवाय अन्य चार इन्द्रियों के विषय वायु, रस, गंध, शब्द आदि। सूक्ष्म जो किसी भी इन्द्रियों से न जाने जाँय ऐसे पुद्गल। जैसे—ज्ञानावरणादि कर्म के योग्य वर्गणायें और सूक्ष्म सूक्ष्म वे हैं जो इन कर्म वर्गणाओं से भी सूक्ष्म दो अणु के स्कंध तक हैं।

यद्यपि लोक में पुद्गल संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेदों को रखने वाले हैं तथापि

यहाँ पर उन सबों को ऊपर लिखित छह भेदों में बांट दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि इस ज्ञानी आत्मा को जगत् शरीर व कर्मों की पुद्‌गलकृत विचित्र रचना को देखकर इन सबसे वैराग्य की भावना रखना ही उचित है। अभी तक पुद्‌गल या पुद्‌गल परमाणु अणु इत्यादि का वर्णन इसलिये किया गया है कि—विभाव पुद्‌गल पर्याय में अज्ञान से रमण करने वाले आत्मा अनन्त पुद्‌गल पर्याय धारण करते हुए इस संसार में दीर्घ काल तक दुःख उठा रहे हैं। इसलिये हे आत्मन ! यह सब पुद्‌गल रचना का खेल है, ऐसा जानकर हमेशा इनसे भिन्न ज्ञानानंद अखंड अविनाशी आत्मस्वरूप का ही अनुभव करने योग्य है।

पृथ्वी आदि जाति के भिन्न २ परमाणु नहीं होते हैं।

आदेसमत्तमुत्तो धादुचउक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥८५

परमाणु में वर्णादि गुण रहते हैं इसका भेद संज्ञा आदि की अपेक्षा से है, प्रदेशों की अपेक्षा उनका भेद नहीं किया जा सकता। वे वर्णादि गुण परमाणु में सर्वांग व्यापक हैं। वस्तु का स्वरूप यह है कि जो आदि मध्य अन्त प्रदेश परमाणु का है वही उसके भीतर व्याप्त उसके रूपादि गुणों का है अतएव यह परमाणु मूर्तिक कहा जाता है। दृष्टि से नहीं देखा जाता है इत्यादि कारणों से परमाणु मूर्तिक है। निश्चय नय से पृथ्वी, जल, तेज, वायुकायिक जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभावधारी हैं; परन्तु व्यवहारनय से अनादि कर्मों के उदय के वश से जो उन जीवों ने पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु नाम के शरीर ग्रहण कर रक्खे हैं उन शरीरों का तथा उन जीवों के न ग्रहण किये पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु कायिक स्कन्धों के उपादान कारण परमाणु हैं। इससे यह परमाणु चार धातुओं का कारण है। यह परमाणु जड़ होने से औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक क्षायिक इन चार भावों से रहित केवल अपने पारिणामिकभावों को रखने वाला होने से परिणमनशील है। एक ही परमाणु कालान्तर में बदलता २ पृथ्वी, जल, अग्नि या वायु हो जाता है। यह परमाणु एक प्रदेशी होता है। इससे यह अनन्त परमाणुओं का पिंड रूप जो शब्द पर्याय है उससे विलक्षण है। इसलिये स्वयं व्याप्त रूप से शब्द रहित है। ऐसा परमाणु जानना चाहिए।

परमाणु पुद्‌गल का अविभागी एक-प्रदेशी अंश है, क्योंकि इनके बने हुए स्कन्धों में मूर्तिकपना पाया जाता है अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण झलकता है, तब इनके उपा-

दान कारणरूप परमाणुओं में भी अनुमान से मूर्तिकपना अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णपना मानना चाहिये। क्योंकि कारण के सदृश ही कार्य होता है। किसी अन्य मत वाले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के कारण रूप परमाणुओं की जाति ही भिन्न मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं है, ये चारों ही धातु पुद्गल रूप हैं और सामान्य परमाणुओं से बनी हैं। यद्यपि पृथ्वी में स्पर्श, रस गंध, वर्ण चारों प्रगट हैं, जल में गंध गुण गौण है, तीन प्रगट हैं। अग्नि में गंध और रस गौण हैं दो प्रगट हैं। वायु में तीन गुण गौण हैं स्पर्श प्रगट है तथापि कोई पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, चारों ही गुणों से शून्य नहीं है, क्योंकि वे जिन परमाणुओं से बने हैं वे कभी अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण को नहीं त्यागते हैं। इन चारों ही का उपादानकारण एक पुद्गल परमाणु है। ये चारों परस्पर भिन्न २ अवस्था में बदल भी जाते हैं। जैसे जौ अन्न खाने से पेट में वायु पैदा हो जाती है। चन्द्रकान्त मणि पृथ्वी काय से चन्द्रमा की किरण का सम्बन्ध होने पर जल पैदा हो जाता है। सूर्यकान्तमणि पृथ्वीकाय है लेकिन सूर्य की किरण का सम्बन्ध होने पर उस में से अग्नि प्रगट हो जाती है। जल से पृथ्वीकाय मोती पैदा होता है। भिन्न २ वायु के मिलाने से जल बन जाता है, जल से वायु बन जाता है, वायु जल बन जाती है। जल जमकर कठोर पृथ्वी रूप बर्फशिला हो जाता है। यदि भिन्न २ जाति के इन चारों के परमाणु होते तो इसमें परस्पर परिणमन नहीं होता। यह जो कहा गया है कि जल में गन्ध गौण है व अग्नि में गन्ध, रस व वायु में वर्ण गन्ध, रस गौण है इसका मतलब यह है कि वे बहुत स्पष्टपने इन्द्रियों से जाने नहीं जाते हैं किन्तु एक वस्तु जिस में जल का संयोग न हो उसको सूंघा जावे और जब उस में जल मिला दिया जावे तब सूंघा जाये तो अवश्य दोनों गन्धों में अन्तर होगा। इससे यह सिद्ध है कि जल की गन्ध उसमें मिल गई है। सूखा आटा गीला आटा भिन्न २ गन्ध प्रगट करेंगे। उन्हीं को अग्नि से पकाये जाने पर भोजन में भिन्न रस या गन्ध हो जाता है। अग्नि से पकाए जाने पर भोजन में भिन्न रस या गन्ध हो जाता है। यदि अग्नि में रस और गन्ध न होते तो ऐसा नहीं हो सकता था। पवन के सम्बन्ध से वृक्षादि में भिन्न प्रकार का रस, गन्ध, वर्ण हो जाता है। यदि पवन में ये गुण न होते तो इन के मिलने से विलक्षणता न होती। इस लिये जो जैनसिद्धान्त है कि सर्व पृथ्वी आदि पौद्गलिक रचना का उपादान कारण परमाणु है सो वर्तमान विज्ञान के मत से भी मिल जाता है। इस परमाणु में परिणमनशीलपना है जो एक परमाणु किसी समय जघन्य रूखेपने या चिकनेपने के रखने के कारण बन्ध योग्य नहीं होता है वही परमाणु कालान्तर में बन्ध योग्य हो जाता है और उसमें रूक्षपने या स्निग्धपने के अंश बढ़ जाते हैं। बाहरी द्रव्य-

क्षेत्रादि के निमित्त से परमाणु के स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णादि गुणों में परिणमन हुआ करता है। यदि ऐसा परिणमन न हो तो गुलाब आदि के वृक्षों में नाना रंगके पुष्प न पैदा हों:—

गोम्मटसार में भी कहा है कि:—

णिद्धिदरवरगुणाणू सपरट्ठाणेवि णेदि बंधट्ठं।
वहिरंतरंगहेदु हि गुणंतरं संगदे एदि ॥६१७॥

स्निग्ध रूक्ष व जघन्य गुणयुक्त परमाणु स्वस्थान या परस्थान में सब के योग्य नहीं है। वही परमाणु जब बाहरी, भीतरी कारण से दो आदि अंशों में पलट जाता है तब बन्ध योग्य हो जाता है। शब्द भाषावर्गणा से बनता है। वे भाषावर्गणाएँ परमाणुओं के संयोग से बनती हैं इसलिये यद्यपि परमाणु शब्दरूप पर्याय का कारण है तथापि स्वयं शब्द रूप नहीं है। ऐसे परमाणु का स्वरूप जानना योग्य है।

शब्द पुद्‌गल द्रव्य की पर्याय है।

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥८६॥

शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। वह स्कन्ध अनन्त परमाणुओं के समूह के मेल से बनता है। उन स्कन्धों से परस्पर स्पर्श होने पर निश्चय से भाषावर्गणाओं से उत्पन्न होनेवाला शब्द उत्पन्न होता है। जैसे कहा भी है कि:—

ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकं।
घनं तु कंसतालादि सुषिरं वंशादिकं विदुः॥

वीणा, सितार आदि तार के बाजों को तत जानना चाहिये। ढोल आदि को वितत, घंटा घड़ियाल आदि के शब्द को घन तथा बांसुरी आदि फूंक के बाजों के शब्दको सुषिर कहते हैं। जो मेघ आदि के कारण से शब्द होते हैं वे वैश्रसिक या स्वाभाविक हैं। तात्पर्य यह है कि यह सब त्यागने योग्य तत्त्व है। इनसे भिन्न शुद्धात्मिक तत्त्व ग्रहण करने योग्य है।

प्रोक्ता शब्दादिमंतस्तु पुद्‌गलाः स्कंधभेदतः।
तथा प्रमाणसद्‌भावादन्यथा तद्‌भावतः॥

स्कंध रूप से परिणमन करने वाले पुद्गल ही शब्दादि रूप होते हैं, यह बात प्रमाण सिद्ध है। यदि स्कन्ध न हो तो सुनाई न पड़े। इस प्रकार शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है।

परमाणु एक-प्रदेशी होता है—

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता।
खंधाणं वि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ॥ ८७ ॥

जैसे यह जीव अपने प्रदेशों में प्राप्त रागादि विकल्प रूप स्नेह के त्याग भाव से परिणमन करता हुआ कर्म स्कन्धों का भेदने वाला या नाश करने वाला हो जाता है तैसे यह परमाणु एक प्रदेश में बंध योग्य चिकनेपने के चले जाने से परिणमन करता हुआ स्कन्धों से अलग होता हुआ स्कन्धों का भेदने वाला होता है तथा जैसे वह जीव स्नेह रहित परमात्म तत्त्व से विपरीत अपने प्रदेशों में प्राप्त मिथ्यात्व रागादि रूप चिकने भावों से परिणमन करता हुआ नवीन ज्ञानावरणादि कर्म स्कन्धों का कर्ता हो जाता है तैसे ही यह परमाणु अपने एक प्रदेश में प्राप्त बंध योग्य स्निग्धगुण से परिणमन करता हुआ द्विअणुक आदि स्कन्धों का कर्ता होता है। यहाँ पर जो स्कन्धों से अलग होने वाला है वह कार्य परमाणु कहा जाता है तथा जो स्कन्धों को करता है वह कारण-परमाणु है। इस तरह कार्य कारण के भेद से परमाणु दो तरह का है। जैसा कहा है—

स्कंधभेदाद् भवेदाद्यः स्कंधानां जनको परः।

अर्थात् पहला कार्य-परमाणु स्कन्धों के भेद से व दूसरा कारण-परमाणु स्कन्धों के उत्पन्न करने से परमाणु कहलाता है। यह परमाणु एक-प्रदेशी होने से बहुत प्रदेश रूप स्कन्धों से भिन्न है। स्कन्ध इसीलिये कहलाता है कि उसमें बहुत परमाणु होने से भिन्न होता है। जैसे एक प्रदेश में रहे हुए केवलज्ञान के अंश ही केवली भगवान एक समयरूप व्यवहार काल को तथा उसकी अनन्त संख्याओं के ज्ञाता हैं तैसे ही एक परमाणु भी एक प्रदेशी होकर मंद गति से एक कालाणु से पास वाले दूसरे कालाणु को उल्लंघन करता हुआ समयरूप सूक्ष्म व्यवहारकाल का और उसकी संख्या का भेद करने वाला होता है। संख्या, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से चार प्रकार की होती है। सो जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से दो दो प्रकार है। एक परमाणु रूप जघन्य द्रव्य संख्या है। अनन्त परमाणु के पुंजरूप उत्कृष्ट द्रव्यसंख्या है। एक प्रदेशरूप जघन्य क्षेत्र संख्या है। अनन्त प्रदेश रूप उत्कृष्ट क्षेत्र संख्या है। एक समयरूप जघन्य व्यवहार काल संख्या है। अनन्त समय रूप

उत्कृष्ट व्यवहार काल संख्या है। परमाणु द्रव्य में वर्णादि गुणों की जो जघन्य शक्ति है सो जघन्य भाव संख्या है। उसी परमाणु द्रव्य में सबसे उत्कृष्ट जो वर्णादि की शक्ति है सो उत्कृष्ट भाव संख्या है। इस तरह जघन्य व उत्कृष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की संख्या जानना योग्य है।

परमाणु द्रव्य में गुणपर्याय का स्वरूप कहते हैं—

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणेहि ॥ ८८ ॥

परमाणु में तीखा, चरपरा, कषैला, खट्टा, मीठा, इन पांच रसों में से एक रस एक काल में रहता है। शुक्ल, पीत, रक्त, काला, नीला इन पांच वर्णों में से एक वर्ण एक काल में रहता है। सुगन्ध, दुर्गन्ध दो प्रकार गन्ध पर्यायों में से कोई एक गन्ध एक काल में रहती है। शीत व उष्ण स्पर्शों में कोई एक स्पर्श तथा स्निग्ध रूक्ष स्पर्शों में कोई एक स्पर्श या दो स्पर्श एक काल में रहते हैं। जैसे यह आत्मा व्यवहार नय से अपने तालु ओठ आदि के व्यापार से शब्द का कारण होता हुआ भी निश्चय नय से अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय होने से शुद्धज्ञान का विषय है, शब्द का विषय नहीं है और न वह स्वयं शब्दादि पुद्गल पर्यायरूप होता है, इस कारण से शब्दरहित है तैसे परमाणु भी शब्द का कारण रूप होकर भी एक प्रदेशी होने से शब्द की प्रगटता न करने से अशब्द है व जो ऊपर कहे हुए वर्णादि गुण व शब्द आदि पर्याय सहित स्कन्ध है उससे भिन्न जो द्रव्य रूप परमाणु है उसे परमात्मा के समान जानो। जैसे परमात्मा व्यवहारनय से द्रव्य कर्म और भावकर्म के भीतर रहता हुआ भी निश्चय नय से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूपही है तैसे परमाणु भी व्यवहार से स्कन्धों के भीतर रहता हुआ भी निश्चय नय से स्कन्ध से बाहर शुद्ध द्रव्य रूप ही है। अथवा स्कन्धातरित का अर्थ यह है कि स्कन्ध से पहले से ही भिन्न है, यह अभिप्राय है।

सर्व पुद्गल के भेदों का संकोच करते हैं—

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि ।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पोग्गलं जाणे ॥ ८९ ॥

जिनको वीतराग अतीन्द्रिय सुख का स्वाद नहीं आता है उन जीवों के भोगने योग्य जो पांचों इंद्रियों के पदार्थ हैं, अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप से विपरीत जो पांच इंद्रियाँ हैं, अशरीर आत्मपदार्थ के प्रतिपक्षी जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण

ऐसे पांच शरीर हैं, मन सम्बन्धी विकल्पजालों से रहित शुद्ध जीवास्तिकाय से भिन्न जो मन है, कर्मरहित आत्मद्रव्य से प्रतिकूल जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं तथा अमूर्तिक आत्मस्वभाव से विरोधी और जो कुछ दूसरे मूर्तिक द्रव्य हैं जैसे संख्यात, असंख्यात व अनन्त पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध उन सबको पुद्गल जानो।

जीवों में जितनी कुछ सांसारिक अवस्थाएं हैं वे सब उनके साथ लगे हुए आठ कर्म-मय कार्मण शरीर के फल हैं। जैसा कि स्वामी जी ने समयसार में स्वयं कहा है—

अट्ठविहं वि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स ।।५०।।

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।। ५६ ।।

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।। ६० ।।

जिनेन्द्र देव ने आठ प्रकार के सर्व कर्म को पुद्गलमय कहा है इसलिये उनका फल जो उदय में आता है उन सब को दुःखादि पुद्गलमय जानना चाहिये।

निश्चय नय से न जीव के राग है, न द्वेष है, न कोई मोह है, न कोई आस्रव है, न कर्म है, न शरीरादि नो कर्म हैं, न एकेन्द्रियादि जीव समास हैं तथा न मिथ्यात्व आदि गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य की अवस्थाएँ हैं। वास्तव में मैं एक शुद्ध चैतन्य आनन्दमय हूँ इसके सिवाय जो कुछ विकार हैं वे सब पुद्गल के हैं। इसलिये ज्ञानी जीव को पुद्गल की विभाव पर्याय समझकर उसे त्यागकर अपने स्व स्वभाव में परिणत होकर अपने शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये। मरकत विलास में भी कहा है कि—

पूरण गलन सुभावी जड ग्रह, ज्ञान दरश चेतन तज ही।
स्पर्श गंध रस वर्ण स्वरो, वस तज आयो दुख सहे अती ।।
मरकत तप राग अब चेतो, नहीं डूबी भव शरित्यपी ।।

अब आगे धर्म द्रव्य का लक्षण बतायेंगे।

द्रव्य किसको कहते हैं ?

जैसे राज भारती में कहा है कि—

भव्यार्थे वा निपातितो द्रव्य शब्द ॥ २ ॥

"द्रव्यं भव्ये" ।४।१।२११। इस जैनेंद्रव्याकरण के सूत्रानुसार होने वाले अर्थ में द्रव्यशब्द निपातित किया गया है। इसलिये यहाँपर द्रव्य शब्द का अर्थ–जो द्रु इव अर्थात् दारु के समान हो वह द्रव्य है, यह समझना चाहिये। उपमारूप अर्थ का खुलासा इस प्रकार है—

द्रु दारु नामक काष्ठ को कहते हैं। जिस प्रकार गांठरहित एवं चिन्हरहित दारु काष्ठ की कल्पना से खाती (बढ़ई) उसी क्षण में उसके द्वारा सिद्ध होने वाले भिन्न २ यथेच्छ आकारों की अर्थात् उससे हाथी घोड़ा आदि बनाऊंगा, ऐसी कल्पना कर लेता है उसी अपने परिणामों की प्राप्ति में समर्थ, द्रव्य भी पाषाण के अन्दर गड्ढा करने वाले जल के समान जहां पर कर्ता और करण का कोई विभाग नहीं ऐसा होकर बाह्य और आभ्यंतर दोनों कारणों के द्वारा भिन्न २ पर्यायरूप परिणत होता है अर्थात् जिस पाषाण में जल के द्वारा गड्ढा हुआ है वहां पर जल ही कर्ता है क्योंकि वही गड्ढा करने वाला है और वही कारण है क्योंकि उसी के द्वारा जल में गड्ढा हुआ है इसलिये वहां पर जिस प्रकार कर्ता और कारण में विभाग नहीं यानी दोनों का स्वरूप एक जल ही है उसी प्रकार द्रव्य भी स्वयं परिणामन की सामर्थ्य रखता है। वह कर्तास्वरूप एवं पर्यायों के द्वारा परिणत होता है। इसलिये कारणस्वरूप है। इसी रीति से द्रव्य में भी कर्ता कारण के विभाग की कल्पना नहीं। दोनों का स्वरूप एक द्रव्य ही है। इस रीति से 'द्रुइव भवतीति' अर्थात् जो दारु के समान हो वह द्रव्य कहा जाता है, यह द्रव्य शब्द की सिद्धि अबाधित है।

ऊपर की गाथा में ग्रन्थकार ने पुद्गल द्रव्य का वर्णन करके अब इस गाथा में धर्म द्रव्य का वर्णन किया है। गमन करने वाले को मार्ग की तरह धर्म द्रव्य जीव पुद्गल की गति में सहकारी होता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है कि—

अगुरुलघुगेहि सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥ ६१ ॥

वस्तु के स्वभाव की प्रतिष्ठा के कारण अगुरुलघु गुण होते हैं। ये हर समय षट् स्थान पतित वृद्धि हानिरूप होने वाले अनंत अविभाग परिच्छेदों से परिणमन करते हुए रहते हैं। इन्हीं के द्वारा पर्यायार्थिक नय से यह धर्मद्रव्य उत्पाद व्यय सहित होता हुआ भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य है। जैसे सिद्ध भगवान उदासीन हैं तो भी जो भव्य जीव उन सिद्धों के गुणों में प्रीति करते हैं उनके लिये वे सिद्ध भगवान सिद्ध–गति की प्राप्ति

में सहकारी कारण हैं तैसे ही यह धर्म द्रव्य भी गमन करते हुए जीव और पुद्गलों की तरफ उदासीन है तो भी उनकी गति के लिये सहकारी कारण है। जैसे सिद्ध भगवान अपनी ही शुद्ध सत्ता से रचित हैं, उनको किसी ने बनाया नहीं है इसलिये वे अकार्य हैं वैसे ही यह धर्म द्रव्य भी अपने ही अस्तित्व से रचित है। अर्थात् किसी का किया हुआ नहीं है।

इस गाथा में धर्मास्तिकाय को अनादि अनन्त एक स्वतन्त्र अकृत्रिम, द्रव्य सिद्ध किया गया है। द्रव्य वही है जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सदा से हुआ करे। यह धर्म द्रव्य किसी का रचा नहीं है, इसलिये यह अकृत्रिम तथा अविनाशी है। इसमें हर समय पर्यायों का उत्पाद व्यय अगुरूलघु गुणों के द्वारा हुआ करता है। द्रव्यों में स्वभाव परिणमन इन्हीं के द्वारा हुआ करता है जो गुण द्रव्य को और गुणों को अपनी मर्यादा में प्रतिष्ठित रक्खें उनको कम या अधिक न होने दें, उन्हें अगुरूलघु गुण कहते हैं। अर्थात् जितने सामान्य या विशेष गुणों का समुदाय द्रव्य होता है उतने ही सर्वगुण द्रव्य में सदा स्थिर रहें इसकी मर्यादा को रखने वाला अगुरूलघु गुण है। इस में जो परिणमन समय समय होता है उसी से ही स्वभाव परिणमन द्रव्यों का समझा जाता है। वृत्तिकार ने बतलाया है कि प्रतिसमय षड्गुणी वृद्धि हानि इन गुणों के अंशों में हुआ करती है। जिस का दूसरा भाग न हो सके उस गुणांश को अविभाग परिच्छेद कहते हैं। अलापपद्धति (देवसेनाचार्य कृत) में कहा है कि अगुरूलघु गुण के विकारों को स्वभाव-पर्याय कहते हैं। वे बारह प्रकार की हैं। छः वृद्धिरूप, छः हानिरूप, अनन्ताभाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यातगुण वृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि ये छः वृद्धियां हैं। अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि ये छः हानि रूप हैं। कहा है—

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ ६ ॥

अनादि अनन्त द्रव्य में प्रतिसमय स्वभावपर्याय समुद्र में जल की कल्लोलों की तरह उठती बैठती हैं। इस दृष्टांत से ऐसा झलकता है कि एक द्रव्य में अनेक अगुरूलघु गुण होते हैं उनमें किसी में वृद्धि किसी में हानि होती हैं जैसे समुद्र में कहीं पानी उठा कहीं बैठा परन्तु रहता उतना का उतना ही है। इसका विशेष भाव नहीं समझ में आया कि किस तरह वृद्धि हानि इस गुण में हुआ करती हैं? वास्तव में इसका स्वरूप बहुत सूक्ष्म है, वचन गोचर नहीं है इसलिये आलापपद्धति की टिप्पणी में कहा है।

सूक्ष्म अवाग्गोचरा प्रतिक्षणंवर्तमाना आगमप्रामाण्यात् अभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः

अर्थात् ये अगुरु लघु गुण सूक्ष्म हैं, वचन गोचर नहीं हैं, प्रति समय वर्तते हैं तथा आगम प्रमाण से मानने योग्य हैं इस प्रकार बारह वृद्धि हानि का फल अन्त में वही निकल आता है।

इसका दृष्टान्त यह है यदि ६४ संख्या मानी जावे। संख्यात को २, असंख्यात को ४, अनन्त को ८, माना जावे तब वृद्धि हानि की जावे।

(१) अनन्तभाग वृद्धि ६४+$\frac{६४}{८}$=७२
(२) असंख्यातभाग वृद्धि ७२+$\frac{६४}{४}$=८८
(३) संख्यातभाग वृद्धि ८८+$\frac{६४}{२}$=१२०
(४) संख्यातगुण वृद्धि १२०+६४×२=२४८
(५) असंख्यातगुण वृद्धि २४८+६४×४=५०४
(६) अनन्तगुण वृद्धि ५०४+६४×८=१०१६
(७) अनन्तभाग हानि १०१६—$\frac{६४}{८}$=१००८
(८) असंख्यातभाग हानि १००८—$\frac{६४}{४}$=९९२
(९) संख्यातभाग हानि ९९२—$\frac{६४}{२}$=९६०
(१०) संख्यातगुण हानि ९६०—६४×२=८३२
(११) असंख्यातगुण हानि ८३२—६४×४=५७६
(१२) अनन्तगुण हानि ५७६—६४×८=६४

ऊपर के नक्शे से विदित होगा कि वृद्धि हानि करते हुए यही ६४ की संख्या आ गई जो मूल संख्या आ गई जो मूल संख्या थी। विशेष ज्ञानियों को इस विषय का मनन करके निर्णय करना योग्य है कि किस तरह अगुरुलघुगुणों का परिणमन होता है? जीव और पुद्गलों में स्वयं अपनी शक्ति से गमन क्रिया होती है, उस क्रिया के होने में साधारण उदासीन निमित्त कारण यह धर्म द्रव्य है। यह इतना आवश्यक है कि बिना इसकी सहायता के गमन नहीं हो सकता है। हर एक कार्य उपादान और निमित्त के बिना नहीं होता है। गमन में उपादान कारण वे स्वयं हैं जब कि निमित्त कारण धर्मास्तिकाय है। जैसा तत्त्वार्थसार में कहा है—

क्रियापरिणताणां यः स्वयमेव क्रियावताम्।
आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते ॥३३॥

क्रियावान द्रव्यों के स्वयं हलन चलन क्रिया के होते हुए जो सहाय करता है वह धर्म द्रव्य कहा गया है । वास्तव में धर्म द्रव्य भी मेरे शुद्ध आत्मिक स्वभाव से भिन्न है ऐसा अनुभव करना कार्यकारी है ।

अब आगे अधर्म द्रव्य का वर्णन करेंगे ।

Sabdah bandhah suksmah sthulah samsthana-bheda-tama-schhayah.
Udyotatapasahitah pudgaladravyasya paryayah—(16).

Padapatha.—सद्दो Saddo, sound. बंधो Bandho, union. सुहमो Suhamo, fineness. थूलो Thulo, grossness. संठाणभेदतमछाया Samthana-bheda-tama-chhaya, shape, division, darkness, and image. उज्जोदादवसहिया Ujjodadava-sahiya, with lustre and heat. पुग्गलदव्वस्स Puggala davvassa, of Pudgala substances. पज्जाया Pajjaya. modifications.

16. Sound, Union, fineness, grossness, shape, division, darkness and image, with lustre and heat (are) modifications of the substance (known as) Pudgala.

COMMENTARY.

Sabda or sound is said to be of two—Bhasa-laksana (as incorporated in languages) and Abhasa-laksana (which does not find place in any language). The first, again, is of two kinds, viz. (1) sounds which are expressed by letters and (2) sounds which are not expressed by letters. It is said that the last-mentioned kind of sounds is made by creatures who possess two, three or four senses, or by the Kevalis.

Sounds not finding place in languages are again of two kinds (1) produced by human beings and (2) resulting from other sources, as the noise of thunder, etc. The first of these, again, are of four kinds: (a) Tata or that produced from musical instruments covered by leather, (b) Vitata or that produced from string instrument, (c) Ghana or that produced from metallic instruments

and (d) Sausira or that produced from wind-instruments. † It should be mentioned in this connection that there is a difference in the nomenclature of musical instruments between the Jainas and the Hindus, for the latter call Tata by the name of Anaddha and Vitata by the name of Tata. ‡

The following theory of sounds is found in Verse 79 of the Panchastikayasamayasara :

"सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥"

i. e., "The combination of atoms is known as Skandha. Sound results when Skandhas strike against one another." Thus it has been laid down that all sounds result from the Skandhas of Pudgala (matter).

Bandha or union is mainly divided into two heads, (1) Prayogika (produced by the efforts of body, speech, or mind of a persons) and (2) Vaisrasika (produced without any kind of effort of any person).

---

† "शब्दो द्वेधा भाषालक्षणविपरीतत्वात्
भाषात्मक उभयथा अक्षरीकृतेतरविकल्पात् ।
अभाषात्मक द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् ।
तत्र वैस्रसिको बलाहकादि-प्रभवः ।
प्रयोगश्चतुर्धा ततविततघनसौषिरभेदात् ।

Tattvartha-raja-varttika, V 24 (2, 3, 4, 5 and 6).

‡ Compare the Hindu nomenclature. e. g.

"ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् ।
वंशादिकन्तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥" (Amarakosa)

with

"चर्म्मततनात्ततः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवः ।
विततः तंत्रीकृतो वीणासुघोषादिसमुद्भवः ।"

Tattvartha-raja-varttika, V, 24 (6)

Prayogika may again be (1) Jiva-visaya, i.e., union of non-living substances only or (2) Jivajiva-visaya, i.e., union of living with nonliving substances. Jivajiva-visaya Bandha, again, may result (1) from karma (producing eight kinds of bondage corresponding to eight kinds of Karma, viz., Jnanavaraniya, Darsanavaraniya, Bedaniya, Mohaniya, Nama, Gotra, Ayu and Antaraya) † or (2) from No-Karma. This last, again, is of five kinds: (1) Alapana, (e. g., the fastening of a rope or chain to a chariot, etc.) (2) Alepana (e. g., painting the walls, etc.,) (3) Samslesa (e.g., joining of pieces of wood together by a carpenter, etc.,) (4) Sarira (e.g., the union of limbs in a body) and (5) Sariri (e.g., the union of different bodies)

Vaisrasika Bandha, again, is either (1) Anadi or eternal, as the union of the whole mass or parts of Dharma, Adharma and Akasa * or (2) Adimat or that which has a beginning having resulted from a definite cause, e.g., the union of different colours in a rainbow.

The whole or half or a quarter of each of Dharma, Adharma and Akasa may be said to contain different parts which are attached to one another.‡ Thus there arise nine kinds of union which are eternal. ❀

---

† See Commentare on Verse 14 for an explanation of these eight kinds of Karma.

* See Verses 17, 18 and 19 for definitions of Dharma, Adharma and Akasa.

‡ "कृत्स्नो धर्मास्तिकाय:, तदर्धं देश:, अर्धार्धं प्रदेश: । एवं अधर्माकाशयोरपि ।"

—"धर्माधर्माकाशानामेकश: त्रैविध्यान्नवविध: ।"

Tattvartha-raja-varttika, v. 24 (11).

❀ "वंधोऽपि द्वेधा विस्रसाप्रयोगभेदात् । आद्यो द्वेधा आदिमदनादिविकल्पात् ।
विस्रसा विधिविपर्यये निपात: । प्रयोग: पुरुषकायवाङ्मन:संयोगलक्षण:।,,
"प्रायोगिक: द्वेधा अजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति । ....जीवाजीवविषय: कर्मनोकर्म-
बन्ध: । कर्मबन्धो ज्ञानावरणादिरष्टधा । नो-कर्मबन्ध:......पंचविध: आलपनालेपन
संश्लेषशरीरशरीरिभेदात् ।" [तत्त्वार्थराजवार्त्तिकम् ।५।२४। (१०।११।१२।१३]

Sauksmya or fineness is of two kinds: (I) that which is found in the atoms, beyond which there is nothing more fine, and (2) that which is found in other substances and which is of different degrees as the same is relative to that of different substances.‡

Sthaulya of grossness is, similarly, of two kinds : (1) grossness of the maximum limit, e.g., that of the whole universe and (2) grossness less than the maximum limit which may be of various degrees.†

Samsthana or shape is of two kinds : (1) that which can be permanently defined (e.g., as round, square, triangular, etc.) and (2) that which cannot be permanently defined (e.g., the shape of clouds).֍

Bheda (division :of separation) is of six kinds : (1) Utkara (e.g., sawing a piece of wood), (2) Churna (e.g. grinding wheat into powder,) (3) Khanda (e.g., breaking up a pitcher into its different parts', (4) Churnika (e.g., separating the chaff from rice, pulses, etc.), (5) Pratara (e.g., dividing mica into many slices) and (6) Anuchatana (e.g., causing sparks to fly out from a glowing ball of iron) ‡.

Tamah is darkness. × Chhaya is of to kinds: (1) Inverted images, as seen in mirror, etc. and (2) un-inverted images. In the first of these, the left side becomes right and vice versa. Herein lies the difference between the two † Atapa is heat caused by the sun. and

---

‡ "सौक्ष्म्यं द्विविधं अन्त्यमापेक्षिकं च ।" (तत्वार्थराजवार्त्तिकम् । ५।२४।१४।)

† "तथा स्थौल्यम् ।" (तत्वार्थराजवार्त्तिकम् ।५।२४।१५।)

֍ "संस्थानं द्वेधेत्थंलक्षणं अनित्यं-लक्षणं च । वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतनपरिमंडलादित्थमतोन्यदनित्थम् ।" [तत्वार्थराजवार्त्तिकम् ५·२४।१६।१७।]

‡ "भेद: षोढोत्कर-चूर्ण-खण्ड-चूर्णिका-प्रतराणुचटनविकल्पात् ।"
(तत्वार्थराजवार्त्तिकम् ।५।२४।१८।)

× "तमो दृष्टिप्रतिबंधकारणं । (तत्वार्थराजवार्त्तिकम् ५।२४।१९।)

† "छाया प्रकाशावरणनिमित्ता । सा द्वेधा तद्वर्णादिविकार-प्रतिबिम्बमात्रग्रहणविकल्पात् ।"
(तत्वार्थराजवार्त्तिकम् ५।२४। (२०।२१।))

Udyota is the light resulting from the moon, fire-fly, jewels, etc.+

All these things are more modifications of Pudgala.

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गल जीवाण गमण सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥ १७ ॥

अन्वय—(गइ परिणयाण) गमन में परिणत (पुद्‌गल जीवानां) जीवों को गमन सहकारी (गमन में सहकारी) (धम्मो) धर्म द्रव्य है । (जह) जैसे (तोयं) पानी (मच्छाणं) मछलियों के गमन में सहकारी है (अच्छंता) गमन न करते हुए यानी ठहरे हुए पुद्‌गल जीवों को (सो) वह (णेई) गमन नहीं करता है ।

गमन में परिणत पुद्‌गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्म द्रव्य है । जैसे जल मछलियों को गमन में सहकारी है । गमन न करते हुए यानी ठहरे हुए पुद्‌गल जीवों को धूर्म द्रव्य गमन नहीं कराता ।

अर्थात चलते हुए जीव तथा पुद्‌गलों को चलने में सहकारी धर्म द्रव्य होता है । जैसे कि मछलियों के गमन में सहायक जल है परन्तु स्वयं ठहरे हुए जीव पुद्‌गलों को धर्म द्रव्य गमन नहीं कराता वैसे ही जैसे सिद्ध भगवान अमूर्त्त हैं, क्रिया रहित हैं तथा किसी को प्रेरणा भी नहीं करते, तो भी "मैं सिद्ध के समान अनन्त ज्ञान आदि गुण रूप हूँ" इत्यादि व्यवहार नय से सविकल्प सिद्ध भक्ति के धारक और निश्चय से निर्विकल्पक ध्यान रूप अपने उपादान कारण से परिणत भव्य जीवों को वे सिद्ध गति में सहकारी कारण होते हैं । इसी तरह क्रिया रहित अमूर्त प्रेरणा रहित धर्म द्रव्य भी अपने २ उपादान कारणों से गमन करते हुए जीव तथा पुद्‌गलों के गमन में सहकारी कारण होता है । लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त से जैसे मछली आदि के गमन में जल आदि सहायक कारण है इसी तरह धर्म द्रव्य को भी समझना चाहिये ।

ग्रन्थकार ने इस गाथा में धर्म द्रव्य का वर्णन किया है । इसमें बतलाया है कि धर्म द्रव्य ठहरे हुए वस्तु को गमन नहीं कराता है इसी प्रकार सिद्ध भावना स्थिर हैं । वे भी किसी ठहरे हुए जीव को सहायता नहीं करते, परन्तु जो जीव भगवान की भक्ति में प्रेरित

+ आतप उष्णप्रकाशलक्षणः । उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिविषयः ।"
(तत्वार्थराजवार्त्तिकम् ५।२४। (२२।२३)

हो जाते हैं उन लिए सिद्ध भगवान सहकारी माने जाते हैं, जैसे पंचास्तिकाय में भी कहा है कि:—

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीव पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥ ९२ ॥

जैसे जल न तो स्वयं चलता है और न मछलियों को चलने की प्रेरणा करता है, पर स्वयं चलती हुई उन मछलियों के गमन में सहकारी कारण हो जाता है वैसे यह धर्म द्रव्य न स्वयं चलता है और न दूसरों को चलने की प्रेरणा करता है, पर स्वयमेव गमन करते हुए जीव और पुद्‌गलों की गमन क्रिया में सहकारी कारण हो जाता है। अथवा भव्य जीवों को सिद्ध अवस्था की प्राप्ति में पुण्य सहकारी कारण है। वह इस तरह पर है कि यद्यपि रागादि से रहित व शुद्धात्मानुभव सहित निश्चय धर्म भव्य जीवों के लिये सिद्ध गति का उपादान कारण है, तथापि निदान रहित परिणामों से बांधा हुआ तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति व उत्तम संहननादि विशेष पुण्यरूप कर्म अथवा शुद्ध धर्म सहकारी कारण है। अथवा जैसे भव्य और अभव्य दोनों के लिये चारों गतियों के गमन के समय में यद्यपि उनके भीतर का शुभ या अशुभ परिणाम उपादान कारण है तो भी द्रव्य लिंग आदि धारण व दान पूजादि करना या और बाहरी शुभ अनुष्ठान करना बाहरी सहकारी कारण है वैसे ही जीव और पुद्‌गलों के गमन में यद्यपि उनमें निश्चय से स्वयं भीतरी शक्ति मौजूद है तो भी व्यवहार नय से धर्मास्तिकाय उनके गमन में सहकारी कारण है, यह तात्पर्य हुआ।

यहाँ बतलाया है कि धर्म द्रव्य इतना जरूरी है कि यदि इसकी सत्ता को न स्वीकार किया जावे तो जीव और पुद्‌गलों में कुछ भी गमन क्रिया नहीं हो सकती। जैसे मछली बिना जल के कुछ भी हरकत नहीं कर सकती है तैसे जीव व पुद्‌गल बिना धर्म द्रव्य के कुछ भी नहीं कर सकते। तत्वार्थसार में कहा है कि—

जीवानां पुद्‌गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे ।
जलवन्यत्स्यगमने धर्म साधारणाश्रयः ॥ ३४ ॥

मछली के गमन में जल की तरह यह धर्म द्रव्य जीवों के और पुद्‌गलों के गमन के कार्य में साधारण आश्रय देने वाला है।

अब आगे अधर्म द्रव्य का वर्णन करते हैं।

Gati-parinatanam dharmah pudgalajivanam gamanasahakari,
Toyam yatha matsya nam agachchatam naiva sa nayati—(17).

Padapatha—जह Jaha, as. गइ-परिणयाण Gai-parinayana, engaged in moving. मच्छाणं Machchhanam, fish. गमणसहयारी Gamana-sahayari, assisting the movement. तोयं Toyam, water. पुग्गलजीवाण Puggala-jivana, of the Pudgala and Jivas. धम्मो Dhammo, Dharma. सो So, that. अच्छंता Achchhanta, those not moving. णेव Neva, does not. णेई Nei, moves.

17. As water assists the movement of moving fish, so Dharma (assists the movement of moving) Pudgala and Jiva. (But) it does not move (Pudgala and Jiva which are) not moving.

COMMENTARY.

In this verse, we have a description of a peculiar substance known as Dharma in Jain philosophy. It should be remembered that the meaning of the word Dharma, as used by the Jainas, has not the slightest resemblance to that of the same word in Hindu philosophy. †

The Jaina philosophers mean by Dharma a kind of ether, which is the fulcrum of motion. With the help of Dharma, Pudgala and Jiva move. Dharma does not make these move, but only assists them in their movement when they begin to move. In all works in Jaina literature, we have nearly the same illustration given of Dharma. The illustration is as follows. As fish move in water, without being impelled in their movement by water, but only receiving assistance of the water in their movement, so Pudgala and Jiva move, assisted by Dharma, but not impelled by it. Dharma has no form, is eternal and void of activity. These characteristics of Dharma has been thus enumerated in Varadhamana Purana by Sakala-Kirti.

"जीवपुद्गलयोर्धर्म्मः सहकारी गतेर्म्मतः ।
अमूर्त्तो निष्क्रियो नित्यो मत्स्यानां जलवद् भुवि ॥"

(Canto XVI, verse 29.)

i. e. "Dharma is known to be the helper of motion of Jiva and Pudgala, is formless, inactive and eternal. (It acts like) water to fish in the world."

In Panchastikaya Samaysara we have :

"उदयं जह मच्छाण गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥"

(Verse 85.)

i. e. "Know that, as water helps the movement of fish, so Dharma (helps the movement of) Jiva and Pudgala."

Amrita Chandra Suri has written in his Tattvarthasara, "That is called Dharma which help the motion of things which have begun to move by themselves. Jivas and Pudgalas resort to Dharma when they are going to move, as fish take the help of water in their movement."

"क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम्।
आदधाति सहायत्वं स धर्म्मः परिगीयते ॥
जीवानां पुद्गलानां च कर्त्तव्ये गत्युपग्रहे।
जलवन्मत्स्यगमने धर्म्मः साधारणाश्रयः ॥"

[तत्वार्थसारः ३ । ३३ । ३४ ।]

In Jain Kavyas also we have the same illustration of Dharma, and we shall only quote two such passages here :—

"धर्म्मः स तात्विकैरुक्तो यो भवेद् गतिकारणम्।
जीवादीनां पदार्थानां मत्स्यानामुदकं यथा ॥"

[धर्मशर्माभ्युदयम् । २१ । ८३ ।]

i.e., "That which becomes the fulcrum of motion of substances, like Jivas, etc., as water is to fish is called Dharma by those versed in the Tattvas."

"जलवन्मत्स्ययानस्य तत्र यो गतिकारणम्।
जीवादीनां पदार्थानां स धर्म्मः परिवर्णितः ॥

लोकाकाशमभिव्याप्य संस्थितो मूर्तिवर्जितः ।
नित्यावस्थितिसंयुक्तः सर्वज्ञज्ञानगोचरः ।।''

[चन्द्रप्रभचरितम् । १८ । ६९-७०]

i.e., "That is called Dharma which is the cause of movement of substances, like Jivas, etc., as water (is the helper) of the movement of fish. It exists pervading Lokakasa, is formless and eternal, and is the object of knowledge of only the omniscient."

Dharma is, therefore, that which, not moving in itself and not imparting motion to anything, helps the movement of Jiva and Pudgala. Without Dharma, the motion of Jiva and Pudgala would be impossible.

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ।। १८ ।।

(ठाणजुदाण) ठहरे हुए (पुग्गल जीवाण) पुद्गल और जीवों को (ठाणसहयारी) ठहरने में सहकारी कारण (अधम्मो) अधर्म द्रव्य है (जह) जैसे (छाया) (पहियाणं) यात्रियों को ठहरने में सहकारी है (गच्छंता) गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को वह धर्म द्रव्य (णेव) नहीं (धरई) ठहराता । ठहरे हुए पुद्गल तथा जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य उसी प्रकार है जैसे कि छाया यात्रियों को ठहराने में सहकारी है । गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता । अर्थात् ठहरे हुए पुद्गल तथा जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है । जैसे छाया पथिकों को ठहराने में सहकारी कारण है । परन्तु स्वयं गमन करते हुए भी पुद्गलों को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है यद्यपि निश्चय नय से आत्मानुभव से उत्पन्न सुखामृत रूप जो परम स्वास्थ्य है वह निज रूप में स्थिति का कारण है, परन्तु मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूँ, अनन्त ज्ञान आदि गुणों का धारक हूं, शरीर प्रमाण हूं, नित्य हूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ तथा अमूर्तिक हूँ । इस गाथा में कही हुई सिद्ध भक्ति के रूप से पहले सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जैसे भव्य जीवों के लिये बहिरंग सहकारी कारण होते हैं उसी तरह अपने २ उपादान कारण से अपने आप ठहरे हुए जीव पुद्गलों को अधर्म द्रव्य ठहरने का सहकारी कारण होता है । लोक व्यवहार से छाया अथवा पृथ्वी ठहरते हुए यात्रियों आदि के

ठहरने में जिस प्रकार सहकारी होते हैं उसी तरह स्वयं ठहरते हुए जीव पुद्गलों के ठहरने में अधर्म द्रव्य सहकारी होता है।

विवेचन:--इसी गाथा में ग्रन्थकार ने अधर्म द्रव्य का वर्णन किया है। निश्चय नय से आत्मानुभव से उत्पन्न सुखामृत रूप जो परम शान्त है वह निज रूप में स्थिति का कारण है, ऐसा समझकर मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्त ज्ञानादि गुणों का धारक हूं, नित्य हूँ तथा अमूर्तिक हूं, इस प्रकार भव्य जीवों को ध्यान करना चाहिये। शेष जितने आत्म स्वरूप से भिन्न कालादि सविकल्प रूप हैं उन सबको त्याग देना योग्य है। जैसे पंचास्तिकाय में कहा भी है कि:--

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तू पूढवीव ॥ ६३ ॥

जैसे पहले धर्म द्रव्य के सम्बन्ध में कहा था कि वह रस आदि से रहित अमूर्तिक है, नित्य है, अकृत्रिम है, परिणमनशील है व लोक व्यापी है तैसे ही अधर्म द्रव्य को जानना चाहिये। विशेष यह है कि धर्म द्रव्य तो मछलियों के लिये जल की तरह जीव पुद्गलों के गमन में बाहरी सहकारी कारण है यह अधर्म द्रव्य जैसे पृथ्वी स्वयं पहले से

ठहरी हुई दूसरों को न ठहराती हुई घोड़े आदिकों के ठहरने में बाहरी सहकारी कारण है वैसे स्वयं पहले से ही ठहरा हुआ व जीव पुद्गलों को न ठहराता हुआ उनके स्वयं ठहरते हुए उनके ठहरने में सहकारी कारण हैं। अथवा जैसे छाया पथिकों के ठहरने में कारण होती है या जैसे शुद्ध आत्म स्वरूप में जो ठहरता है उसका कारण निश्चय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान है तथा व्यवहार नय से उसका कारण अर्हन्त, सिद्ध आदि पांच परमेष्ठियों के गुणों का स्मरण है तैसे जीव पुद्गलों के ठहरने में निश्चय नय से उनका ही स्वभाव उनकी स्थिति के लिये उपादान कारण है, व्यवहार नय से अधर्म द्रव्य है।

धर्म द्रव्य के समान ही अधर्म द्रव्य है। मात्र उनके कार्य परस्पर विरोधी हैं। धर्म द्रव्य जब उदासीनपने से बिना प्रेरणा के गमन में सहकारी है तब अधर्म द्रव्य बिना प्रेरणा के स्थिति में सहकारी है। हर एक कार्य के लिए उपादान और निमित्त दो कारणों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए जीव पुद्गलों की स्थिति में उपादान कारण तो वे स्वयं हैं, पर निमित्त कारण सर्व साधारण के लिये कोई द्रव्य चाहिए, यह अधर्म द्रव्य

है। यह इतना आवश्यक है कि बिना इसकी सहायता के कभी कोई द्रव्य चलते २ ठहर नहीं सकता। जैसे तत्वार्थसार में कहा है कि:—

जीवानां पूद्‌गलानां च कर्तव्ये स्थित्युपग्रहे।
साधारणाश्रयो ऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ ॥ ३६ ॥

जैसे गायों के स्थिर होने में पृथ्वी साधारण आश्रय है वैसे जीव और पुद्‌गलों के ठहरने के काम में साधारण आश्रय देने वाला अधर्म द्रव्य है।

अधर्म द्रव्य की सत्ता सिद्ध करते हैं—

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥ ६४ ॥

वृत्तिकार ने अपना पाठ लेकर यह अर्थ किया है कि ये दोनों ही किसी के लिए नहीं हैं अकृत्रिम हैं। जो छह द्रव्यों का समूह है उस से बाहर जो शुद्ध आकाश मात्र है उसको अलोक कहते हैं। यह लोक और अलोक की सत्ता है। इसी से धर्म और अधर्म की सत्ता स्थित है। यदि इस लोक में जीव और पुद्‌गलों के चलने में और चलते चलते ठहर जाने में बाहरी निमित्त कारण धर्म और अधर्म द्रव्य न होवें तो लोक के बाहरी भाग में गमन को कौन निषेध कर सकता है? कोई भी नहीं और जब कोई भी रोकने वाला न हो तब लोक और अलोक का विभाग ही न रहे, परन्तु जब लोक और अलोक है तब यह जाना जाता है कि अवश्य धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। इन दोनों की सत्ता भिन्न २ है, ये निश्चय से जुदे २ हैं। दोनों एक क्षेत्र में अवगाह पा रहे हैं। इस से असद्‌भूत व्यवहार नय से जैसे सिद्ध राशि एक क्षेत्र में रहने से अभिन्न है वैसे ये अभिन्न हैं। ये दोनों सदा ही क्रिया रहित हैं तथा लोक व्यापी होने से लोक मात्र में हैं यह सूत्र का अर्थ है। श्लोकवार्तिक में भी कहा है—

सकृत्सर्वपदार्थानां गच्छंता गत्युपग्रहः।
धर्मस्य चोपकारः स्यात्तिष्ठतां स्थित्युपग्रहः ॥ १ ॥

तथैव स्यादधर्मस्त्वानुमेयाविति तौ स्ततः।
तादृक्कार्यविशेषस्य कारणाव्यभिचारतः ॥ २ ॥

एक समय में सर्व जीव पुद्‌गल पदार्थों के गमन होने में धर्म द्रव्य का आश्रय है वैसे ही एक समय में सर्व जीव और पुद्‌गलों के ठहरने में साधारण आश्रय अधर्म द्रव्य

है। इस तरह अनुमान से ये दोनों सिद्ध है। जब कार्य विशेष होते हैं तब उनके कारण विशेष होने ही चाहिये इसमें कोई दोष नहीं है। इसलिये जब गमन में निमित्त धर्म द्रव्य है तब स्थिति में निमित्त अधर्म द्रव्य है।

आगे यह निश्चय करते हैं कि धर्म और अधर्म गति और स्थिति के कारण होते हैं तथापि उन क्रियाओं के प्रति स्वयं अत्यन्त उदासीन हैं, प्रेरक नहीं हैं।

ण य गच्छदि धम्मत्थो गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गती स प्पसरो जीवाणं पोग्गलाणं च ॥ ६५ ॥

जैसे घोड़ा स्वयं चलता हुआ अपने ऊपर चढ़े हुए सवार के गमन का कारण होता है ऐसा धर्मास्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह क्रियारहित है, किन्तु जैसे जल स्वयं ठहरा हुआ है तो भी स्वयं अपनी इच्छा से चलती हुई मछलियों के गमन में उदासीनपने से निमित्त हो जाता है वैसे धर्म द्रव्य भी स्वयं ठहरा हुआ अपने ही उपादान कारण से चलते हुए जीव और पुद्गलों को बिना प्रेरणा किये हुए उनके गमन में बाहरी निमित्त हो जाता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय उदासीन है तो भी जीव पुद्गलों की गति में हेतु होता है। जैसे उदासीन है तो भी वह मछलियों के अपने ही उपादान बल से गमन में सहकारी होता है इसी तरह अधर्मास्तिकाय भी जैसे स्वयं ठहरते हुए घोड़ों को पृथ्वी व पथिकों की छाया सहायक है वैसे जीव और पुद्गलों की स्थिति में बाहरी कारण होता है ऐसा भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का अभिप्राय है।

धर्म द्रव्य व अधर्म द्रव्य दोनों हलन चलन क्रिया रहित हैं। वे जीव और पुद्गल को गमन करने तथा ठहरने में प्रेरक नहीं हैं। जब जीव पुद्गल स्वयं किन्हीं कारणों से चलते हैं अथवा चलते २ ठहरते हैं तब वे दोनों क्रम से गमन या स्थिति में सहकारी कारण हो जाते हैं। जैसे पृथ्वी उदासीनपने घोड़े के गमन व ठहरने में कारण है तैसे जानना चाहिये। श्लोकवार्तिक में कहा भी है—

धर्मादीनां स्वशक्त्येव गत्यादिपरिणामिनां।
यथेन्द्रियं बलाधानमात्रं विषयसन्निधौ ॥ १४ ॥
पुंसः स्वयं समर्थस्य तस्य सिद्धेर्न चान्यथा।
तत्रैव द्रव्यासामर्थ्यान्निष्क्रियाणामपि स्वयं ॥ १५ ॥

जैसे द्रव्येन्द्रियाँ अपने विषय की निकटता होने पर केवल बलाधान मात्र सहायक

हैं, मुख्य देखने वाली पुरुष की शक्ति है इसी तरह जो अपनी शक्ति से गमन या स्थिति करते हैं उनके लिये धर्म अधर्म मात्र बलाधान निमित्त है, प्रेरक नहीं है – जीव व पुद्गल स्वयं अपनी शक्ति से ही चलते या ठहरते हैं।

अब आगे आकाश का द्रव्य वर्णन करते हैं।

Sthanayutanam adharmah pudgalajivanam sthana-sahakari.
Chhaya yatha pathikanam gachchhatam naiva sa dharati—(18)

Padapatha.—जह Jaha, as. छाया Chhaya, shadow. पहियाणं Pahiyanam, of the travellers. ठाणजुदाण Thanajudana, stationary. पुग्गलजीवाण Puggalajivana, of the Pudgalas and Jivas. ठाणसहयारी Thanasahayari, is assistant in making stationary. अधम्मो Adhammo, Adharma. सो So, that. गच्छंता Gachchhanta, those moving. णेव Neva, does not. धरई Dharai, holds.

18. As shadow (assists the staying of) the travellers, (so) Adharma assists the staying of the Pudgalas and Jivas which are stationary. But that (i. e., Adharma) does not hold back moving (Pudgalas and Jivas).

COMMENTARY

Adharma is exactly the opposite of Dharma which has been described in Verse 17. Dharma is the fulcrum of motion, and Adharma is the fulcrum of rest. Vide—

"जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदि-किरियाजुत्ताणं कारणभदं तु पुढवीव॥"
[पञ्चास्तिकायसमयसारः। ८६।]

Adharma, like Dharma, is eternal, without form and without activity. It does not stop the motion of Jiva or Pudgala, but it assists them in staying still, while they are in a state of rest. Vide—

"स ह्यकर्त्ताप्यधर्मस्याजीवपुद्गलयोः स्थितेः।
नित्योऽमूर्त्तः क्रियाहीनः छायेव पथिकाङ्क्षिनाम्॥"
(Vardhamana Purana XVI. 30)

The following examples are invariably found in all Jaina works, as illustrating Adharma. First, Adharma is likened to earth which does not stop creatures from moving but becomes a support of them when they are at rest. Secondly, Adharma is said to be like shadow which does not forcibly stop the travellers scorched by the rays of the sun from moving, but assists in their rest, while they of their own accord come to sit in the shade.

Both these examples are given in Verse 84, Canto XXI of Dharmasarmabhyudaya Kavya :

" छायेव धर्मतप्तानामश्वादिनामिव क्षितिः ।
द्रव्यानां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ॥"

i. e., "Adharma is the cause of the rest of Dravyas, Pudgala, etc., as shadow is that of (persons) heated by the rays of the sun, or as the earth is that of (creatures like) horses, etc."

In Tattvarthasara, Chapter III, Verses 35 and 36, we have:

" स्थित्या परिणतानां तु सचिवत्वं दधाति यः ।
तमधर्मं जिनाः प्राहुर्निरावरणदर्शनाः ॥
जीवानां पुद्गलानाञ्च कर्त्तव्ये स्थित्युपग्रहे ।
साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ ॥"

i.e., "Jivas, whose faith is unclouded, call that to be Adharma which ministers to the staying of Jivas and Pudgalas when these are prone to rest. Adharma supports all (to rest), like the earth allowing rest to the cows."

In Chandraprabhacharita, Canto XVIII, Verse 71, we have:

" द्रव्यानां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ।
लोकेऽभिव्यापकत्वादिधर्मोऽधर्मोऽपि धर्मवत् ॥"

i.e. "Adharma is the cause of rest of Dravyas, Pudgala, etc. Adharma, like Dharma, has the same characteristics, viz., it pervades Lokakasa, etc. (the other qualities are that of being eternal, being without form, and being perceptible only by the omniscient.)

We should therefore remember that, without Dharma, it will be impossible for any substance (Dravya) to move. The universe is divided into two parts : (1) Lokakasa, which is pervaded throughout by Dharma and Adharma, and in which movement or rest may therefore happen and (2) Alokakasa, which is beyond Lokakasa, and in which Dharma and Adharma are absent. We have learnt previously that one of the characteristics of a Jiva is to move upwards. When a Jiva makes an attempt to move upwards in its gradual stages of development, it is able to do so through the assistance of Dharma. By gradually moving higher and higher, it reaches the limites of Lokakasa, beyond which there is no Dharma. Hence, it is bound to stay there. This will explain why in Verse 14 we have said that liberated Jivas stay at the top of Lokakasa and, though possessing the characteristic of having an upward motion, they do not proceed any further.

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥१६॥

अन्वय—(जीवादीणं) जो जीव द्रव्य आदि को, (अवगासदाणजोग्गं) अवकाश देनेवाला है,(जेण्हं) जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ, (लोगागासं) आकाश द्रव्य, (वियाणं) जानो, (अल्लोगागासमिदि) लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदों से आकाश (दुविहं) दो प्रकार के हैं ।

जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है उसको जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो । लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदों से आकाश दो प्रकार का है।

विवेचन:—ग्रन्थकार ने इस गाथा में आकाश द्रव्य का वर्णन करते हुए कहा है कि हे भव्य जीव ! जीवादिक द्रव्यों को अवकाश देने की योग्यता जिस द्रव्य में है उसको श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य समझो । वह आकाश, लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन भेदों से दो तरह का है । अब इसको विस्तार से कहेंगे । स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप अमूर्त रस के आस्वाद रूप परम समरसी भाव से परिपूर्ण तथा केवलज्ञानादि अनन्त गुणों के आधार भूत जो लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश अपने आत्मा के उन

प्रदेशों में यद्यपि निश्चय नय की अपेक्षा से सिद्ध जीव रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से सिद्ध मोक्ष शिला में रहते हैं। ऐसा पहले कह चुके हैं। ऐसा मोक्ष जिस स्थान में आत्म परम ध्यान से कर्म रहित होता है वहाँ ही हैं अन्यथा नहीं। क्योंकि ध्यान करने के स्थान में कर्म पुद्गलों को छोड़कर तथा उर्ध्वगमन स्वभाव से गमन कर मुक्त जीव लोक के अग्र भाग में जाकर निवास करते हैं। इस कारण लोक का अग्र भाग भी उपचार से मोक्ष कहलाता है। जैसे तीर्थभूत पुरुषों द्वारा सेवित भूमि पर्वत गुफा जल आदि स्थान भी उपचार से तीर्थ होते हैं। यह वर्णन सुगमता से समझाने के लिये किया है। जैसे सिद्ध अपने प्रदेशों में रहते हैं उसी प्रकार निश्चय नय से सभी द्रव्य यद्यपि अपने २ प्रदेशों में रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से लोकाकाश में सभी द्रव्य रहते हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

अब काल का वर्णन करते हैं:—

Avakasadanayogyam jivadinam vijanihi akasam,

Jainam Lokakasam Alokakasamiti dvividham—(19).

Padapatha—जीवादीणम् Jivadinam, of the Jivas. अवगासदाणजोग्गं Avagasadanajoggam, capable of allowing space. जेणं Jenam, Jaina. आयासं Ayasam, Akasa. वियाण Viyana, know. लोगागासं Logagasam, Lokakasa. अल्लोगागसां Allogagasam, Alokakasa. इदि Idi, thus. दुविहं Duviham, of two kinds.

19. Know that which is capable of allowing space to Jiva, etc., to be Akasa, according to Jainism. Lokakasa and Alokakasa, thus (Akasa is) of to kinds.

COMMENTARY.

The word Akasa is thus derived : "That in which the substances, Jiva, etc., are revealed or that which reveals itself is known as Akasa," or it may be thus derived : "Akasa is that which allows space to other substances." ❀

❀ Vide : आकाशंतेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं वा काशत इत्याकाशम्। (जीवादीनि द्रव्याणि स्वैःस्वैः पर्यायैः अव्यतिरेकेण यस्मिन्नाकाशंते प्रकाशंके तदाकाशं, स्वयं चात्मीयपर्याय-

In our text, the last of the derivations is adopted, as this clearly explains the characteristics of Akasa. The chief characteristic of Akasa is to allow other substances to enter into or penetrate itself. This entering or penetration expressed by the word Avagaha, which Akalanka Deva explains as Anuprabesa or interpenetration. Uma Svami has also mentioned this characteristic of Akasa, e.g.

"आकाशस्यावगाहः ।"
[Tattvarthadhigama Sutra v. 18]

i.e., "interpenetrability is the characteristic of Akasa."

In Panchastikaya samayasara, verse 90 we have: "That which gives all the room to all Jivas, Pudgalas and the rest (i.e., Dharma Adharma and Kala) is Akasa" ❀ In Tattvathasara, Chapter iii. Verse 38, we have a similar idea : † "Akasa is eternal, pervasive and all objects of the universe exist in it," ‡ and "it has no form."+

Akalanka Deva gives the following example to illustrate the interpenetrability of Akasa. He says that as water allows a swan to enter in itself, so Akasa allows the other substances to penetrate itself. × But this example, being taken from the material world,

---

मर्यादया आकाशत इत्याकाशम्) अवकाशदानाद् वा। (अथवा इतरेषां द्रव्याणां अवकाशादानादाकाशमिति पृषोदरादिषुनिपातित: शब्द: ।)
(Tattvartharajavarttika, V. I. 21. 22.)

❀ "सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह्य पुग्गलाणं च ।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥"

† "जीवानां पुद्गलानां च कालस्याधर्मधर्मयोः ।
अवगाहनहेतुत्वं तदिदं प्रतिपद्यते ॥"

‡ "नित्यं व्यापकमाकाशमवगाहैकलक्षणम् ।
चराचराणि भूतानि यत्रासंबाधमासते ॥"

+ "लोकालोकनभोभेदादाकाशोऽत्र द्विधा भवेत् ।
अवकाशप्रदः सर्वद्रव्यानां मूर्त्तिवर्ज्जितः ॥"

(Vardhamana-Purana, XVI. 31.)

× "यथा जलमवगाहते हंसः ।"
Tattvartharajavarttika V. 18 (2)]

should not be accepted in a strict sense. For, really, a swan displaces some water; but Akasa being a subtle substance does not obstruct other substances. To have a better example, let us suppose the empty space between a room to be Akasa and the substances Dharma, Adharma, etc., to be lights of different lamps. Now, the space in a room can be filled up by the lights of different lamp which intermingle and penetrate the space. In the same manner, Akasa can allow the substances, Dharma, etc., to penetrate itself.

Akasa is of two kinds : Lokakasa and Alokakasa. These will be explained in the next verse.

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥२०॥

अन्वय—(धम्मा धम्माकालो) धर्म अधर्म काल, (पुग्गलजीवा) पुद्गल और जीव, (य) ये पांचों द्रव्य, (जावदिये) आकाश में है, (सो) वह, (लोगो) लोकाकाश है और (तत्तो) उस (परदो) लोकाकाश के, (अलोगुत्ति) बाहर अलोकाकाश है।

धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पांचों द्रव्य जितने आकाश में हैं वह लोकाकाश है और इस लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश है।

इस गाथा में ग्रन्थकार ने लोकाकाश और अलोकाकाश का वर्णन किया है। धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जितने आकाश में रहते हैं उतने अवकाश का नाम लोकाकाश है। ऐसा भी कहा है कि जहाँ पर जीवादि पदार्थ देखने में आते है वह जीव है। 'आलोक यन्तितिलोकाः' अर्थात् जहां पर जीवादि पदार्थ देखने में आते हैं वह लोक है। उस लोकाकाश से बाहर जो अनन्त आकाश है वह अलोकाकाश है। यहां भीम नामका राजा श्रेष्ठी प्रश्न करता है कि हे भगवन्! केवलज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण आकाश द्रव्य है और उस आकाश के भी अनन्तवें भाग में सबके बीच में लोक है और वह लोक आदि अन्त रहित है। न किसी का बनाया हुआ है और न किसी से कभी नष्ट होता है, न किसी के द्वारा धारण किया हुआ है और न कोई इसकी रक्षा करता है। यह लोकाकाश असंख्यात प्रदेशों का धारक है। उस असंख्यात प्रदेशी लोक में

असंख्यात प्रदेशी अनन्त जीव विषय भी अनन्त गुणे पुद्गल लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालाणु द्रव्य लोकाकाश प्रमाण धर्म तथा लोकाकाश प्रमाण ही अधर्म द्रव्य कैसे रहते हैं ? भगवान् ने उत्तर में कहा है कि जैसे एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है उसी तरह लोक में सभी पदार्थ समा जाते हैं अथवा जैसे एक गूढ रस विशेष से भरे हुए शीशे के बर्तन में बहुत सा स्वर्ण समा जाता है, या भस्म से भरे हुए घट में जैसे सुई और ऊंटनी का दूध आदि समा जाता है उसी प्रकार विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेश वाले लोक में पूर्वोक्त जीव पुद्गल आदिक भी समा जाते हैं। इसमें कुछ रूकावट नहीं आती और यदि इस प्रकार अवगाहन शक्ति न हो तो लोक के असंख्यात प्रदेशों में असंख्यात परमाणुओं का ही निवास हो सकेगा। ऐसा होने पर जैसे शक्ति रूप शुद्ध निश्चय नय से सब जीव आवर्ण रहित तथा शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं वैसे ही व्यक्ति रूप व्यवहार नय से भी हो जाय किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध है जैसे स्वामी कार्तिकानुप्रेक्षा में कहा भी है कि—

सयलाणं दव्वाणं, जं दांदु सक्कदे हि अवगासं ।
तं आयासं दुविहं, लोयालोयाण भेयेण ।।२१३।।

जिस में सब द्रव्य रहते हैं ऐसे अवगाहन गुण को धारण करता है वह आकाश द्रव्य है। जिस में पाँच द्रव्य पाये जाते हैं सो तो लोकाकाश है और जिस में अन्य नहीं पाये जाते सो अलोकाकाश है। ऐसे दो भेद हैं।

अब आकाश में सब द्रव्यों को अवगाहन देने की शक्ति सभी द्रव्यों में है ऐसा कहते हैं—

सव्वाणं दव्वाणं, अवगाहणसत्ति अत्थि परमत्थं ।
जह भसम पाणियाणं जीवपएसाण जाण बहुआणं ।।२१४।।

जैसे जल को पात्र में भर कर उस में भस्म डालते हैं सो समा जाती है, उसमें मिश्री डालते हैं तो वह भी समा जाती है और उसमें सुई घुमाई जाती है तो वह भ समा जाती है वैसे अवगाहन शक्ति को जानना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि सभी द्रव्यों में अवगाहन शक्ति है तो आकाश का असाधारण गुण कैसे है ? उत्तर—

जो परस्पर तो सभी अवगाहन देते हैं तथापि आकाश द्रव्य सब से बड़ा है। इस लिये इसमें सभी समाते हैं यह असाधारणता है।

Dharmadharmau kalah pudgalajivah cha santi javatike.
Akase sa lokah tatah paratah alokah uktah—(20)

Padapatha—जावदिये Javadiye, in which. आयासे Ayase, in Akasa. धम्माधम्मा Dhammadhamma, Dharma and Adharma. कालो Kalo, Kala. य Ya, and पुग्गलजीवा Puggalajiva, Pudgala and Jiva. संति Santi, exist. सो So, that. लोगो Logo, Lokakasa. तत्तो Tatto, that. परदो Parado, beyond. अलोगुत्तो Alogutto, is called Alokakasa.

20. Lokakasa is that in which Dharma, Adharma, Kala, Pudgala and Jiva exist. That which is beyond (this Lokakasa) is called Alokakasa.

COMMENTARY

"Loka is that place in which happiness and misery are seen as results of virtue or vice, or Loka might be said to be that place in which things are got, or Loka is that place which is perceived by the omniscient." † This is how Akalanka Deva derives the word Loka. Akasa with referenee to Loka, or Akasa similar in extent to Loka is Lokakasa, and Akasa beyond Loka is Aloka-kasa. ‡

In the accompanying Plate, we have a representation of

---

† "यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः। (पुण्यपापयोः कर्मणोः फलं सुखदुःखलक्षणं यत्रालोक्यते स लोकः) लोकतीति वा लोकः। (लोकतिपश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः) लोक्यत इति वा लोकः (सर्वज्ञेनानंताप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते यः स लोकः) "
[तत्वार्थराजवार्त्तिकम् ५। १२। (१०। १२। १३।)]

‡ "तस्याकाशं लोकाकाशं जलाशयवत्। (लोकस्याकाशं लोकाकाशमिति। ......लोक एवाकाशं लोकाकाशमिति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिः।)"
[Tattvartharajavarttika. V. 12. (17)]

Lokakasa and Alokakasa. Loka or the universe, according to the Jain idea, consists of three divisions—Urdha Loka or the upper world, Madhya Loka or the middle world and Adho Loka or the lower world. The first is the abode of celestial beings, the second of men and of other creatures, and the third of the inmates of hell. Surrounding these Lokas, which are situated one above the other, are three layers of air, the inner being humid, the middle dense and the outer rarified. Within the envelope of these layers, there is Lokakash--an invisible substance which allows space to other substances and is equal in extent to the Lokas. In this Lokakasa, Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Kala exist. ❀

Beyond this Lokakasa, there is Alokakasa which is eternal infinite, formless, without activity and perceptible only by the omniscient. † In Alokakasa. there is only the substance Akasa and not Dharma, Adharma, Kala, pudgala or Jiva.

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

अन्वय—(दव्वपरिवट्टरूवो जो) द्रव्य परिवर्तन रूप जो है (सोकालो हवेइ वव-

---

❀ "धर्मा-धर्मयुताः कालपुद्गलाः जीवपूर्वकाः ।
खे यावत्यत्र तिष्ठन्ति लोकाकाशः स उच्यते ॥"
(Vardhamana Purana XVI. 32).

"जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा ।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥"
(Panchastikayasamayasara, verse 91).

"पुद्गलादि-पदार्थानामवगाहैकलक्षणः ।
लोकाकाशः स्मृतो व्यापी शुद्धाकाशो बहिस्ततः ॥"
(Dharamasarmabhyudaya XXI. 86)

† "तस्माद् बहिरनन्तो स्यादाकाशो द्रव्यवर्ज्जितः ।
नित्योऽमूर्त्तो क्रियाहीन; सर्वज्ञदृष्टिगोचरः ।"
(vardhamana Purana XvI.33).

हारो) वह व्यवहार रूप काल होता है। वह कैसा है ? (परिणामादीलक्खो) परिणाम क्रिया परत्व अपरत्व से जाना जाता है, इसलिये परिणाम आदि लक्ष्य है। अब निश्चय काल को कहते हैं (वट्टणलक्खो य परमठ्ठो) जो वर्तना लक्षण काल है वह परमार्थ (निश्चय) काल है। जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक परिणामादि रूप है सो व्यवहार काल है और वर्तना लक्षण वाला जो काल वह निश्चय काल है।

विवेचन—जीव तथा पुद्गल का परिवर्तन-जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है उस पर्याय की जो समय घड़ी (चौबीस मिनट) आदि रूप स्थिति है उस घड़ी घन्टा आदि के रूप में द्रव्य पर्याय रूप व्यवहार काल है। ऐसा ही संस्कृतप्राभृत में भी कहा है कि— "स्थिति जो वह काल संज्ञक है" सारांश यह है कि-द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो समय घड़ी घन्टा आदि रूप स्थिति है वह स्थिति ही "व्यवहार काल" है वह पर्याय व्यवहार काल नहीं है क्योंकि पर्याय सम्बन्धिनी स्थिति "व्यवहार काल" है। इसी कारण जीव और पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से देशान्तर में आने जाने रूप से गाय दुहने रसोई करने आदि हलन चलन रूप क्रिया से. दूर या समीप देश में चलन रूप काल कृत परत्व तथा अपरत्व से (छोटा बड़ापन) यह काल जाना जाता है। इसलिये व्यवहार काल परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व लक्षण वाला कहा जाता है।

अब द्रव्य रूप निश्चय काल का निरूपण करते हैं—

अपने २ उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थों को जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है अथवा शीत काल में छात्रों को पढ़ने के लिये अग्नि सहकारी है। उसी प्रकार जो परिणमन में सहायता है उसको "वर्तना" कहते हैं। वह वर्तना ही लक्षण जिसका सो ऐसा कालाणु द्रव्य रूप 'निश्चयकाल" है। इस प्रकार व्यवहार काल तथा निश्चयकाल का स्वरूप जानना चाहिये।

शंका—समय रूप ही निश्चयकाल है। उस समय से भिन्न कालाणु द्रव्य रूप और कोई निश्चय काल नही है। क्योंकि वह देखने में नहीं आता। इसका उत्तर यह है कि समय तो काल का ही पर्याय है। यदि कोई यह पूछे कि समय काल की पर्याय कैसे है ?

समाधान— पर्याय "समओ उप्पण्ण पद्धंसी" इस आगम के वाक्य के अनुसार उत्पन्न होती है और नष्ट होती है; पर वह पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती। फिर यदि समय को ही काल मान लें तो उस समय रूप पर्याय काल का उपादान कारण भूत द्रव्य भी काल रूप ही होना चाहिये। क्योंकि जैसे ईंधन अग्नि आदि सहकारी कारण

से उत्पन्न पके चावल का उपादान कारण चावल ही होता है अथवा कुम्भकार चाक चीवर आदि बहिरंग निमित्त कारण से उत्पन्न जो मिट्टी की घट पर्याय है उसका उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड ही है अथवा नर नारक आदि जो जीव की पर्याय हैं उनका उपादान कारण जीव है। इसी तरह समय घड़ी आदि काल का भी उपादान कारण काल ही होना चाहिये। यह नियम भी इस लिये है कि अपने उपादान कारण के समान ही कार्य होता है, ऐसा वचन है। कदाचित् ऐसा हो कि 'समय' घड़ी आदि काल पर्यायों का उपादान कारण काल द्रव्य नहीं है, किन्तु समय रूप काल पर्याय की उत्पति के मन्द गति में परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है तथा निमिष रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में नेत्रों के पलक का गिरना और खुलना अर्थात् पलक का गिरना और उठना उपादान कारण है ऐसे ही घड़ी रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में घड़ी की सामग्री रूप जल की कटोरी और पुरुष के हाथ आदि का व्यापार उपादान कारण है। दिन रूपकाल पर्याय की उत्पत्ति में सूर्य का बिम्ब उपादान कारण है, सो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्यों कि जिस तरह चावल रूप उपादान कारण से उत्पन्न जो चावल पर्याय है उसके अपने उपादान कारण से प्राप्त गुणों के समान ही सफेद काले आदि वर्ण अच्छी या बुरी गन्ध चिकनी अथवा रूखा आदि स्पर्श, मीठा आदि रस इत्यादि विशेष गुण दीख पड़ते हैं। वैसे ही पुद्गल परमाणु, नेत्र, पलक, बन्द करना और खोलना जल कटोरी पुरुष व्यापार आदि तथा सूर्य का बिम्ब रूप जो उपादान भूत पुद्गल पर्याय है उनसे उत्पन्न हुए समय निमिष घड़ी काल दिन आदि जो पर्याय हैं उनको भी सफेद काला आदि गुण मिलना चाहिये। परन्तु समय घड़ी आदि में उपादान कारणों के कोई गुण नहीं दीख पड़ते। क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है, ऐसा वचन है। अतः कहना व्यर्थ है कि जो आदि तथा अन्त से रहित अमूर्त है, नित्य है समय आदि का उपादान कारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है और कालाणु द्रव्य रूप है वह निश्चय काल है और जो आदि तथा अन्त से रहित है, समय, घड़ी, पहर आदि व्यवहार के विकल्पों से युक्त है वह उसी द्रव्य काल का पर्याय रूप व्यवहार काल है। सारांश यह है कि यद्यपि यह जीव काल लब्धि के वश से अनन्त सुख का भाजन होता है तो भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारक जो निज परमात्मा रूपके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण और सम्पूर्ण भाव द्रव्यों की इच्छा को दूर करने रूप लक्षण का धारक तपश्चरण रूप दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तप रूप चार प्रकार की आराधना है वह आराधना ही उस जीव के अनन्त सुख की प्राप्ति में उपादान कारण जानना चाहिये। इससे काल उपादान कारण नहीं है। इसलिए वह काल द्रव्य त्याज्य है।

विवेचनः—इस गाथा में ग्रन्थकार ने निश्चय काल का विवेचन किया है कि जो द्रव्यके परिवर्तन में सहायक परिणाम आदि रूप है वह व्यवहार काल है और वर्तना काल लक्षण वाला जो काल है वह निश्चय काल है परन्तु निश्चय से आत्मा अपना उपादान कारण है स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थों को जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण में नीचे की कीली सहकारी है इसी प्रकार आत्मा निश्चय दृष्टि से आप ही पांच परिवर्तन संसार के लिये आप ही आप उपादान कारण है। इस प्रकार व्यवहार निश्चय काल का इसमें वर्णन किया गया है। व्यवहार काल के बारे में पंचास्तिकाय में भी कहा है किः—

कालो परिणामभवो परिणाम दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ॥१०७॥

जैसे प्रवचनसार में भी कहा है किः—

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेतं तु तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थी दो ॥५२॥

पदार्थ का अस्तित्व, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से होता है। इसलिये यह अस्तित्व जो द्रव्य का प्रदेश न होवे, तो नहीं होता। यदि काल द्रव्य का एक प्रदेश भी न माना जावे, तो उस काल पदार्थ का मूल से नाश हो जावेगा। यदि कोई ऐसा कहे कि समय पर्याय ही मानो, प्रदेशमात्र कालाणुद्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। तो उससे यह पूछना है कि पर्याय वाले ध्रौव्य के बिना समय पर्याय किस तरह हो सकता है? जो ऐसा कहो कि द्रव्य बिना ही समय पर्याय उत्पन्न होता है, तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकता एक काल किस तरह हो सकती है? जो ऐसा मानो कि अनादि अनन्त निरन्तर अनेक समय पर्याय अंशों की परम्परा में पूर्व २ समय अंश का नाश होता है। अगले अंश का उत्पाद है, परम्परा संतान द्रव्यपने से ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्य बिना ही ये तीनों भाव सध सकते हैं तो ऐसा मानने से तीनों भाव एक समय में सिद्ध नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जिस अंश का का नाश होता है, उसका नाश ही है और जिसका उत्पाद है वह उत्पादरूप ही है। उत्पाद व्यय एक में किस तरह हो सकता है और ध्रौव्य भी कहाँ रह सकता है और ऐसा मानने में इन भावों के नाश होने का प्रसंग आता है तथा बौद्ध-धर्म का प्रवेश होता है। ऐसा होने से नित्यपने का अभाव हो जायेगा और द्रव्य क्षणविनाशी होने लगेगा, इत्यादि अनेक दोष आ जावेंगे। इस कारण समय पर्याय का

आधार रूप प्रदेश मात्र काल द्रव्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए। प्रदेशमात्र द्रव्य में एक ही समय अच्छी तरह उत्पाद व्यय, ध्रौव्य सध जाते हैं। जो कोई ऐसा कहे कि कालद्रव्य के जब प्रदेश की स्थापना की तो असंख्यात कालाणुओं को भिन्न मानने की क्या आवश्यकता है ? एक अखंड लोक परिमाण द्रव्य मान लेना चाहिए। उसी से समय उत्पन्न हो सकता है। तो उसका समाधान यह है कि जो अखंड कालद्रव्य होवे, तो समय पर्याय उत्पन्न हो सकता, क्योंकि पुद्गल परमाणु जब एक कालाणु को छोड़कर दूसरे कालाणु के प्रति मन्द गति से जाता है, तब उस जगह दोनों जुदा २ होने से समय का भेद होता है। जो एक अखंड लोक परिमाण कालद्रव्य होवे तो, समयपर्याय की सिद्धि किस तरह हो सकती है ? यदि कहो कि कालद्रव्य लोक परिमाण असंख्यात प्रदेशी है, उसके एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश प्रति जब पुद्गल परमाणु जायगा, तब समय पर्याय की सिद्धि हो जायगी, तो उसका उत्तर यह है कि ऐसा कहने से बड़ा भारी दोष आवेगा। वह इस प्रकार है—एक अखंड कालद्रव्य के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश प्रति जाने से समय पर्याय का भेद नहीं होता, क्योंकि अखंड द्रव्य से एक प्रदेश में समय पर्याय के होने पर सभी स्थान पर समय पर्याय है। काल की एकता से समय का भेद नहीं हो सकता। इसलिये ऐसा है कि सब से सूक्ष्म कालपर्याय समय है। वह कालाणु के भिन्न भिन्नपने से सिद्ध होता है, एकता से नहीं। काल के अखंड मानने से और भी दोष आता है। काल के तिर्यक् प्रचय नहीं है, ऊर्ध्वप्रचय है। जो काल को असंख्यात प्रदेशी माना जावे, तो काल के तिर्यक् प्रचय होना चाहिये, वही तिर्यक् ऊर्ध्वप्रचय हो जावेगा। वह इस तरह से है—असंख्यात प्रदेशी काल प्रथम एक प्रदेश कर प्रवृत्त होता है इससे आगे अन्य प्रदेश से प्रवृत्त होता है, उससे भी आगे अन्य प्रदेश से प्रवृत्त होता है, इस तरह असंख्यात प्रदेशों के क्रम से प्रवृत्त होवे, तो तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय हो जावेगा एक एक प्रदेश में काल द्रव्य को क्रम से प्रवृत्त होने से काल द्रव्य भी प्रदेश मात्र ही स्थित होता है। इस कारण जो पुरुष तिर्यक् प्रचय में ऊर्ध्वप्रचय का दोष नहीं चाहते हैं, वे पहले ही प्रदेश मात्र काल द्रव्य को मानें जिससे कि काल द्रव्य की सिद्धि अच्छी तरह होवे।

इसलिये आत्म कल्याण करने वालो भव्य जीवो ! पर द्रव्यसे भिन्न व्यवहार निश्चय काल से रहित अपने आप ही उपादान कारण समझ करके अपना ध्यान करना ही निश्चय काल है।

अब आगे निश्चय काल के रहने का क्षेत्र तथा काल द्रव्य की द्रव्य—संख्या का प्रतिपादन करते हैं।

Dravyaparivarttanarupah yah sa kalah bhavet vyavaharah
Parinamadilaksyah varttanalasana cha paramarthah—(21).

Padupatha—जो Jo, which. दव्वपरिवट्टरूवो Davvaparivattaruvo, helping changes in substances. परिणामादिलक्खो Parinamadilakkho, understood from modifications, etc. सो So, that. ववहारो Vavaharo, Vyavahara. कालो Kalo, time. हवेइ Havei, is. य Ya, which. वट्टणलक्खो Vattanalakkho, understood from continuity. परमट्ठो Paramattho, real.

21. Vyavahara Kala (Time from the ordinary point of view) is that which helps to produce changes in substances and which is known from modifications (produced in substances), while Paramarthika (i.e., real) Kala is understood from continuity.

COMMENTARY.

Real time is, according to the Jaina view, that which assists the changes in substances. To give a concrete example, we might say that the stone under a potter's wheel assists in the movement of the wheel. The stone here does not impart motion to the wheel, but without this stone such a kind of motion would not have been possible. Similarly, time, according to Jainism, assists in the changes produced in substances, though it does not cause the same. The Jaina view is, that time does not cause the changes which are produced in the substances, but indirectly aids the production of such changes. This is real time. But time, from the ordinary point of view, consists in hours, minutes, seconds etc., by which we call a thing to be new or old according to changes produced in the same.* These two kinds of time are

* "नवजीर्णादिपर्यायैर्द्रव्यानां यः प्रवर्त्तकः ।
समयादिमयः कालो व्यवहाराभिदोऽस्ति सः ॥"
[वर्द्धमानपुराणम् । १६ । ३४ ।]

technically called Kala and Samaya respectively. In all the Angas of the Jainas we find the phrase, "In that Kala and in that Samaya" ("तेणं कालेणं तेणं समयणं"). Kala is eternal, void of form and without beginning or end. Kala has no varieties. Samaya has a beginning and an end, and consists of varieties, viz., hour, minute, second, etc. Kala may be said to be the substantial cause (Upadana Karana) of Samaya.

"Some say that there is no other Kala, except that which consists of acts comprised by the rising and setting of the sun, etc."* That is to say, some deny that there is a real time (Nischaya Kala) behind the apparent time (Vyavahara Kala). But this view is untenable, for there must be a time having the characteristics of a substance different from the acts mentioned above. There must be something behind to help these acts. Though in ordinary parlance we apply the word time to such acts, real time is not identical with the same.†

It is said that Vyavaharika Kala is known from Parinama (modification) Kriya (action) Paratya (distance) and Aparatva (nearnees) of substances. Vide—

"व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया ।
परत्वं चापरत्वं च लिङ्गान्याहुर्महर्षय: ॥
स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुन: ।
परिणाम: स निर्दिष्टोऽ परिष्पन्दात्मिकोऽजिनै: ॥
प्रयोगविस्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते ।
द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिष्पन्दात्मिका क्रिया ॥
परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत् सन्निकृष्टता ।
ते च कालकृते ग्राह्ये कालप्रकरणादिह ॥"

[तत्वार्थसार: । ३ । ४५—४८ ॥]

* "क्रियां दिनकरादीनामुदयास्तमयादिकाम् ।
प्रविहायापर: कालो नास्तीत्येके प्रचक्षते ॥"

[चन्द्रप्रभचरितम् । १८ । ७५ ।]

† "तन्न युक्तं क्रियायां हि लोके काल इति ध्वनि: ।
प्रवृत्तो गौणवृत्त्यैव वाहीक इव गोध्वनि: ॥

Vartana or continuity is the perception of the existence of a substance understood from changes produced in the same in separate moments of time.‡ For example, we put rice in a pot containing water and place the same on a fire. After some time, we find that the rice has been boiled. From this we infer that slow changes must have been going on in the rice from the moment we put it in the raw state in the vessel, till we saw it in the boiled condition. Through-out this period an existence is to be inferred. This perception of existence is called Vartana. Of course, this inference of existence of real time can only be made from the effects of apparent Time (Vyavaharika Kala), viz., the changes in the rice.*

लोयायासपदेसे इक्किक्के जेठिया हु इक्किक्का ।
रयणाणं रासी इस ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥२२॥

अन्वय—(लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का) एक एक लोकाकाश के प्रदेश पर जो एक २ संख्या युक्त स्पष्ट रूप से स्थिति है जैसे (रयणाणं रासीइव) आपस में अभेद को त्याग कर रत्नों की राशि के समान भिन्न २ स्थित है (ते कालाणू

न च मुख्याहते गौणकल्पना नरसिंहवत् ।
यस्माद्द्रव्यस्वभावोऽन्यो मुख्यः कालोऽस्ति कश्चन ॥"
[चन्द्रप्रभचरितम् । १८ । ७६ । ७७ ।]

"कालो दिनकरादीनामुदयास्त–क्रियात्मकः ।
औपचारिक एवासौ मुख्यकालस्य सूचकः ॥
[धर्मशर्माभ्युदयम् २१ । ८६ ।]

‡ "प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्त्तना ।"
[तत्वार्थराजवार्त्तिकम् । ६,२१ । ४]

"अन्तर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययम् ।
अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्त्तना ॥"
[तत्वार्थसारः । ३ । ४१]

* "सानुसानिकी व्यवहारिकदर्शनात् पाकवत् ।"
[तत्वार्थराजवार्त्तिकम् । ५ । २१ । ५]

वे कालाणू कितने संख्या के धारक हैं ? (असंखदव्वाणि) लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर असंख्यात द्रव्य है ।

द्रव्य का स्वरूप-जैसे जिस क्षण में अंगुली रूप द्रव्य की टेढ़ी रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है उसी क्षण में उसके सीधे आकार रूप पर्याय का नाश होता है और अँगुली रूप से वह अंगुली दोनों दशाओं में ध्रौव्य है । इस तरह उत्पत्ति, नाश तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों से युक्त द्रव्य का स्वरूप हो गया तथा जैसे केवल ज्ञान आदि की प्रगटता रूप कार्य समयसार का यानी परम आत्मा का उत्पाद होता है उसी समय निर्विकल्प ध्यानरूप जो कारण समय सार है उसका नाश होता है और उन दोनों का आधारभूत जो परमात्म द्रव्य है उस रूप से ध्रौव्य है, इस तरह से भी द्रव्य की सिद्धि है । इसी तरह कालाणु के भी जो मन्द गति में परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रकट किये हुए और कालाणुरूप उपादान कारण से उत्पन्न हुए वर्तमान समय का उत्पाद है, वही बीते हुए समय की अपेक्षा उसका विनाश है और उन वर्तमान तथा अतीत दोनों समयों का आधारभूत कालद्रव्यत्व से ध्रौव्य है । इस तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप काल द्रव्य की सिद्धि है ।

शंका—लोक के बाहरी भाग में कालाणु द्रव्य के अभाव से अलोकाकाश में परिणाम कैसे हो सकता है ? इस शंका का उत्तर यह है कि आकाश अखंड द्रव्य है इसलिये जैसे चाक के एक कोने में डंडे की प्रेरणा से कुम्हार का सारा चाक घूमने लगता है उसी तरह अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का प्रिय अनुभव एक अंग में करने से समस्त शरीर में सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार लोकरूप आकाश में स्थित जो कालाणु द्रव्य है उससे भी सर्व अखण्ड आकाश में परिणमन होता है । इसी प्रकार काल द्रव्य शेष सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है ।

शंका—जैसे काल द्रव्य, जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है वैसे ही काल द्रव्य के परिणमन में सहकारी कारण कौन है ? उत्तर—जिस तरह आकाशद्रव्य सब द्रव्यों का आधार है और अपना आधार भी आप ही है, इसी तरह काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्यों के परिणमन की तरह अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है । कदाचित् कोई यह कहे-कि जैसे कालद्रव्य अपना उपादान कारण है और परिणमन का सहकारी कारण है वैसे ही जीव आदि सबं द्रव्य भी अपने उपादान कारण और परिणमन के सहकारी कारण रहें । उन द्रव्यों के परिणमन में काल द्रव्य से क्या प्रयोजन है ?

समाधान–ऐसा नहीं है, क्योंकि यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण की आवश्यकता न हो तो सब द्रव्यों में साधारण रूप से विद्यमान गति, स्थिति तथा अवगाहन के लिये सहकारी कारणभूत जो धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्य है उनकी भी कोई आवश्यकता नहीं तथा काल का कार्य तो घड़ी, दिन आदि प्रत्यक्ष से दीख पड़ता है किन्तु धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम (शास्त्र) के कथन से ही माना जाता है, उनका कोई कार्य प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। इसलिये, जैसे कालद्रव्य का अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्यों का भी अभाव प्राप्त होता है और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे। केवल दो ही द्रव्यों के मानने पर आगम से विरोध आता है। सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी होना केवल काल द्रव्य का ही गुण है। जैसे नाक से रस का आस्वाद नहीं हो सकता, ऐसे ही अन्य द्रव्य का गुण भी अन्य द्रव्य के कार्य करने में नहीं आता। क्योंकि, ऐसा मानने से द्रव्य संकर दोष का प्रसंग आवेगा यानी–अन्य द्रव्य का लक्षण अन्य द्रव्य में चला जायगा।

जब कोई कहता है कि जितने काल में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल का नाम समय होता है ऐसा शास्त्र में कहा है, तो एक समय में परमाणु द्वारा चौदह रज्जु गमन करने पर जितने आकाश के प्रदेश हैं उतने ही समय लगने चाहिए, शास्त्र में जो यह कहा है कि पुद्गल परमाणु एक समय में चौदह रज्जु तक भी गमन करता है सो यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? शंका का निराकरण कहते हैं कि आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाश के प्रदेश से साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करना कहा है, सो तो मन्द गमन की अपेक्षा से है। तथा परमाणु का एक समय में जो चौदह रज्जु का गमन कहा है वह शीघ्र-गमन की अपेक्षा से है। इसलिये शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन के करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है। इस में दृष्टांत यह है कि जैसे जो देवदत्त धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्र गमन आदि करके सौ योजन एक दिन में भी जाता है तो क्या उस देवदत्त को शीघ्रगति से सौ योजन गमन करने में सौ दिन लगेंगे? नहीं, एक ही दिन लगेगा। इसी तरह शीघ्र गति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है।

तथा स्वयं विषयों के अनुभव से रहित भी यह जीव अन्य के देखे हुए तथा सुने हुए विषय के अनुभव को मन में स्मरण करके विषयों की इच्छा करता है उसको अपध्यान (बुरा ध्यान) कहते हैं। उस विषय अभिलाषा आदि समस्त विकल्पों से रहित

और आत्म-अनुभव से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द रूप सुख के रस आस्वाद से सहित वीतराग चारित्र होता है और जो उस वीतराग चारित्र से अविनाभूत (उसके बिना न होने वाला) है वह निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है । वह निश्चय सम्यक्त्व ही सदा (भूत, भविष्यत्, वर्तमान–तीनों कालों में) मुक्ति का कारण है और काल तो उस निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में वीतराग चारित्र का सहकारी कारण भी नहीं होता है, इस कारण काल द्रव्य त्यागने योग्य है । ऐसा ही कहा है कि बहुत कहने से क्या प्रयोजन, जो श्रेष्ठ पुरुष भूत काल में सिद्ध हुए हैं तथा अब होंगे, वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है । (बारस अणुवेक्खा ९०) यहाँ तात्पर्य यह है कि कालद्रव्य के तथा अन्य द्रव्यों के विषय में जो कुछ विचारना हो वह सब परम आगम के अविरोध से ही विचारना चाहिये, वीतराग सर्वज्ञ का वचन प्रमाण है, ऐसा मन में निश्चय करके उनके कथन में विवाद नहीं करना चाहिये । क्यों कि विवाद में राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं और उन राग-द्वेषों से संसार की वृद्धि होती है । अब आगे पंचास्तिकाय का विवेचन करते हैं:—

Lokakasa—pradese ekaikasmin ye sthitah hi ekaikah.

Ratnanam rasih iva te kalanavah asamkhya-dravyani—(22).

Padapatha—इक्केक्के Ikkekke, in each. लोयायपदेसे Loyayapadese, Pradesa of Lokakasa. जे Je, which. इक्केका Ikkekka, one by one. कालाणू Kalanu, points of Time. रयणाणं Rayananam, jewels. रासीमिव Rasimiva, heaps. हु Hu, certainly. ट्ठिया Tthia, are. ते Te, that. असंखदव्वाणि Asamkhadavvani innumerable substances.

22. Those innumerable substances which exist one by one in each Pradesa of Lokakasa, like heaps of jewels, are points of time.

COMMENTARY

Kala or time consists of minute points or particles which never mix with one another, but are always separate. The universe (Lokakasa) is full of these particles of time, no space within it being void of the same. It need not be mentioned that these particles of time are invisible, innumerable, inactive and without form.

In all the Jaina works these particles have been compared to innumerable jewels. This example illustrates the fact that the particles of time never mix up with one another. In Tattvartha-asara, we have—

"एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निष्क्रियाः
लोकाकाश-प्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थिताः ॥" [३१।४४]

i.e., "The particles of that (Time) exist each in its own capacity, like heaps of jewels in the Pradesas of the Lokakasa (universe), and are without activity."

In Vardhamana Purana, we have—

"लोकाकाशप्रदेशे ये ह्येकैका अणवः स्थिताः ।
भिन्नभिन्नप्रदेशस्था रत्नानामिव राशयः ।"

[Canto XVI., Verse 35.]

i.e., "The particles exist separately in different Pradesas of Lokakasa, like heaps of jewels in different places."

This characteristic of Time differentiates it from the other five kinds of substances ; for, while the former consists of separable particles, the latter are collecons of indivisible and inseparalbe parts.

अब इसके पश्चात् पांच गाथाओं में पंचास्तिकाय का व्याख्यान करते हैं। उनमें भी प्रथम गाथा के पूर्वार्द्ध में छह द्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार और उत्तरार्द्ध से पंचास्तिकाय का व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं।

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥२३॥

अन्वय—(जीवाजीवप्पभेददो) जीव और अजीव के भेदों से (छब्भेयमिदं) यह द्रव्य छह प्रकार का (काल विजुत्तं) कालयुक्त (णायव्वा) जानना चाहिये। (अत्थिकाया दु) अस्तिकाय और काल के बिना शेष पांच द्रव्य को पांच अस्तिकाय समझना चाहिये।

इस तरह द्रव्य का समान्य कथन करके आचार्य ने छह द्रव्य से उपसंहार करते हैं, पर निश्चय नय से जैन सिद्धान्त ने इस लोक को छह द्रव्यों का समुदाय माना है। एक शब्द में चाहे छह द्रव्य कहे। पर यह लोक जैसे सत्‌रूप अनादि अनन्त है उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अपेक्षा नित्य, अनित्यरूप है, गुणपर्यायों के रखने से कार्यरूप है वैसे वे छह द्रव्य भी सत्‌रूप अनादि अनन्त हैं। उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अपेक्षा नित्य अनित्य स्वभाव धारी हैं तथा गुण पर्यायों के रखने से सार्थक है। किसी विशेष समय न कोई द्रव्य पैदा हुआ है, न कभी कोई द्रव्य नष्ट होगा, न एक द्रव्य कभी दूसरे में मिल जायगा, न छह द्रव्यों के कभी साथ आठ द्रव्य होंगे इसी से श्री उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है— "नित्यवस्थितान्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः" कि ये छहों द्रव्य नित्य अविनाशी हैं, इनकी संख्या स्थिर है तथा इनमें पांच अमूर्तिक हैं, मात्र पुद्गल मूर्तिक है।

प्रत्येक द्रव्य सामान्य और विशेष गुणों का अमिट व अखंड समुदाय है। गुण सहभावी होते हैं और द्रव्य के सर्व प्रदेशों में व्याप्त होते हैं। इन्हीं गुणों में समय २ परिणमन हुआ करता है, ये कूटस्थ नहीं पड़े रहते हैं। स्वाभाविक शुद्ध द्रव्यों में जैसे शुद्ध जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश और काल इनमें सदृश स्वाभाविक परिणमन हुआ करता है। जब कि संसारी अशुद्ध जीव और पुद्गलों में विसदृश विभावरूप परिणमन भी होता है। इस परिणमन क्रिया में प्रत्येक गुण का व प्रत्येक समय का जो विकार या परिणाम है उसी को पर्याय कहते हैं। हर एक पर्याय भिन्न २ समय में भिन्न २ होती है, इसलिये हर एक गुण की पर्याय प्रति समय पुरानी को नाश कर नई उपजती है। जैसे गुणों का समुदाय द्रव्य है वैसे पदार्थों का समुदाय द्रव्य है, इसलिये कुल द्रव्य समय २ पर्यायों की अपेक्षा उपजता विनशता है। जैसे प्रत्येक गुण ध्रौव्य है वैसे उन गुणों का समुदाय द्रव्य ध्रौव्य है इसलिये द्रव्य उत्पादन व्यय और ध्रौव्यस्वरूप तथा गुण पर्यायवान है। छहों द्रव्यों के कुछ सामान्य और विशेष गुण या पर्यायें इस तरह जाननी चाहिये।

Evam sadbhedam idam jivajivaprabhedatah dravyam,
Uktam kalaviyuktam jnatavyah pancha astikayah tu. —(23).

Padapatha—एवं Evam, in this manner. जीवाजीवप्पभेददो Jivajivappabhedado, according to the subdivisions of Jiva and Ajiva. इदं Idam, this. दव्वं Davvam, Dravya. छब्भेयं Chhavbheyam, of

six kinds. उत्तं Uttam, is called. दु Du, and कालविजुत्तं Kala-vijuttam, without Kala. पंच Pancha, five. अत्थिकाया Atthikaya, Astikayas, णायव्वा Nayavva, to be known.

23. In this manner, this Dravya is said to be of six kinds according to the subdivisions of Jiva and Ajiva. The five, without Kala, should be understood to be Astikayas.

COMMENTARY

Dravya is divided into Jiva and Ajiva. Ajiva, again, is subdivided into Pudgala, Dharma, Adharma, Akasa and Kala. These five Ajivas, with Jiva, make up the six varieties of dravya.
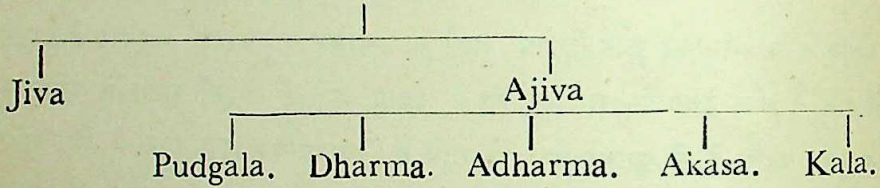
Of these six varieties, Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Akasa are technically known as the five Astikayas. * The meaning of the word Astikaya will be understood from Verse 24, Page 65 and the reason why Kala, the sixth variety of Dravya, is not called Astikaya, will be explained in Verse 25. Page 66.

---

* Compare:

"धर्माधर्मौ नभः कालः पुद्गलश्चेति पञ्चधा ।
अजीवः कथ्यते सम्यग् जिनैस्तत्वार्थदर्शिभिः ॥
षड्द्रव्याणीति वर्ण्यन्ते समं जीवेन तान्यपि ।
विना कालेन तान्येव यान्ति पञ्चास्तिकायताम् ॥"

[धर्मशर्माभ्युदयम् । २१।८१। ८२]

Also—

"धर्माधर्मावथाकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ।
अजीवः पञ्चधा ज्ञेयो जिनागमविशारदैः ॥
एतान्येव सजीवानि षड् द्रव्याणि प्रचक्षते ।
कालहीनानि पञ्चास्तिकाया स्तान्येव कीर्त्तिताः ॥"

[चन्द्रप्रभचरितम् । १८।६७।६८।]

अस्तिकाय की पांच संख्या तो जान ली है, अस्तित्व और कायत्व का निरूपण करते हैं —

संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा जह्मा ।
काया इव वहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य ॥ २४ ॥

अन्वय—(संति जदो तेणेदे अत्थीति भणंति जिणवरा) जीव से आकाश तक पांच द्रव्य विद्यमान है इसलिये सर्वज्ञ देव इन को अत्थि कहते हैं ।) (जह्मा काया इव-बहुदेसा तह्मा काया य) और क्योंकि काय अर्थात् शरीर के समान ये बहुत प्रदेशों के धारक हैं इस कारण जिनेश्वर देव इनको काय कहते हैं । (अत्थिकाया य) इस प्रकार अस्तित्व से युक्त ये पांच द्रव्य केवल अस्ति ही नहीं है । और कायात्व से युक्त होने से केवल काय भी नहीं है । किन्तु अस्ति और काय दोनों को मिलाने से संज्ञा का धारक है । अब इन पांचों के संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि से यद्यपि परस्पर भेद है तथापि अस्तित्व के साथ अभेद है यह दर्शाते हैं ।

जैसे शुद्ध जीवास्ति काय से सिद्धत्व रूप शुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय है । केवल ज्ञान आदि विशेष गुण हैं । तथा अस्तित्व वस्तुत्व और अगुरु लघु आदि समान गुण है तथा मुक्ति दशा में अव्यावाद अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों की प्रकटता रूप कार्य समय सार का उत्पाद रागादि भाव सहित परम स्वास्थ्य रूप कारण समय सार का वे यानी नाश और उत्पाद तथा विवेक इन दोनों का आधारभूत परमात्म स्वरूप जो द्रव्य है उस रूप से ध्रौव्य है । इस प्रकार पहले कहे लक्षण सहित गुण तथा पर्यायों से और उत्पाद वे तथा ध्रौव्य के साथ मुक्त अवस्था में संज्ञा लक्षण तथा प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी सत्ता रूप से और प्रदेश रूप से किसी का किसी के साथ भेद नहीं है । क्योंकि जीवों की मुक्ति अवस्था में गुण तथा पर्याय की और उत्पाद व्यय ध्रौव्य की सत्ता सिद्ध होती है । एवं गुण पर्याय उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य की सत्ता के अस्तित्व को मुक्त आत्मा सिद्ध करता है । इस तरह से गुण पर्याय आदि मुक्त आत्मा पर्याय की सत्ता को परस्पर सिद्ध करते हैं । अब इनके कायपना कहते हैं । बहुत से प्रदेशों में व्याप्त होकर रहने को देखकर जैसे शरीर को काय कहते हैं । अर्थात् जैसे शरीर में अधिक प्रदेश होने के कारण शरीर को काय कहते हैं उसी प्रकार अनन्त ज्ञान अनन्त गुणों के आधार भूत जो लोकाकाश के बराबर असंख्यात शुद्ध प्रदेश है उतने समूह संघात अथवा मेल को देखकर मुक्त जीवों में भी कायत्व कहा जाता है । जैसे शुद्ध गुण पर्यायों से तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित मुक्त आत्मा के निश्चय नय की अपेक्षा सत्ता रूप से अभेद बतलाया गया है, ऐसे

ही संसारी जीवों में तथा पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्य भी यथासम्भव परस्पर अभेद देख लेना चाहिये। काल द्रव्य को छोड़कर अन्य सब द्रव्यों के कायत्व भी अभेद हैं। इसलिये आत्मन् तू अनादि काल से पर द्रव्य के संयोग से अनेक द्रव्य पुद्गल अधर्म आकाश इत्यादि पर द्रव्य से भिन्न एक अखंड अविनाशी अपने आप स्वरूप को आप ही शुद्ध निरंजन आकाश द्रव्य रूप अपने आत्मा को ही जानकर आप ही अपने अन्दर सौध करेगा तो आप ही शुद्ध द्रव्य अखंड अविनाशी एक निश्चल शुद्ध परमात्मा आप ही है। इस प्रकार आप अपने को पहचानेगा तो अपने से भिन्न जो पर द्रव्य पर भाव तथा जो पर में अपनापना था वह मिट जायगा और आप अपने में ही सुखी होगा।

Santi yatah tena asti iti bhananti jinavarah Gasmat,

Kaya iva vahudesah tasmat kayah cha astikayah, cha.—(24)

Padapatha—जदो Jado, because, एदो Ede, these. संति Santi, exist तेण Tena, on that account. जिणवरा Jinavara, the great Jinas. अत्थीति Atthiti, as "Asti." भणंति Bhananti, say. य Ya, and. जम्हा Jamha because. काया Kaya, bodies. इव Iva, like. वहुदेसा Vahudesa, having many Pradesas. तम्हा Tamha, therefore काया Kaya, Kayas. य Ya, and. अत्थिकाया Atthikaya, Astikayas.

24. As these exist, they are called "Asti" by the great Jinas, and because (they have) many Pradesas, like bodies therefore [they are called] Kayas. [Hence these are called] Astikayas.

COMMENTARY

"Asti-kaya" † consists of two words, "Asti" and "Kaya" "Asti"

---

* The word Astikaya is thus derived :

"अस्ति इति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्।"

"Asti" is an indeclinable (Avyaya) resembling a verb in form.

That which acts like Kaya is "Kaya."

(काय इव आचरति इति कायः। आचारार्थे क्विप्।)

That in which there is existence (Asti) and Kaya is called Astikaya.

literally means "exists." Now, the five kinds of substances, viz., Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Akasa always exist; hence, while mentioning any of these, one might say " it exists. " Again, each of these substances has many Pradesas, like bodies. Hence each of these might also be said to be " Kaya " (literally, body). These two characteristics being combined, each of these aforesaid five substances are named 'Astikaya' or 'that which exists and has different Pradesas like a body' It should be remembered that to be an Astikaya, a substance must have both these characteristics. The substance Kala, (Time) though having the first characteristic (viz. existence), is not called Astikaya, because it does not have many Pradesas.

To be more clear, first let us understand what is meant by a Pradesa. Pradesa has been defined in Verse 27 to be that part of space which is obstructed by one indivisible atom of matter. A Pradesa can contain not only atoms of matter, but of particles of other substances also. Thus each of the substances have Pradesas. Now, Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Akasa have many Pradesas, as these consists of many indivisible and inseparable parts, or, in other words, the particles of these are not separate, but are mixed up or capable of being mixed up. Hence, as we are unable to locate these particles, in definite Pradesas, these substances can be said to occupy many Pradesas. But Kala consists of particles which never mix up, and consequently each of these particles occupies a particular Pradesa. Hence Kala is said to have one Pradesa only. But the other substances Jiva pudgala, Dharma, Adharma and Akasa having no separable and distinct particles occupying distinct Pradesas, are said to be of many Pradesas.

Kaya is that which have many Pradesas. The five substances, Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma and Akasa have many Pradesas, and hence these are called Kayas; but Kala, having but a single Pradesa, is not called so. This is the reason why Kala is not called an "Astikaya.

अब कायत्व के व्याख्यान में जो पहले प्रदेशों का अस्तित्व सूचित किया है उसका विशेष व्याख्यान करते हैं। ये तो अगली गाथा की एक भूमिका है और इस द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं ये दूसरी भूमिका प्रतिपादन करती है।

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिवह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥ २५ ॥

अन्वय— (होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे) जैसे दीपक के समान संकोच तथा विस्तार से युक्त एक जीव में भी और सदा स्वभाव से फैले हुए धर्म अधर्म द्रव्यों में भी लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश होते हैं (अनन्तआया से) आकाश में अनन्त प्रदेश होते हैं। (मुत्ते तिविह पदेसा) मूर्त यानि पुद्गल द्रव्य में जो असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओं के पिण्ड अर्थात् स्कन्ध हैं। वे ही तीन प्रकार के प्रदेश कहे जाते हैं न कि क्षेत्र रूप प्रदेश तीन प्रकार के हैं क्योंकि पुद्गल अनन्त प्रदेश वाला क्षेत्र में नहीं रहता (कालस्सेगो) काल द्रव्य का एक ही प्रदेश है। (ण तेण सो काओ) इसी कारण काल द्रव्य काय नहीं है।

विवेचन—यहाँ ग्रन्थकार काल द्रव्य के एक प्रदेशीय होने के कारण बतलाते हैं जैसे अन्मित शरीर से कुछ प्रमाण कर धारक सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारणभूत जो सिद्ध आत्म द्रव्य है वह सिद्ध पर्याय के प्रमाण ही है अथवा जैसे मनुष्य देवादि पर्यायों उपादान कारणभूत जो संसारी जीव द्रव्य है। वह उस मनुष्य देव आदि पर्याय के प्रमाणी है उसी प्रकार काल द्रव्य भी समय रूप काल पर्याय के विभाव से उपादान रूप एक प्रदेशी होता है। अथवा मन्द गति से गमन करते हुए पुद्गल-परमाणु के एक आकाश के प्रदेश तक ही काल द्रव्य गति का सहकारी कारण होता है। इस कारण जाना जाता है कि वह कालद्रव्य भी एक ही प्रदेश का धारक है। यहां कोई कहता है कि पुद्गल परमाणु की गति में सहकारी कारण तो धर्म द्रव्य विद्यमान है ही। इससे काल द्रव्य का क्या प्रयोजन है?

समाधान—ऐसा नहीं है। क्योंकि गति के सहकारी कारण धर्म द्रव्य के विद्यमान रहते हुए मछलियों की गति में जल के समान तथा मनुष्यों की गति में गाड़ी पर बैठना आदि के समान पुद्गल की गति में और भी बहुत से सहकारी कारण होते हैं। कदाचित् कोई यह कहे कि काल द्रव्य पुद्गलों की गति में सहकारी कारण है यह कहां कहा है ? सो कहते हैं—श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय नामक प्राभृत में "पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणादु" ऐसा कहा है। इसका अर्थ यह है कि धर्म द्रव्य के विद्यमान होते भी जीवों

की गति में कर्म, नोकर्म, पुद्गल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन भेदों वाले पुद्गलों के गमन में काल द्रव्य सहकारी कारण होता है ।

अब आगे पुद्गल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तो भी उपचार से उसको काय कहते हैं, ऐसा कहते हैं:—

Bhavanti asamkhyah jive dharmadharmayoh anantah akase,
Murtte trividhah pradesah kalasya ekah na tena sa kayah (25)

Padapatha—जीवे Jive, in Jiva. धम्माधम्मे Dhammadhamme, in Dharma and Adharma. असंखा Asamkha, innumerable. पदेसा Padesa, Pradesa. होंति Honti, are. आयासे Ayase, in Akasa. अणंत Ananta, infinite. मुत्ते Mutte, in that which has form. तिविह Tiviha, of three sorts. कालस्स Kalassa, of Kala. एगो Ego, one. तेण Tena, for that. सो So, that. काओ Kayo, having body. ण Na, not.

25. In Jiva and in Dharma and Adharma, the Pradesas are innumerable, in Akasa (the Pradesas are) infinite and in that which has form (viz. Pudgala) (these are) of three kinds. (viz. numerable, innumerable and infinite). Kala (Time) has one (Pradesa). Therefore, it is not (called) Kaya.

COMMENTARY

Every kind of substance is made up of ultimate indivisible particles. The space occupied by one such particle is known as pradesa. Now, the substances, Jiva, Dharma and Adharma have innumerable Pradesas. ❀ That is to say, the Pradesas of Jiva, Dharma and Adharma are beyond calculation. Lokakasa or the universe contains innumerable Pradesas and, as Jiva can fill up the

---

❀ "असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।"

(तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ५ । ८ ।)

"एकस्य जीवद्रव्यस्य धर्माधर्मास्तिकाययोः ।
असंख्येयप्रदेशत्वमेतेषां कथितं पृथक् ।।"

(तत्वार्थसारः ३ । १६ ।)

whole of the universe by expansion, it is said to contain innumerable Pradesas. Dharma and Adharma also pervade all parts of the universe, as oil pervades the whole portion of a mustard seed.† Hence these two substances also have innumerable Pradesas. Akasa is infinite, for it not only pervades the universe, but is even existent beyond it; hence its Pradesas are infinite. The distinction between innumerable and infinite Pradesas consists in this that, while the former have a limit, though it is beyond the power of even an omniscient being to count them, the later is without limits.

It may be urged that, without knowing the number of the Pradesas belonging to Akasa, how can one become omniscient? Akalanka Bhatta has replied to this that, to be ominiscient, it is sufficient to know that these are innumerable.

When we say that Pradesas of such and such a substance are innumerable, we mean that in reality these are incapable of being counted by anyone. We are not speaking thise with reference to the ordinary human beings who have limited powers of perception, but with reference to all beings ‡ Hence, it must be supposed that an omniscient being only knows that Pradesas of such substances are innumerable. This is also the case when we speak of the infinite Pradesas.

Pudgala has Pradesas which are numerable, innumerable

---

† "संहाराच्च विसर्पाच्च प्रदेशानां प्रदीपवत् ।
जीवस्तु तदसंख्येयभागादीनवगाहते ।।

लोकाकाशे समस्तेऽपि धर्माधर्मास्ति काययो: ।
तिलेषु तैलवत् प्राहुरवगाहं महर्षय: ।"

(तत्वार्थसार: । ३ । १४ ।२३)

‡ "संख्याविशेषातीतत्वादसंख्येया: :"

"तदनुपलब्धेर सर्वज्ञत्वप्रसंग इति चेन्न तेनात्मनावसितत्वात् ।"

[तत्वार्थराजवार्तिकम् ५।८।१।३]

and infinite. To be more explicit, Pudgala or matter consists of ultimate indivisible particles which we might call atoms, remembering, however, that these atoms are more fine than the atoms as understood in the modern science. Now, two or more atoms of matter may combine and produce what is technically known as a Skandha. † A Skandha may contain two, four, six, a hundred, a million or more otoms. The Pradesas or spaces obstructed by atoms in the state of Skandha can. therefore be counted, and hence we might say in this respect that matter (Pudgala) has numerable pradesas. From another point of view, if we do away with the combination which produce Skandhas and suppose the atoms to exist separately, contemplating a division, Pudgala should be understood to have innumerable atoms; for pudgala, as mentioned before, exists throughout Lokakasa or the universe. Again, Pudgala may be said to have infinite Pradesas also from another point of view, viz., the atoms of matter in a subtle state may be considered to be infinite.

If a doubt be started that how can infinite atoms exist in finite Lokakasa, we reply that atoms in a subtle state, though infinite, can exist in one Pradesa of Akasa, though in the gross state this is not possible. ‡ Thus matter in subtle state may be said to possess infinite pradesas.

It has already been mentioned in the Commentary on Verse 24 that Kala has only one Pradesa, and this is the reason why we do not call it Kaya, for a Kaya is that which has more than one Pradesa.

---

† "अणव: स्कन्धाश्च ।" "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ।"
"भेदादणु: ।" "भेदसंघाताभ्यां चाक्षुष: ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ।५।२५—२८ ।]

‡ "अधिकरणविरोधादानन्त्याभाव इति चेन्न सूक्ष्म परिणामावगाहनसामर्थ्यात् ।"

[तत्वार्थराजवार्त्तिकम् ।५।१।३]

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वणहु ॥२६॥

एक प्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कन्ध रूप बहुप्रदेशी हो सकता है । इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार के पुद्गल परमाणु को काय कहते हैं ।

अन्वय—(एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो) यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है । तथापि अनेक प्रकार से द्वि-अणुक आदि स्कन्धरूप बहुत प्रदेशों के कारण बहु प्रदेशी होता है । (उवयारा) व्यवहार नय से । (तेण य काओ भणंति सव्वण्हु) इसी कारण सर्वज्ञ देव उस पुद्गल परमाणु को काय कहते हैं । जैसे यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा द्रव्य रूप से शुद्ध तथा एक है तो भी अनादि कर्म बन्धन के कारण स्निग्ध तथा रूक्ष गुणों के स्थानीय (वजाय) राग और द्वेष परिणाम से व्यवहार नय के द्वारा मनुष्य नारक आदि विभाव पर्यायरूप अनेक प्रकार का होता है उसी प्रकार पुद्गल परमाणु भी यद्यपि स्वभाव से एक और शुद्ध है तो भी रागद्वेष के स्थान जो बन्ध के योग्य स्निग्ध (चिकना) रूक्ष (रूखे) गुणों के द्वारा परिणमन करके द्वि-अणुक आदि स्कन्धरूप विभाव पर्याय हैं उनके द्वारा अनेक प्रदेशों का धारक होता है । इसी कारण बहु-प्रदेशतारूप कायत्व के कारण से पुद्गल परमाणु को सर्वज्ञ भगवान व्यवहार काय कहते हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि जैसे द्रव्य रूप से एक भी पुद्गल परमाणु के द्वि-अणुक आदि स्कन्ध पर्याय द्वारा बहु-प्रदेशरूप कायत्व सिद्ध हुआ है ऐसे ही द्रव्यरूप से एक होने पर भी कालाणु के समय, घड़ी आदि पर्यायों द्वारा कायत्व सिद्ध होता है । इस का परिहार करते हैं कि स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण होने वाले बन्ध का कालद्रव्य में अभाव है, इसलिए वह काय नहीं हो सकता । ऐसा भी क्यों ? क्योंकि स्निग्ध तथा रूक्षपना पुद्गल का ही धर्म है । काल में स्निग्ध रूक्ष नहीं है अतः उनके बिना बन्ध नहीं होता । कदाचित् यह पूछो कि अणु यह तो पुद्गल की संज्ञा है, काल की अणु संज्ञा कैसे हुई ? इसका उत्तर यह है कि-अणु शब्द द्वारा व्यवहार नय से पुद्गल कहे जाते हैं और निश्चय नय से तो वर्ण आदि गुणों के पूरण तथा गलन के सम्बन्ध से पुद्गल कहे जाते हैं, वास्तव में अणु शब्द सूक्ष्म का वाचक है, जैसे परम अर्थात् अत्यन्त रूपसे जो अणु हो सो परमाणु है । इस व्युत्पत्ति से परमाणु शब्द निर्विभाग पुद्गल की विवक्षा (कहने की इच्छा) में पुद्गल अणु को कहता है और अविभागी काल द्रव्य के कहने की जब इच्छा होती है तब कालाणु कहते हैं ।

अथ प्रदेश का लक्षण कहते हैं—

जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है उसको सब परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानो।

Ekapradesah api anuh nanaskandhapradesatah bhavati.
Vahudesah upacharat tena cha kayah bhananti sarvajnah—(26).

Padapatha—एयपदेसोवि Eyapadesovi, though of one pradesa. अणू Anu, atom. णाणाखंधप्पदेसदो Nanakhandhappadesado, on account of being Pradesa of many Skandhas. बहुदेसो Bahudeso, of many Pradesas. होदि Hodi, becomes. तेण Tena, therefore. य ya, and. सव्वण्हु Savvanhu, the omniscient. उवयारा Uvayara, ordinarily. काओ Kayo, Kaya. भणंति Bhananti, say.

26. An atom (of Pudgala), though having one Pradesa, becomes of many Pradesas, through being Pradesa in many Skandhas. For this reason, from the ordinary point of view, the omniscient ones call (it to be) Kaya.

COMMENTARY

It may be urged that, as each particle of Kala occupies a separate Pradesa, so we have said that Kala has one Pradesa only; in the same manner, each atom of matter occupies one pradesa, and consequently matter might also be said to have only one Pradesa. To this, we reply that it is true that a single atom of matter occupies a single Pradesa, but this atom may combine with other atoms and form different Skandhas which have many Pradesas. With reference to this stage, an atom may be said to have many Pradesas. For this reason, from the ordinary point of view, we recognise even one atom to have many Pradesas. And, as that which has many Pradesas is called Kaya, so this atom also is known as Kaya.

The atoms in matter are capable of combining with one another and form Skandhas, but particles of Time cannot combine

in this manner. It has been mentioned before that each partilce of Time exists separately. Hence, though from the ordinary point view we may say an atom of matter to have many Pradesas With reference to its existence in a Skandha stage, we can not say that a particle of Time in the same manner contains many Pradesas.

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्ठद्धं ।
त खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥ २७ ॥

अन्वय—(जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्ठद्धं तं पदेसं जाणे) हे शिष्य ! जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से घिरा है उसको स्पष्ट रूप से प्रदेश जानो। वह प्रदेश (सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं) सब परमाणु और सूक्ष्म स्कन्धों को स्थान देने के लिए समर्थ है। क्योंकि ऐसी अवगाहन शक्ति आकाश में है इसी कारण असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीव तथा उन जीवों से भी अनन्तगुणे पुद्गल समा जाते हैं। इसी प्रकार जीव और पुद्गल के विषय में भी अवकाश देने को सामर्थ्य आगम में कही है। एक निगोद शरीर में द्रव्य प्रमाण से भूतकाल के सब सिद्धों से भी अनन्तगुणे जीव देखे गए हैं।

एगणिगोदशरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ १९५ ॥ गोम्मटसार ॥

द्रव्य की अपेक्षा सिद्ध राशि से और सम्पूर्ण अतीतकाल के समयों से अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं।

यह लोक सब तरफ से विविध तथा अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर पुद्गलों द्वारा अति सघन भरा हुआ है। यदि किसी का ऐसा मत हो कि मूर्तिमान पुद्गलों के तो अणु तथा स्कन्ध आदि विभाग हों, इसमें तो कुछ विरोध नहीं, किन्तु अखंड अमूर्तिक आकाश की विभाग कल्पना कैसे हो सकती है ? यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि राग आदि उपाधियों से रहित निज-आत्म अनुभव की प्रत्यक्ष भावना से उत्पन्न सुखरूप, अमृत-रसके आस्वादन से तृप्त ऐसे दो मुनियों के रहने का स्थान एक है अथवा अनेक ? यदि दोनों का निवास क्षेत्र एक ही है तब तो दोनों एक हुए, परन्तु ऐसा है नहीं यदि भिन्न मानो तो घट का आकाश तथा पटका आकाश की तरह विभाग रहित आकाश द्रव्य की भी विभाग कल्पना सिद्ध हुई। इस तरह पांच सूत्रों द्वारा पंच अस्तिकायों का निरूपण करने वाला तीसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इस प्रकार भावनासार का टीकाकार श्री पुट्टैया स्वामी द्रव्य संग्रह ग्रन्थ में नमस्कारादि २७ गाथाओं से तीन अधिकारों द्वारा छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय प्रतिपादन करनेवाला प्रथम अन्तर-अधिकार समाप्त हुआ।

Yavanmatram akasam avibhagipudgalanavastavdham,
Tam Khalu pradcsam janihi sarvanusthanadanarham—(27)

Padapatha—जावदियं Javadiyam, which portion. आयासं Ayasam, Akasa. अविभागीपुग्गलाणुवट्ठद्धं Avibhagipuggalanuvatthaddham, is obstructed by one indivisible atom of Pudgala. तं Tam, that. खु Khu, surely. सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं Savvanutthanadanariham, capable of giving space to particles of all. पदेसं Padesam, Pradesa. जाणे Jane, know.

27. Know that (to be) surely pradesa which is obstructed by one indivisible atom of Pudgala and which can give space to all Particles.

COMMENTARY

We have already mentioned more than once what is meant by a Pradesa. In this verse, we have a definition of Pradesa. That portion of Akasa which is obstructed by one indivisible ultimate atom of matter is known as a Pradesa. In such a Pradesa of Lokakasa, one Pradesa of Dharma, one Pradesa of Adharma, one particle of Kala and innumerable atoms of matter, or even Skandhas in a subtle state may exist. * The characteristic of Akasa is to give space to all these.

---

* 'लोकाकाशस्य तस्यैकप्रदेशादींस्तथा पुनः।
पुद्गला अवगाहन्ते इति सर्वज्ञशासनम् ॥
अवगाहनसामर्थ्यात् सूक्ष्मत्वपरिणामिनः।
तिष्ठन्त्येकप्रदेशेऽपि बहवोऽपि हि पुद्गलाः ॥"
[तत्वार्थसारः ।३।२५।२६।]

द्वितीयोऽधिकारः

परिणामि जीव मुत्तं, सपदेसं एय खेत्त किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता, सव्वगदमिदरंहि यपवेसे ॥ १ ॥
दुण्णिय एयं एयं, पंच त्तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं, एदेसं एय उत्तवं णेयं ॥युग्मम् ॥२॥

इसके अनन्तर अब छह द्रव्यों की उपसंहार रूप से विशेष व्याख्यान करते हैं—

छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्यपरिणामी हैं, चेतन द्रव्य एक जीव है, मूर्तिक एक पुद्गल है, प्रदेश सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पाँच द्रव्य हैं। एक एक संख्या वाले धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीन द्रव्य हैं। नित्य धर्म, अधर्म आकाश, तथा काल ये चार हैं, कारण द्रव्य-पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये पाँच हैं। कर्ता एक जीव द्रव्य है, सर्वगत (सर्वव्यापक) द्रव्य एक आकाश है और ये छहों द्रव्य प्रवेशरहित हैं यानी एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का प्रवेश नहीं होता। इस प्रकार छहों मूलद्रव्यों के उत्तरगुण जानने चाहिये।

(परिणामि) इत्यादि गाथाओं का व्याख्यान करते हैं—स्वभाव तथा विभाव पर्यायों द्वारा परिणाम से जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं। शेष चार द्रव्य यानी - धर्म, अधर्म, आकाश और काल विभावव्यंजनपर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं। "जीव" शुद्ध निश्चय नय से निर्मल ज्ञान दर्शन, स्वभाव-धारक शुद्ध चैतन्य को "प्राण" कहते हैं। उस शुद्ध चैतन्यरूप प्राण से जो जीता है वह जीव है। व्यवहारनय से कर्मों के उदय से प्राप्त द्रव्य तथा भाव रूप चार प्रकार के इन्द्रिय, बल, आयु, और श्वासोच्छ्वास नामक प्राण से जो जीता है, जीवेगा और पहले जीता था वह जीव है। पुद्गल आदि ५ द्रव्य अजीव रूप हैं। "मुत्तं" शुद्ध आत्मा से विलक्षण स्पर्श, रस, गन्ध, तथा वर्ण वाली मूर्ति के सद्भाव से यानी उसी मूर्ति वाला होने से पुद्गल मूर्त्त है, जीव द्रव्य अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से मूर्त्त है, किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा अमूर्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य भी अमूर्तिक हैं। "सपदेसं" लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों को धारण करने से ये जीव आदि पांच द्रव्य

पंचास्तिकाय नाम से कहे जाते हैं और बहु प्रदेश रूप कायत्व के न होने से काल द्रव्य अप्रदेश है "एय" द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं। जीव, पुद्गल तथा काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं। 'खेत्तं' सब द्रव्यों को स्थान देने का सामर्थ्य होने से क्षेत्र एक आकाश द्रव्य है, शेष पांच द्रव्य शेष नहीं हैं। "किरियाय" एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन रूप यानी हिलने वाली अथवा चलने वाली जो क्रिया है, वह क्रिया जिनमें है ऐसे क्रियावान जीव पुद्गल ये दो द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य क्रियाशून्य हैं। "णिच्च" धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य यद्यपि अर्थपर्याय के कारण अनित्य हैं। फिर भी मुख्य रूप से इनमें विभावव्यंजन पर्याय नहीं होती। इसलिये ये नित्य हैं द्रव्यार्थिक नय द्वारा जीव पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है तो भी अगुरुलघुगुण के परिणाम रूप स्वभाव पर्याय की अपेक्षा तथा विभावव्यंजन पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं। (कारण) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों में से व्यवहार नय की अपेक्षा जीव के शरीर, वचन, मन; श्वास, निःश्वास आदि कार्य तो पुद्गल द्रव्य करता है और गति स्थिति अवगाह तथा वर्तनारूप कार्यक्रम से धर्म आदि चार द्रव्य करते हैं, इस कारण पुद्गल आदि पाँच कारण हैं। जीव द्रव्य यद्यपि गुरु शिष्य आदि रूपसे आपस में एक दूसरे का उपकार करता है फिर भी पुद्गल आदि पांच द्रव्यों के लिये जीव कुछ भी नहीं करता इसलिये अकारण है। "कत्ता" शुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव यद्यपि अन्य मोक्ष के कारण भूत द्रव्य भाव रूप पुण्य पाप घट पट आदि का करता नहीं है, किन्तु अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शुभ अशुभ उपयोगों में परिणत होकर पुण्यपाप बंध का कर्त्ता और उनके फलों का भोक्ता होता है तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव निज शुद्धात्मा द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप शुद्धोपयोग से परिणत होकर यह जीव मोक्ष का भी कर्ता और उसके फल का भोगने वाला भी होता है। यहां सब जगह शुभ अशुभ तथा शुद्ध परिणामों के परिणमन को ही कर्ता जानना चाहिये। पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों के तो अपने अपने परिणाम से जो परिणमन है वही कर्तृत्व है, पर वास्तव में पुण्य पाप आदि की अपेक्षा अकर्तापन ही है। "सव्वगदं" लोक और अलोक व्यापक होने की अपेक्षा आकाश सर्वगत कहा जाता है, लोक में सर्वव्यापक होने की अपेक्षा धर्म और अधर्म सर्वगत है। जीव द्रव्य एक जीव की अपेक्षा से लोकपूर्ण समुद्घात के सिवाय असर्वगत है; किन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वगत ही है। पुद्गल द्रव्य लोक व्यापक महास्कन्ध की अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत है, एक कालाणु द्रव्यकी अपेक्षा तो काल द्रव्य सर्वगत

नहीं है; किन्तु लोक प्रदेश के बराबर अनेक कालाणुअत की अपेक्षा काल द्रव्य लोक में सर्वगत है। "इदरंहि यपवेसे" यद्यपि व्यवहार नय से सब द्रव्य एक क्षेत्र में रहने के कारण आपस में प्रवेश करते रहते हैं, फिर भी निश्चय नय से चेतना आदि अपने २ स्वरूप को नहीं छोड़ते। इसका सारांश यह है कि इन छः द्रव्यों में वीतराग चिदानन्द एक शुद्ध बुद्ध आदि गुण स्वभाव और शुभ अशुभ मन वचन और काय के व्यापार से रहित निज शुद्ध आत्म द्रव्य ही उपादेय है। तदनन्तर फिर भी छः द्रव्यों में से क्या हेय है और क्या उपादेय है इसका विशेष विचार करते हैं। वहां शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शक्तिरूप से शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव के धारक सभी जीव उपादेय हैं और व्यक्ति रूप से अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पंच परमेष्ठी ही उपादेय हैं। उन में भी अर्हन्त सिद्ध ये दो ही उपादेय हैं। इन दोनों में भी निश्चय नय की अपेक्षा सिद्ध ही उपादेय हैं परम निश्चय नय से भोगों की इच्छा आदि समस्त विकल्पों से रहित परम ध्यान के समय सिद्ध समान निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। अन्य सब द्रव्य हेय हैं, यह तात्पर्य है। "शुद्धबुद्धैक स्वभाव" इस पद का अर्थ क्या है? इसको कहते हैं— मिथ्यात्व राग आदि समस्त विभावों से रहित होने के कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है। तथा केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों से सहित होने के कारण आत्माबुद्ध है। इस तरह "शुद्धबुद्धैकस्वभाव" पद का अर्थ सर्वत्र समझना चाहिये। इस तरह छह द्रव्यों की चूलिका समाप्त हुई। अब "चूलिका" शब्द का अर्थ कहते हैं—किसी पदार्थ के विशेष व्याख्यान को अथवा कहे हुए विषय में अनुक्त (नहीं कहा हुआ) विषय है, उसके व्याख्यान को अथवा उक्त अनुक्त विषय से मिले हुए कथन को चूलिका कहते हैं।

इसके पश्चात् जीव और पुद्गल द्रव्य के पर्याय रूप आस्रव आदि ७ पदार्थों का ११ गाथाओं द्वारा व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम "आसववंधण" इत्यादि २८ वीं गाथा अधिकार सूत्र है और उसके पश्चात् आस्रव के व्याख्यानरूप "आसवदिजेण" इत्यादि तीन गाथायें हैं। तदनन्तर "वज्झदि कम्मं जेण" इत्यादि दो गाथाओं में बन्ध पदार्थ का निरूपण है। तत्पश्चात् "चेदण परिणामो" इत्यादि ३४।३५ वीं गाथाओं में संवर पदार्थ का कथन है। फिर निर्जरा के प्रतिपादन रूप "जह कालेण तवेण य" इत्यादि ३६ वीं एक गाथा है। उसके बाद मोक्ष के निरूपणरूप "सव्वस्स कम्मणो" इत्यादि ३७ वीं गाथा है। तदनन्तर पुण्य, पाप पदार्थों के कथन करने वाली "सुहअसुह" इत्यादि एक गाथा है। इस तरह ११ गाथाओं द्वारा सप्त स्थलों के समुदाय सहित द्वितीय अधिकार की भूमिका समझनी चाहिये।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि यदि जीव, अजीव ये दोनों द्रव्य सर्वथा परिणामी ही हैं तो संयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और यदि सर्वथा अपरिणामी हैं तो जीव, अजीव द्रव्य रूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं; तो फिर आस्रव आदि सात पदार्थ कैसे सिद्ध होते हैं ? इसका उत्तर—कथंचित परिणामी होने से सात पदार्थों का कथन संगत होता है। "कथंचित् परिणामित्व" का क्या अर्थ है ? सो भी सुनिये—जैसे स्फटिक मणि यद्यपि स्वभाव से निर्मल है, फिर भी जपापुष्प (एक तरह का लाल फूल) आदि के संसर्ग से लाल आदि अन्य पर्याय रूप परिणमता है यानी - बिलकुल सफेद स्फटिक मणि के साथ जब जपाफूल होता है, तब वह उस फूल की तरह लाल रंग का हो जाता है। स्फटिक मणि यद्यपि लाल उपाधि ग्रहण करता है फिर भी निश्चय नय से अपने सफेद निर्मल स्वभाव को नहीं छोड़ता। इसी तरह जीव भी यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से स्वाभाविक शुद्ध चिदानन्द स्वभाव का है फिर भी अनादि कर्म-बंध रूप पर्याय के कारण राग आदि पर द्रव्यजनित उपाधिपर्याय को ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर्याय के रूप से परिणमन करता है तो भी निश्चय नय से अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी अन्य की उपाधि से परिणमन करता है। परस्पर अपेक्षा सहित होना यही "कथंचितपरिणामित्व" शब्द का अर्थ है। इस प्रकार कथंचित् परिणामित्व सिद्ध होने पर जीव और पुद्गल के संयोग से बने हुए आस्रव आदि सप्त पदार्थ घटित होते हैं। और वे सात पदार्थ पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्यों सहित ६ हो जाते हैं इसलिए नौ पदार्थ कहे जाते हैं। इन नौ पदार्थों में पुण्य और पाप दो पदार्थों का सात पदार्थों से अभेद करने पर अथवा पुण्य और पाप पदार्थ का बन्ध पदार्थ में अन्तर्भाव करने पर सात तत्व कहे जाते हैं। शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! यद्यपि कथंचित्परिणामित्व के बल से भेद प्रधान पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा ६ पदार्थ तथा ७ तत्व सिद्ध हो गये हैं; किन्तु इनसे प्रयोजन क्या सिद्ध हुआ ? क्योंकि जैसे अभेद नय की अपेक्षा पुण्य, पाप इन दो पदार्थों का सात पदार्थों में अन्तर्भाव हुआ है इसी तरह विशेष अभेदनय की अपेक्षा से आस्रव आदि पदार्थों का भी जीव और अजीव इन दो पदार्थों में अन्तर्भाव कर लेने से जीव तथा अजीव ये दो पदाथ कैसे सिद्ध होते हैं ? इस शंका का परिहार करते हैं कि कौन तत्व हेय है और कौन तत्व उपादेय है, इस विषय का परिज्ञान कराने के लिये आस्रव आदि पदार्थ निरूपण करने योग्य है। इसीको अविनाशी अनन्त सुख उपादेय तत्व है। उस अक्षय अनन्त सुख का कारण मोक्ष है, मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है। उस संवर और निर्जरा का कारण, विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभाव निजात्मा है उसके स्वरूप का सम्यक्-श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय है तथा उस रत्नत्रय

का साधक व्यवहार रत्नत्रय है। अब हेयतत्व को कहते हैं—आकुलता को उत्पन्न करने वाला नरक गति आदि का दुःख तथा इन्द्रियों में उत्पन्न हुआ सुख हेय यानी-त्याज्य है; उसका कारण संसार है और संसार के कारण आस्रव तथा बंध ये दो पदार्थ हैं और उस आस्रव तथा बंध के कारण पहले कहे हुए व्यवहार निश्चय रत्नत्रय से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र है। इस प्रकार हेय और उपादेय तत्व का निरूपण करने पर सात तत्व तथा नौ पदार्थ स्वयं सिद्ध हो गये।

अब किस पदार्थ का कर्ता कौन है, इस विषय का कथन करते हैं। नित्य निरंजन शुद्धआत्मा से उत्पन्न जो परम आनन्द रूप सुखामृत रसास्वाद से रहित जो जीव है वह बहिरात्मा कहलाता है। वह बहिरात्मा आस्रव, बंध और पाप इन तीन पदार्थों का कर्ता है। किसी समय कषाय और मिथ्यात्व का उदय मन्द हो तब आगामी भोगों की इच्छा आदि रूप निदान बंध से पापानुबन्धी पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है। जो बहिरात्मा से विपरीत लक्षण का धारक सम्यग्दृष्टि जीव है वह संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्त्ता होता है और वह सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय राग आदि विभावों से रहित परम सामायिक में स्थित नहीं रह सकता उस समय विषय कषायों से उत्पन्न जो दुर्ध्यान को न होने के लिये संसार का नाश करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थ का कर्ता होता है। अब कर्तृत्व के विषय में नयों का विभाग निरूपण करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के जो पुद्गल द्रव्यपर्याय रूप आस्रव, बंध तथा पुण्यपाप पदार्थों का कर्तापन है सो अनुपचरित्र असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा है और जीव भाव पुण्य पाप पर्याय रूप पदार्थों का कर्तृत्व अशुद्ध निश्चय नय से है तथा सम्यग्दृष्टि जीव जो द्रव्य रूप संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थ का कर्ता है; सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा है तथा संवर निर्जरा मोक्ष स्वरूप जीवभाव पर्याय का जो कर्ता है सो विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नय से है और परम शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बंध तथा न मोक्ष को करता है, इस प्रकार श्री जिनेन्द्र भगवान कहते हैं, परमात्मप्रकाश में कहा भी है कि—

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमर्थे जोइया जिणवरू एउं भणेइ ॥६८॥

यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूति के अभाव के होने पर शुभ अशुभ उपयोगों से परिणमन करके जीवन, मरण शुभ, अशुभ कर्मबन्ध को करता है और शुद्धात्मानुभूति

के प्रकट होने पर शुद्धोपयोग से परिणत होकर मोक्ष को करता है, तो भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव गाहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से न बन्ध का कर्ता है और न मोक्ष का कर्ता है। ऐसा कथन सुनकर शिष्य ने प्रश्न किया, कि हे प्रभो, शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप शुद्ध निश्चय नय से मोक्ष का भी कर्ता नहीं है, तो ऐसा समझना चाहिये, कि शुद्धनय का मोक्ष ही नहीं है, जब मोक्ष नहीं, तब मोक्ष के लिये यत्न करना वृथा है।

उसका उत्तर कहते हैं—जो मोक्ष है, वह बन्धपूर्वक है, और जो बंध है, वह शुद्धनिश्चय नय से होता ही नहीं, इस कारण बन्ध के अभावरूप मोक्ष है, वह भी शुद्धनिश्चयनय से नहीं है। जो शुद्ध निश्चयनय से बन्ध होता तो हमेशा बंधा ही रहता, कभी बंध का अभाव नहीं होता। इसके बारे में दृष्टान्त कहते हैं, कोई एक पुरुष सांकल से बंध रहा है और कोई एक पुरुष बंध रहित है, उनमें से जो पहले बंधा था, उसको तो मुक्त (छूटा) ऐसा कहना, ठीक मालूम पड़ता है और दूसरा जो बंधा ही नहीं, उसको जो आप छूट गये, ऐसा कहा जाय तो वह क्रोध करे कि मैं कब बंधा था, जो यह मुझे छूटा कहता है ? बंधा होवे वह छूटे तो मोक्ष कहना ठीक है, पर जो बंधा ही न हो उसे छूटे कैसे कह सकते हैं ? उसी प्रकार यह जीव शुद्ध निश्चय नय से बंधा हुआ नहीं है, इस कारण मुक्त कहना ठीक नहीं है। बन्ध भी व्यवहार नय से है, व्यवहार और मुक्ति भी व्यवहारनय से है पर शुद्ध निश्चय नय से न बन्ध है और न मोक्ष है अशुद्धनय से बन्ध है, इसलिये बन्ध के नाश का यत्न भी अवश्य करना चाहिये। यहाँ यह अभिप्राय है, कि सिद्ध समान यह अपना शुद्धात्मा वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन पुरुषों को उपादेय है, अन्य सब हेय है।

इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेकर कहने से आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोग परिणामस्वरूप जो विभाग पर्याय हैं उससे उत्पन्न होते हैं और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोगरूप परिणाम के विनाश से उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं, यह निर्णय हुआ।

अब जीव, अजीव, के भेद रूप जो आस्रव बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष पुण्य तथा पाप ऐसे सात पदार्थ हैं, उनको संक्षेप से कहते हैं।

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ॥ २८ ॥

अन्यव—(आसव) जीव और अजीव के दो प्रकार के भेद हैं। चेतना लक्षणो जीवः, चेतना जीव का ही लक्षण है। इसके विपरीत जीव के साथ अजीव पदार्थ के संयोग संबन्ध से द्रव्य भाव रूप मिश्र होने के कारण तथा एकक्षेत्रावगाही होने के कारण संयोग सम्बन्ध से जीवों में आश्रव मिथ्यात्वादि विभाव परिणाम कारण होकर वर्ण, रस, गन्ध स्पर्श वाले होकर कार्मण वर्गणा स्कन्ध पुद्गल ग्रहणरूप आश्रव नामक तीसरा तत्व है।

(बन्धण) तीव्र कषायोंके निमित्त से प्रकृति, स्थिति तथा अनुभाग प्रदेश स्वरूप से जीव प्रदेश में स्थित तथा अनुभाग प्रदेश स्वरूप से जीव प्रदेश में स्थित यह चौथा बन्ध तत्व है। (संवर) संवर को करने वाले अर्थात् कर्म को रोकने वाले व्रत, समिति, गुप्ति इत्यादि संवर के लिए मुख्य कारण होने के कारण संवर तत्व है। (णिज्जर) शुद्धोपयोग की भावना के बल से शक्तिहीन हुए कर्म पुद्गलों के एक देश गलने को निर्जरा कहते हैं। (मोक्खो) जीव तथा पुद्गल के बन्ध को नाश करने में समर्थ जो निजशुद्ध आत्मा की उपलब्धि रूप परिणाम है वह मोक्ष है। (सपुण्णपावा जे) पुण्य, पाप सहित जो आस्रव आदि पदार्थ हैं। (तेवि समासेण पभणामो) उनको भी जैसे पहले जीव, अजीव कहे हैं उसी प्रकार संक्षेप से कहते हैं—वे कैसे हैं? (जीवाजीवविसेसा) जीव तथा अजीव के विशेष यानी-पर्याय हैं। चैतन्य आस्रव आदि जो जीव के अशुद्ध परिणाम हैं और जो अचेतन कर्मपुद्गलों के पर्याय हैं वे अजीव के हैं।

विवेचन—इस गाथा में आचार्य ने आस्रव और संवर, बन्ध और निर्जरा का वर्णन किया है। यह जीवात्मा अनादिकाल से आस्रव बंध के कारण इस संसार में भ्रमण करता हुआ चला आ रहा है। जैसे पंचास्तिकाय में भी कहा है कि :—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१३६॥
गदिमधिगदस्सदेहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१३७॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥

यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय नय से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारी है तथापि व्यवहार नय से अनादि काल से कर्म बन्ध में होने के कारण यह जीव अपने ही

अनुभवगोचर अशुद्ध भाव करता है। इस अशुद्ध भाव से कर्मों से रहित व अनन्त-ज्ञानादिगुणरूप आत्मा के स्वभाव को ढकने वाले पुद्गलमयी ज्ञानावरण आदि कर्मों को बांधता है। इन कर्मों के उदय से आत्मा की प्राप्ति रूप पंचमगति मोक्षके सुख से विलक्षण देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच इन चार गतियों में से किसी में गमन करता है। वहाँ शरीर रहित चिदानन्दमई एक स्वभाव रूप आत्मा से विपरीत किसी स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है। उस शरीर के द्वारा अमूर्त अतीन्द्रिय परमात्म स्वरूप से विरोधी इन्द्रियाँ पैदा होती हैं। इन इन्द्रियों से ही पंचेन्द्रियों के विषयों से रहित शुद्ध आत्मा के ध्यान से उत्पन्न जो वीतराग परमानन्दमई एक स्वरूप सुख है उससे विपरीत पंचेन्द्रियों के विषय सुख में परिणाम होता है। इसी के द्वारा रागादि दोष रहित व अनन्त,ज्ञानादि गुणों के स्थान भूत आत्म तत्त्व से विलक्षण राग और द्वेष पैदा होता है। रागद्वेष रूप परिणामों के निमित्त से फिर भी पूव के समान कर्मों का बन्ध होता है। इस तरह रागादि परिणामों का और कर्मों का वंध होता है। इस तरह रागादि परिणामों का और कर्मों के बन्ध का जो परस्पर कार्य कारण भाव है वही आगे कहे जाने वाले पुण्य पाप आदि पदार्थों का कारण है ऐसा जानकर पूर्व में कहे हुए संसार-चक्र के विनाश करने के लिये अव्याबाध अनन्त सुख आदि गुणों के समूह की अपने आत्मा के स्वभाव में रागादि विकल्पों को त्यागकर भावना करनी योग्य है। यह जीव किसी की अपेक्षा परिणमनशील है इसलिये अज्ञानी जीव विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान को न पाकर पाप पदार्थ के आस्रव और बन्ध का कर्ता हो जाता है, कभी मंद मिथ्यात्व के उदय से देखे, सुने, अनुभव किये हुए भोगों की इच्छा रूप निदानबन्ध से परम्पराय पाप को लाने वाले पुण्य पदार्थ का भी कर्ता हो जाता है। किन्तु जो ज्ञानी जीव है वह विकार रहित आत्मतत्व में रुचि रूप तथा उसके ज्ञानरूप और उसी में निश्चय अनुभव रूप रत्नत्रयमई भाव के द्वारा संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थों का कर्ता होता है और जब पूर्व में कहे हुए अभेद या निश्चय रत्नत्रय में ठहरने को असमर्थ होता है तब निर्दोष परमात्म स्वरूप अर्हन्त व सिद्ध तथा उनके आराधक आचार्य उपाध्याय व साधु की विशेष रूप से आराधना करता है जिससे वह संसार के नाश के कारण व परम्परा से मुक्ति के कारण तीर्थंकर प्रकृति आदि विशेष प्रकृतियों के बिना इच्छा के व निदान परिणाम के बांध लेता है। इन प्रकृतियों का बंध भविष्य में भी पुण्य बंध का कारण है। इस तरह वह पुण्य पदार्थ का कर्ता होता है। इस प्रकार से अज्ञानी जीव पाप, पुण्य, आश्रव व बन्ध इन चार पदार्थों का कर्ता है तथा ज्ञानी जीव संवर, निर्जरा, व मोक्ष इन तीन पदार्थों का मुख्यपने से कर्ता है।

यह बात भी सिद्ध है कि यह जीव कूठस्थ नित्य नहीं है किन्तु अनेक प्रकार

अशुभ शुभ व शुद्ध परिणामों को करने के कारण परिणमनशील है। तभी यह विचित्र कर्म बांध कर उनका फल भोगा करता है। जीव और कर्म का अनादि काल से प्रवाह रूप संयोग सम्बन्ध चला आरहा है। उन कर्मों के कारण रागी, द्वेषी, मोही जीव के नाना प्रकार के अशुद्ध भाव होते हैं जिनका निमित्त पाकर स्वयमेव कामण वर्गणाएँ आ जाती हैं और आत्मा के प्रदेशों में स्थित पुरातन कर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं। उन कर्मों में से जैसा आयु व गति का बन्ध होता है उसी के अनुसार किसी वर्तमान शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण कर लेता है। वहाँ स्थूल शरीर में जितनी इन्द्रियाँ होती हैं उनके रागद्वेष रूप पदार्थों को जानता हुआ फिर भी नवीन कर्म बांध लेता है। तत्पश्चात् मर कर आयु व गति बन्ध के अनुसार किसी अन्य शरीर को प्राप्त कर लेता है। वह भी वही रागद्वेष रूप क्रिया करता रहता है। इस तरह यह अज्ञानी जीव आत्मज्ञान को न पाकर इस संसार का चक्कर लगाया करता है। तब अपने भावों से पाप पुण्य का आश्रव व बंध करता हुआ उसी पाप पुण्य व आश्रव बंध पदार्थ का कर्ता हो जाता है। जब किसी ज्ञानी जीव को भेद ज्ञान के बल से सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तब वह पुण्य पाप, आश्रव व बंध को त्यागने योग्य जानता है इससे इनका मुख्यपने कर्ता न होता हुआ मोक्ष मार्ग में आरूढ़ होने के कारण तथा मोक्ष की गाढ़ रुचि के कारण बहुत से कर्मों की निर्जरा करता है वह संसार के कारणीभूत कर्मों का आश्रव न करके संवर करता है। इस तरह संवर व निर्जरा पदार्थ का कर्ता होता है। वही सम्यग्दृष्टि जीव जब महामुनि होकर मोक्ष साधन योग्य संहननादि सामग्री पाकर उत्कृष्ट तप करता है तब गुणस्थानों के मार्ग से क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर चार घातिया कर्मों का नाशकर केवली पश्चात् चार अघातिया कर्मोंका भी नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। तब वह मोक्ष पदार्थ का कर्ता होता है। यहाँ आचार्य ने यही बताता है कि यह जीव अपने भावों से ही पुण्य, पाप आदि सात पदार्थों का कर्ता है। संसार के भ्रमण में अनेक संकट व बाधाएँ होती हैं व इन्द्रियों के सुखों से कभी तृप्ति नहीं होती, किन्तु इन्हीं इन्द्रिय विषय व कषायों के कारण यह जीव पाप को बांधकर दुःखमई अवस्थाओं को प्राप्त करता है। इसलिये विवेकी आत्मा को उचित है कि वह तत्वज्ञान की प्राप्ति करके आत्म शुद्धि का यत्न करे। निश्चय रत्नत्रय की भावना करे, स्वरूपानन्द की मग्नता प्राप्त करे, क्योंकि इस मानव जन्म का समय बहुत अल्प है अतः उसको सफल करे, जरा न सतावे उसके पहले ही आत्माहित कर लेना योग्य है।

सारसमुच्चय में कहा है:—

यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य यावच्चेन्द्रियसम्पदः।
तावद्युक्तं तपः कर्तुं वार्धक्ये केवलं श्रमः ॥१७॥
धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव।
आयुकर्माणि संक्षीणे पश्चात्वं किं करिष्यसि ॥६०॥

जब तक शरीर में तन्दुरुस्ती है व जब तक इंद्रियों में शक्ति मौजूद है तब तक तप कर लेना योग्य है। वृद्धावस्था में मात्र परिश्रम है तब तप की सिद्धि कठिन है। जब तक आयु दृढ़ है तब तक धर्मकार्य में बुद्धि करनी योग्य है। जब आयु कर्म क्षय हो जायगा तब तू क्या करेगा? अर्थात् कुछ नहीं। अतः पहले से आत्म कल्याण की भावना करनी चाहिये ॥२८॥

अब तीन गाथाओं से आस्रव पदार्थ का वर्णन करते हैं, उसमें प्रथम ही भावास्रव तथा द्रव्यास्रव की सूचना करते हैं।

Asrava-bandhana-samvara nirjara-moksah sapunyapapah ye.
Jivajivavisesah tan api samasena prabhanamah—(28).

Padapatha—जे Je, those. सपुण्णपावा Sapunnapava, with Punya and Papa. आसवबंधणसंवरणिज्जरमोक्खा Asava-bandhana-samvara-njjara-Mokkha, Asrava, Bandha. Samvara, Nirjara and Moksa. जीवाजीवविसेसा Jivijiva-visesa–varieties of Jiva and Ajiva, तेवि Tevi, those also. समासेन Samasena, briefly. पभणामो Pabhanamo, say.

28. We shall describe briefly those varieties of Jiva and Ajiva also which are (known as) Asrava, Bandha, Samvara, Nirjara and Moksa, with Punya and Papa.

COMMENTARY

The author now takes up the subject of Asrava, Bandha, Samvara, Nirjara, Punya and Papa. These seven are commonly known as the seven Tattvas of Jainism. Adding Jiva and Ajiva to these, we get the nine Tattvas of Jainism. Each of these seven will be taken up and discussed one by one in Verses 29-38.

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥२६॥

अन्वय—(आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो) आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आश्रव हो उसे भावास्रव जानना चाहिये। कर्मास्रव के नाश करने में समर्थ, शुद्धात्म-भावना से विरोधी परिणाम से अपने आत्मा के कर्म का जो आस्रव होता है उस परिणाम को भावास्रव जानना चाहिए। वह भावास्रव कैसा है ? (जिणुत्तो) जिन यानी—वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ है। (कम्मासवणं परो होदि) कर्मों का जो आकर्षण है वह पर होता है यानी—ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का जो आगमन है वह पर द्रव्यास्रव है। "पर" शब्द का अर्थ है "भावास्रव से भिन्न।"

भावार्थ—जैसे तेल के चुपड़े पदार्थों पर धूल का समागम होता है, उसी तरह भावास्रव के कारण जीव के द्रव्यास्रव होता है। यहाँ कोई शंका करता है कि "आसवदि जेण कम्मं" (जिससे कर्म का आस्रव होता है) इसी पद से द्रव्यास्रव आ गया, फिर "कम्मासवणं परो होदि" (कर्मास्रव इससे भिन्न होता है) इस पद से द्रव्यास्रव का व्याख्या किस लिये किया ?

समाधान—तुम्हारी यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि "जिस परिणाम से क्या होता है कि कर्म का आस्रव होता है" यह जो कथन है उस से परिणाम का सामर्थ्य दिखाया गया है, द्रव्यास्रव का व्याख्यान नहीं किया गया, यह तात्पर्य है ॥

आगे भावास्रव का वर्णन करते हैं।

Asravati yena Karma parinamena atmanah sa vijneyah.
Bhavasravah jinoktah karmasravanam parah bhavati—(29).

Padapatha—अप्पणो Appano, of the soul. जेण Jena, that परिणामेण Parinamena, modification. कम्मं Kammam, Karma. आसवदि Asavadi, gets in. स Sa, that. जिणुत्तो Jinutto, called by the Jina. भावासवो Bhavasavo, Bhavasrava. विण्णेओ Vinneo, to be known. कम्मासवणं Kammasavanam, influx of Karmas. परो Paro, the next. होदि Hodi, is.

29. That modification of the soul by which Karma gets into (it), is to be known as Bhavasrava, as told by the Jina, and the other (kind of Asrava) is the influx of Karma.

COMMENTARY

Asrava has been defined to be the cause of the bondage of Karma, i.e., that by which the Karmas enter the soul. + Elsewhere, we have "those from which Karmas flow are called Asravas."* These definitions are in keeping with the derivative meaning of the word Asrava, and throughout Jaina literature the word Asrava is used in this sense. We should mention in this connection that this use of the word Asrava, in its original and derivative sense, has been supposed to support the view that Jainism was prevalent before Buddhism. "We meet with many terms which are used alike by the Jainas and the Buddhists. Among them there is one which the Buddhists must have borrowed from the Jainas. The term Asrava, in Pali Asava, is, according to the Buddhists, synonymous with Klesa, and it means human passion, sin, corruption, depravity. Asrava, etymologically, meant 'flowing in' or 'influx,' and it was difficult to imagine why the Buddhits should have chosen just that word to denote sin, corruption, depravity. Even if taken in a metaphorical sense, it is not easy to see how, from the Buddhist point of view, it could came to express the idea of depravity point of view, it could come to express the idea of depravity and sin, for it might be asked what is to flow in and where is it to flow in ? But with the Jainas, Asrava retained its etymological meaning and it adepuately exprsssed the idea denoted by the term Asrava, for, according to Jaina philosophy, Asrava meant the influx of matter into the soul. Hence the term Asrava had its literal meaning for there really

---

+ "आश्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माणि आत्मनि इति आश्रवः कर्मबन्धहेतुरिति भावः ।"
[Abhayadeva's Commentary on Sthanauga.]

* "अभिविधिना श्रौति श्रवति कर्मं येभ्यस्ते आश्रवाः ।"
(Abhayadeva's Commentary on Prasna Vyakarana).

was something flowing in, and the result of it was defilment or depravity. It is there therefore easily imaginable that in common parlance, Asrava should have got the meaning defilement or depravity, irrespective of the etymology; and this was just what happened to the word Asrava before it was received into Buddhits terminology. But the word could never have been used in ist derivative meaning (sin), if it had not before been used in its literal meaning. And since the Jainas used the word in its original, i.e., literal or etymological meaning, those which used it in the derived meaning must have adopted it from the Jainism Thus the use of the word Asrava by the Buddhists is a proof of their posteriority with regard to the Jainas."†

Umasvami says that Asrava results from the actions of the body and the mind and also from speech. ❀ Svami Kartikeya says that Asravas are certain movements of Jiva resulting from actions of speech and those of the mind and the body, either accompanied by or bereft of Moha Karma.‡ As water enters a pond through

---

† Presidential address by H. Jacobi, delivered at Benares, on the 29th December, 1913.

❀ "कायवाङ्मनःकर्म योगः ।"
"स आस्रवः ।"
[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् । ६ । १ । २ ।]

Amritachandra Suri, in his Tattvarthasara (IV-2) has combined the above two Sutras in a single line of a verse as follows :—

"कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः ।"

Vide also.—

"कर्मणामागमद्वारमस्रवं संप्रचक्षति ।
स कायवाङ्मनःकर्मयोगत्वेन व्यवस्थितः ॥"
[चन्द्रप्रभचरितम् । १८ ॥ ८२ ।]

‡ "मणवयणकायजोया जीवपयेसाण—फंदणविसेसा ।
मोहोदएण जुत्ता विजुत्ता वि य आंस्रवा होंति ॥"
[स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा । ८८ ।]

various channels, so Karmas enter a soul through the Asravas. ‡ As water enters a boat through holes, so Karma enters a soul through Asravas.

Asravas are broadly divided into (a) Bhavasrava and (b) Karmasrava or Dravyasrava. The former consists of the thought-activities which cause the influx of karmic matter into a soul while the latter is the karmic matter itself, which enters a soul in this manner. In other words, in Bhavasrava we are concerned with thought activi'ies, while in Dravyaśrava or Karmasrava we have connection with matter. Abhayadeva says that Dravyasrava is the entrance of water through holes in a boat, etc., when the boat is on the water, and Bhavasrava is the influx of Karma, through, the five senses of Jivas † In Vardhamana, Purana, we have "that Bhava made impure by attachment (Raga), etc., by which Karmas adhere to men possessing attachment, is called Bhavasrva. The influx of matter, in the shape of Karma, in a Jiva grasped by impure Bhavas, is known as Dravyasrava."*

Varieties of each of these classes of Asŕava will be mentioned in Verses 30 and 31 respectively.

---

‡ "सरस: सलिलावाहि द्वारमत्र जनैर्यथा ।
तदास्रवण हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥"

[तत्वार्थसार: । ४ । ३ ।]

† "तत्र द्रव्यास्रवा यज्जलान्तर्गतनावादौ तथाविधपरिणामेन छिद्रै: जलप्रवेशनं, भावास्रवस्तु यज्जीवानां पञ्चेन्द्रियादिछिद्रत: कर्मजलसञ्चय इति ।"

[स्थानाङ्ग—टीका]

* "रागादि-दूषितेनैव येन भावेन रागिणाम् ।
आस्रवन्त्यत्र कर्माणि स भावास्रव एव हि ।
दुर्भावकलिते जीवे पुद्गलानां य आगम: ।
प्रत्ययै: कर्मरूपेऽ द्रव्यास्रवो मतोऽत्र स: ॥"

[वर्द्धमानपुराणम् । १६ ॥ ४० । ४१ ।]

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ ऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

अन्वय—(मिच्छताविरदिपमादजोगकोधादओ) मिथ्यात्व अविरत, प्रमाद, योग तथा क्रोधादि कषाय आश्रव के भेद हैं (अथ) उनमें से (पण पण पणदस तिय चदु) मिथ्यात्व आदि के क्रम से पाँच-पाँच पन्द्रह तीन और चार भेद हैं। अर्थात् मिथ्यात्व के ५, अविरत के ५, प्रमाद के १५, योग के ३, और कषाय के ४ भेद हैं, ऐसा (विण्णेया) जानना चाहिये अथवा (पुव्वस्स) पूर्व गाथा के कहे हुए भावाश्रव हैं।

पहले यानी भावाश्रव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय ऐसे पांच भेद जानने चाहिये, उनमें से मिथ्यात्व आदि के क्रम से पांच, पांच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं। अर्थात् मिथ्यात्व के पांच, अविरत के पांच, प्रमाद के पन्द्रह, योग के तीन और कषायों के चार भेद हैं।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस गाथा में भावाश्रव का निरूपण किया है, यह भावाश्रव जब आत्मा के साथ परिस्पंद रूप से आकर चिपकता रहेगा तब यह हमेशा संसार रूपी चक्र के साथ परिभ्रमण करता ही रहेगा। भावाश्रव के कारण—

मिथ्यात्व अविरति प्रमाद योग क्रोधादि कषाय ये पांच प्रकार के आश्रव के भेद हैं।

(१) अन्तरंग में वीतराग निज आत्म तत्व के अनुभवरूप रुचि में विपरीत अभिनिवेश अर्थात् अभिप्राय उत्पन्न कराने वाला तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्म तत्व आदि समस्त द्रव्य में जो विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

(२) अन्तरंग में निज परमात्म स्वरूप भावना से उत्पन्न परम सुख अमृत में जो प्रीति है उससे विलक्षण तथा बाह्य विषय में व्रत आदि को धारण न करना, अविरति है।

(३) तथा अन्तरंग में प्रमादरहित शुद्ध आत्म अनुभव से डिगाने रूप और बाह्य विषय में मूलगुणों तथा उत्तर गुणों में मैल उत्पन्न करने वाला जो मलिनता है वह प्रमाद है।

(४) निश्चय नय की अपेक्षा क्रियारहित परमात्मा के भी व्यवहार नय से वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न मन, वचन, काय वर्ग को अवलम्बन करने

वाला, कर्म वर्गणा के ग्रहण करने में कारणभूत आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्द अर्थात् संचलन है उसको योग कहते हैं।

(५) अन्तरंग में परम उपशम मूर्ति केवल ज्ञानादि अनन्तगुण स्वभाव परमात्मरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा वाह्य विषय में अन्य पदार्थ सम्बन्धी से क्रूरता आदि के आवेश रूप जो क्रोधादि हैं उनको कषाय कहते हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व अविरति प्रमाद योग तथा कषाय ये पाँच भावाश्रव है।

अब इन पांच भावाश्रव के कितने भेद होते हैं वह कहेंगे—उन मिथ्यात्व के क्रम से पांच, पांच पन्द्रह तीन और चार भेद होते हैं। एकान्त, विपरीत विनय संशय और अज्ञान इसके भेद को विस्तारपूर्वक गोम्मटसार से जानना चाहिये।

कथन के अनुसार पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में इच्छारूप अविरति भी पाँच प्रकार की है, अथवा मन और पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्तिरूप ६ भेद तथा छहकाय के जीवों की विराधना रूप ६ भेद ऐसे १२ प्रकार की भी अविरति है।

इसके अनुसार प्रमाद पन्द्रह हैं। मनोव्यापार वचन व्यापार और काय व्यापार इसके अनुसार प्रमाद योग तीन प्रकार के हैं अथवा विस्तार से १५ प्रकार का है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन भेदों से कषाय चार प्रकार के हैं। इन चारों के भेद से कषाय १६ हैं और नौ कषाय इन भेदों से पच्चीस प्रकार के कषाय हैं। गोमटसार जीव काण्ड से इसका विशद विवरण समझ लीजिये अब आगे द्रव्यास्रव का स्वरूप कहते हैं।

Mithyatvaviratipramadayogakrodhadayo' tha vijneyah,
Pancha pancha panchadasa traya chatvarah kramasah bhedah tu purvasya.—30

Padapatha—अथ Atha, then. पुव्वस्स Puvvassa, of the former. मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओ Michchhatta-viradi-pamada-joga-koha-dayo, Mithyatva, Avirati, Pramada, Yoga and Krodha, etc. कमसो Kamaso, respectively. पण-पण पणदह-तियचदु Pana-pana-panadaha-tiya-chadu, Five, five fifteen, three and four. भेदा Bhedah, classes विण्णेया Vinneya, are to be known.

30. Then, it should be known that of the former (i.e., Bhava-srava) (the subdivisions are) Mithyatva, Avirati, Pramada, Yoga, Anger etc., (which are again of) five, five, fifteen, three and four classes, respectively.

COMMENTARY

In this verse, the varities of Bhavasrava are described to be of five kinds, viz. Mithyatva (Delusion, Avirati (Lack of control), Pramada (Inadvertence), Yoga (Activities) and Kasaya (Passions.)

I. Mithyatva or Delusion is of five kinds, Ekanta, Viparita, Vinaya, Samsaya and Ajnana.

(a) Ekanta Mithyatva is that state of delusion when we have a false belief, without knowing the same to be false or without even attempting to examine the same. A person who is born and brought up in a family where the tenets of Jainism are unknown and who consequently takes up the doctrines of that family to be true may be said to have Ekanta Mithyatva with respect to Jainism.

(b) Viparia Mithyatva is that state of delusion in which we think that this or that may both be true. A belief that one religion is as good as another, for both of these are true, may be said to be such a delusion according to Jainaism.

(c) Vinaya Mithyatva is retaining a belief, even when we know it to be false. This state exists in those who, even when convinced of the falsity of their doctrines, stick to the same.

(d) Samsaya Mithyatva consists of a state of doubt as to whether a course is right or wrong. This state arises when a person begins to lose faith in the doctrines which he holds and is going to have a belief in others.

(e) Ajnana Mithyatva is the state when a person has no belief at all. A man who does not employ his reasoning faculties, and is unable to form any definite idea about doctrines might be said to have this kind of delusion, which obstructs knowledge.

II. Avirati or lack of control is also of five kinds, viz.: (a) Himasa (Injury), (b) Anrita (Falsehood), (c) Chaurya (Stealing),

(d) Abrahma (Incontinence) and (e) Parigrahakankha (Desire to possess a thing which is not given). In some works, these five only are mentioned as subdivisions of Asrava. For example, in the tenth Anga of the Jainas, called Prasna Vyakarana, we have a description of Asravas and Samvaras, with their subdivisions; and in that work we have only the mention of the above five kinds of Avirati as subdivisions of Asrava.❀ Abhayadeva, in his Commentary on Prasna Vyakarana, says that, though in that work Asrava is said to be of five kinds, from another point of view, forty-two varieties of Asrava are also recognised.† Abhayadeva quotes this passage to support his view: "There are forty-two Asravas, viz., those arising from five Indriyas, four Kasayas, five Avratas, twenty-five Kriyas and three Yogas. + In Dravyasamgraha, we hav a mention of thirty-two varieties only of Asrava.

The five Aviratis are called Avratas by Umasvami. ‡ He,

❀ "पंचविहो पण्णत्तो जिर्णेहिं इह अराहओ अणादीवो हिंसा-मोस-मदत्त-मवंभ-परिग्गहं चेव।" [पण्हा वागरणम् । १]

† "हिंसादि-भेदत: एवं पञ्चविध: । प्रकारान्तरेण तु द्वि-चत्वारिंश-द्विध: ।" [प्रश्नव्याकरणटीका ।]

+ "इंदिय-कसाय-अव्वय-किरिया पण-चउअ-पंच-पणवीसा जोगा तिणे वभवे आसवेयाउ वायालत्ति ।"

Vide also "स च इंद्रियकषायाव्रतक्रियायोगरूपक्रमेण पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्च-विंशति-त्रि-भेदा:" [स्थानाङ्ग-टीका]

‡ "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।"
"असदभिधानमनृतम् ।"
"अदत्तादानं स्तेयम ।"
'मैथुनमब्रह्म ।"
"मूर्च्छा परिग्रहः ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् । ७ ॥ १३-१७ ।]

however, mentions many subdivisions of Asrava.‡ Svami Kartikeya seems to support the author of Dravyasangraha, by saying, "Know these Asravas to be of various kinds, viz,. Mithyatva, etc."†

III, Pramada or Inadvertance is said to consist of (a) Vikatha (Reprehensible talk), (b) Kasaya (Passions), (c) Indriya (Senses), (d) Nidra (Sleep) and (e) Raga (Attachment):

(a) Vikatha or reprehensible talk may be about the king (Raja-katha), the state (Rastra-katha), women (Strikatha) or food Bhojana—katha). Thus it is of four varieties.

(b) Kasaya or passions are Krodha (Anger), Mana (Pride), Maya (Deceipt) and Lobha (Greed) ;

(c) Indriya or the senses are five, viz., the senses of touch, taste, smell, sight and hearing.

(d) Nidra (Sleep) and (e) Raga (Attachment) to worldly objects, are the last two varities of Pramada.

In some works, Pramada or Inadvertance has not been mentioned as a sub-class of Bhavasrava. The author of Dravya-Samgraha himself, in his another work called Gommata Sara, only mentions Mithyatva, Avirati, Kasaya and Yoga to be sub-

---

‡ Umasvami mentions Samparayika and Iryapatha as varieties of Asrava, the former existing in Jivas with passions, and the latter in Jivas without passions. Samparayika Asrava is, again, subdivided in to five Indriyas, four Kasayas, five Avratas and twenty-five Kriyas. Vide—

"सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।"

"इंद्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् । ६ ॥ ४ । ५]

† "ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेयविहा ।"

[स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा । ७ । ८६ ।]

The Commentator says that by "Mithyatva, etc." Mithyatva, Avirati Pramada, Yoga and Kasaya are meant.

divisions of Asrava. ❀

IV. Yoga consists of the activities of the Manas (Mind), Vachana (speech) and Kaya (Body). Though the author of Dravya-Samghraha stops here, in other works we meet with further subdivisions, e.g., the activities of mind and speech are each divided into four classes, according as the same are true, untrue or mixed and the activities of body also are said to be of seven kinds.

V. Kasayas or passions are four in number, viz., Anger, Pride, Deceit and Greed. Each of these, again, are of four varieties, according as the same are of intense, great moderate or mild degrees. Thus we get sixteen varieties of Kasaya. ‡ In some works, we get a mention of nine No-Kasayas which, together with the sixteen, make up twentyfive varieties of Kasayas. The No-Kasayas are hasya (Laughter), Rati (Pleasure), Arati (Pain) Soka (Grief), Bhaya (Fear), Jugupsa (Hatred), Striveda (knowledge of the feminine gender), Purusa-veda (knowledge of the masculine gender) and Napumsaka-veda (knowledge of the gender of a eunuch).

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभओ जिणक्खादो ॥ ३१ ॥

अन्वय—(णाणावरणादीणं) ज्ञानावर्णादि कर्मों का (जोग्गं) योग्य ऐसा (जं) कोई एक (पुग्गलं) कार्मण वर्गणा स्कन्ध रूप (समासवदि) प्रति समय आश्रय करने वाला (स) वह (दव्वासवो) पहले कहा हुआ मिथ्यात्व इत्यादि विभाव परिणाम

❀ "मिच्छत्तमविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पण बारस पणुवीसं पण्णरसा होंति तब्भेया ॥"

i. e., five kinds of Mithyatva, twelve kinds of Avirati, twenty-five kinds of Kasaya and fifteen kinds of Yoga, are subdivisions of Asrava.

(Gommatasara Karamakanda, Verse 786.)

‡ See footnote of Page 209.

निमित्त से आश्रव आता है । द्रव्य कर्म आश्रव ऐसे (णेओ) जानना चाहिये और (अणेयभेओ) ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी मोहनीय वेदनीय आयु नाम गोत्र अन्तराय ऐसे मूल प्रकृति के कर्म आठ हैं तथा मतिज्ञानावरणीय, श्रुतिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय केवलज्ञानावरणीय ऐसे ज्ञानावरणीय पांच प्रकार के हैं। चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय निद्रा निद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि ऐसे दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद के नौ कषाय हैं। साता वेदनीय और असातावेदनीय ऐसे वेदनीय के दो भेद हैं । मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व सम्यक् प्रकृति ऐसे दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। अनन्तानुबन्धी, क्रोध मान, माया लोभ ऐसे कषाय के १६ भेद हैं। हास्य, रति, अरति शोक भय जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद, ऐसे नौ कषाय के नौ भेद हैं इस तरह मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं। नरकायु तिर्यञ्च आयु, मनुष्य आयु, देव आयु, ऐसे आयु के चार भेद हैं। नरक गति, तिर्यञ्च गति, देव गति और मनुष्य गति ऐसी गतियां चार हैं । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय ये जाति नाम के पांच भेद हैं। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्मण, शरीर और संघात नाम के पांच भेद हैं । समचतुरश्र, नेग्रोध, स्वाति, कुंजक कुवामन, कुण्डक, ऐसे संस्थान के छः भेद हैं। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, अंगोपांग नाम कर्म के तीन भेद हैं । बज्र वृषभ, बज्रनाराच, नाराच, अर्ध नाराच, कीलित, असम्प्राप्त सृपाटिका संहनन के छ भेद हैं । स्वेत, पीत, हरित, अरुण, कृष्ण, ऐसे वर्ण नाम के पाँच भेद हैं । सुगन्ध, दुर्गन्ध, ऐसे गन्ध के दो भेद हैं। मृदु, करकस, गुरु, लघु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत उष्ण, स्पर्शनाम, कर्म के आठ भेद हैं। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य देव गत्यानुपूर्वी नाम कर्म के चार भेद हैं। अगुरु, लघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास आतप, उद्योत, त्रस नाम कर्म, बादर नाम कर्म, सूक्ष्म पर्याप्त नाम कर्म, प्रत्येक शरीर नाम कर्म, स्थिर नाम कर्म, शुभ नाम कर्म, सुभग नाम कर्म, सुस्वर नाम कर्म, आदेय नाम कर्म, यशस्कीर्ति नाम कर्म, निर्माण नाम कर्म, तीर्थंकर नाम कर्म, स्थावर नाम कर्म, सूक्ष्म नाम कर्म, अपर्याप्त नाम कर्म, साधारण शरीर नाम कर्म, अस्थिर नाम कर्म, अशुभनाम कर्म, दुर्भग नाम कर्म, असाधारण शरीर नाम कर्म, दुःस्वर नाम कर्म, अनादेव नाम कर्म, अयशस्कीर्ति नाम कर्म, निर्वाण तीर्थंकर नाम प्रकृति के २७ भेद हैं । उच्च गोत्र, नीच गोत्र, गोत्र कर्म के दो भेद हैं । लाभा अन्तराय, दानाअन्तराय, भोगाअन्तराय, वीर्यअन्तराय, उपभोगाअन्तराय, ऐसे अन्तराय कर्म के पांच भेद हैं। ऐसे कुल प्रकृति के १४८ भेद होते हैं और असंख्यात लोक प्रमाण जो पृथिवी काय नाम कर्म आदि उपरोक्त प्रकृति भेद है उसकी अपेक्षा कर्म अनेक प्रकार है, १ ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने

कहा है। इस प्रकार कर्म के अनेक प्रकार के भेद हैं यह सभी भावाश्रव है। अब द्रव्याश्रव का वर्णन करते हैं।

Jnanavaranadinam yogyam yat pudgalam samasravati
Dravyasravah sa jneyah anekabhedah jinakhyatah—(31).

Padapatha—णाणावरणादीणं Nanavaranadinam, of Jnanavaraniya, etc. जोग्गं Joggam, fit. जं Jam, which. पुग्गलं Puggalam, Pudgala समासवदि Samasavadi, inflows. स Sa, that. जिणक्खादो Jinakkhado, told by the Jina. अणेयभेदो Aneyabhedo, of many kinds. दव्यासवो Davvasavo, Dravyasrava. णेओ Neyo, to be known.

31. That influx of matter which causes Jnana-varaniya, etc., is to be known as Dravyasrava as called by the Jina and possessing Many varieties.

COMMENTARY

We have observed that Bhavasravas are thought-activities which prepare the way for the influx of matter into Jiva. Dravyasrava is the actual flowing in of matter into the soul by which the eight kinds of Karma mentioned in Verse 14, are produced. As it is easy for particles of dust to stick to the body of a person if the same be smeared with oil, so it becomes easier for particles of matter to enter a soul when it is vitiated by certain thought-activities (Bhavasravas). First of all, therefore, there are the reprehensible thought-activities (Bhavasrava). These are followed by the influx of matter (Dravyasrava). When matter enters the soul in this manner, the eight kinds of Karma are produced.

Thus, Dravyasrava may be said to be primarily of eight kinds, according to the eight varieties of Karma, viz., Jnanavaraniya, Darsanavarniya, Vedaniya, Mohaniya, Ayu, Nama, Gotra and Antaraya. Further subdivisions are also made of each of these kinds of Karmas. Jnanavaraniya is said to be of five kinds—Darsanavaraniya of nine, Vedaniya of two, Mohaniya of twenty-eight, Ayu of four, Nama of ninety-three, Gotra of two

and Antaraya of five kinds. The total number of the varieties of Dravyasrava is, therefore, one hundred and forty-eight. The author of Dravya-Samgraha has treated these varieties in detail, in his work named Gommata Sara (Karma-kanda). Here verse, he simply says that Dravyasrava is of many varieties. Consequently, we need not go into these detailed subdivisions.

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥

अन्वय—(जेण चेदणभावेण) यह जीवात्मा कोई एक अपने शुभाशुभ भाव के अनुसार चिद् विकार भावना परिणाम से (कम्मं) ज्ञानावरणादि कर्म मल (बज्झदि) बांध लेता है सो वह (भावबन्धो) भाव बन्ध नाम के (दु) द्रव्य कर्म अनादि सन्तान के रूप से जीव के साथ रहने से जीव संसारी कहलाता है (काम्मादपदेसाणं अण्णोण्णावेसण) परस्पर प्रदेशाणु प्रदेश से एक क्षेत्रावगाही क्षीर नीर के समान होने के कारण (इदरो) द्रव्य बन्ध वाला कहलाता है। सम्पूर्ण कर्म बन्ध विध्वंस के समर्थ निजस्वरूप सम्पत्ति के विपक्ष मिथ्यात्वादि विभाव परिणाम से आत्मा को कर्म बन्ध होता है, यह इसका तात्पर्य हुआ।

जिस चैतन्यभाव से कर्म बांधता है वह भाव बन्ध है। सम्पूर्ण कर्म बन्ध नष्ट करने में समर्थ, अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभास्वरूप परम चैतन्य विलास लक्षण का धारक ज्ञान गुण अपेक्षा की अथवा अभेद नय की अपेक्षा अनन्त ज्ञानादि गुणों के आधारभूत परमात्मा की जो निर्मल अनुभूति है उससे विरुद्ध मिथ्यात्व रागादि से परिगणित रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप परिणमन से जो कर्म बांधता है वह भाव बंध कहलाता है। कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर मिलना दूसरा द्रव्य बंध है, अर्थात् उस भाव बंध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का जो दूध और जल की तरह एक दूसरे का मिल जाना है सो द्रव्य बन्ध है।

विवेचन—ग्रन्थकार कहते हैं कि—हे आत्मन्! द्रव्य भाव बन्ध के कारण अनादि काल से यह जीव क्षीर नीर के समान एक होकर संसार में पुद्गल के निमित्त से हमेशा जन्म मरण का चक्कर काटते हुए द्रव्य बंध का संचय कर रहा है।

जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है कि:—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

इस शुद्ध आत्मा के कर्म बन्ध के निमित्त से अशुद्धपना आता है यह बात तो दूर ही रही इसके दर्शन ज्ञान चारित्र में कोई भेद नहीं है। क्योंकि वस्तु अनन्तधर्म रूप एकधर्मी है। परन्तु व्यवहारी जन धर्मों को ही समझते हैं, धर्मी को नहीं जानते। इस लिये वस्तु के कुछ असाधारण कर्मों को उपदेश में लेकर अभेदरूप वस्तु में भी धर्मों के नामरूप भेद को उत्पन्न करके ऐसा उपदेश करते है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। अभेद में भेद करने से यह व्यवहार है। परमार्थ से विचारा जाय तो अनंत पर्यायों को एक द्रव्य अभेदरूप लिए हुए बैठा है। इस कारण भेद नहीं है। यहाँ कोई कहे कि पर्याय भी द्रव्य का ही एक भेद है अवस्तु तो नहीं है उसे व्यवहार किस तरह कह सकते हैं? उसका समाधान—यह तो सच है परन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान कर उपदेश है। इसलिये अभेद दृष्टि में भेद गौण कहने से ही अभेद अच्छी तरह मालूम हो सकता है, इस कारण भेद को गौणकर व्यवहार कहा है। यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि भेद दृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी के जब तक रागादिक दूर नहीं होते तब तक विकल्प बना रहता है। इस कारण भेद का गौणकर अभेद रूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है। वहाँ नय का अवलम्बन ही नहीं रहता। इसलिये हे आत्मन्! तुम्हारा इस परभव से विपरीत अपने आत्म स्वभाव में रमण होकर पर भव का बन्ध जायेगा और तुम शास्वत अखण्ड अविनाशी शिव रमणीय मोक्ष लक्ष्मी के साथ आनन्द पूर्वक रमण करते हुए सुख शान्ति पावोगे।

अब आगे की पूर्वार्ध गाथा से उसी बन्ध से प्रकृति बन्ध आदि चार भेदों को कहते हैं।

Badhyate karma yena tu chetanabhavena bhavabandhah sah.
Karmatmpradesanam anyonyapravesanam itarah.—(32).

Padapatha.—जेण Jena. which. चेदणभावेण Chedanabhavena, conscious state. कम्मं Kammam, Karma. बज्झदि Bajjhadi, is bound. स Sa, that. भावबंधो Bhavabandho, Bhava-bandha. दु Dv. but. कम्मादपदेसाणं Kammadapadesanam, of the Pradesas of Karma and Atma (soul). अण्णोण्णपवेसणं Annonnapavesanam, inter-penetration. इदरो Idaro, the other.

32. That conscious state by which Karma is bound (with

the soul) is called Bhava-bandha, while the interpenetration of the Pradesas of Karma and the soul is the other (i.e., Dravya-bandha).

COMMENTARY

We have learnt in Verses 29-31 the causes, on account of which Karmas enter a soul. Now, when there is such an influx of Karmas, there is a bondage of the soul with these Karmas. This bondage is called Bandha.

Bondage of the soul with Karmas is made by the conscious states of mind, when a soul is excited with attachment or aversion. These states of consciousness are known as Bhava-bandha. In Vardhamana-Purana (Canto xvI, Verse 43) we have :—

"चेतनापरिणामेन रागद्वेषमयेन च ।
येन कर्माणि बध्यन्ते भावबन्धः स एव हि ॥"

i.e., "That modification of consciousness consisting of attachment or aversion by which Karmas are tied (to the soul), is known as Bhava-bandha." Bhava-bandha is therefore, the alliance of the soul with mental activities which are produced when we are excited with attachment or aversion to worldly objects.

First of all, therefore, there is an influx of Karmas, through Asravas. Then, there are some activities of consciousness which attach themselves to the soul, producing a peculiar kind of bondage. This is what we call Bhava-bandha. After this Bhava-bandha, there is a union of Jiva with actual Karmas. This union consists of the interpenetration of the soul and Karmas, and the bondage resulting from this, is known as Dravya-bandha In Vardhamana-Purana (Canto XVI, verse 44), we have :—

"भावबन्धनिमित्तेन संश्लेषो जीवकर्मणोः ।
योऽसौ चतुः प्रकारोऽत्र द्रव्यबन्धो बुधैः स्मृतः ॥"

i.e., "That union of Jiva and Karma which is caused by Bhava-

bandha and is of four kinds, is called Dravya-bandha by the learned."

Bandha is, therefore, the assimilation of matter existing in many Pradesas by Jiva, when it is excited by Kasaya (i.e., attachment and aversion) * We have already described the results of this bondage in the commentary on Verse 7.

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥

अन्वय—(पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो) प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभागबंध और प्रदेश बंध इस तरह बंध चार प्रकार का है । ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति यानी स्वभाव क्या है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे देवता को परदा आच्छादित कर लेता है यानी ढक लेता है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढक लेता है । दर्शनावरण की प्रकृति क्या है ? राजा के दर्शन की रुकावट जैसे द्वारपाल करता है उसी तरह दर्शनावरण दर्शन को नहीं होने देता । सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म क्या है ? मधु (शहद) से लिपटी हुई तलवार की धार चाटने से जैसे कुछ सुख और अधिक दुःख होता है वैसे ही वेदनीय कर्म भी अल्पसुख और अधिक दुःख देता है । मोहनीय कर्म का क्या स्वभाव है ? मद्य पान के समान हेय उपादेय पदार्थ के ज्ञान से रहित करना मोहनीय कर्म की प्रकृति है । आयुकर्म की क्या प्रकृति है ? बेड़ी के समान दूसरी गति में जाने को रोकना आयुः कर्म की प्रकृति है । नाम कर्म की प्रकृति क्या है ? चित्रकार के समान अनेक प्रकार के शरीर बनाना नाम कर्म की

---

* "सकषायतयाइत्ते जीवोऽसंख्याप्रदेशगान् ।
पुद्गलान् कर्मणो योग्यान् बन्धः स इह कथ्यते ॥"
धर्मशर्माभ्युदयम् ।२१।१०६।

"सकषायतया जन्तोः कर्मयोग्यैर्निरन्तरम् ।
पुद्गलैः सह संबन्धो बन्ध इत्यभिधीयते ॥"
चन्द्रप्रभचरितम् ।१८।६६।

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।"
तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ।८।२।

प्रकृति है । गोत्रकर्म का क्या स्वभाव है ? छोटे बड़े घट आदि को बनाने वाले कुम्भकार की तरह उच्च तथा नीच गोत्र का करना गोत्र कर्म की प्रकृति है । अन्तराय कर्म का स्वभाव क्या है ? भण्डारी के समान दान आदि में विघ्न करना अन्तराय कर्म की प्रकृति है । सो ही कहा है—पट प्रतीहार (द्वारपाल) तलवार मद्य बेड़ी चितेरा कुम्भकार और भण्डारी इन आठों का जैसा स्वभाव है वैसा ही क्रम से ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का स्वभाव जानना चाहिये ।

इस प्रकार गाथा में कहे हुए आठ दृष्टान्तों के अनुसार प्रकृति बंध जानना चाहिये । बकरी गाय भैंस आदि के दूधों में जैसे दो पहर आदि समय तक अपने मधुर रस में रहने की मर्यादा कही जाती है, यानी—बकरी का दूध दो पहर तक अपने रस में स्थित रहता है और गाय भैंस का दूध उससे देर तक ठीक बना रहता है । इत्यादि स्थिति का कथन है उसी प्रकार जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक कर्म संबंध की स्थिति है उतने काल को स्थितिबंध कहते हैं । जैसे उन बकरी आदि के दूध में कम अधिक मीठापन चिकनाई शक्तिरूप अनुभाग कहा जाता है उसी प्रकार जीवप्रदेशों में स्थित जो कर्मों के प्रदेश हैं उनमें जो सुख दुःख देने में समर्थ शक्ति विशेष है उसको अनुभाग बंध जानना चाहिये और वह घाति कर्म से सम्बन्ध रखने वाली शक्ति लता (बेल) काठ हाड़ और पाषाण के भेद से चार प्रकार की है । उसी तरह अशुभ अघातिया कर्मों में शक्ति नीम, कांजीर (काली जीरी) विष तथा हालाहल रूप से चार तरह की है। तथा शुभ अघातिया कर्मों की शक्ति गुड़ खाण्ड मिश्री तथा अमृत इन भेदों से चार तरह की है । एक एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों से अनन्तैकभाव (अनन्तमें से एक भाग) और अभव्यराशि से अनन्त गुणे ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में बंध को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार प्रदेशबंध का स्वरूप है । अब बंध के कारण को कहते हैं—(जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कषायदो होंति) योग से प्रकृति, प्रदेश और स्थिति अनुभाग ये दो बंध कषायों से होते हैं । निश्चयनय से क्रियारहित शुद्ध आत्मा के प्रदेश हैं । व्यवहार नय से उन आत्मप्रदेशों के जो परिस्पंदन (चलायमान करने) का कारण है उसको योग कहते हैं । उस योग से प्रकृति तथा प्रदेश नामक दो बंध होते हैं । दोष रहित परमात्मा की भावना (ध्यान) के प्रतिबन्ध करने वाले जो क्रोध आदि कषाय हैं उनके उदय से स्थिति अनुभाग ये दो बन्ध होते हैं । शंका—आस्रव और बन्ध के होने में मिथ्यात्व, अविरति, आदि कारण समान हैं । इसलिये आस्रव और बन्ध में क्या भेद है ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं । क्योंकि प्रथम क्षण में जो कर्मस्कन्धों का आगमन है, वह तो

आश्रव है और कर्मस्कन्धों के आगमन के पीछे द्वितीय, क्षण में जो उन कर्मस्कन्धों का जीव के प्रदेशों में स्थित होना है सो बन्ध है। यह भेद आश्रव और बंध में है। क्योंकि योग और कषायों से प्रकृति, प्रदेश स्थिति और अनुभाग नामक चार बंध होते हैं। इस कारण बंध का नाश करने के लिये क्रोध तथा कषाय का त्याग करके अपने शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिये।

अर्थात् इसी गाथा में ग्रंथकार ने प्रकृति बन्ध का स्वरूप बतलाया है। प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, प्रदेश बन्ध और अनुभागबन्ध, इस प्रकार बन्धके चार भेद बताये गये हैं और इनमें भी हर एक बन्ध के उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य इस प्रकार चार चार भेद हैं। इसका स्वरूप विशेष रूप से विवेचन करेंगे।

प्रकृति आदि चार तरह के बन्धों का स्वरूप इस प्रकार है-प्रकृति अर्थात् स्वभाव का जो बन्ध है सो प्रकृतिबन्ध है। जैसे नीम का स्वभाव कड़ुआ और ईख का स्वभाव मीठा होता है उसी तरह ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृति (स्वभाव) ज्ञान को ढकना (रोकना) आदिक है। कर्मों के इन स्वभावों का आत्मा के संबंध को पाकर प्रकट होना प्रकृति बन्ध है और आत्मा के साथ कर्मों के रहने की मर्यादा (मियाद) को स्थितिबन्ध कहते हैं। कर्मों के फल को देने की शक्ति की हीनता वा अधिकता को अनुभागबन्ध कहते हैं तथा बँधनेवाले कर्मों की संख्या को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

आगे उत्कृष्टादि के भी भेद कहते हैं:—

सादिअणादी धुव अद्धुवो य बंधो दु जेट्ठमादीसु।
णाणेगं जीवं पडि आधादेसे जहाजोग्गं॥ ९०॥

उत्कृष्ट आदिक भेदों के भी सादि (जिसका छूटकर पुनः बंध हो) १. अनादि-बन्ध (अनादि काल से जिसके बंध का अभाव न हो) २, ध्रुवबन्ध ३ अर्थात् जिसका निरन्तर बन्ध हुआ करे और अध्रुव बंध ४ अर्थात् जो अंतरसहित बंध हो, इस प्रकार चार चार भेद हैं। इन बंधों को नाना जीवों की तथा एक जीव की अपेक्षा से गुणस्थान और मार्गणास्थानों में यथासम्भव घटित कर लेना चाहिये।

गुणप्रतिपन्न अर्थात् मिथ्यादृष्टि सासादनादिक ऊपर २ के गुणस्थानवर्ती जीवों में जिन कर्मों का स्थिति अनुभाग प्रदेशबंध उत्कृष्ट होता है उन्हीं कर्मों का अनुत्कृष्ट स्थिति अनुभाग प्रदेश बंध भी सादिबंधादिक भेद से चार तरह का होता है। इसी तरह अजघन्य भी चार प्रकार है, अर्थात् जिन कर्मों की स्थिति अनुभाग प्रदेशबंध ऊपर

ऊपर के गुणस्थानों में जघन्य पाया जाता है उन्हीं कर्मों का जघन्य बंध भी चार प्रकार का होता है।

इसका लक्षण आगे कहेंगे। परन्तु कुछ उदाहरण के लिये थोड़ा सा यहाँ पर भी दिखा देते हैं—जैसे उपशमश्रेणी चढ़ने वाला जीव सूक्ष्मसांपराय (दशवां) गुणस्थानवर्ती हुआ। वहाँ पर उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभाग बंध करके पीछे वह उपशांतकाय (ग्यारहवां) गुणस्थानवर्ती हुआ। फिर वहाँ से उतर के सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में आया। तब वहाँ पर उसने अनुत्कृष्ट ऊंच गोत्र को अनुभागबंध किया। उस जगह इस अनुत्कृष्ट उच्चगोत्र के अनुभाग को सादिबंध कहते हैं। क्योंकि पहले इस बंध का अभाव हुआ था फिर उत्पत्ति (सद्भाव) हुई। सूक्ष्मसांपराय से नीचे रहने वाले जीवों के वह बन्ध अनादि है। अभव्य जीवों के वह बंध ध्रुव है। तथा उपशम श्रेणी वाले के अनुत्कृष्ट बंध को छोड़कर जो उत्कृष्ट बंध होता है वह अध्रुवबंध है। इस प्रकार अनुत्कृष्ट उच्चगोत्र के अनुभागबंध में चार भेद दिखलाये। अब अजघन्य के चार भेद कहते हैं—जैसे कोई मिथ्यादृष्टि (पहले) गुणस्थान के अन्त समय में जघन्य नीचगोत्र का अनुभाग बंध किया। फिर सम्यग्दृष्टि हुआ। उसके बाद फिर मिथ्यात्वके उदय से मिथ्यादृष्टि हुआ। वहाँ पर वह नीचगोत्र के अजघन्य अनुभाग को बांधता है। उस जगह इस अजघन्य नीचगोत्र के अनुभागबन्ध को सादि कहना। फिर उसी मिथ्यादृष्टि जीव के द्वितीयादिक समयों में जो बन्ध है वह अनादि है। अभव्य जीव के वह बंध ध्रुव है और जहाँ अजघन्य को छोड़ जघन्यको प्राप्त हुआ वहाँ पर वह बंध अध्रुव है। इस तरह अजघन्य नीचगोत्र के अनुभागबन्ध में सादि अनादि ध्रुव अध्रुव चार भेद कहे। इसी प्रकार जहाँ जैसा सम्भव हो वहाँ वैसा अन्य बन्धों में भी सादि वगैरह चार भेद समझ लेना चाहिये। प्रकृति बंध में उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट अजघन्य जघन्य में भेद नहीं है। बाकी स्थिति अनुभाग और प्रदेशबन्ध इन तीन में ही ये उत्कृष्टादिक भेद होते हैं।

असंयत चतुर्थ गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान—अपूर्वकरण के छठे भाग तक के सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग प्रकृतियों का बंधअप्रमत्त (सातवें गुणस्थान तथा निर्वृत्त पर्याप्त अवस्था को प्राप्त मिश्र का योग इन दोनों के सिवाय मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक ही होता है। तथा शेष प्रकृतियों का बंध मिथ्यादृष्टि वगैरह गुणस्थानों में अपनी २ बन्ध की व्युच्छित्ति तक होता है।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व में अथवा बाकी के तीनों—द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व की अवस्था में, असंयत से लेकर अप्रमत्तगुणस्थान

तक चार गुणस्थानों वाले मनुष्य ही, केवली तीन जगत् को प्रत्यक्ष देखने वाले तीर्थंकर (हितोपदेशी सर्वज्ञ) तथा श्रुतकेवली (द्वादशांग के पारगामी) के निकट ही तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का आरम्भ करते हैं।

मिथ्यादृष्टि पहले गुणस्थान के अन्तमय सोलह प्रकृतियाँ बन्ध होने से व्युच्छिन्न होती है (विछुड़ जाती है)। अर्थात् पहले गुणस्थान तक ही उनका बन्ध होता है, उससे आगे के गुणस्थानों में उनका बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान में २५ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है। तीसरे में शून्य अर्थात् किसी प्रकृति की व्युच्छित्ति नहीं होती। चौथे में दश की पांचवें में चार की, छठे में छह की, सातवें में एक प्रकृति की व्युच्छित्ति होती है। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के सात भागों में से पहले भाग में दो की, तथा दूसरे भाग से पांचवें भाग तक शून्य छठे भाग में तीस की सातवें भाग में चार प्रकृतियों की बन्ध से व्युच्छित्ति होती है। नववें में पांच की, दसवें में सोलह की, ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में शून्य, तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान एक प्रकृति की बंधव्युच्छित्ति होती है। चौदहवें गुणस्थान में बंध भी नहीं और व्युच्छित्ति भी नहीं होती। क्योंकि वहाँ पर बंध के कारण योग का ही अभाव है।

अब उन व्युच्छिन्न प्रकृतियों के नाम गुणस्थान के क्रम से आठ गाथाओं द्वारा दिखाने के लिए क्रम से पहले गुणस्थान की सोलह प्रकृतियों को गिनाते हैं :—

मिथ्यात्व १ हुण्डकसंस्थान २ नपुंसकवेद ३ असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ४ एकेन्द्रिय ५ स्थावर नाम ६ आतप ७ सूक्ष्मादि तीन सूक्ष्म ८ अपर्याप्त ९ साधारण १० विकलेन्द्रिय तीन अर्थात् दो इन्द्रिय ११ तेइन्द्री १२ चौइन्द्री १३, नरकगति १४ नरकगत्यानुपूर्वी १५ नरकायु १६। ये सोलह प्रकृतियां मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तसमय में बंध से व्युच्छिन्न हो जाती हैं। अर्थात् मिथ्यात्व से आगे के गुणस्थानों में इनका बंध नहीं होता।

आगे दूसरे गुणस्थान के अन्त में जिन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है उनकी संख्या दिखाते हैं :—

दूसरे सासादनगुणस्थान के अन्तसमय में अनन्तानुबंधी क्रोधादि चार स्त्यानगृद्धि १ निद्रानिद्रा १ प्रचलाप्रचला १ ये तीन, दुर्भग १ दुःस्वर १ अनादेय १ ये तीन, न्यग्रोधादि चार संस्थान, वज्रनाराचादि चार संहनन अप्रशस्त विहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यग्गति १ तिर्यग्गत्यानुपूर्वी २ ये दो, उद्योत और तिर्यंचायु इन पच्चीस प्रकृतियों की

व्युच्छित्ति होती है। मिश्र गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की व्युच्छित्ति नहीं होती। अब चौथे और पांचवें गुणस्थान में व्युच्छिन्न प्रकृतियों की संख्या कहते हैं :—

चौथे असंयत गुणस्थान में दूसरी अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि चार कषाय, वज्रऋषभनाराचसंहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग मनुष्यगति १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी २ ये दो और मनुष्यायु ये दश प्रकृतियां बंध व्युच्छिन्न होती हैं। पाँचवें देशव्रत गुणस्थान में तीसरी प्रत्याख्यानावरणी क्रोधादि चार कषायें नियम पूर्वक बंध व्युच्छिन्न होती हैं।

अब छठे और सातवें गुणस्थान में व्युच्छित्ति की संख्या कहते हैं :—

छठे गुणस्थान के अंतिम समय में अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयशस्कीर्ति अरति और शोक इन छह प्रकृतियों का बंध से बिछुड़ना होता है और सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में एक देवायु प्रकृति की ही व्युच्छित्ति होती है।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के सात भागों में से पहले, छठे और सातवें भाग में ही बंध की व्युच्छित्ति होती है, अतएव क्रम से उनकी संख्या दिखाते हैं :—

निवृत्ति अर्थात् आठवें अपूर्वकरण के मरणअवस्थारहित प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है। और छठे भाग के अन्तसमय में तीर्थंकर प्रकृति, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पंचेंद्री जाति, तैजस १ कार्माण २ ये दो, आहारक शरीर १ आहारक अंगोपांग २, समचतुरस्रसंस्थान, देवगति १ देवगत्यानुपूर्वी २ वैक्रियिक शरीर ३ वैक्रियिक अंगोपांग ४ ये चार, वर्णादि चार, अगुरुलघु १ उपघात २ परघात उच्छ्वास ४ ये चार और त्रसादि नौ, इन तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्तिहोती है और अंत के सातवें भाग में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बिछुड़ती हैं। अब नववें तथा दसवें गुणस्थान के अन्त समय में बंध व्युच्छित्ति की संख्या कहते हैं— नववें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के पांच भागों में से क्रम से पहले भाग में पुरुषवेद की व्युच्छित्ति बाकी के चार भागों में संज्वलन क्रोधादि चार कषायों की व्युच्छित्ति जानना और दसवें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान के अंतसमय में ज्ञानावरण अर्थात् मतिज्ञानावरणादि पांच, अन्तराय के पांच भेद, चक्षुदर्शनावरणादि चार यशस्कीर्ति और उच्च गोत्र, इस प्रकार १६ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है।

अब तेरहवें गुणस्थान के अंत में बंध व्युच्छित्ति प्रकृतियों को दिखाते हैं :— उपशांतमोह नाम के ग्यारहवें गुणस्थान में, बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में और तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में एक समय की स्थितिवाला एक सातावेदनीय प्रकृति का ही बंध

होता है, इस कारण तेरहवें गुणस्थान के अन्तसमय में सातावेदनीय प्रकृति की ही व्युच्छित्ति होती है और चौदहवें में बंध के कारण- योग का अभाव होने से बंध भी नहीं तथा व्युच्छित्ति भी नहीं होती। इस प्रकार प्रकृतियों के बंध का अन्त अर्थात व्युच्छित्ति जानना। आगे अनन्त अर्थात् बंध और च शब्द से अबंध का जो उल्लेख किया गया है उसका स्वरूप भी दो गाथाओं से कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि आदिक गुणस्थानों में क्रम से एकसौ सत्रह, एकसौ एक, ७४, ७७, ६७, ६३, ५६, ५८, २२, १७, १, १, १ इस प्रकार प्रकृतियोंका बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। चौदहवें में बंध नहीं होता भावार्थ यह है कि बंध योग्य प्रकृतियां पहले १२० कही गई हैं। उनमें "सम्मेव तित्थ" इस ६२ वें गाथा के अनुसार मिथ्यादृष्टि में तोन प्रकृतियों का बन्ध न होने से १२०-३११७ बाकी रहती हैं। द्वितीयादि गुणस्थानों में भी व्युच्छिन्न प्रकृतियों को घटाने से बंध की संख्या इस गाथा के अनुसार निकल आती है।

अब अबन्धप्रकृतियों को गुणस्थानों में क्रम से दिखाते हैं:—

मिथ्यादृष्टि आदिक चौदह गुणस्थानों में क्रम से ३, १६, ४६, ४३, ५३, ५७, ६१, ३२, दोरहित सो अर्थात् ६८ तीन सहित सौ अर्थात १०३, ११६ तीन जगह ग्यारहवें बारहवें, तेरहवें और चौदहवें में १२० प्रकृतियों का अबंध है। अर्थात् इन ऊपर लिखित प्रकृतियों का बंध नहीं होता। अर्थात्-पहले गुणस्थान में तीर्थंकर १ आहारक शरीर २ आहारक आंगोपांग ३ इन तीन का बंध पहले ६२ वें गाथा में कहे हुए नियम से नहीं होता। और द्वितीयादि गुणस्थानों में व्युच्छित्ति प्रकृतियों को पहली अबंध प्रकृतियों में जोड़ने से ऊपर लिखी हुई संख्या निकल आती है।

उपर्युक्त बंध व्युच्छित्ति तथा बंध और अबंध इन तीनों का चौदह मार्गणाओं में वर्णन करने की इच्छा से क्रमानुसार पहले नरकगति में इन विषयों का तीन गाथाओं द्वारा वर्णन करते हैं—

मार्गणाओं में व्युच्छित्ति वगैरह तीनों अवस्थाएँ गुणस्थान के समान जानना। परन्तु विशेष यह है कि नरकगति में मिथ्यात्वगुणस्थान के अन्त में मिथ्यात्वादि चार प्रकृतियों की ही व्युच्छित्ति होती है। सोलह में से आदि की इन चार प्रकृति के बिना बाकी एकेन्द्री आदि बारह और देवगति १. देवगत्यानुपूर्वी। २. वैक्रियिक शरीर। ३. वैक्रियिक अंगोपांग ४ ये चार, तथा देवायु, और आहारक शरीर १ आहारक अंगोपांग २, ये सब उन्नीस प्रकृतियाँ अबन्ध हैं। अर्थात् नरकगति के मिथ्यात्वगुणस्थान में १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। अतएव बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से बाकी १०१ प्रकृतियों का ही वहां पर बन्ध होता है।

अब नरकगति में धर्मादि नरकों की अपेक्षा कुछ भेद दिखाते हैं:—

धर्मा नाम के पहले नरक की पृथ्वी में पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। वंशानाम दूसरे तथा मेघानाम तीसरे नरक में पर्याप्त जीव ही तीर्थंकर प्रकृति को बाँधता है मघवीनामक छठे नरक तक ही मनुष्यायु का बन्ध होता है। और अन्त के माधवी सातवें नरक में मिथ्यात्वगुणस्थान में ही तिर्यंच आयु का बन्ध होता है।

सातवें नरक में मिश्रगुणस्थान और अविरत नाम के चौथे गुणस्थान में ही उच्चगोत्र, मनुष्यगति १, मनुष्यगत्यानुपूर्वी २,इन तीन प्रकृतियों का बन्ध है। और मिथ्यात्वगुण स्थान वाले तथा सासादन सम्यक्त्वी (दूसरे गुणस्थान वाले) जीव वहाँ पर उच्चगोत्र और मनुष्यादिक ऊपर कही हुई इन तीनों प्रकृतियों को नहीं बांधते।

अब तिर्यंच गति में व्युच्छित्ति वगैरह कहते हैं:—

तिर्यंच गति में भी व्युच्छित्ति वगैरह गुणस्थानों की तरह ही समझना। परन्तु इतनी विशेषता है कि तीर्थंकर १ और आहारक शरीर २ तथा आहारक आंगोपांग ३, इन तीनों का बन्ध नहीं होता। और इसी कारण तिर्यंचगति में बन्ध योग्य प्रकृतियाँ ११७ ही हैं। चौथे अविरतगुणस्थान में अप्रत्याख्यान क्रोधादि ४ की ही व्युच्छित्ति है। चार से आगे की वज्रर्षभनाराच आदि ६ प्रकृतियां जो दशवें से बाकी बचती हैं उनकी व्युच्छित्ति दूसरे सासादन सम्यक्त्वगुण स्थान में ही नियम से हो जाती है। क्योंकि यहाँ पर तिर्यंच मनुष्यगति सम्बन्धी प्रकृतियों का मिश्रादिक में बन्ध नहीं होता।

तिर्यंच पांच तरह के होते हैं:—सामान्यतिर्यंच (सब भेदों का समुदाय रूप) पंचेन्द्रियतिर्यंच, पर्याप्ततिर्यंच, स्त्रीवेदरूपतिर्यंच और लब्ध्यपर्याप्ततिर्यंच। इनमें से पहले चार तरह के तिर्यंचों में ऊपर लिखित रीति से ही व्युच्छित्ति आदिक समझना। किन्तु पांचवें लब्धिअपर्याप्तक तिर्यंच में देवायु नरकायु और वैक्रियिकषट्क (देवगति १ देवगत्यानुपूर्वी २. नरकगति ३. नरकगत्यानुपूर्वी ४. वैक्रियिकशरीर ५. वैक्रियिक आंगोपांग ६) इन आठ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है।

आगे मनुष्य गति में व्युच्छित्ति आदिक को दिखाते हैं—

मनुष्यगति में व्युच्छित्ति वगैरह की रचना तिर्यंचगति की ही तरह जानना। विशेषता इतनी है कि यहाँ पर तीर्थंकर और आहारकादिक इन तीनों का भी बंध होता है। इसी कारण यहां पर बंध योग्य प्रकृतियां १२० हैं। और सामान्य (सब भेदों का समुदायरूप) मनुष्य, पर्याप्तमनुष्य, स्त्रीवेदरूप मनुष्य इन तीनों की रचना तिर्यंचलब्ध्यपर्याप्त की तरह समझना।

अब देवगति में व्युच्छित्ति वगैरह को कहते हैं:—

देवगति में व्युच्छित्ति आदिक नरकगति के समान जानना। परन्तु इतना विशेष है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में दूसरे ईशान स्वर्ग तक पहले गुणस्थान की १६ प्रकृतियों में से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों की ही व्युच्छित्ति होती है।

बाकी बनी हुई सूक्ष्मादि नौ तथा देवगति १. देवगत्यानुपूर्वी २. वैक्रियिक शरीर ३. वैक्रियिक आंगोपांग ४. ये सुरचतुष्क तथा देवायु आहारक शरीर और आहारक आंगोपांग ये तीन मिलाकर सात, सब ९+७ मिलाकर १६ प्रकृतियां अवंधरूप हैं, अर्थात् इन सोलह का बन्ध नहीं होता। इसी कारण यहाँ बन्ध योग्य प्रकृतियाँ १०४ हैं तथा भवनत्रिक देवों में (भवनवासी १. व्यंतर २. ज्योतिषी देवों में ३.) तीर्थंकर प्रकृति नहीं है, अर्थात् तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता।

कल्पवासिनी स्त्रियों में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता। और तिर्यञ्चगति १ तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी २ ये दो, और तिर्यञ्चायु तथा उद्योत इन चार प्रकृतियों का बन्ध ग्यारहवें बारहवें शतार सहस्रार नाम के स्वर्ग तक ही होता है। इसके ऊपर आनतादि स्वर्गों में रहनेवालों के इन चार प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। इन चार प्रकृतियों का दूसरा नाम शतारचतुष्क है क्योंकि शतार युगल तक ही इनका बन्ध होता है।

अब इन्द्रियमार्गणा में बन्धव्युच्छित्ति आदिक को कहते हैं :—

एकेंद्रिय तथा विकलत्रय अर्थात् दो इंद्री चौ इन्द्रिय में लब्धिअपर्याप्तक अवस्था की तरहबन्ध योग्य १०९ प्रकृतियाँ समझना, क्योंकि तीर्थंकर, आहारक द्वय, देवायु, नरकायु और वैक्रियिक षट्क इस तरह ग्यारह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। तथा एकेन्द्रिय और विकलत्रय में गुणस्थान आदि के दो—मिथ्यादृष्टि और सासादन ही होते हैं। इनमें से पहले गुणस्थान में १६ प्रकृतियों के बन्ध व्युच्छित्ति कही है। परन्तु यहां पर उनमें से नरकादिक और नरक आयु छूट जाती है तथा मनुष्य आयु और तिर्यञ्च आयु बढ़ जाती है। इससे १५ की ही व्युच्छित्ति होती है। मनुष्य आयु और तिर्यञ्च आयु की बन्धव्युच्छित्ति प्रथम गुणस्थान में ही क्यों कही ? तो इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय में उत्पन्न हुआ जीव सासादन गुणस्थान में देह (शरीर) पर्याप्ति को पूरा नहीं कर सकता। क्योंकि सासादान का काल थोड़ा और निवृत्ति अपर्याप्त अवस्था का काल बहुत है, इसी कारण सासादन गुणस्थान में मनुष्यायु तथा तिर्यञ्चायु का भी बन्ध नहीं होता है, प्रथम गुणस्थान में ही बन्ध और व्युच्छित्ति होती है।

अब पंचेन्द्रिय में तथा काय मार्गणा की अपेक्षा पृथ्वीकाय वग़ैरह एकेन्द्रिय के पांच भेदों में व्युच्छित्ति दिखाते हैं :—

पंचेन्द्रिय जीवों के व्युच्छित्ति आदिक गुणस्थान की तरह समझना कुछ विशेषता नहीं है। और कायमार्गणा में पृथ्वी कायादि वनस्पतिकाय तक एकेन्द्रिय की तरह व्युच्छित्ति आदिक जानना। विशेष यह है कि तेजकाय तथा वायुकाय में मनुष्यगति १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी २, मनुष्यायु और उच्चगोत्र इन चार प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है और गुणस्थान एक मिथ्यादृष्टि ही है।

आगे एक गुणस्थान होने के कारण को तथा योगमार्गणा में व्युच्छिति आदि को कहते हैं :—

लब्ध अपर्याप्तक अवस्था में, कार्मण शरीर सहित जीवों में सब सूक्ष्मकायवालों में और तेजोकाय १ वायुकायवाले २ सासादननामा दूसरा गुणस्थान नहीं होता। इसका कारण काल का थोड़ा होना है सो पहले कह चुके हैं। इसलिये तेजकाय तथा वायुकाय-वालों के एक मिथ्यादृष्टि ही गुणस्थान समझना और त्रसकाय की रचना, गुणस्थानों की तरह समझना। योग मार्गणा में मनोयोग तथा वचनयोग की रचना गुणस्थानों की तरह जाननी और औदारिक काय योग में मनुष्यगति की तरह रचना जानना।

औदारिक मिश्रकाय योग में औदारिक काय योग की तरह रचना जानना। विशेष बात यह है कि देवायु नरकायु आहारक शरीर १ आहारक आंगोपांग २, नरकगति १ नरक गत्यानुपूर्वी २, इन छह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। अर्थात् यहाँ पर ११४ का ही बन्ध होता है। उसमें भी मिथ्यात्व तथा सासादन इन दो गुणस्थानों में देवचतुष्क और तीर्थंकर इन ५ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। किन्तु अविरतनामा चौथे गुणस्थान में इनका बन्ध होता है।

औदारिक मिश्र काय योग में मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानों में १५ तथा २९ प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति क्रम से जानना और चौथे अविरत गुणस्थान में ऊपर की चार तथा ६५ दूसरी सब ६९ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है। तथा तेरहवें सयोगी केवली के एक सातावेदनीय की ही व्युच्छित्ति जानना।

काय योग में देवगति के समान जानना और वैक्रियिकमिश्रकाय योग में सौधर्म ऐशान सम्बन्धी अपर्याप्त देवों के समान व्युच्छित्ति कही है। परन्तु इस मिश्र में मनुष्यायु और तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता। और आहारक काय योग में छठे गुणस्थान के समान रचना जानना। लेकिन आहारक मिश्र योग में देवायु का बन्ध नहीं होता है।

कार्माणकाययोग की रचना औदारिकमिश्र की तरह जानना। परन्तु विग्रहगति में आयु का बंध न होने से मनुष्यायु तथा तिर्यञ्चायु इन दोनों का भी बंध नहीं होता और चौथे असंयत गुणस्थान में नौ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है, इतनी विशेषता है। वेद मार्गणा से लेकर आहार मार्गणा तक जैसा साधारण कथन गुणस्थानों में है वैसा ही जानना।

परन्तु सम्यक्त्वमार्गणा तथा लेश्यामार्गणा की रचना में से शुभ लेश्याओं में और आहारमार्गणा में कुछ विशेषता है सो कहते हैं।

विशेषता यह है कि सम्यक्त्व मार्गणा में निश्चय से सभी अर्थात् दोनों ही उपशमसम्यक्त्वी जीवों के मनुष्यायु और देवायु का बंध नहीं होता और लेश्यामार्गणा में तेजोलेश्यावाले के मिथ्यात्व गुणस्थान की अन्त की नौ तथा पद्मलेश्यावाले के मिथ्यात्वगुणस्थान की अन्त की बारह प्रकृतियों का बंध नियम से नहीं होता। शुक्ल लेश्या वाले के शतारचतुष्क (तिर्यंच गति वगैरह जो ११२ वीं गाथा में कह चुके हैं) और वाम अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त की बारह सब मिलकर १६ प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। और आहारमार्गणा में अनाहारक अवस्था में कार्माण योग के समान बन्ध-व्युच्छित्ति आदिक तीनों की रचना समझ लेना।

इस प्रकार बंध की व्युच्छित्ति, बन्ध और अबन्ध इन तीनों का स्वरूप आगे मूल प्रकृतियों के सादि वगैरह बन्ध के भेदों को विशेषपने से कहते हैं:—

छह कर्मों का प्रकृतिबन्ध सादि १ अनादि २ ध्रुव ३ अध्रुव ४ रूप चारों प्रकार का होता है। परन्तु तीसरे वेदनीय कर्म का बन्ध तीन प्रकार का होता है, सादि बन्ध नहीं होता और आयु कर्म का अनादि तथा ध्रुव बन्ध के सिवाय दो प्रकार का अर्थात् सादि और अध्रुव ही बन्ध होता है।

आगे इन बन्धों का स्वरूप कहते हैं: —

जिस कर्म के बन्ध का अभाव होकर फिर वही कर्म बाँधे उसे सादि बन्ध कहते हैं। जैसे किसी जीव के दसवें गुणस्थान तक ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियों का बन्ध था, जब वह जीव ग्यारहवें में गया तब बन्ध का अभाव हुआ, पीछे ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर फिर दसवें में आया तब ज्ञानावरणी की पांच प्रकृतियों का पुनः बन्ध हुआ, ऐसा बन्ध सादि कहलाता है और जो गुणस्थानों की श्रेणी पर ऊपर को नहीं चढ़ा अर्थात् जिसके बन्ध का अभाव नहीं हुआ वह अनादि बन्ध है। जैसे दसवें तक ज्ञानावरण का बन्ध दसवें गुणस्थान वाले ग्यारहवें में जब तक प्राप्त नहीं हुआ वहाँतक ज्ञानावरण का अनादि

बन्ध है, क्योंकि वहाँ तक अनादि काल से उसका बन्ध चला आता है। जिस बन्ध का आदि तथा अन्त न हो वह ध्रुव बन्ध है--यह बन्ध अभव्य जीव के होता है। जिस बन्ध का अंत आ जावे उसे अध्रुव बन्ध कहते हैं। यह अध्रुव बन्ध भव्य जीवों के होता है।

आगे उत्तर प्रकृतियों में इन चार बन्धों की विशेषता दिखाते हैं:—

मोहनीय के बिना तीन घातिया कर्मों की १६ प्रकृतियाँ और मिथ्यात्व तथा १६ कषाय एवं भय तैजस और अगुरुलघु का जोड़ा अर्थात् भय १. जुगुप्सा २. तैजस १ कार्माण २, अगुरुलघु, १ उपघात २, तथा निर्माण; और वर्णादि चार ये ४७ प्रकृतियां ध्रुव हैं। इनका चारों प्रकार का बन्ध होता है। जब तक इनके बन्ध की व्युच्छित्ति (बिछुड़ना) न हो तब तक इन प्रकृतियों का प्रति समय निरन्तर बन्ध होता ही रहता है, इस कारण इनको ध्रुव कहते हैं। इनके बिना जो बाकी वेदनीय की २ मोहनीय की ७ आयु की ४ और नाम कर्म की गति आदिक ५८ तथा गोत्र कर्म की २ ये ७३ प्रकृतियाँ हैं अध्रुव हैं। इनके सादि और अध्रुव दो ही बन्ध होते हैं। इनका किसी समय बन्ध होता है और किसी का बन्ध नहीं भी होता।

आगे इन प्रकृतियों के अप्रतिपक्षी १ सप्रतिपक्षी २ (विरोधी) इन दो भेदों को बताते हैं:--

पहले कही हुई ४७ ध्रुव प्रकृतियों से बाकी बची हुई ७३ प्रकृतियों में से तीर्थंकर, आहारक शरीरद्वय अर्थात् आहारकशरीर आहारक आंगोपांग, परघात आदि चार और चारों आयु, ये ग्यारह प्रकृतियां अप्रतिपक्षी हैं। अर्थात् इनकी कोई प्रकृति विरोधी नहीं है। जिस समय में इनका बंध होता है उस समय में वह होता ही है। यदि न होवे तो नहीं ही होता। जैसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध जिस समय होना चाहे उस समय उसका बंध होगा ही, न होना चाहे तब नहीं होगा। इस प्रकृति की कोई विरोधी प्रकृति नहीं जो कि इसके बंध को रोक लेवे। भावार्थ जिन प्रकृतियों के बन्ध होने को भी दूसरी प्रकृति का बन्ध रोक न सके उनको अप्रतिपक्षी कहते हैं। ७३ में से ११ घटाने पर बाकी रही ६२ प्रकृतियां उनमें आपस में विरोधीपना होने से वे सप्रतिपक्षी हो जाती हैं।

जैसे कि सातावेदनीय, असातावेदनीय, ये दोनों आपस में प्रतिपक्षी हैं। सो जिस समय साता का बंध होता है उस समय असाता का नहीं होता और जब असाता का बंध होता है तब साता का नहीं होता। इसी तरह रति अरति आदि सभी परस्पर विरोधी प्रकृतियों में सप्रतिपक्षीपना समझ लेना।

आगे अध्रुव प्रकृतियों का पहले सादि तथा अध्रुव ये दो ही प्रकार का जो बंध कहा है उसका कारण युक्तिपूर्वक बताते हैं:—

तीर्थंकर आहारकद्वय, नरकादि चार आयु इन सातों के निरन्तर बंध होने का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और शेष छ्यासठ प्रकृतियों के निरन्तर बन्ध होने का काल एक समय (क्षण) है। अर्थात् जिसका किसी एक समय में बंध हुआ फिर दूसरे समय में उस प्रकृति का बन्ध होवे भी नहीं भी होवे। इस कारण ध्रुव से बाकी रही ७३ अध्रुव प्रकृतियों के सादि बन्ध तथा अध्रुव बन्ध दो ही भेद कहे गये हैं सो सिद्ध हुआ।

आगे स्थिति बन्ध को कहते हुए आचार्य प्रथम ही मूल प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं:—

तीन घातियों की अर्थात् ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ अन्तराय की और तीसरे वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा कोड़ी सागर के प्रमाण है। नाम और गोत्र इन दोनों की स्थिति (काल की मर्यादा) सत्तरि कोड़ा कोड़ी सागर है और आयु कर्म की स्थिति शुद्ध तेतीस सागर की ही जानना। अर्थात् एक समय में बन्धे हुए अधिक से अधिक ऊपर लिखे हुए काल तक कर्म आत्मा से बन्धरूप रह सकते हैं। फिर अपना फल देकर खिर जाते हैं। नवीन २ कर्म बन्धरूप होते ही रहते हैं।

उत्तर प्रकृतियों में से दुःख अर्थात् असाता वेदनीय १ और ज्ञानावरण २ दर्शनावरण २ अन्तराय ३ इन तीन घातिया कर्मों की १९ प्रकृतिया सब मिलकर २० प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध ओघ अर्थात् सामान्य मूलप्रकृति की तरह तीस कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है। सातावेदनीय, स्त्रीवेद और मनुष्यगति १ मनुष्यगत्यानुपूर्वी २ ये दो, इस तरह चार प्रकृतियों का उससे आधार अर्थात् पन्द्रह कोड़ा कोड़ी सागर स्थिति का प्रमाण है। दर्शन मोहनीय रूप एक मिथ्यात्व का सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है, चारित्र मोहनीय रूप सोलह कषायों का चालीस कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है। और ६ संस्थान तथा ६ संहनन में चरम अर्थात् अन्त का हुंडक संस्थान और सृपाटिका-संहनन इन दोनों का मूलप्रकृति की तरह बीस कोड़ा कोड़ी सागर है। और बाकी के ४ संस्थान तथा ४ संहननों में दो दो सागर पहले २ तक कम करना चाहिये। अर्थात् वामन संस्थान और कीलितसंहनन का १८,कुब्जकसंस्थान और अर्धनाराचसंहनन का १६, स्वातिसंस्थान और नाराचसंहनन का १४, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान और वज्रनाराच-संहनन का १२, समचतुरस्रसंस्थान और वज्रर्षभनाराच संहनन का १०, कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। विकलेन्द्री अर्थात् दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्री और सूक्ष्मादि तीन इस तरह ६

प्रकृतियों का अठारह कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध है। अरति, शोक, नपुंसकवेद, तिर्यञ्च, भय नरक तैजस औदारिक इन पाँच का जोड़ा अर्थात् तिर्यंचगति १ तिर्यंचगत्यानुपूर्वी २ इत्यादि, वैक्रियिक आतप इन दो का जोड़ा नीच गोत्र त्रस वर्ण अगुरुलघु इन तीनों की चौकड़ी अर्थात् त्रस १ बादर २ पर्याप्त ३ प्रत्येक इत्यादि।

एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रीस्थावर, निर्माण, असद्गमन अर्थात् अप्रशस्तविहायोगति और अस्थिरादि छह इस तरह ४१ प्रकृतियों का बीस कोड़ा कोड़ी सागर उत्कृष्टस्थिति बन्ध है। हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिरआदिक छह प्रशस्त गमन अर्थात् प्रशस्तविहायोगति देवद्विक अर्थात् देवगति १, देवगत्यानुपूर्वी २, इन तेरह प्रकृतियों का उससे आधा अर्थात् दस कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है। आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति इन तीनों का अन्त कोड़ा कोड़ी अर्थात् कोड़ि से ऊपर और कोड़ा कोड़ी से नीचे इतने सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है। देवायु और नरकायु इन दोनों का मूलप्रकृति की तरह ३३ सागर प्रमाण है, और मनुष्यायु तथा तिर्यंचायु इन दोनों का तीन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बंध कहा है। तीन शुभ आयु के सिवाय शेष कर्मों का यह उत्कृष्ट स्थिति बंध सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के उसमें भी योग्य जीव के ही होता है, हर एक के नहीं होता।

Prakritisthityanubhagapradesabhedat tu chaturvidhah bandhah.
Yogat prakritipradesau sthity anubhagau kasayatah bhavanti.—(33).

Padapatha—बन्धो Bandho, Bandha. पयडिट्ठिदि अणुभागप्देसभेदा Payaditthidi-anubhagappadesabheda, according to the subdivisions, Prakriti, Sthiti, Anubhaga and Pradesa. चदुविधो Chaduvidho, is of four kinds. पयडिपदेसा Payadi-padesa, Prakriti and Pradesa. जोगा Joga, from Yoga. होंति. Honti, are. दु Du, but. ठिदिअनुभागा Thidianubhaga, Sthiti and Anubhaga कसायदो Kasayado, from Kasaya.

33. Bandha is of four kinds, according to the (subdivisions, viz.) Prakriti, Anubhaga and Pradesa. Prakriti and Pradesa are (produced) from Yoga, but Sthitiand Anubhaga are from Kasaya.

COMMENTARY

When there is an influx of matter into the soul, certain energies (Karma) are produced which consist of bondage of the soul with matter. It has been stated before (see page 216) that Karmais

of eight kinds Jnanavaraniya, Darsanavaraniya, Vedaniya, Mohaniya, Ayu, Nama, Gotra and Antaraya. What is the nature of each of these eight kinds of Karma ? The nature of the first two kinds of Karma is to obscure Jnana and Darsana respectively ; that of the third to produce happiness or misery ; that of the fourth to produce illusion ; that of the fifth to attach a soul to a body for a certain period' that of the sixth to produce shape ' that of the seventh to cause birth in high and low families ; and that of the eighth to put obstacles to several characteristics of the soul. Now, all these are the different natures (Prakritis) of Karma. Bandha or bondage can also be regarded to be of various natures, corresponding to the different natures of Karmas. The first variety of Bandha or bondage is, therefore, with respect to its Prakriti or nature.

Now, the time during which the various kinds of Karma will stay in a soul, is called its Sthiti or duration. Bandha or bondage also has a duration equal in extent with the duration of Karmas. The second variety of Bandha is, therefore, recognised with respect to this duration (Sthiti).

Karmas may be of intense, mediocre or mild degrees, as regards the results which these may produce. Bandha or bondage also may be of these three degrees of intensity. We therefore recognise the third variety of Bandha, with regard to its Anubhaga (Intensity).

The fourth variety of Bandha is with regard to its Pradesa (or mass). The Karmas interpenetrate Pradesas of the soul and attach themselves to the same. Considering this existence of Karma and soul in one place, we speak of the fourth variety of Bandha with respect to its mass (Pradesa).

Umasvami has also mentioned these four varities of Bandha* In Vardhamana Purana we have : "Bandha which is of an evil

* "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।"

(तत्वार्थाधिगमसूत्रम् । ८ । ३ ।)

nature and productive of all evils is of four kinds, viz., Prakriti, Sthiti, Anubhaga and Pradesa."† Harichandra and Viranandi also mention the same.*

In a word, we consider bondage with respect to its nature (Prakriti), duration (Sthiti), intensity (Anubhaga) and mass (Pradesa).

The nature (Prakriti) and mass (Pradesa) of bondage result from the activities of thought, speech and body, while the duration of bondage (Sthiti) and intensity (Anubhaga) result from the attachment and aversion of the soul towards worldly objects. In other words, Kasaya or attachment and aversion of the soul towards worldly objects is the Antaranga (internal) cause of bondage, and determines the duration and intensity of it; while the activities of mind, speech and body are the Vahiranga (external) cause of the bondage and determines its nature and mass. In Panchastikaya-samaya-sara also we have a similar idea.‡

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अरणो ॥ ३४ ॥

---

† "प्रकृतिस्थितिबंधोऽनुभाग: प्रदेश-संज्ञक: ।
इति चतुर्विधो बंध: सर्वानर्थकरोऽशुभ: ।।"
(वर्द्धमानपुराणम् । १६ । ४५ ।)

* "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशानां विभेदत: ।
चतुर्विध: प्रणीतोऽसौ जैनागमविचक्षणै: ।"
(धर्मशर्माभ्युदयम् । २१ । १०८ ।)

"विभेदात् प्रकृतिस्थित्योरनुभागप्रदेशयो: ।
जिनागमनदीस्नानैर्विज्ञेय: स चतुर्विध: ।।"
(चन्द्रप्रभचरितम् । १८ । ६७ ।)

‡ "जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ।।
(Verse 148.)

अन्वय—(चेदण परिणामो जो) शुद्ध चैतन्य अनुयायी रत्नत्रयात्मक जीव का परिणाम (कम्मस्सासव) ज्ञानावरणादिक कर्म के योग्य कार्मण वर्गणा रूप स्कन्द से पुद्गल द्रव्य कर्म का आना (णिरोहणे हेऊ) आस्रव निरोधन का हेतु अनुपचरिता-ऽसद्भूत व्यवहार नय के कारण भूत है। (सो) उस सम्यक्त्वादि का परिणाम (भाव-संवरो) भाव संवर है और (खलु) निश्चय से (दव्वासव रोहणे) द्रव्य कर्मास्रव से रहित (अण्णो) द्रव्य संवर है। निश्चय नय से रागादि रहित होने के कारण निर्मल, स्वयं सिद्ध होने के कारण निरपेक्ष, ज्ञानमय होने के कारण स्व-पर प्रकाशक तथा व्यग्रता रहित होने के कारण सहज सुख निधान है। निरास्रवस्वभाव मय होने से कर्म संवर के कारण निजात्मस्वरूप में तन्मय होनेवाला परिणाम कर्म संवर है।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस गाथा में भाव संवर व द्रव्य संवर का विवेचन इस प्रकार किया है कि जो चेतना परिणाम कर्म-आस्रव को रोकने का कारण है, वह निश्चय से भाव संवर है। द्रव्य कर्मों के आस्रव का निरोध होने पर दूसरा द्रव्य संवर होता है। वह इस प्रकार है—निश्चयनय से स्वयं सिद्ध होने से अन्य कारण की अपेक्षा से रहित, अविनाशी होने से नित्य, परम प्रकाश स्वभाव होने से स्व-पर प्रकाशन में समर्थ, अनादि अनन्त होने से आदि मध्य और अन्तरहित, देखे सुने और अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध आदि समस्त रागादिक विभावमल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल, परम चैतन्य विलासरूप लक्षण का धारक होने से चित्-चमत्कार स्वरूप, स्वाभाविक परमानन्दस्वरूप होने से परम सुख की मूर्ति और आस्रवरहित-सहज-स्वभाव होने से सब कर्मों के रोकने में कारण, जो परमात्मा है उसके स्वभाव से उत्पन्न जो शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसंवर है और कारणभूत भावसंवर से उत्पन्न हुआ जो कार्य रूप नवीन द्रव्य-कर्मों के आगमन का अभाव है सो द्रव्य संवर है, यह गाथार्थ है।

अब संवर के विषय में नयों का विभाग कहते हैं—मिथ्यात्वगुण-स्थान से क्षीण-कषाय (बारहवें) गुणस्थान तक ऊपर ऊपर मन्दता के तारतम्य से अशुद्ध निश्चय वर्त्तता है और उसके मध्य में गुणस्थानों के भेद से शुभ अशुभ और शुद्ध अनुष्ठानरूप तीनों योगों का व्यापार रहता है, सो कहते हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर २ मन्दता से अशुभ उपयोग रहता है, यानी जो अशुभोपयोग प्रथम गुणस्थान में है, उससे कम दूसरे में और दूसरे से कम तीसरे में है। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्त नामक जो तीन गुणस्थान हैं इनमें परम्परा से शुद्ध-उपयोग का साधक ऊपर २ तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है।

तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय तक ६ गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एक देश शुद्ध नयरूप शुद्ध उपयोग वर्त्तता है। इनमें से मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुणस्थान में तो संवर है ही नहीं और सासादन आदि गुणस्थानों में—

सोलसपण वीसणभं दस चउछक्केक्क बंधवोछिण्णा
दुगतीस चदुरपुव्वे पणसोलह जोगिणो एक्को ॥ १ ॥

यानी—मिथ्या दृष्टि आदि गुण स्थान में क्रम से १६–२५–०–१०–४–६–१ प्रकृति की बन्धव्युच्छित्ति होती है। आठवें गुणस्थान के पहले भाग में २, छठे भाग में ३०, सातवें भाग में ४ फिर नौवें आदि गुणस्थानों में क्रम से ५–१६–०–० और तेरहवें गुणस्थान में १ प्रकृति की बन्धव्युच्छित्ति होती है। इस प्रकार बन्धविच्छेद त्रिभंगी में कहे हुए कर्म के अनुसार ऊपर २ के गुणस्थानों में अधिकता से संवर जानना चाहिए। ऐसे अशुद्ध निश्चय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ शुद्धरूप तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया।

शंका—इस अशुद्ध निश्चयनय से शुद्ध उपयोग किस प्रकार सिद्ध हो सकता है?

उत्तर—शुद्ध उपयोग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो स्व-आत्मा है सो ध्येय होता है, इस कारण शुद्ध ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होने से शुद्ध अवलम्बनपने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है और वह संवर इस शब्द से कहे जाने योग्य शुद्धोपयोग संसार के कारणभूत जो मिथ्यात्व, राग आदि अशुद्ध पर्याय है उनकी तरह अशुद्ध नहीं होता तथा फलभूत केवलज्ञान-स्वरूप शुद्ध-पर्याय की भांति शुद्ध भी नहीं होता, किन्तु उन अशुभ तथा शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्ध आत्मा के अनुभवस्वरूप निश्चय रत्नत्रयरूप, मोक्ष का कारण, एक देश में प्रकटरूप और एक देश में आवरणरहित ऐसा तीसरा अवस्थान्तररूप कहा जाता है।

यहां कोई शंका करता है—कि केवलज्ञान समस्त आवरण से रहित और शुद्ध है इसलिए केवलज्ञान का कारण भी समस्त आवरणों से रहित तथा शुद्ध होना चाहिए क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है ऐसा वचन है? इस शंका का उत्तर यह है कि आपने ठीक कहा, किन्तु उपादान कारण भी सोलहवान सुवर्णरूप कार्य के पूर्ववर्तिनी वर्णिकारूप उपादान कारण के समान और मिट्टी रूप घट कार्य के प्रति मिट्टी का पिण्ड, स्थास, कोश, तथा कुशूलरूप उपादान कारण के समान कार्य से एक देश से भिन्न होता है, यानी सोलहवान सोने के प्रति जैसे पूर्व की सब पन्द्रह वर्णिकायें उपादान कारण हैं सो सोलहवानी सुवर्ण और घटरूप कार्य से एक देश भिन्न है,

(बिलकुल सोलहवान सुवर्णरूप तथा घटरूप नहीं है) इसी तरह सब उपादान कारण कार्य से एकदेश भिन्न होते हैं। यदि सर्वथा उपादान कारण का कार्य के साथ अभेद हो तो सुवर्ण और मिट्टी के दो दृष्टान्त हैं उनके समान कार्य और कारणभाव सिद्ध नहीं होता। इस कारण सिद्ध हुआ है कि एकदेश निरावरणता से क्षायोपशमिक ज्ञानरूप लक्षण का धारक एकदेश व्यक्तिरूप और विवक्षित एक देश में शुद्ध नय की अपेक्षा संवर शब्द से वाच्य जो शुद्ध उपयोग स्वरूप मुक्ति का कारण होता है और जो लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीव में नित्य-उद्घाटित यानी सदा उदीयमान तथा आवरणरहित ज्ञान सुना जाता है वह भी सूक्ष्म निगोद में ज्ञानावरण कर्म का जघन्य जो क्षयोपशम है उसकी अपेक्षा से आवरणरहित है, सर्वथा नहीं है। प्रश्न—ऐसा क्यों है? इसका उत्तर यह है कि यदि उस जघन्य ज्ञान का भी आवरण हो तो जीव का अभाव हो जायगा। वास्तव में तो उपरिवर्ती क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा और केवल ज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान भी आवरणसहित है तथा संसारी जीवों के क्षायिक ज्ञान का अभाव है इसलिए निगोदिया का वह ज्ञान क्षायोपशमिक ही है और यदि नेत्र पटल के एकदेश में निरावरण के समान वह ज्ञान केवलज्ञान का अंशरूप हो तो उस एकदेश से भी लोक तथा अलोक का प्रत्यक्ष हो जाय यानी लोक अलोक प्रत्यक्ष में जान पड़े, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। किन्तु अधिक बादलों से आच्छादित सूर्य के बिम्ब के समान अथवा निबिड़ नेत्रपटल के समान वह निगोदिया का निरावरण कहा जानेवाला ज्ञान सबसे थोड़ा जान पड़ता है, यह तात्पर्य है।

अब क्षयोपशम का लक्षण कहते हैं—सब प्रकार से आत्मा के गुणों को आच्छादन करने वाली जो कर्मों की शक्तियां है उनको सर्वघातिस्पर्द्धक कहते हैं और विवक्षित एकदेश से जो आत्मा के गुणों को अच्छादन करने वाली कर्मशक्तियां हैं वे देशघातिस्पर्द्धक कहलाती हैं। सर्वघातिस्पर्द्धकों का जो अस्तित्व है वह उपशम कहलाता है। सर्व घातिस्पर्द्धकों के उदय का अभावरूप क्षय सहित उपशम और उन एकदेश घातिस्पर्द्धकों का उदय होना सो ऐसे तीन प्रकार के समुदाय से क्षयोपशम कहा जाता है। क्षयोपशम में जो हो वह क्षायोपशमिक भाव है। अथवा देशघातिस्पर्द्धकों के उदय के होते हुए भी जीव जो एकदेश ज्ञानादि गुण प्राप्त करता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त सूक्ष्म निगोद जीव में ज्ञानावरण कर्म के देशघातिस्पर्द्धकों का उदय होने के कारण एकदेश से ज्ञान गुण होता है इस कारण वह ज्ञान क्षायोपशमिक है, क्षायिक नहीं, क्योंकि, वहां कर्म का एकदेश में उदय का सद्भाव है। यहां सारांश यह है कि यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षण का धारक क्षायोपशमिक ज्ञान

मुक्ति का कारण है तथापि ध्यान करनेवाले पुरुष को नित्य सकल-आवरणों से रहित, अखण्ड, एक सकल विमल-केवल ज्ञानरूप परमात्मा का स्वरूप है, सो ही मैं हूँ, खण्ड ज्ञानस्वरूप नहीं हूँ ऐसा ध्यान करना चाहिये। इस तरह संवर तत्व के व्याख्यान में नय का विभाग जानना चाहिए॥३४॥

अब आगे संवर भावना का वर्णन करते हैं।

Chetana-parinamah yah karmanah asravanirodhane hetuh,
Sa bhavasamvarah khalu dravyasrava-rodhane anyah—(34).

Padapatha.—जो Jo, which. चेदणपरिणमो Chedanaparinamo, the modification of consciousness. कम्मस्स Kammassa, of Karma. आसवणिरोहणे Asavanirohane, in checking Asrava. हेऊ Heu, the cause सो So, that. खलु Khalu, surely. भावसंवरो Bhava-samvaro, Bhava-samvara. दव्वासवरोहणे Davvasava-rohane, in checking Dravyasrava. अण्णो Anno, the other.

34. That modification of consciousness which is the cause of checking Asrava (influx) of Karma, is surely Bhavasamvara, and the other (known as Dravyasamvara is known from) checking Dravyasrava.

COMMENTARY

Samvara is the antagonistic principle of Asrava. ❀ The word is thus derived : that which checks the causes of Karma, such as killing, etc. (i.e., that which stopes Asrava, is known to be Samvara. ‡ Those by which the water of Karma is prevented from entering the pond of self, are known as Samvaras, Samvaras are refraining from killing, etc.+

❀ 'आस्रवप्रतिपक्षभूत: संवर: ।"

[Commentary on Sthananga, Adhayana I.]

‡ "संव्रियते कर्मकारणं प्राणातिपातादि निरुध्यते येन परिणामेन स संवरः, आस्रव-निरोध इत्यर्थः ।"

[Commentary on Sthanaga. I.]

+ "संव्रियते निरुध्यते आत्मतडागे कर्मजलं प्रविशत् एभि: इति संवरा: प्राणातिपात-विरमणादय: ।"

(Commentary on Prasnavyakarana. I.)

To be more explicit, Asrava being the influx of Karma, through some openings (as we have seen before), Samvara is the stoppage of these opinings leading to the stoppage of Asrava. To use our old illustration, the holes will allow influx (Asrava) of water (Karma) in a boat (Jiva) ; but if these holes be stopped (Samvara), there will be no advent of water (Karma) in the boat (Jiva).

As there are two kinds of Asravas, so two kinds of Samvaras are also recognised as opposite principles to each of these kinds of Asrava. These are called Bhava-samvara and Dravya-samvara, as opposed to Bhavasrava and Dravyasrava, respectively. Abhayadeva Acharya has said that Bhavasamvara is the stoppage of the inlets of senses through which Karma enters the soul, and Dravyasamvara is the stoppage, for example, of holes through which water enters a boat.* In Vardhamana Purana we have : "That modification of consciousness which is void of attachment and aversion, and by which the influx of Karmas is stopped, is called Bhava-samvara." And "that by which the Yogis stop all kinds of influx through the great vows and meditation is called Dravya-samvara."†

These are the two principal varieties of Samvara, but the first variety, viz, Bhavsamvara is, again, subdivided into many classes which will be described in the following verse.

---

* "अथवा यद् द्विधा द्रव्यतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतो जलमध्यगतनावादेरनवरतप्रविशज्जलानां छिद्राणां तथाविधद्रव्ये स्थगनं संवरः। भावतस्तु जीवद्रोण्यामास्रवत्-कर्मजलानामिन्द्रियादि-छि द्राणां समित्यादिना निरोधनं संवर इति।"

(Commentary on Sthananga.)

† "चैतन्यपरिणामो यो रागद्वेषातिगो महान्।
कर्मास्रवनिरोधस्य हेतुः स भावसंवरः॥"
"सर्वास्रव-निरोधो यः क्रियते तेन योगिभिः।
महाव्रतादि-सद्ध्यानैर्द्रव्याख्यः स सुखाकरः॥"

(Vardhamana Purana XVI. 67-68.)

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ ३५ ॥

अन्वय—(वदसमिदीगुत्तीओ) व्रत समिति गुप्तियाँ (धम्माणुपेहा) धर्म और अनुप्रेक्षा (परिसहजओ य) और परीषहों का जीतना। (चारित्तं बहुभेया) अनेक प्रकार का चारित्र (णायव्वा भावसंवर विसेसा) के ये सब मिल कर भाव संवर के भेद जानने चाहिए।

विवेचनः—ग्रन्थकार ने इस गाथा में भाव संवर का वर्णन किया है। ५ व्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा परीषह जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस तरह ये सब भाव संवर के भेद जानने चाहिये। निश्चय नय की अपेक्षा से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के धारक निज-आत्म तत्व की भावना से उत्पन्न सुख रूपी अमृत के आस्वाद के बल से सब शुभ, अशुभ रागादि विकल्पों से रहित होना व्रत है। व्यवहार नय से उस निश्चय व्रत को साधने वाला हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से जीवन भर त्याग रूप ५ प्रकार का व्रत है। निश्चय नय की अपेक्षा अनन्त ज्ञानादि स्वभाव धारक निज आत्मा है, उसमें भली प्रकार अर्थात् समस्त रागादि विभावों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना आत्मा का चिन्तन करना या उसमें तन्मय होना इत्यादि रूप से जो अयन कहिये गमन अर्थात् परिणमन है सो समिति है। व्यवहार से उस निश्चय समिति के बहिरंग सहकारी कारणभूत और मूलाचार आदि चारित्र विषयक ग्रन्थों में कही हुई ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपणा और उपसर्ग ये पांच समितियां है। निश्चय से सहजशुद्ध आत्म-भावना रूप गुप्त स्थान में संसार के कारणभूतरागादि के भय से अपने आत्मा का जो छिपाना, प्रच्छादन, झंपन, प्रवेशन या रक्षा करना है सो गुप्ति है। व्यवहार नय से बहिरंग साधन के अर्थ जो मन, वचन, काय की क्रिया को रोकना है सो गुप्ति है। निश्चय से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे यानी बचावे सो विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षण निज शुद्ध आत्मा की भावना स्वरूप धर्म है।

व्यवहार नय से उसके साधन के लिये इन्द्र चक्रवर्ती आदि का जो बन्धने योग्य पद है उसमें पहुँचानेवाला उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य रूप १० प्रकार के धर्म हैं।

अब व्रत का स्वरूप कहते हैं:—

पांच अणुव्रत, ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षा व्रत को बारह व्रत कहते हैं । ६ प्रकार के जीवों को किसी प्रकार का कष्ट न हो यत्नाचार पूर्वक सभी प्राणियों को बचाने के लिये हमेशा प्रयत्न करना तथा सावधान रहकर उन जीवों पर अनुकम्पा रखते हुए हिंसा आदि से विरक्त होना, रागद्वेषादि दुर्भाव के कारण जीवों को बाधा पहुंचाने वाले झूठ, चोरी, कुशील आदि कुकर्मों का त्याग करना चाहिये । जीवों को बाधा हो ऐसा झूठ बोलना, किसी की गिरी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी का भाव रखना या बिना पूछे किसी की रक्खी हुई चीज को उठा लेना चोरी कहलाता है ।

देवी, मनुष्यों तथा तिर्यंचनी स्त्रियों के दीवाल कागज तथा काष्ठ के ऊपर लेपादि द्वारा खींचे हुए चित्र के प्रतिबिम्ब को देखकर मन में विकार भावना न होना उन्हें माता बहिन बेटी के भाव से देखना तथा अपने आत्म स्वरूप में रमण करना ब्रह्मचर्य है। गृहस्थाश्रम में विवश होकर संचित किये हुए विविध भांति के बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग करना अपरिग्रह व्रत कहलाता है ।

देव, गुरु, शास्त्र के लिए तथा तीर्थ यात्रा करने के लिये प्रासुक मार्ग से चार हाथ जमीन को अच्छी तरह से देखकर दिन में धीरे २ गमन करना ईर्या समिति है ।

४६ दोषों को टाल कर परिणाम की शुद्धि के साथ श्रावक के द्वारा दिये हुए शुद्ध आहार के सरस-विरस का ध्यान न रखकर परम समरसी भावना से ग्रहण करना एषणा समिति कहलाता है ।

आदान निक्षेपण समितिः—ज्ञान, संयम के शौचोपकरण इत्यादि निमित्त वस्तुओं को अच्छी तरह देख-भाल कर रखना, जीव जन्तु को देख-भाल करके रखना, उठाना तथा सूक्ष्म प्राणियों को किसी प्रकार की पीड़ा न हो इस भावना से सुकोमल पीछी के द्वारा शोध करके सावधानी के साथ रखने या उठाने को आदान निक्षेपण समिति कहते हैं ।

उत्सर्ग समितिः—गांव के बाहर मैदान में जाकर किसी निर्जन स्थान में रहने वाले जीव जन्तुओं को अच्छी प्रकार से देख-भाल कर मल मूत्र विसर्जन करना उत्सर्ग समिति है ।

मनोगुप्तिः—बाह्य इन्द्रिय वासना की तरफ दौड़ने वाले चंचल मन को नियन्त्रण करके उससे कर्म क्षय होने योग्य अरहन्त आदि पंचपरमेष्ठीयों के गुणों की तरफ भावन लगाकर क्रम से निश्चय निजानन्द चिदानन्दैकस्वरूप निजात्म भावना में मन को स्थिर करना मनोगुप्ति है ।

वचन गुप्तिः—पाप रूपी अप्रशस्त विकथा को त्याग कर मौन धारण करना वचन-गुप्ति है।

काय गुप्तिः—चलते समय, बैठते समय, सोते समय, हाथ पैर हिलाते समय, तथा जंभाई लेते समय, शरीर को अकड़ते समय, जीव जन्तु को किसी प्रकार की बाधा न हो या हाथ पांव हिलते समय सावधान होकर प्रवर्तन करना काय गुप्ति है। इस प्रकार तीन गुप्तियों का स्वरूप निरूपण किया गया।

उत्तम क्षमाः—क्रूर अज्ञानी जीवों के द्वारा गाली गलौज देने पर अथवा उपसर्ग करने पर प्रकृष्ट आत्म भावना में स्थिर होकर किसी प्रकार से भी मनको हलचल न करना या कषाय के वश होकर क्रोध न करना उत्तम क्षमा है।

मार्दव—संपूर्ण प्राणियों के प्रति कोमल या मृदुभाव रखना उत्तम मार्दव है।

उत्तम आजवः—विज्ञान ऐश्वर्य ज्ञान, बल, गुण, तप, रूप, जाति आदि के ८ प्रकार के मदों को त्याग कर निर्विकार भाव से संयम धारण करना उत्तम आर्जव है।

उत्तम शौचः—अपने को प्राप्त किये शरीर आदि बाह्य वस्तुओं में लोभ न करना उत्तम शौच है।

उत्तम सत्यः—जिस वचन के उच्चारण करने से किसी भी जीव को कष्ट पहुंचे ऐसे वचनों को त्याग कर रत्नत्रय आराधक गुणों से सद्भाव तथा विनय पूर्वक वचन बोलना उत्तम सत्य है।

उत्तम संयम--पृथ्वी, जल, तेज, वायु वनस्पतिकायिक जीवों में किसी प्रकार की बाधा न हो अर्थात् मन, वचन व कायके द्वारा किसी को कुछ भी पीड़ा न पहुँचे तथा स्पर्श, रसना,घ्राण,चक्षु,श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों को इष्टानिष्ट विषयों से विरक्त होकर रागद्वेष को त्याग देना श्रुतांग भूत मनोज्ञ अमनोज्ञ आदि सुन्दर वस्तुओं में मन को न छोड़कर व्यवहार व निश्चय मोक्ष मार्ग में स्थिर करना प्राण संयम कहलाता है।

उत्तम तपः—१२ प्रकार के संयम अनशन आदि का विवेचन किया है। इसका विवेचन अन्य ग्रन्थ में विशद् रूप से किया गया है, सो देख लेना। इन १२ प्रकार के तप व संयम को क्रमशः अपनी २ शक्ति के अनुसार हर्ष पूर्वक पालन करना उत्तम तप कहलाता है।

उत्तम त्यागः—शरीरादिक बाह्य परिग्रहों का निर्विशेष रूप से त्याग करना उत्तम त्याग कहलाता है।

उत्तम आकिंचन्यः--त्याग किये हुए सम्पूर्ण परिग्रहों में मोहित न होना या पुनः

उसका विचार न करना अनादि निधन निज शुद्धात्म स्वरूप में मन को स्थिर करना उत्तम आकिंचन्य कहलाता है।

उत्तम ब्रह्मचर्य:—ऊपर कहे हुए चार प्रकार की स्त्रियों को मन, वचन काय के द्वारा त्याग देना तथा कृत कारित अनुमोदना से रहित रहकर निज आत्मा में रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है। इस प्रकार उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों का प्रतिपादन किया गया।

बारह भावना का निरूपण :—

द्वादशापि सदा चिंत्यमनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवत्येवं कर्मणः क्षयकारणं ॥ १ ॥
अध्रुवा शरणेचैव भवनैकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वंच तथैवास्रवसंवरौ ॥ २ ॥
निर्जरा च तथा लोको बोधि-दुर्लभ धर्मतः।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ ३ ॥
जातः पुष्टः पुनर्नष्टः इति प्राभृतां प्रथा।
नस्थितः इति तत्कुर्याः स्थायिन्यात्मन् पदे मतिम् ॥ ४ ॥
स्थायिनिक्षणमात्रं वा ज्ञायते नहिं जीवितं।
कोटेरप्यधिकंमतं जन्तुनां हिमनीषितं ॥ ५ ॥
अवश्यं यदिनश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरं।
स्वयं त्याज्यास्तथैवस्यात् मुक्ति संसृतिरन्यथाः॥६ ॥
अनश्वरसुखावाप्तौ सत्यांनश्वरकायतः।
किं वृथैव नमस्यात्मन् क्षणं वासः फलं नवा ॥७ ॥

अर्थ :—महात्माओं को सदा बारह अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करते रहना चाहिए। क्योंकि यह भावना ही कर्मों के नाश करने के लिए कारण होती है। महात्माओं को कर्मों के क्षय करने में समर्थ सदा बारह अनुप्रेक्षा की भावना करनी चाहिए। १।

आत्मा के अतिरिक्त संसार में समस्त वस्तुएं अध्रुव व क्षणिक हैं। अतः बुद्धिमान पुरुषों को सदा अखण्ड अविनाशी आत्मा का चिन्तन करते रहना चाहिए। २।

संसार में कर्मों की निजरा करने वाली बोधि दुर्लभ की प्राप्ति के लिए श्री जिनेन्द्र भगवान ने बारह भावना प्रतिपादन किया है ॥ ३ ॥

उत्पन्न होना, पुष्ट होना तथा नाश होना प्राणियों की प्रथा है। अतः एक आत्मा के अलावा अन्य किसी भी वस्तु में स्थिर बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। ४।

स्थायी आत्मा के अतिरिक्त शरीर की आयु को नहीं जाना जा सकता। करोड़ों यत्न करने पर भी जीवों की रक्षा नहीं हो सकती ॥ ५ ॥

स्थित होकर भी सांसारिक विषय यदि शीघ्र ही नष्ट होते हैं, तो हम लोगों को स्वयं उसे छोड़ कर मुक्ति की शरण लेनी चाहिए ॥ ६ ॥

नश्वर शरीर के द्वारा अविनाशी मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर लेना चाहिए, क्योंकि क्षणिक काया का क्या ठिकाना ? ॥७॥

सम्पूर्ण द्रव्य, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक होने से नित्य है किन्तु पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। ऐसा जानकर परमोपादेय शुद्धोपयोग समन्वित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नित्य निरंजन निजात्मा ही निश्चय नय से तीनों काल में निश्चित स्वरूप है। ऐसे शुद्धात्म द्रव्य को छोड़कर पर्याय परिवर्तन करने से बारह प्रकार के शारीरिक इन्द्रियों के उपभोग परिभोग आदि वस्तुएं इन्द्रधनुष, बादल, बिजली, ओस की बूँद तथा पानी के बुलबुले के समान क्षणिक व चंचल हैं। ये पदार्थ हमारी आत्मा के स्वभाव वाले नहीं हैं, इस तरह की भावना करना अध्रुव अनुप्रेक्षा है।

पयोधौ नष्टनौकस्य पतत्रैरिव जीविते ।
सत्यपाये शरण्यं न ततस्वस्थैः सहस्रदा ॥१॥
आयुधित्यैरतिस्निग्धैर्बन्धुभिश्चाभिसंसृतः ।
जन्तुसंरक्षमाणापि पश्यतामेव नश्यति ॥२॥
मंत्रतन्त्रादयोऽप्यात्मन् ! स्वतन्त्रशरणंनते ।
किन्तु तस्यैव पुण्यहीनो न चेत् केन मतैः स्थिताः ॥३॥

अर्थ—समुद्र के मध्य में नाव के डूब जाने पर हजारों यत्न करने पर भी जीवों का कोई शरण नहीं रह जाता ॥१॥

संसार में बन्धु आदि कुटुम्बी जनों का स्नेह शस्त्र से भी अधिक तीक्ष्ण है। संसार के अन्दर विविध भाँति से जन्तुओं की रक्षा करने पर भी देखते ही देखते वे नष्ट हो जाते हैं ॥२॥

हे आत्मन ! पुण्यहीन होने के पश्चात् तुम्हारा मंत्र तंत्रादिक कोई भी शरण नहीं है। अतः किसी अन्य में बुद्धि न करके केवल धर्म को ही अपनाओ ॥३॥

लोकोत्तर और लौकिक ऐसे दो प्रकार के शरण हैं। लोकोत्तर शरण अरहन्त आदि पंचपरमेष्ठियों के द्वारा जीवों के शरण हैं और उनके प्रतिबिम्ब आदि अजीव शरण हैं। ऋषि महर्षि और धर्मोपकरण आदि मिश्र शरण हैं। उनके निमित्त से शुद्धोपयोग की प्राप्ति होने से उसके कारण रूप अरहन्तादि पंचपरमेष्ठी व्यवहार नय से शरण हैं, किन्तु निश्चय नय से समस्त कर्मोपाधि से रहित और सम्पूर्ण शुद्धोपयोग से समन्वित अपना स्वात्म स्वरूप ही शरण है।

लौकिक शरणः—राजा चक्रवर्ती आदि जो प्रजाजनों की रक्षा करते हैं वह लौकिक शरण है तथा दुर्ग (किला) आदि अजीव शरण है। ये दोनों मिश्र शरण हैं। ऐसे जीवाजीवादि मिश्र विकल्पों से तीन भेद शरण हैं। शुभ कर्मोदय तीव्र होने से रक्षा निबन्धन होता है। बुद्धि से वृहस्पति कहलाता है। प्रहरण वज्र है, स्वर्ग ही दुर्ग है, देव गण ही सैनिक हैं तथा वाहन ही ऐरावत है जिसके ऐसे बलशाली देवेन्द्र को भी मरण समय में जब कोई शरण नहीं हुआ तो ऐसे क्षणिक शरण को अपनाने से अनन्त काल तक महान् दुःख प्राप्त होता रहेगा और उस दुःख से अपूर्व कर्म बन्ध होगा। उससे कभी भी सुखपूर्वक जीवन नहीं व्यतीत हो सकता, ऐसा विचार कर इन क्षणिक सुखों की आशा छोड़ देना अशरणानुप्रेक्षा है।

न दिवं नैकवेषेण भ्रमस्यात्मन् स्वकर्मतः।
तिरश्चि निरये पापा दिवि पुण्यद्वयान्नरे ॥१॥

पंचानन इवामोक्षादसिपंजरआहितः।
क्षणोऽपि दुस्सहे देहिन् हन्त कथं वसेः ॥२॥

तन्नास्ति यन्नवै युक्तं पुद्गलेषु मुहुस्त्वया।
तल्लेशस्तव किं तृप्त्यैर्विन्दुः पीताम्बुधेरिव ॥३॥

रिक्तोज्झितं तदुच्छिष्टं भोक्तुमेवात्सुकायसे।
अभुक्तं मुक्तिसौख्यं त्वमतुदं हन्त नेच्छसि ॥४॥

संसृतौ कर्मरागाद्यैस्ततः कायान्तरस्ततः।
इन्द्रियाणीन्द्रियद्वारा रागाद्याश्चक्रतं पुनः ॥५॥

सत्यनादौ प्रबन्धेऽस्मिन् कार्यकारणरूपके।
येन दुःखायसे नित्यमद्यवर्त्म विमुञ्च तत् ॥६॥

अर्थ:—हे आत्मन् । तू अपने कर्मानुसार पुण्य और पाप के द्वारा अहर्निशि तिर्यंच मनुष्य और देव गति में भ्रमण कर रहा है ॥१॥

हे आत्मन् ! पंचेन्द्रिय रूपी पैनी तलवार से मोक्ष को काटनेवाले क्षणिक शरीर के अन्दर तूने कैसे बास किया ? ॥२॥

हे आत्मन् ! जिस प्रकार प्यास से पीड़ित होकर समुद्र के खारे पानी पीने से प्यास नहीं बुझती उसी प्रकार तुम्हारे बारम्बार शरीर धारण करके क्षणिक सुखों की इच्छा करने से तुम्हें कभी लेश मात्र भी सुख शान्ति नहीं मिल सकती। सांसारिक क्षणिक सुखों को जो तुमने युक्त मान रक्खा है वे तुम्हें अन्त में महान् दुःख देनेवाले हैं ॥३॥

अनेकों जनों के द्वारा भोग कर त्याग किये गये और भोगे हुए उच्छिष्ट भोगों को भोगने के लिए तुम उत्सुक होते हो किन्तु बिना किसी के द्वारा भोगे हुए अविनाशी मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिए यत्न क्यों नहीं करते ॥४॥

कर्मों के साथ राग करके पुनः काया से कर्म करके तत्पश्चात् इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियों में प्रवर्तन करके बारम्बार कुम्हार के चक्र के समान तुमने राग ही बन्ध किया ॥५॥

हे आत्मन् ! इस कार्य कारण रूपक संसार के प्रबन्ध में तू अनादि काल से प्रति दिन दुःख उठाता चला आ रहा है। अतः उस दुःखदायी मार्ग को अब तू छोड़ दे। ॥६॥

जीव के लिये संसार, असंसार, नोसंसार तथा अनोसंसार ऐसे चार प्रकार के संसार हैं।

चतुर्गति यानी नाना योनि विकल्पों के मध्य में जो यह जीवात्मा सदा भ्रमण किया करता है उसे संसार कहते हैं।

द्रव्यार्थिक नय से नित्य व पर्यायार्थिक नय से अनित्य असंसार है। मोक्ष परमामृत आत्म सुख में निरन्तर बाधा डाल कर परिवर्तन करनेवाले को संसार कहते हैं। सयोग केवली को चतुर्गति भ्रमण नहीं होता। वे इस परिवर्तन से रहित रहते हैं। इस लिए उनके लिए नो संसार है।

अयोग केवली का जीव प्रदेश परिस्पन्द लक्षण मनोवाक्काय योग न होने के कारण, बाह्य व्यापारादि से रहित होने के कारण तथा आकाश के समान निर्मल होने के कारण अनोसंसार नामक चौथी संसार अवस्था है। जीव अज्ञान की अवस्था से अनादि काल से अपने उत्पन्न होकर किसी कर्म दशा को प्राप्त करके द्रव्य क्षेत्र काल भव तथा भाव

की अपेक्षा पाँच प्रकार का परिवर्तन रूप संसार है, इस प्रकार भगवान ने कहा है। इसका विशद वर्णन श्री गोम्मटसार के जीवकांड में किया गया है।

अब पांच प्रकार के संसार में भ्रमण करनेवाले जीव का स्वरूप और पांच प्रकार के संसार परिवर्तन के स्वरूप का विवेचन करेंगे।

गाथा—णिच्चिदरदाउसत्थयतरु दश विहलिंथियेसु।
हुज्जवसुरनरतिरिय चउरो चोद्दशःमणुएसदशहंसा॥

इस प्रकार लखचौरासी योनि मुख में जन्म लेकर असह्य शारीरिक, मानसिक तथा आकस्मिक दुखों का नाश करके उसी दुख को अनुभव करते हुए यह जीवात्मा हमेशा जन्म मरण को प्राप्त होता हुआ संसार में भ्रमण कर रहा है। इसके बारे में आचार्य ने निम्न श्लोक इस प्रकार कहा है:—

संसारे पतितानां किंकुशलम् पृच्छते शरीरभृतां।
पतितस्यदहननाशौदग्धोऽसिनवेति कः प्रश्नः॥

संसार में पड़े हुए प्राणियों के शरीर का क्या कुशल पूछा जाय ?
अर्थ—सांसारिक चिन्ताग्नि में जलकर नाश होना स्वाभाविक कुशल है।

पिवन्ति संसार महाऽरण्य दोळु तोळुव।
जीवक्कावुदु वट्टेयन्दु विवत्तित सुतं॥
देह व्यूह महिज राजि भयदे दुःखावलिस्वापदे।
विश्वासंति कराल कालगहने सुष्यन्नरापादने॥
नाना दुर्नय मार्ग दुर्गमहिमे दृङ्मोहिनां देहिनाम्।
जैनं दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवी संकटे॥

हे आत्मन्! शरीर के मोह के कारण तू अनादि काल से उसका साथ करते हुए शरीर संबंधी पुत्र मित्र कलत्रादि कुटुम्बी जनों को अपना समझ कर उनकी रक्षा करने के लिये अनेक पाप संचय करके देश विदेश में भ्रमण कर धन संचय किया और उस धन की रक्षा में रात दिन चिंताग्रस्त होकर राज भय, चोर भय इत्यादि को सहन करता हुआ अनंत दुःख रूपी वेलि को बढ़ाया और अपने ऊपर महान आपत्तिकारी कालरूपी कुठाराघात करके अत्यंत दुःखमय नरक व तिर्यंचादि गतियों में पड़कर हमेशा वेदना

देनेवाले कराल काल के ऊपर विश्वास करके तू सदा संतोष धारण किये रहा और उनके द्वारा होने वाले दुःख का कुछ भी ध्यान न करके चारों गतियों में घोर दुखः ही दुःख उठाया। उस दुःख के समय तुम्हारे स्वजन, इष्ट, मित्र, पुत्र, कलत्र तथा राजा आदि कोई भी तेरी रक्षा करने के लिये समर्थ न हो सके। यदि तुझे अपने आत्मा की रक्षा करके इस दुःख से छुटकारा पाकर शाश्वत सुख को प्राप्त करना है तो तू केवल एकमात्र जैन धर्म की ही शरण ले। क्योंकि यह जैन धर्म ही तुझे जन्माटवी संकटों से पार उतारनेवाला है, अन्य कोई धर्म संसार सागर से पार नहीं उतार सकता।

इस प्रकार विचार करके सांसारिक विभाग रूपी बंधन को छोड़कर ऐसी भावना करने से संसार का नाश होकर अक्षय अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष प्राप्ति के कारण निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग रत्नत्रय की भावना भाना संसार अनुप्रेक्षा है।

त्यक्तोपात शरीरादिः स्वकर्माणु गुणं भ्रमन्।
त्वमात्मानेक एवासि जनने मरणेऽपि च ॥१॥
बोधदोहिश्मशानान्ता गृह एवार्जितं धनं।
भस्मने गात्रमेकत्वान्धर्म एव न मुंचति ॥२॥
पुत्रमित्रकलत्राद्यामन्यदप्यन्तरालजम्।
ननुयायीति नाश्चर्यं नन्वंगं सहजं ततः ॥३॥
त्वमेव कर्मणां कर्ता भोक्ताभोक्ता च फलसंततेः।
भोक्ता च तात! किं मुक्त्वा स्वाधीनायां न चेष्वसि ॥४॥
अज्ञातं कर्मणैवात्मन्! स्वाधीनेऽपि सुखोदये।
निहसिदुपाये च यतसे दुःख साधने ॥५॥

नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगतियों में तथा अनेक योनियों में जन्म लेकर बालत्व, यौवनत्व तथा वृद्धत्व अवस्था को प्राप्त करके महादुःख का अनुभव किया, किन्तु सुख का लेश मात्र भी इस आत्मा को न मिल सका। इस प्रकार अनादि काल से भव भ्रमण करते हुए इस जीव के केवल एक ही माता, पिता, भाई, बन्धु, स्वजन तथा परिवार आदि न होकर असंख्य हो चुके हैं और उसमें भी जाति जरा मरणादिक के असह्य विविध प्रकार के दुःख देनेवाले पुत्र, मित्र, कलत्रादि, कुटुम्बी जन जब तक इस जीवात्मा के साथ पुण्य संचय था तब तक साता को देते रहे, पर जीवन यात्रा समाप्त हो जाने पर वे ही कुटुम्बीजन केवल श्मशान तक साथ जाकर लौट आये और उसकी जीवित

अवस्था में विविध प्रकार के पाप-पुण्य द्वारा संचित किये गये उसके संपूर्ण धन के स्वामी बन गये। परन्तु हे आत्मन्! यह सब कुछ होते हुए भी तू सांसारिक क्षणिक सुखों को छोड़कर आत्म कल्याण की भावना क्यों नहीं करता? ग्रन्थकार कहते हैं कि इस धन को मोहीजन किस प्रकार उपार्जन करते हैं।

परपीड़ा कर्म्यन्तु नोल्लुवलमर्थोपार्जनन्त ।
दुराचरितोदीरित दुःखतिक्तफल ॥
सेवाकाल् दंदोर्व रुन्नेमिल्ला धन श्री दन्दु ।
नेरमप्परनन्टि रेन्दन्दुन्तां मरुड्क्कुं ॥
पुरुड्क्कु मे मरदुहानादान विज्ञानमम् ।

अर्थ—दूसरे को पीड़ा देकर धनोपार्जन करने वाला क्रम जिस रीति से भी देखा जाय तो वह अनर्थकारी ही है, क्योंकि यह धन दुराचार के द्वारा ही प्राप्त होता है और अन्त में कटुक फल के समान अत्यन्त दुखदाई होता है। इस धन से अभीतक संसार में न कोई सुखी हो सका और न होगा ही। ऐसे धन देनेवाले को अपना बन्धु, इष्ट व मित्र मानकर प्रेम करना महान् मूर्खता है, क्योंकि कुटुम्बीजन केवल अपने लाभ को देखते हैं अन्य का नहीं। अतः हे आत्मन्! तुम्हारा इसमें कोई लाभ नहीं है। यदि तुम्हें सच्चा लाभ होगा तो अनादि काल से अपने शरीरस्थ आत्म स्वरूप का ध्यान करने से ही उसके द्वारा सुख व शान्ति का लाभ होगा, अन्यथा नहीं।

एकत्वभावनाः—इस प्रकार विचार कर बाह्य क्षणिक सम्पत्ति तथा कुटुम्बीजनों की अपेक्षा न करके केवल आत्म कल्याण की सहायता लेनी चाहिए। अपने आत्मा के अंदर ही मग्न होकर शुद्ध निश्चय नय की भावना करते हुए परम शुद्ध अनन्त ज्ञानमय आत्म स्वरूप के बिना बाह्य संपूर्ण पर पदार्थ बन्ध के कारण हैं। एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई हमारा सहायक नहीं है। इस प्रकार मन में विचार करना एकत्व भावना है।

देहात्मकोऽहमित्यात्मन् जातुचेतासि मा कृथः ।
कर्मतो ह्यपृथक्त्वन्ते त्वंनिचोलासि संनिभः ॥

अध्रु वत्वादमेधत्वादचित्वा चान्यदंगकं ।
चित्वनित्यत्वमेध्यत्वैरात्मनन्नन्योऽसि कायतः ॥

हेये स्वयं सति बुद्धिर्यत्नेनाप्यसति शुचाः ।
तद्धेतु कर्मतद्धन्तमात्मानमपि साधयेत् ॥

संसार में अनादि सन्तान के रूप से प्रति समय अनन्तानन्त कर्म पुद्गल योग और कषाय के निमित से आकर जीव प्रदेशों में अन्योन्य प्रवेश होकर स्थिति प्राप्त होने के समय २ प्रति अनन्तानन्त कर्म पुद्गलफलों को देकर जीवों को धक्का देकर चले जाते हैं। (यानी खिर जाते हैं)। शरीर के अवयव रूप नौ कर्म पुद्गल अपने बंधनों के गुण से जीवों के साथ क्षीर नीर के समान एक क्षेत्रावगाही स्थिति निर्जरा होती रहती है। यह जीवात्मा कर्म वश होकर योग्य शरीर को प्राप्त कर लेता है और उस शरीर में रहनेवाले नाखून, दांत, हड्डी, खून, शुक्र, कफ, पित्त, मल मूत्र मस्तिष्क तथा नसें आदि आत्मा के प्रवेश में नहीं हैं। कर्म और नव कर्म से भिन्न होकर रहने वाले अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त मोक्ष में रहने वाले शुद्धात्मा के अन्दर होने के कारण कर्म और नौ कर्मों से आत्मा पृथक है, ऐसी भावना करना, शरीर इन्द्रियात्मक है और जीव अतीन्द्रियात्मक है। शरीर ज्ञान रहित तथा जीवन नित्यात्मक है। (शरीर सकल दोषात्मकम्) अर्थात् शरीर सकल दोषों से सहित और जीवात्मा "सकल गुणाकरः" अर्थात् संपूर्ण गुणों की खान है। जीव अनादि निधन और शरीर सादि निधन है। इस प्रकार जीव भावना करके और पुद्गल में परस्पर विरोध लक्षण का भाव करके दोनों को भिन्न २ समझ कर आत्मा और शरीर के भिन्न २ स्वरूप का विचार कर आयु स्थिति बन्ध गतिबंधादि में भ्रमण करने के कारण शरीर आता जाता रहता है। शरीर ही ऐसा क्षणिक होने से उससे दूर सम्बन्धी पुत्र मित्र कलत्रादि तथा उससे भी दूर धन धान्यादि हैं तो ऐसे दूरातिदूर पर पदार्थों को मैं अपना सगा सम्बन्धी कैसे समझूं ? और भी कहा है :—

परस्परस्तथो दुःखमात्मैवात्मततः सुखम् ।
अत एवम् महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमः ॥

शरीरादिक इन्द्रियों के विषय सुख दुःखों को ही देते हैं और आत्मा के द्वारा होने वाला आत्मिक सुख ही सच्चा सुख है। अतएव महात्माओं को उस आत्मसुख की प्राप्ति के लिए उद्यम करते रहना चाहिये तथा ऐसे महात्माओं के आचरण का स्मरण कर आत्महितार्थ में उद्युक्त होना चाहिये। ऐसा चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

मेध्यानामपि वस्तूनाम् यत्संपर्कादमेध्यता ।
तद्गात्रमशुचित्येतात्किं नाल्पमात्मसंभवम् ॥ १ ॥
स्पृष्टं स्पृष्टमंगं हि सामर्थ्यात्कर्मशिल्पिनः ।
रम्यमोहा किमन्यत्वन्मलमांसास्थिमज्जतः ॥ २ ॥

दैवादन्तं स्वरूपश्चेद्बहिर्देहस्य किं परैः ।
अस्तामनुभवेच्छ्रेयामात्मन् को नाम पश्यति ॥३ ॥
एवं पिशित पिंडस्य क्षायिनः क्षयशंकतः ।
गात्रस्यात्मन् क्षयात्पूर्वं तत्फलं प्राप्य तत्यजः ॥ ४ ॥
आत्मसारं वपुः कुर्यास्तदात्मन् तत्क्षयेप्यभिः ।
आत्मसारे क्षुधाहेऽपि नहि याचंति मानवाः ॥ ५ ॥

भावार्थ :—परमार्थ और लौकिक दो प्रकार की शुचि है । वहां विशुद्ध ज्ञान रूपी जलसे प्रक्षाल करने पर कर्मकलंक को नष्ट किये हुए आत्मा का अनन्त ज्ञानादि स्वरूप में रहने वाला परमात्मशुचि है, इसे परमार्थ शुचि कहते हैं । अतः ऐसे यतीश्वर, मुनीश्वर और निर्वाणभूमि इत्यादि प्रदेश मोक्ष के उपाय होने के कारण सच्ची शुचित्व भावना है ।

निर्वाण प्रदेश आदि क्षेत्र कारण होने से शुचि अर्थात् पवित्र माना गया है महाभारत में शुचि का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यं वहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु पुत्र, न वारिणा शुद्ध्यतिचान्तरात्मा ॥

हे पाण्डुपुत्र ! शील रूपी किनारा दया रूपी तरंगें, सत्य रूपी प्रवाह के साथ संयम रूपी जल से आत्मा रूपी नदी में स्नान करो तो पवित्र हो जाओगे, क्योंकि इसके बिना केवल वाह्य जल से स्नान करने पर अन्तरात्मा नहीं शुद्ध हो सकता ।

लौकिक शुचि का वर्णन :—

काल अग्नि भस्म मिट्टी गोबर शरीर अज्ञान निर्विचिकित्सा आदि के आप भेद हैं ।

शरीर का प्रथम कारण रक्त और वीर्य है । रक्त वीर्य के संयोग से बना हुआ शरीर शुद्ध कैसे हो सकता है ? गर्भ के आदि में कृमि जाल से युक्त, जरायु से व्याप्त माता के खाये हुए अन्न से परिपुष्ट यानी बढ़कर सप्त धातुमय मल-मूत्र से परिपूर्ण बात, पित्त, कफादिदोषों से दूषित नव द्वार यानी इन्द्रियों के द्वारा निकलने वाले विविध मल, रोम कूप से निकलने वाले पसीने आदि दुर्गन्ध से पूरित अत्यन्त दुर्गंधमय यह शरीर स्वयं शुचि नहीं है, इस शरीर से स्पर्श किये हुये वस्त्राभूषण, सुगन्धित पुष्पों की माला, चन्दन तथा सुगन्धित तैलादि दुर्गन्धित हो जाते हैं और शरीर के अन्दर भोजन रूप में खाये

हुये फल फूलादि उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ विष्टा रूप में परिणत हो जाते हैं तो फिर ऐसे महा अपवित्र शरीर में मोहित होकर यह आत्मा अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले नित्य निरंजन चिदानन्दैकस्वरूप परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को न जानकर अनादि काल से लगे हुये कर्ममल को निजात्म स्वरूप के द्वारा पृथक न करके अनादि काल से अवस्थान्तर होने वाले इस शरीर में वास कर हे आत्मन! तू दुःख उठा रहा है, यह कितने आश्चर्य की बात है!

कायोऽयं रसरक्तमांसविसरो मेधोऽस्ति मज्जाकुलः।
भीभत्सो विततान्त्यधातु रुदितः शुक्लार्थवाम्याम्त्वयि ॥
जीवाश्लेष्मवशात्कान्तिरतुलश्लेशैकनीडो जडः।
संगोऽनेन सतान्धुनोति हृदयं मोदोऽत्र लज्जास्पदः ॥

यह शरीर रक्त मांस मज्जा तथा ग्लानि के उत्पन्न करनेवाले सप्त धातुमय से भरा हुआ है। इसके अन्दर कान्ति को नष्ट करनेवाले वात पित्त व कफ जन्य व्याधियां उत्पन्न होकर सदा दुःख देती रहती हैं। इस शरीर का संग सज्जनों के हृदय को भी दूषित बना देता है। परन्तु फिर भी अज्ञानी जीव इस शरीर के संग से प्रसन्न होता है, यह कितने लज्जा की बात है!

इस तरह भावना करके संसार के व्यामोह को छोड़कर यह विचार करना चाहिए कि :—

निर्गुणस्य शरीरस्य व्रत एव महागुणः।
यां यामवस्थाम् प्राप्नोति तां ताम्त्वहति गौरवम् ॥

अर्थः—इस निर्गुण शरीर का व्रत ही महा गुण है। वह जिस जिस अवस्था को प्राप्त होता है उस उस अवस्था में गम्भीर होता जाता है।

इस प्रकार एक देश गुण ग्रहण करके परलोक के अलावा इस लोक में कोई भी सार नहीं है, इस बात को लेकर व्रत गुण तप चारित्र से युक्त होकर अपने मन में आत्म कल्याण करने की भावना को अशुचित्वानुप्रेक्षा कहते हैं।

अजस्रमास्रवमित्यात्मन् मर्मोचाः कर्मपुद्गलाः।
तैः पूर्णत्वमधोऽधः स्याज्जल पूर्वो यथाऽप्लवः ॥
तन्निदानन्तवैवात्मन्! योगभावौ सदातनौ।
ताविद्धि सपरिस्पन्दं परिणामं शुभाशुभम् ॥

आस्रवो यमुपैतेति ज्ञात्वा तत्कर्मकारणे ।
तत्तन्निमित्त वै दुर्यदपवायोर्द्धगो भवः ॥

अर्थ :—कर्म बन्ध के द्वारा संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। वह बन्ध आस्रव के द्वारा होता है। उस द्रव्य कर्म के आस्रव निबन्ध कषाय दोषों से मिले हुये मन वचन काय की अशुभ प्रवृत्तियों से आनेवाले को आस्रव कहते हैं। इस आस्रव के द्वारा जीव ज्ञानावरणी आदि आठ प्रकार के कर्मों को बांधकर उसके उदय से हेयोपादेय तत्व को न जानकर दीर्घ संसार के कारण पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त होकर चतुर्गतियों में पड़कर अनेक दुःखों को प्राप्त किया।

प्रश्न :—यह दुःख कैसे प्राप्त हुआ ?

उत्तर :—पांचों इन्द्रियों के आधीन होने से, जैसे कि जब एक एक इन्द्रियों के वश से हाथी, मछली, भ्रमर, पतंग, सर्प तथा हरिण आदि भव वन में घोर दुःख प्राप्त करते हैं, तो ऐसी अवस्था में जो लोग रात दिन पांचों इन्द्रियों के वश में रहते हैं, उनके लिये क्या कहना है ? अर्थात् उन्हें तो अनिवार्य दुःख ही दुःख है।

विषयाभिलाषा ज्यों २ बढ़ती जाती है त्यों २ मोह नामक लता निरास्रव होकर बढ़ती जाती है।

प्रश्न:—वह किस प्रकार बढ़ती है ?

जीर्णं वयस्सकलरोगमयं बलन्ते । स्वादश्चशोड्वमन गण सन्धिबन्धं ॥
त्यक्त्वोऽस्ययार्थभूत पुत्रकलत्र मित्रैश्चितं विसर्पण मनाश्रय मोहवल्या ॥

अर्थ—मोहरूपी लता, जीर्ण शीर्ण अवस्था, रोगमय शरीर संपूर्ण बल, स्वाद तथा सन्धिबन्ध को छोड़कर पुत्र, मित्र कलत्रादिक कुटुम्बी जनों के स्नेह से बढ़ती रहती है। इस श्लोक के कथनानुसार वृद्धि होती रहती है। ऐसा होने से इच्छित पदार्थ मिलना अत्यन्त कठिन है। अन्त में तड़फड़ाकर यह जीव आर्त्त रौद्र ध्यान करने से न इस लोक के सुखों को प्राप्त कर सका और न परलोक के ही सुखों को प्राप्त कर सका। अन्त में मरकर वह नरकादिक दुखों को भोगता रहता है। ऐसे आस्रव के हेतु रूप विषयों की आसक्ति छोड़कर बुद्धिमान पुरुषों को आत्म! चिंतवन करना चाहिये।

आरंभेतापकान्प्राप्तावतृप्ति प्रतिपादकान् ।
अंतेसुमस्यत्जान् कामान्क सेवते सुधीः ॥

अर्थः—इस तरह विषयों से विरक्त होकर संपूर्ण निवृत्ति से मोक्ष मार्ग में तत्पर

होते हैं। ऐसे मोक्ष में तत्पर रहनेवाले महानुभावों के चारित्र को स्मरण कर आत्मरत होने का नाम आश्रवानुप्रेक्षा है।

संरक्ष समितं गुप्तिमनुप्रेक्षापरायणा ।
ततः संयम धर्मात्मा त्वं स्याज्जित परीषहः ॥
एवं च त्वै सत्यात्मन् कर्मास्त्रवनिरोधनः ।
निरंद्रपोतवद्भूया निरपायो भवांबुधौ ॥
विकथादि वियुक्तस्त्वामात्मभावनयान्वितः ।
त्यक्त वाक्यस्फुरोभूया गुप्त्याद्यास्तेन करस्थितः ॥
एवं क्लेशगं वैश्मिन्नात्माधीनतया सदा ।
श्रेये मार्गे मतिं कुर्यात्किं वाक्ये तापकारणिः ॥
शुष्कानिर्वंधतो वाक्यमुद्यतस्तव ह्यथा ।
प्रत्यक्षितैव नन्वात्मन् प्रत्यक्ष निरयोचितः ॥

आस्रव होने से कर्मों का बन्ध होता है। बन्ध होने से दीर्घ संसारी होता है। इस लिए जीवात्मा को संसार से भयभीत होकर कर्मास्रव के निमित्त हुये मिथ्यात्व, असंयम, व कषाय को मन, वचन, काय से छोड़कर सम्यक्त्व पूर्वक व्रत गुण चारित्र में लीन होकर पर चिन्ता को छोड़कर संम्पूर्ण विभाव परिणति को नाश करने में समर्थ होना चाहिए तथा परमागम में रत होना चाहिए। जैसे रत्नों का व्यापार करने वाला जौहरी रत्नों से भरे हुए जहाज को समुद्र पार करने तक जहाज में किसी रास्ते से पानी न आ जाय इसलिये बड़ी सावधानी से उसकी रक्षा करता हुआ जहाज किनारे पर लगा लेता है उसी प्रकार मोक्षार्थी भव्य पुरुष संसार रूपी घोरार्णव में रत्नत्रय गुण भरे हुए शरीर रूपी जहाज तथा उसके सम्बन्धी रहनेवाले पांचों इन्द्रियों के द्वारा आने वाले कार्माण वर्गणा स्कंध रूप कर्म जलास्रव को प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) संयम भावना से तथा संयम तप व वैराग्य के द्वारा कर्म को तपाने से शरीर रूपी वज्र कपाट में रहनेवाले गुण रत्न और आत्म स्वरूप को किसी प्रकार की हानि न हो, ऐसी संवर भावना को भाते हुए मोक्ष रूपी अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंचने की आकांक्षा करते हुए निम्न प्रकार की भावना करनी चाहिए।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानयोगीन्द्र गोचरः ।
वाह्य संगजाभावामत सर्वेऽपि सर्वथा ॥

ऐसी निज शुद्धात्म भावना भाने से संवर अनुप्रेक्षा होती है।

रत्नत्रयप्रकर्षेण वद्धकर्मक्षयोऽपिते ।
आध्मातः कथमप्याग्निर्दाह्यं किं सावशेषयेत ॥१॥
क्षयादनुप्रवागात्मन् ! कर्मणामपिकेवली ।
निर्गमे च प्रवेशे च धारावन्धे कुतो जलम् ॥२॥
रत्नत्रयस्य मूर्तित्वात्त्वयात्मन् सुलभैवसः ।
मोहक्षोभ विहीनस्य परिणामो हि निर्मलः ॥३॥
परिणामविशुद्ध्यर्थं तपो वाह्यं विधीयते ।
नहि तण्डुल पाकस्यात्पावकादि परीक्षयेत् ॥४॥
परिणाम विशुद्धिश्च वाक्यस्य निस्पृहस्य ते ।
निस्पृहत्वन्तु सौख्यन्तद्वाह्य मुह्यसि किं मुदा ॥५॥
गुप्तेन्द्रिय क्षणमात्मा नान्यत्रात्मा न मात्मना ।
भावयन् पश्यतत्सौख्यमास्तां निःश्रेयसाधितम् ॥६॥
अनन्तसौख्यमात्मोत्थमस्तित्यत्र हि साप्रमः ।
शान्तस्वान्तस्य या प्रीतिः स्वसंवेदन गोचरः ॥७॥
कर्मैक देशगळं निर्जरे उदय उदीर्णं विकल्प दि नित्यरनल्लि ।

एक देश कर्म निर्जरा के दो विकल्प हैं। एक उदय और एक उदीर्ण। नरकादिकों में कर्म को बढ़ानेवाला उदय है और परीषहों के द्वारा होनेवाले को उदीर्णोद्भव कहते हैं। वह शुभानुबन्धी और निरानुबन्धी होता है। प्रति समय जीव में परिणामानुरूप से कार्माण वर्गणा रूप अनन्तानन्त कर्म पुद्गल खिर जाते हैं। इस रीति से सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों में प्रति समय निर्जरा होती रहती है। परन्तु उसमें सम्यग्दृष्टि की ही यथार्थ निर्जरा होती है। संयम पूर्वक होने के कारण वह निर्जरा मोक्ष का कारण होती है। पर मिथ्यादृष्टि की निर्जरा आस्रव पूर्वक होने के कारण संसार के लिये कारण होती है। कर्मक्षय करने के इच्छुक महात्मा अनेक प्रकार के व्रतों तथा बारह प्रकार के तपों के द्वारा विशुद्धि को बढ़ाते हैं। उस श्रम से होनेवाले क्षुधा तृषादि परीषहों को धैर्य के साथ ग्रहण किये हुए अपने नियम व्रतादि में अतीचार न आने देते हुए घर में साधन करते हुए अपने अभ्यास को बढ़ाते हैं। यदि विषहारी सर्प घर में आकर बिना किसी को कष्ट दिये केवल घूम-घामकर चला जाय तो किसी को क्या हानि होगी ? एक निर्बल राजा अपनी दुर्बल सेना के साथ अपने सुदृढ़ एवं सुरक्षित किले में निश्चिन्त रूप से रहने

पर भी अपने ऊपर आक्रमण करने वाले सबल शत्रु के सामने यदि स्वयं आ जाय तो उस शत्रु को क्या हानि है ? इसी प्रकार उदय में न आनेवाले कर्मोंकी उदीरणा रूप से निर्जरा करनेवाले मेरे सामने स्वयं उदय में आकर यदि निर्जरा होती रहे तो मुझे क्या हानि है ? ऐसा विचार करते हुए अत्यन्त दुःसह परीषहादि उपसर्गों को स्वयं सामने आने से सहर्ष सहन करना ही ज्ञानियों के लिये महोत्सव है। इस प्रकार ग्रहण किये गये अपने व्रतों को पालन कर सद्भावना करते हुए उसी में तत्पर होकर आत्माराधन करना निर्जरानुप्रेक्षा कहलाती है।

प्रसारिताङ्घ्रिणां लोकः तन्निक्षिप्य प्राणिनः ।
साम्यपुंसोर्ध्वमध्याधो विभागस्त्रिमरुद्वृतः ॥१॥
जन्ममृत्योपदेह्यात्मा न संख्यात प्रदेशके ।
लोके नायं प्रदेशोऽस्ति यस्मिन्नाभूरनन्तशः ॥२॥
सत्यज्ञाने पुनश्चात्मा पूर्ववत्संपरिष्यसि ।
कारणे जृम्भमाणेऽपि न हिकार्यपरीक्षयः ॥३॥
यतः स्वतः तपस्यात्मन् मुक्ता मुग्धोचितं सुखम् ।
चिरस्थायी अन्धकारोऽपि प्रकाशे हि विनश्यति ॥४॥

अनन्तानन्त स्वात्म प्रतिष्ठित आकाश के बहु मध्यप्रदेश में नीचे ७ रज्जू, मध्यमें १ रज्जू, ब्रह्मकल्प की परिधि तक ५ रज्जू तथा सर्वोपरि १ रज्जू अर्थात् ७, १, ५, १, विस्तार है। घनोदधि, घनवात तथा तनुवात ऐसी तीन प्रकार की वायु से यह लोक वेष्टित है तथा वेत्रासन, झल्लरि, मृदंगाकार है। अनादिनिधन है, अकृत्रिम है, जीवाजीवादि सकल पदार्थों को अपने गर्भ में गर्भित करनेवाला जिस प्रकार सर्वज्ञ देव ने देखा है उसी प्रकार लोक है। लोक के मध्य में एक रज्जू विष्कम्भ, १४ रज्जू उत्सेध होकर त्रस जीवाधार एक त्रस नाड़ी है। उसके मध्य में एक लाख योजन विस्तार वाला समवृत रूप जम्बू द्वीप है। उस द्वीप के सर्वमध्य जमीन के ऊपर निन्यानवे हजार योजन उत्सेध एक योजन अवगाह और नीचे के चारों ओर तीनों लोकों के द्वारा वन्दनीय श्री जिनेन्द्र भगवान के चार अकृत्रिम चैत्यालय हैं। उस स्थान के बाईस हजार योजन विस्तीर्ण क्षेत्र को भद्रशाला वन कहते हैं। वहाँ से कुछ दूर ऊपर जाने के पश्चात् चारों ओर ऊपर्युक्त कथनानुसार चैत्यालय हैं। वह स्थान पाँच सौ योजन विस्तृत नन्दन वन कहलाता है। वहां से ऊपर कुछ दूर जाने पर चारों ओर ऊपर कहे हुए नियमानुसार चैत्यालय है। पांच

सौ योजन विस्तीर्ण रहनेवाले उस स्थान को सौमनस वन कहते हैं। उसके ऊपर थोड़ी दूर जाने पर चारों ओर चैत्यालय है। वहाँ पर चार सौ चौरानवे (४६४) योजन विस्तीर्ण पाण्डुक वन है। उस वन के चारों ओर ईशान्य कोण से लेकर यथाक्रम से भरत, अपर, विदेह, ऐरावत तथा पूर्व विदेह ऐसे चार क्षेत्रों में अवतार लेने वाले श्री जिनेन्द्र देव सम्बन्धित, पूर्वापर दक्षिणोत्तर दिशा में दीर्घ सोना, चाँदी, ताँबा, तथा लाल वर्ण के चार अर्द्धचन्द्राकार पाण्डुक शिला हैं। वहाँ पर प्रत्येक जिन सम्बन्धी, सौधर्मेन्द्र तथा ईशानेन्द्र सम्बन्धी तीन २ आसनों से युक्त पाण्डुक वन है। वहाँ पाडुक, वला, रक्त, तथा रक्त कंबल नामक चार शिला है। उस शिला को घेरकर चूड़िका कहलाती है। अर्थात् चालीस योजन उत्सेध (ऊंचे) बारह योजन जमीन पर तथा चार योजन ऊपर चौड़ी भद्रशाला वन से लेकर चूड़िका तक सब के सब महामेरु पर्वत कहलाते हैं। उस महामेरु गिरि से लेकर उत्तर दिशा में वज्रवेदी तक एक योजन के १६ भाग करने से सौ भाग अधिक हुआ पांच सौ छब्बीस (५२६) योजन चौड़े विस्तार का भरत क्षेत्र है। उसके मध्य में जमीन का विस्तार पचास योजन चौड़ा है। उसके आगे दश-दश योजन के अन्तर पर विद्याधर रहते हैं। उभय श्रेणी में एकसौ दश योजन जाने पर यदि ऊपर की ओर दश योजन और जाय तो दोनों ओर पहले की भाँति प्रत्येक दश २ योजन छोड़कर चौड़ाई से विजयार्ध कुमारादि अभियोग्य देवताओं के आश्रयभूत उभय श्रेणी है। वहाँ से ऊपर पाँच योजन जाय तो दोनों ओर पहले के समान प्रत्येक दश योजन आयाम ऊपर के विस्तार में नौ कूटादि से समन्वित विजयार्ध पर्वत है। वहां के विद्याधर श्रेणी में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य स्व-शुभाशुभ कर्मानुसार महान् वैभव-शाली होते हैं।

भरतक्षेत्र में कहे हुए विष्कम्भ से दक्षिण की ओर दुगुना चौड़ा विस्तार है। उसकी ऊंचाई एक सौ योजन प्रमाण है तथा पूर्व और पश्चिम समुद्र को स्पर्श करता है। उसका वर्ण स्वर्णाकार है। ऐसे आकार वाला हिमवान् पर्वत है। उसके मध्य सहस्र योजन लम्बाई, पांच सौ योजन चौड़ाई तथा दश योजन के अवगाह में पद्म सरोवर है। उस सरोवर के मध्य एक योजन विस्तार एक महा पद्म नामक पुल है। उस पुल की कर्णिका के ऊपर अट्टालिका है। उसमें पल्योपम आयु स्थितिवाली श्री देवी माता अपने परिवार सहित परिवेष्टित होकर रहती है। उस सरोवर की पश्चिम दिशा से कुछ दूरी पर पर्वत के नीचे खड्डे में गिरकर ऊपर की ओर बहती हुई १४ हजार उपनदी समन्वित गंगा और सिन्धु दोनों नदियाँ भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत के बीच से निकलकर उभय तट में

वज्रवेदिका के अन्दर प्रवाहित होकर लवण समुद्र में मिल जाती हैं। ऐसी उन दोनों नदियों के विजयार्ध पर्वत के दोनों ओर से निकल कर लवण समुद्र का संग होने के कारण भरतक्षेत्र षट् खंड बन गया। विजयार्ध पर्वत की उत्तर दिशा के तीन खंडों के मध्य प्रदेश को आर्यखण्ड कहते हैं। वहां सुषम सुषमादि तीन काल प्रत्येक दश कोटाकोटि सागरोपम प्रमित उत्सर्पिणी काल के यथा क्रम वृद्धि होने और घटने के कारण अनवस्थिति भूमि कहलाती है। वहाँ भोगभूमि और कर्म भूमि ऐसे दो भाग हैं। भोगभूमि उत्तम, मध्यम तथा जघन्य रीति से तीन प्रकार की है। वहाँ जन्म लेनेवालों पूर्व भव में मिथ्यादृष्टि होते हुये भी अपने शुभ परिणाम से सन्मार्गवर्ती उत्तम मध्यम, व जघन्य पात्र को यथोक्त विधान से दान दिये, दिलाये तथा अनुमोदना की। ऐसे जीव के लिये अधिक फल देनेवाले दशविध कल्पवृक्ष होते हैं।

यथाक्रम से अनवस्थित ३, २, १, पल्योपम स्थिति वाले आर्य मनुष्य और तिर्यंचयोनि में जन्म लेकर वहाँ के सुखोपभोगों का अनुभव करके अपने परिणाम के अनुसार देवगति में जन्म लेते हैं। सभी भोग भूमियों का क्रम इसी प्रकार ही है। अवस्थित भोगभूमिवालों के तीन प्रकार की आयु और उत्सेध में न्यूनता नहीं होती। विशेष अनवस्थित कर्म भूमि में उत्कृष्ट स्थिति एक कोटि पूर्वकाल कम होती हुई वर्तती है तथा वहाँ पर धर्म कर्म का व्यवहार होता है। उस स्थान में महान् पुण्यशाली जीव, तीर्थंकर सकलचक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव होते हैं। वहाँ अल्पपुण्यशाली तारतम्य भाव से अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के उदय से सुखी व दुःखी होकर जीवन व्यतीत करते हैं। शेष पाँच खण्डों को म्लेच्छ खण्ड कहते हैं। वहाँ धर्म का अभाव है। उस स्थान में जन्म लेनेवाले अपने अपने पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मोदय के अनुसार महान् ऐश्वर्यशाली होते हैं। इसी प्रकार सभी म्लेच्छ खण्ड की कर्मभूमियों में धर्म का अभाव होता है। परन्तु अवस्थित कर्म भूमि विदेह क्षेत्र में रहनेवाले की उत्कृष्ट आयु उत्सेध (ऊँचाई) में कुछ अन्तर नहीं रहता। वहाँ पर तीर्थंकरादि महापुरुष सदा विद्यमान रहते हैं। वहाँ पर कभी काल का परिवर्तन नहीं होता, यही एक विशेषता है।

इस भरत क्षेत्र के निकट उत्तर दिशा में हिमवान् पर्वत है। हिमवान पर्वत के बाद भरतक्षेत्र से दुगुने विस्तार में हैमवत क्षेत्र है। वहां जघन्य स्थिति भोगभूमिवाला काल रहता है। वहां पर कुछ कम एक पल्य प्रमाण आयुवाले तिर्यंच व मानव उत्पन्न होते हैं। उसके मध्य में एक हजार योजन उत्सेध (ऊँचाई) तथा उतने ही विस्तार में नाभिगिरि नामक पर्वत है। हिमवान पर्वत के ऊपर रहनेवाले पद्म सरोवर के दक्षिण भाग से

निकलकर रोहितास्या नामक नदी हिमवत् पर्वत के पद्म ह्रदय से उत्तर को आकर उसी नाभिगिरि से अर्द्ध योजन दूर रहती हुई उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा कर के पश्चिम समुद्र में गई है। ऐसी रोहित रोहितास्या नदियों को हैमवत नामक जघन्य भोगभूमि क्षेत्र के उत्तर दुगुने चौड़े विस्तार वाला तथा दो सौ (२००) योजन उत्सेध (ऊँचाई) वाला रजत वर्णवाला पूर्वापर लवण समुद्र को स्पर्श करता महा हिमवान् पर्वत है। उसके मध्य में पहले कहे हुये आयाम तथा विस्तार से दुगुने प्रमाण में महापद्म नामक सरोवर है। उस सरोवर में रहने वाले पद्म के ऊपर ही देवी तथा उसके परिवार पल्य-पल्योपम आयुवाले रहते हैं। महापद्म सरोवर की उत्तर दिशा से निकलती हुई रोहित नामक नदी हैमवत से नीचे उतरकर नाभिगिरि की दाहिनी प्रदक्षिणा देकर पूर्वदिशा की ओर प्रवाहित होती हुई लवण समुद्र में मिल जाती है। नाभिगिरि की दूसरी ओर रोहितास्या नदी बहती है। ये दोनों नदियां गंगा और सिन्धु नदियों के विस्तार से दुगुनी हैं। महा हिमवन्त से उत्तर दिशा में हैमवत क्षेत्र के दुगुने विस्तार माण रहनेवाला हरिवर्षण क्षेत्र है। उस क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि की स्थिति है। वहां जन्म लेने वाले तिर्यंच व मनुष्य कुछ कम दो पल्य आयुवाले होते हैं। हरिवर्ष के मध्य में एक सहस्र योजन उत्सेध (ऊंचाई) तथा उतने ही मुख व्यास प्रमाण में नाभिगिरि पर्वत है। महा हिमवन्त के महापद्म सरोवर से निकल कर हरिवर्ष में उत्तर दिशा की ओर बहती हुई हरिकान्ता नदी नाभिगिरि की दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा देकर पश्चिम दिशा से होती हुई लवण समुद्र में मिल जाती है। हरिवर्ष से चार सौ योजन उत्सेध पूर्वापर समुद्र का स्पर्श करता हुआ स्वर्ण वर्णाकार "निषध" नामक पर्वत है। उसके मध्य भाग में महा पद्मसरोवर और कमल के विस्तार से दुगुने आयाम तथा विस्तार वाला "तिगञ्छ" नामक सरोवर है। वहाँ की पद्मनिवासिनी पल्योपम स्थिति आयुवाली धृति देवी अपने परिवार के साथ रहती है। उस तिगञ्छ सरोवर की दक्षिण दिशा से निकलकर हरि नामक नदी नाभिगिरि की प्रदक्षिणा करके हरिवर्ष से पूर्व दिशा की ओर बहती हुई लवण समुद्र में मिल जाती है। उस हरिवर्ष में हरिद्, हरिकान्ता, रोहित, रोहितास्या नदियों से दुगुने विस्तार में परिवार नदियाँ बहती हैं। निषधगिरि से उत्तर दिशा के एक योजन को १९ भाग करके उसमें चार भाग और ३३१८४ योजन विष्कम्भवाला विदेह वर्ष है। उसके मध्य में मन्दर (मेरू) गिरि है, जिसका कथन पहले किया जा चुका है। उसके उत्तर दिशा में व्यास, उत्सेध तथा आयाम सब के सब निषध पर्वत के समान रहनेवाला वैडूर्य वर्ण के आकार में नीलगिरि है। उसके बीच में तिगञ्छ सरोवर के समान "केशरि" सरोवर है। वहाँ पद्म के ऊपर रहने वाली, धृति देवी के

समान वैभव आयुष्य वाली कीर्ति देवी है। इस नीलपर्वत से पहले कहे हुए निषध पर्वत लेकर कुलगिरि कहलाता है। उसके उत्सेध तथा विस्तार आदि क्रम वृद्धि से गज दन्त के आकार का पर्वत होकर मेरु पर्वत के निकट पहुंचता है। वहाँ पांच सौ योजन उत्सेध (ऊँचाई) सहित चार गजदन्त पर्वत हैं। इसलिए दोनों क्षेत्रों में पृथक्करण हुए दक्षिणोत्तर में रहने वाले क्षेत्र को देवकुरुक्षेत्र तथा उत्तर कुरुक्षेत्र कहते हैं। वहां हमेशा उत्तम भोग भूमि ही प्रवर्तता है। निषध पर्वत की उत्तर दिशा से निकलकर देवकुरु के अन्दर से उतर कर उसी क्षेत्र में बहती हुई हरिद् हरिकान्ता नदी से दुगुने विस्तार में सीता नदी मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देकर पश्चिम से लेकर भद्रशाला वनके अन्दर होती हुई वज्र वेदिका से होकर लवण समुद्र में मिली है। वहाँ ८४००० उपनदियाँ बहती हैं। उसके नैऋत्य दिशा में शाल्मलि वृक्ष है। नील पर्वत से दक्षिण इत्यादि भद्रशाल वन में उतर कर उत्तर कुरु में बहती हुई सीतोदा नदी के समान सीता नदी मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देकर पुनः पूर्व दिशा से होकर भद्रशाला और वज्रवेदिका के अन्दर प्रवेश कर लवण समुद्र में मिली है। वहाँ ८४००० उपनदियाँ बहती हैं। उसके ईशान दिशा में कुरुजाङ्गल क्षेत्र है। वहाँ तीन पल्योपम आयुष्यवाले मनुष्य व तिर्यंच जन्म लेकर दश प्रकार के कल्प वृक्ष के अनल्पफलों का अपनी आयु के स्थिति पर्यन्त निरन्तर अनुभव करते हुए आयु के अन्त में वहाँ से स्वर्ग में चले जाते हैं। मेरु पर्वत की पूर्व और पश्चिम दिशा में पहले कहा हुआ भद्रशाला नामक वन है। उस भद्रशाला वन की पूर्व दिशा के वेदी से लेकर देवारण्य नामक वन से लेकर भूतारण्य वन वेदिका तक के मध्य में रहनेवाली तीन तीन विभंग नदियों व चार चार वक्षार पर्वतों के समीप भरत क्षेत्र में कहे हुए क्रमानुसार पूर्व पश्चिम भाग से ऊंचे और आयाम विस्तार में रहनेवाली महानदियों के मध्य विष्कम्भवाला विजयार्ध पर्वत है। कुलगिरियों के पार्श्व से निकलकर उसी विष्कम्भ की परिवार नदियाँ गंगा और सिन्धु नदी के समान विजयार्ध पर्वत को काटती हुई पूर्व दिशा में सीता नदी और पश्चिम दिशा की सीतोदा नदी विजयार्ध पर्वत से उतर कर षट्खंड व्यवस्था में रहनेवाले मध्य म्लेच्छ खंड भरत ऐरावत क्षेत्र के समान एक सौ योजन उत्सेध (ऊँचे) उतने ही चौड़े नीचे तथा ऊपर की चौड़ाई ५० योजन विस्तार में रहनेवाला पर्वत है। उस पर्वत पर अतीत चक्रवर्तियों की शासनमाला अंकित है। उसका नाम वृषभाचल है। अवस्थित कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटि वर्ष पांचसौ पचीस दंड उत्सेध वहाँ तीर्थंकरादि महान् पुरुष जन्म लेते हैं। कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छकावती, अवर्ता, लांगलावर्त, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्स, वत्सकावती, रम्य, सुरम्य, रम्यकावती, रमणीया,

मंगलावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंख, नलिनी, कुमुदा, सरिता, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धिला, गन्धमालिनी ऐसे २३ देश हैं। इस कारण से पूर्व विदेह के निकट उपसमुद्र गत आर्यखण्ड के मध्य में चक्रवर्ती के सम्बन्ध ६ योजन चौड़ी व बारह योजन ऊंची क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्ट, अरिष्टपुरी, खड्गा, मञ्जूषा, औषधी, पुण्डरीकिणी, सुसीमा, कुन्डला, अपराजिता, प्रभंकर, अंक, पद्मावती, शुभा, रत्नसंचया, अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोक, वीतशोक, विजया, वैजयन्ती, जयन्ता, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या, अवध्या ऐसी ३२ नगरियाँ हैं। फिर आगे चलकर दोनों विदेह की ओर दश लाख चौसठ हजार उपनदियाँ हैं। नील पर्वत से दक्षिण दिशा में जितना हरिवर्ष है उतने चौड़े प्रमाण में रहनेवाला रम्यकूवर्ष है। वहाँ अवस्थित मध्यम भोगभूमि में नियत द्विपल्योपम आयुष्य के आर्जव मनुष्य और तिर्यञ्च ही जन्म लेते हैं। उसके मध्य में पूर्वोक्त उत्सेधादि रहनेवाला नाभिगिरि है और नील पर्वत के केसरी सरोवर की उत्तर दिशा से निकलकर नरकान्ता नदी रम्यकूवर्ष में गिरती हुई नाभिगिरि की दाहिनी प्रदक्षिणा देकर पश्चिम की ओर बहती हुई लवण समुद्र में प्रवेश करती है। रम्यकूवर्ष की उत्तर दिशा का व्यास, उत्सेध, आयाम और वर्ण महा हिमवन्त पर्वत के समान है। वहाँ रुक्मी पर्वत है। उसके मध्य में महा पद्म सरोवर के समान महा पुण्डरीक सरोवर की दक्षिण दिशा से निकलकर "नारी" नामक नदी रम्यकू वर्ष से गिरकर नाभिगिरि की दाहिनी ओर बहती हुई पूर्व दिशा के लवण समुद्र में मिल जाती है। रम्यकू वर्ष में बहनेवाली नरकान्ता नदी का विस्तार हरिकान्ता नदी के समान है। परिवार नदियों के व्यवस्थादिक क्रमानुसार रहने के कारण अनवस्थित भोगभूमि और कर्मभूमि भी होती है। वहाँ के शिखरी पर्वत के पुण्डरीक सरोवर के पश्चिम भाग से निकलकर उसी क्रम के अनुसार उत्तर दिशा की ओर बहती हुई उस पर्वत से नीचे उतर कर प्रत्येक चौदह हजार परिवार नदियों से संयुक्त रक्ता रक्तोदा दोनों नदियाँ ऐरावत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत को छेदती हुई वज्रवेदिका के अन्दर से लवण समुद्र में मिल जाती हैं और बचे हुए उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के प्रवर्तनादि सभी क्रम भरत क्षेत्र में प्रतिपादित किये हुये के अनुसार जान लेना। पहले कहे हुए मन्दर को स्पर्श करती हुई चित्रा भूमिका के नीचे वज्रादि रत्नमय भूमि है। वहाँ १ खर भाग, २ पंक भाग, ३ बहुलभाग, तीन प्रकार है। १ और दूसरे भाग में यथा संभव भवनवासी देव और कुछ व्यन्तर देवों के आश्रय भवन हैं। यथासंभव असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्ण कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, विद्युत्कुमार, स्तनित कुमार, दिक्कुमार अग्निकुमार, वातकुमार, ऐसे दश भेद वाले दश प्रकार के भवनवासी

देव हैं। प्रत्येक प्रत्येक वंश में चमर, वैरोचनादि हैं। उनमें प्रत्येक के साथ १ इन्द्र तथा १ प्रतीन्द्र होते हैं। इस प्रकार कुल ४० इन्द्र होते हैं। उनकी सर्वजघन्य आयु दश हजार (१००००) वर्ष और उत्कृष्ट आयु असुर कुल में एक सागरोपम है। नागमें ३, सुवर्ण में २, द्वीप में २ और शेष ६ वंश की आयु डेढ़ पल्योपम है। उस भवनवासी लोक में:—

चोत्तीसं चउदाणं अड़तीसञ्च सुविताळ पण्णासं ।
चउचउ विहीण ताणिय इन्दाणां भवन संखाणि ॥

इस सूत्रोक्त क्रम से दक्षिणोत्तर इन्द्र सम्बन्धी सात करोड़ बहत्तर लाख (७७२००००००) जिन भवन हैं। इसके प्रमाण के लिये गाथा:-

भवणेषु सत्तकोड़ि बाहत्तरि लक्ख होंति जिणगेहा ।
भवणामरिन्द महिया भवण समासाणि वन्दामि ॥

इस कथनानुसार सभी अकृत्रिम चैत्यालय हैं। उस भवनामर लोक से नीचे बहुल भाग है। वहाँ रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथ्वी में नारकीय हैं। ऐसे रज्वन्तरित होकर द्वितीयादि रूप से शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूम्रप्रभा, तमप्रभा, महातमप्रभा, ऐसी ६ नरकभूमि है। पहले के रत्नप्रभा से लेकर कुल ७ नरक हुये। प्रथम नरक में इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक ऐसे तीन समतल रहनेवाले १३ पटल तथा दूसरे में ११ पटल हैं। इस प्रकार उन पटलों के अन्दर सब मिलकर पचीस लाख (२५०००००) बिल हैं। तीसरे में ६ पटल है जिसमें दस लाख (१००००००), पाँचवें में ५ पटल है जिसमें तीन लाख (३०००००), छठवें में ३ पटल है जिसमें निन्यानवे हजार नौ सौ पंचानवे (९९९९५) तथा सातवें में १ पटल है जिसमें केवल ५ बिल है। सब मिलाकर उन्चास (४९) पटल और चौरासी लाख (८४०००००)विल हुये। पहले की रत्नप्रभा पृथ्वीसे लेकर पाँचवें नरक के त्रि चतुर्भाग पर्यन्त अत्युष्ण है अर्थात् वह पृथ्वी जितनी है उतने लोहपिण्ड यदि डाल दिये जायं तो वे भी उसकी उष्णता से गलकर पानी के आकार में बन सकते हैं और वही पानी के आकार में लोहपिंड यदि वहाँ से निकलकर ७ वें नरक तक जाय तो वहाँ की कड़ी ठंडक के कारण वही पानी पुनः जमकर पूर्ववत् लोहपिंड बन सकता है।

पंचम भुवश्च चतुर्थभागे षष्ठं सप्तम्याश्च भुविवत्यशीतम् ।

सभी नरकों में जन्म लेनेवाले तीव्र रौद्र परिणामी पंच महापातकादि पाप करने वाले जीव अपने २ किये हुये पापानुसार जन्म लेकर सहज शरीर, मानस, आगन्तुक,

क्षेत्रज्ञ, परस्परोदीरित अर्थात् परस्पर में एक दूसरे को दुःख पहुंचाने वाले यथासंभव दनुजोदीरित दुःख भोगनेवाले पंचमकाल के मनुष्य की पलक गिरने मात्र समय यानी निमिष मात्र भी शान्ति न पाकर घोर दुःखों को भोगते हुए प्रथम नरक में दश हजार (१००००) वर्ष जघन्य आयु एक सागरोपम उत्कृष्ट आयु ऐसे ही पहले नरक की उत्कृष्ट आयु दूसरे नरक की जघन्य आयु हो जाती है। ऐसा होते हुए तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस, तैंतीस सागरोपम काल तक लगातार दुःखों को भोगते रहते हैं। पूर्वोक्त जम्बूद्वीप एक लक्ष योजन है। उसको परिवेष्टित करके चारों ओर दो लाख योजन विस्तीर्ण में रहनेवाला लवणसमुद्र है। उसे परिवेष्टित करते हुए चार लाख योजन विष्कम्भ रहनेवाला धातकी खण्डद्वीप है। उस द्वीप के पूर्वापर दिग्भाग में सर्व मध्य दो मन्दर पर्वत हैं। उसको परिवेष्टित करके आठ लाख योजन विष्कम्भ रहनेवाला कालोदक समुद्र है। उस समुद्र को परिवेष्टित करते हुये सोलह लाख (१६०००००) विष्कम्भ वाला पुष्करवर द्वीप है। उसके मध्य में वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। उसके अन्दर पुष्करार्ध में धातकी खण्ड के समान दो मन्दर पर्वत हैं। इस रीति से मानुषोत्तर के अन्दर का भाग ढाई द्वीप दो समुद्र कहलाता है। वहाँ मनुष्य रहते हैं। वहां पर पंच मन्दर रहने के कारण पंचदश कर्मभूमि होती है। विवक्षा से दो सौ सत्तर (२७०) और तत्सम्बन्धी अवस्थित उत्तम, मध्यम तथा जघन्य भेद से तीन प्रकार की तीस (३०) भोग भूमियाँ हैं। लवण और कालोदक समुद्रों में ९६ अन्तर्द्वीप है। कुत्सित जघन्य भोगभूमि में एक पल्योपम आयु स्थिति वाले कुत्सित मनुष्य जन्म लेकर यथायोग्य अति रसाढ्य रुचिकर मिट्टी, पुष्प और फल, फूल आदि को सेवन करते हुये जीवन निर्वाह करते हैं।

गाथाः—मन्दर कुल वक्खारिसु मणुसोत्तर रुप्पज्जम्बुसामलिसु ।
सिदितिसत्तसयं चउसुत्तरे सयंदुपणं ॥

मन्दर ८०, कुल ३०, मक्षा १००, इष्ट ४, विजय १७०, जम्बू ५, शाल्मलि ५ इस सूत्र के अभिप्राय से ३९८ अकृत्रिम चैत्यालय हैं। मानुषोत्तर के बाहर पुष्करार्ध द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणिवर द्वीप, वारुणिवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, (इस समुद्र से सभी जिनेन्द्र देवों के जन्माभिषेक करने के लिये देवगण जल लेकर महामेरु पर्वत पर जाकर अभिषेक करते हैं और सभी जिनेन्द्रदेवों के किये हुये केश लुञ्चन केश को रत्न की थाली में लेकर स्वयं सौधर्मेन्द्र भक्ति भाव से समुद्र में प्रवाहित करते हैं। इस समुद्र में जलचर जीव का अभाव है) घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र परस्पर में एक दूसरे को वलयाकार से परिवेष्ठित करके रहते हुये १६३८४००००० (एक सौ

तिरेसठ करोड़ चौरासीलाख विष्कम्भ से युक्त आठवां नन्दीश्वर द्वीप है। उसके पूर्व दक्षिण पश्चिमोत्तर दिशा में प्रत्येक अशोक, सप्तच्छद (वन्ध्या कदली), चम्पा तथा आम ये चार पूर्व दक्षिणादि क्रम से वन हैं। इसमें एक हजार योजन गोलाकार, लाख योजन विस्तार तथा उतने ही चौड़े अर्थात् समचतुरस्र जलचरों से रहित अमृतोपम निर्मल जल से परिपूर्ण सोने की वेदिका से युक्त नन्दा, नन्दावती, नन्दोत्तर, नन्दिसेन अरजा, विरजा, गतशोक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, रम्य, रमणीया, सुप्रभा और सर्वतोभद्र ये सोलह सरोवर हैं। ये सरोवर प्रत्येक दिशा में क्रमशः चार चार हुये। चारों सरोवरों के मध्य में सकान्ताञ्जनवर्ण वाला, ८४ हजार उत्सेधवाला तथा उतने ही व्यासवाला अंजन पर्वत है। उन सरोवरों के अन्तर्गत सकान्तादधिवर्ण दश हजार योजन उत्सेध तथा उतने ही व्यासवाले चार दधिमुख पर्वत हैं। उन सरोवरों के बाहर दो कोने में दाहोत्तर सुवर्ण वर्ण अर्थात् गले हुए स्वर्णाकार में हजार योजन उत्सेध तथा उतने ही व्यास प्रमाण में आठ रतिकर नामक पर्वत हैं। इस तरह एक अञ्जन चार दधिमुख और आठ रतिकर मिलकर कुल तेरह हुए और इस क्रम से चारों दिशाओं में कुल बावन (५२) पर्वत हुये। प्रत्येक पर्वत में एक २ अकृत्रिम चैत्यालय है, जिसका वर्णन किया जाता है—

वहाँ पर निर्मल स्वर्णमय तीन प्राकार हैं। प्रत्येक प्राकार में चार २ गोपुर द्वार है और प्रत्येक गोपुर द्वार में अष्टमंगल नव निधि तथा रत्नदर्पण जड़े हुए रहते हैं और चतुर्गोपुर द्वार के अन्दर तथा बाहर सर्वत्ररत्न निर्मित होने से सदा प्रज्वलित होता हुआ मकरतोरण है। उस प्राकार के अन्दर चार (४) मार्ग हैं। जिसमें अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े रहने से सदा प्रकाश चमकता रहता है। वहां पर दर्शकों के मन को मुग्ध एवं आह्लाद करनेवाला तथा मिथ्यात्व को दूर भगाने वाले नन्दादि चार सरोवर, सालत्रय तथा तीन पीठ से परिवृत्त होकर ४ मानस्तंभ हैं। मार्ग के अन्तराल में चारों दिशाओं में रत्नमय जिनप्रतिमा से युक्त परम सुशोभित चैत्यवृक्ष है। उसके निकट विविध भाँति के मनोहर लता वल्लियों से सुशोभित ४ नन्दन वन हैं। उसके अन्दर मध्यम प्राकारान्तर्गत चार मार्ग है। उसके निकट धूपघटावर्त्त शालादि के मध्य में रत्नमय जिन प्रतिमा संकीर्ण तथा नव २ स्तूप से युक्त है। उसके निकट चारों ओर रत्न रचित स्वर्ण दंडादि वस्त्राभूषणों के वेष्टनों से सुशोभित प्रत्येक में एक सौ आठ (१०८) और उन एक सौ आठ के प्रत्येक में १०८ प्रकार की ध्वजायें हैं। उन सबके प्रत्येक में एकसौ आठ (१०८)क्षुल्लक ध्वजा है। उनके नाम इस प्रकार हैं:—

सिंहध्वजा, गजध्वजा, वृषभ, गरुड़, मयूर, सूर्य पद्म तथा चक्रनामक ध्वजायें हैं।

वहाँ पर तीसरे प्राकार के अन्दरमध्य प्रदेश में १०० योजन की लम्बाई ५० योजन चौड़ाई तथा ७५ योजन की ऊंचाई में चारों ओर रत्नमय प्रतिमा है। उसके चारों ओर कलश है। वहाँ पर १६ योजन उत्सेध तथा ८ योजन चौड़ा द्वार है। उसके आधे विष्कम्भ में छोटे-छोटे दरवाजे हैं, जिसके अन्दर एक चैत्यालय विराजमान है। उसके अग्रभाग में अभिषेक तथा वन्दना करने का स्थान व मण्डपादि है। उस के उभय पार्श्व में नाट्य-शाला संगीतशाला, अवलोकनशाला, क्रीड़ागृह, गणनागृह इत्यादि है। उसके पिछले भाग में अत्यन्त सुशोभित शृंगार, कलश, दर्पण, पंखा, ध्वजा, चमर, छत्र और सुप्रतिष्ठित अष्टमंगल कलश, धूपघट, प्रदीप, रत्नमाला आदि अनेक उपकरणों के साथ रत्नों के खम्भे, देवोपनीत गर्भगृह में अपने हाथों में चमर लेकर मिथुन, नाग तथा यक्ष निरन्तर ढुराते रहते हैं, चमर जिसके ऐसे छत्रत्रयादि महाप्रातिहार्य सहित श्री जिनेन्द्र भगवान् का ध्यान करने वाले मनुष्य, संसार में स्तुति के पात्र, पूजा करनेवाले पूजनीय तथा भगवान का अभिषेक करने वाले साधारण जन भी मनुष्य व देवों के द्वारा स्वयं अभिषेक करने के पात्र होते हैं। ऐसा जानकर संसार के समस्त दुःखों का नाश करके परम सुख की प्राप्ति करने की इच्छा से जो भव्य प्राणी इस मनुष्य लोक में एक वर्ष में तीन बार अपने अपने वैभव के साथ विधि पूर्वक नन्दीश्वर की रचना करके आठ दिन तक भक्ति भाव से पूजा करते हैं उन्हें आष्टान्हिक पर्व मानने वाला कहते हैं। ऐसे नन्दीश्वर द्वीप को द्विगुण विस्तार से वेष्टित नन्दीश्वर समुद्र है और आगे इसी क्रम से एक द्वीप तथा एक समुद्र है। नन्दीश्वर समुद्र के आगे अरुण द्वीप, अरुण समुद्र, अरुणाभासद्वीप, अरुणाभास समुद्र को घेरकर कुण्डलवर द्वीप है। उसके मध्य में वलयाकार से वेष्टित कुण्डल पर्वत है। उसके चारों ओर ४ अकृत्रिम चैत्याल्य है। उस कुण्डलद्वीप को वेष्टित करके कुण्डलवर समुद्र है। उसके निकट शंखवर द्वीप, व शंखवर समुद्र है। इन सबको परिवेष्टित करके रुचकवर द्वीप के मध्य में रुचक नामक पर्वत है। उसके चारों ओर ४ अकृत्रिम चैत्यालय हैं। उस द्वीपको परिवेष्टित करके रुचकवर समुद्र है। ऐसे तिर्यंच लोक में ६० अकृत्रिम चैत्यालय है। उस रुचक पर्वत से लेकर स्वयंभूरमण पर्यन्त ढाई उद्धार सागरोपम प्रमाण असंख्यातद्वीप समुद्र है। अन्तिम स्वयंभू रमणद्वीपमें स्वयं प्रभाचल से लेकर अन्दर की वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्र है। अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप के सर्वमध्य में स्वयं प्रभाचल पर्वत है। वहाँ जघन्य भोगभूमि से सम्बन्ध रखने वाले सिंह तथा मृगादि पशु जन्म लेते हैं। स्वयंप्रभाचल से अन्दर कर्मभूमि में सामान्य तिर्यंच जीव होते हैं। वहाँ पर उत्कृष्ट देहावगाह मिलता है। ऊपर कहे हुए कथनानुसार खरभाग व पंखभाग में यथा संभव

मध्यम लोक के द्वीप समुद्र में से गिरि नदी तथा सरोवरादिकों के मध्य प्रदेशों में किंनर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष राक्षस, भूत पिचास ऐसे आठ व्यन्तर देव हैं। एक २ कुल के दो इन्द्र हैं। और एक २ इन्द्र के एक २ प्रीतीन्द्र हैं। इस प्रकार कुल ३२ इन्द्र हैं। उनकी आयु जघन्य १० हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु १ पल्य से कुछ अधिक होती है। उनका रहने का स्थान एक २ है।

गाथा—तिंणिसय जोयणाणं तदिहिद पद पदरं सशंखभागमिदे।
वायाणं जिणगेहे गणाणि णिधिदे णमस्सामि॥

इस सूत्र के अभिप्राय से उसमें असंख्यात अकृत्रिम चैत्यालय हैं। चित्राभूमि से ऊपर एकसौ नब्वे (१९०) योजन ऊपर जाय तो वहाँ एक सौ दश (११०) योजन विस्तृत स्वयंभू रमण समुद्र वेदी के अन्त तक है।

अब आगे ज्योतिर्लोक का वर्णन करते हैं:—

ज्योतिर्लोक में चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा प्रकीर्णक तारा ऐसे ज्योतिष देव पांच प्रकार के हैं। चन्द्र, इन्द्र, आदित्य, प्रतीन्द्र आदि देवों के रहने का क्रम कैसा है, सो कहते हैं।

गाथा—णवदुत्तरसत्तसये दशसिदि चदुदुग तिचउक्के।
तारिस सिरिक्क वुहासु कडुरुगार मन्दगति॥

इस प्रकार सूत्र के क्रमानुसार मृत्युलोक सम्बन्धी ज्योतिषियों की गाथा कहते हैं।

गाथा—इगिविषय संय विहाय मेरुं चरन्ति जोगइगणा।
चन्दतियं वंजिता तासेसा हु चरन्ति एक्कपहे॥

इस सूत्र के क्रम से संचार करते हैं। पर वहाँ से बाहर रहनेवाले संचार न करते हुए केवल झलकते रहते हैं। उनकी जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग, उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है। ऐसी ज्योतिर्लोक में एक एक प्रतिमा है।

गाथा—वेसदं पएणं गुणकदि इदपदरं सशंख भागमिदे।
जोइस जिणिन्दगेहे गणणातीदे णमस्सामि॥

इस सूत्र के अभिप्राय से असंख्यात अकृत्रिम चैत्यालय हैं। पहले कहे हुये भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क इन तीन निकायों में पर पीड़ा करनेवाला और धर्म द्वेष करनेवाला अप्रशस्त परिणाम से जन्म लेता है। इस विषय में अर्थात भवनामर लोक के

वर्णन में आचार्य श्री कुमुदेन्दु ने अपनी सर्व भाषामयी कन्नड़ भाषा के श्री भूवलय ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है—

पिडेदिवनेल्ल कूडलु एळु कोटिय । कडेयप्पत्तयूदु लक्षगळु ।
पोडवियइन्द्र भवन पणिहउ । विडदे नोडिरि लेक्क गळं ॥

सात करोड़ सत्तर लाख भवन हैं।

पहले सन्मार्ग प्रवृत्तिवाले होकर बाद में धर्म को निन्दा करके सम्यक्त्व को छोड़ देता है। और द्रव्य लिंगी मुनि होकर, भुवनत्रय में जन्म लिये। वहाँ पर असंयमी होने के कारण मिथ्या तप करनेवाले अन्य लिंगधारी मिथ्या दृष्टि होकर जन्म लेते हैं। अब आगे कल्पवासी विमान का वर्णन करेंगे। ऊपर कहे हुए मेरु पर्वत की चूलिका के अग्र भाग पर एक बाल रखने के अन्तर में ऋतु विमान है। वहाँ से स्वर्ग प्रारंभ होता है। वहाँ पर देवों के ६३ विमानों के पटल हैं। प्रथम पटल से इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक तीन पटल हैं। ऐसे सिद्ध क्षेत्र से नीचे बारह योजन अन्तराल है।

कैसे ये बताते हैं:—

सौधर्म, ईशान नामक प्रथम द्वितीय के ३१ पटल हैं तथा कल्प में ३२ लाख विमान हैं। उन दोनों कल्पों में जघन्यायु की स्थिति साधित १ पल्य है, उत्कृष्ट स्थिति साधित दो सागरोपम है। यह उत्कृष्ट आयु दूसरे स्वर्ग की जघन्य आयु होगी सौधर्मेशान कल्प के ऊपर सनत्कुमार महेन्द्र एवं तृतीय चतुर्थ कल्प हैं। वहां ७ पटल हैं। सनत्कुमार कल्प में १२ लाख विमान हैं और महेन्द्रकल्प में ८ लाख। दोनों कल्पों में उत्कृष्ट आयु स्थिति सात सागरोपम है। वहां से ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर पांचवां और छठवां कल्प है। वहां ४ पटल हैं। दोनों में कुल ४ लाख विमान हैं। उत्कृष्ट आयु साधित १० सागरोपम है। उसके ऊपर लान्तव कापिष्ट नामक ७वां और आठवां कल्प है। वहाँ दो पटल हैं। दोनों कल्पों में कुल ५० हजार विमान हैं। उत्कृष्ट आयु की स्थिति कुछ अधिक १४ सागरोपम है। उसके ऊपर महाशुक्र नामक ९ वां दशवां कल्प और एक पटल है। दोनों में कुल ४०००० विमान हैं। उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक १६ सागरोपम है। वहाँ से ऊपर शतार सहस्रार नामक १२ वां कल्प है। वहां १ पटल और ६ हजार विमान हैं। उत्कृष्ट आयु की स्थिति कुछ अधिक १८ सागरोपम है। वहां से ऊपर आनत, प्राणत, आरण, अच्युत ऐसे १३ वें, १४ वें, १५ वें, १६ वें, चतुष्टय में ६ पटल है। उन चारों में ७०० विमान हैं और आनत प्राणत में उत्कृष्ट आयु की स्थिति २० सागरोपम है। आरण

और अच्युत इन दोनों में आयुकी स्थिति २२ सागरोपम है। ऐसे १६ स्वर्गों में इन्द्रादि १२ विकल्प हैं। इसलिये इन स्वर्गोंका नाम कल्प पड़ा। इन १६ स्वर्गों में अधिगमज सम्यग्दृष्टि अर्थात् देव गुरु शास्त्र के निमित्त से होने वाले सम्यग्दृष्टि असंयम, और देशव्रती अपने २ मन्द तीव्र परिणामों के अनुसार महर्द्धिक नामक इन्द्रादि पंचक में उत्पन्न होत हैं। स्वभाव से मार्दवत्व, ऋजुत्व तथा धर्मानुकूल होते हैं। किसी भी प्राणी को पीड़ा न देते हुये करुणा तथा बाह्य संयम सहित जो मुनि लिंग धारण करके किसी कारणवश सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिथ्या तप करनेवाले, १ दंडी त्रिदंडी और अन्दर असंयम व मिथ्यात्व तथा बाहर से दिगम्बर वेषधारी संयम की विराधना करने वाले तथा मोक्ष फल की प्राप्ति ही जिन धर्म है, इसे न जाननेवाले, विश्वास से रहित यानी जैन धर्म ही संसार के लिये मुख्य कारण है, ऐसी धारणा करके सुखों की इच्छा करते हुये बाह्य व्रताचरणों को करने वाले मिथ्य दृष्टी अपने-अपने परिणामों के अनुसार महर्द्धिक के अतिरिक्त पारिषत्रय आत्मरक्षा, अनीक इत्यादि में उत्पन्न होते हैं।

वहाँ से ब्रह्म कल्पान्त की ईशान दिशा से लेकर क्रमानुसार आठों दिशाओं में रहने वाले विमानों में सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अरिष्ट और च शब्द से इत्यादि रहते हैं। वे सब परम पूज्य होने से देवर्षि तथा कर्मक्षय करने में समर्थ होने से लोकान्तिक देव कहलाते हैं। उनकी आयु आठ सागरोपम होती है। ऊपर कहे हुए सोलह कल्प के ऊपर अधस्तनाधस्तन, अधस्तनमध्यम् तथा अधस्तनोपरिम ऐसे तीन अधोग्रैवेयिक हैं। इन तीनों में तीन पटल तथा एक सौ ग्यारह विमान हैं। यथा क्रम से उत्कृष्ट आयु स्थिति २३, २४, २५ सागरोपम है। वहां से ऊपर मध्यमाधस्तन, मध्यमामध्यम और मध्यमोपरिम ऐसे तीन मध्यम ग्रैवेयिक हैं। उसमें ३ पटल और १०७ विमान हैं। वहाँ उत्कृष्ट आयु स्थिति यथा क्रम से २६, २७, २८, सागरोपम है। वहाँ से ऊपर उपरिमाधस्तन, उपरिममध्यम तथा उपरिमोपरिम ग्रैवेयिक हैं। वहाँ तीनों में ३ पटल और ९१ विमान हैं। यथा संभव उत्कृष्ट २९, ३०, ३१ सागरोपम आयुवाले अधिगमज सम्यग्दृष्टि जन्म लेते हैं। बाहर से जिनलिंगधारी बाह्य संयम में तत्पर होकर अन्तरंग से "देव गुरु शास्त्रादिक तत्वों में तन्मय होना ही मोक्ष मार्ग का कारण है. ऐसा निश्चय श्रद्धान व ज्ञान न होने के कारण भावमिथ्यादृष्टि होकर नवग्रैवेयिक में जन्म लेते हैं। उसके ऊपर एक पटल में अर्चिमालिनी, वैर, वैरोचिनी, सो, सोमामरूपा, अंके, स्फटिका, मध्यमा और आदित्य ऐसे ९ अनुदिशि विमान हैं। वहाँ उत्कृष्ट आयु की स्थिति ३२ सागरोपम है। उसके ऊपर एक पटल है। उसके चारों दिशा में विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ऐसे चार विमान हैं। वहाँ उत्कृष्ट आयु स्थिति ३३

सागर है। वहाँ भावशुद्धि अधिगमज सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं। विजयादि के मध्यमें सर्वार्थसिद्धि है। वहाँ उत्तम मध्यम तथा जघन्य का कोई भेद नहीं है तथा वहाँ पर ३३ सागर आयुवाले अहमिन्द्र होते हैं। वे वहाँ से चयकर मनुष्य भूमि में जन्म लेकर कर्मों का क्षय करते हैं तथा एक भवावतारी होते हैं। इस रीति से कल्प और कल्पातीत स्वर्ग के भेद हैं।

चतुरसीद लक्ख सत्तानवदि सहस्से तहेव तेवीसे।
सव्वेविमान समखिखद जिनेन्द्र गेहे णमंसामि॥

८४९७०२३ अकृत्रिम चैत्यालय हैं। सर्वार्थसिद्धि से १२ योजन ऊपर जाने पर आठ योजन बाहल्य मानुष क्षेत्र के प्रमाण अर्थात् ४५ योजन प्रमाण हैं। स्फटिक शिलामय सिद्ध क्षेत्र लोकाग्र में है। उसके ऊपर ३ वायु हैं। अन्त के तनुवात से वेष्टित आकाश प्रदेश में कौन रहता है? पहले मनुष्य होकर उत्कृष्ट संपूर्ण परिग्रहों को त्याग कर पूर्ण संयमधारी होकर व्यवहार निश्चय मोक्ष मार्ग में प्रवर्तन करते हुए रहनेवाले द्रव्य पुरुष तीनों भाव वेदों में से कोई एक वेद उदय में आकर क्षपक श्रेणी चढ़कर अनिवृत्ति करण गुण स्थान में भाव वेद को नाश कर अपगत वेदी होते हुए प्रथम शुक्ल ध्यान से सूक्ष्म सांपराय गुण स्थान के चरम समय में निद्रा और प्रचला को नाश कर चरम समय में दर्शनावरणी चतुष्क, केवलज्ञानावरण पंचक, अन्तराय पंचक को क्षयकर युगपत् समस्त वस्तु परिच्छेदकत्व से लोकालोक को प्रकाश करने वाला सकलविमल केवलज्ञान को प्राप्त करके, त्रिलोक के स्वामी बनकर सयोग केवली होकर पहले शुभतम कर्म विशेष अनन्त अनुपम प्रभावशाली, शीघ्र केवल ज्ञान प्रगट जीव द्रव्योपलक्षित अचिन्त्य विभूति विशेष करण होता है। उस समय में सौधर्मादि सुरेन्द्रों का आसन कंपायमान हो जाता है। ऐसे त्रिलोक्य विजयी तीर्थंकर नाम कर्म के-निमित्त पहले की सोलह भावनाओं को भाकर तीर्थंकर नाम कर्म को बांधकर पंच कल्याणों में से ४ कल्याणों के पश्चात् अर्थात् गर्भावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण तथा केवलज्ञान से युक्त ऐसे तीर्थंकर केवली होते हैं।

यह भावना इस प्रकार हैं:—

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हन्ताचार्य, बहुश्रुत, प्रवचनभक्ति, आवश्यक परिहारिणी, मार्गप्रभावना तथा प्रवचन वत्सलता

भावना ऐसे सोलह होते हैं। भगवदर्हत्परमेश्वर प्रणीत आप्तागम पदार्थों के विषय में निम्न श्लोक दिये जाते हैं:—

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे ।
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः ।।
प्रसरति यदि पद्म पर्वताग्रे शिलायाम् ।
न च भवति च मिथ्या केवलज्ञानदृष्टम् ।।

कदाचित् सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हो जाय, मेरु पर्वत चलने लगे, अग्नि अपनी उष्णता त्यागकर ठंडक हो जाय तथा पर्वत की शिला पर कमल भले ही उगने लगे, किन्तु केवल ज्ञान में जो दीख पड़ा है वह कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता। इस कथन के अनुसार श्रद्धान करना २५ मलदोष रहित होते हुए निःशंक, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और धर्मप्रभावना इन आठ अंगों सहित सम्यग्दर्शन की उत्कर्षता को दर्शन विशुद्धि कहते हैं। शेष पन्द्रह भावना दर्शन विशुद्धि के अन्तर्गत होने से एक ही तीर्थंकर प्रकृति बंध के कारण हैं। मोक्ष के साधन भूत सम्यग्दर्शनादिकों के कारण गुरुजनों में आदर सत्कार करना विनय संपन्नता कहलाती है।

अहिंसादिक व्रतों में रह करके क्रोध से रहित होकर अठारह हजार शीलों का मन, वचन, काय पूर्वक निरवद्य यानी निर्दोष वृत्ति से पालन करने का नाम शीलव्रतेष्वनतिचार है। जीवादि पदार्थों के विषयों में जैसा प्रतिपादन किया गया है उसी के अनुसार तीव्र प्रवर्तन करने का नाम अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

चतुर्गति भ्रमण रूप संसार के स्वाभाविक, शारीरिक, आगन्तुक तथा मानसिक अनन्त दुःख हमें उठाने पड़े। अब इस संसार में मुझे पुनः फंसना न पड़े, ऐसी भावना करना संवेग भावना है।

शक्तितस्त्यागः—त्याग का अर्थ दान देना है। आहार औषधि, शास्त्र तथा अभय इन चार प्रकार के दान को अपनी शक्ति के अनुसार देने का नाम शक्तितस्त्याग भावना है। सत्पात्र को चार प्रकारके दान देना चाहिये। संयम के साधन निमित्त आहार देना आहारदान है। भय निवारण करना अभयदान है। रोग निवारण के लिये औषधिदान देना औषधि दान कहलाता है। मोक्ष मार्ग को प्रदर्शित करने के लिये शास्त्र देना शास्त्र दान कहलाता है। इस विषय में भूवलय सिद्धान्त ग्रन्थ में कहा गया है कि:—

धर्मं चतुर्विधंप्राहुर्दानपूजादिभेदतः ।
तच्चान्नाभयभैषज्यशास्त्रदानप्रभेदतः ॥१॥
रोगिभ्यो भेषजं देयं रोगो देहविनाशकृत् ।
देहनाशे कुतो ज्ञानं ज्ञानाभावे न निर्वृत्तिः ॥२॥

नं० १ के श्लोक का अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। नीचे नं० २ का अर्थ दिया जाता है:—

रोगियों के लिये औषधि दान देना चाहिये। क्योंकि रोग शरीर को नाश करता है। देह के नाश हो जाने पर ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता और ज्ञान के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

खगेन्द्रमणि दर्पण में भी कहा है—

नरर्गरुजते भेषजदिं दरुजतेइं देह देहदिंदं ज्ञानं ।
परमज्ञानदे मोक्षं दोरेकोळ्गुमदेन्दु पेळ्दपें भेषजमम् ॥

आहार दान देने से ऐहिक और पारलौकिक दोनों सुखों का भोक्ता, अभय दान देने से निर्भय औषधि दान से कर्म निर्जरा करने योग्य स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर की प्राप्ति तथा ज्ञान दान देने से सैकड़ों हजारों भवों के विविध दुःखों को नाश कर संपूर्ण ज्ञानों का धारी होकर केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस कारण से उपर्युक्त चारों प्रकार के दान को अपनी शक्ति के अनुसार करने को शक्तितस्त्याग कहते हैं।

और भी कहा है:—

सत्पात्रदानेन भवेद्धनाढ्यो, धनप्रकर्षेण करोति पुण्यम् ।
पुण्याधिकारी दिवि देवराजः पुनर्धनाढ्यो पुनरेवभोगी ॥

अर्थ—सत्पात्रों को दान देने से धन की प्राप्ति होती है, धन के प्रभाव से पुण्योपार्जन किया जाता है, पुण्य करने से स्वर्गीय देवों का राज्यपद प्राप्त होता है और बारम्बार धनी तथा भोगी होता रहता है।

शक्तितस्तपः—संसार से पूर्ण विरक्त होकर, संयमपूर्वक मुनिव्रत को धारण कर, अपने शरीर से निर्ममत्व होकर ऐसी भावना करना कि यह शरीर अत्यन्त अशुचि, अमंगलकारी तथा आत्मा के साथ रहकर सदा दुःख देनेवाला है। इससे क्षण मात्र भी सुख नहीं मिल सकता। अतः इस शरीर को नौकर के समान जानकर इससे स्नेह न करके अपनी

शक्ति के अनुसार मोक्ष पद के साधन भूत दुर्द्धर तपश्चरण, अनुष्ठान तथा अध्ययनादि में तत्पर रहना उत्तम तप कहलाता है।

साधु समाधिः—संपत्ति से परिपूर्ण मकान में आग लग जाने पर शीघ्रता से बुझाने के लिये विविध भाँति की सामग्रियों को इकट्ठा करके उसके द्वारा जलती हुई सम्पत्ति की रक्षा चतुर जन जिस प्रकार कर लेते हैं उसी प्रकार मुनिजनोंके ऊपर आये हुए उपसर्ग काल में तथा जप, तप, संयम स्वाध्याय आदि में विघ्न आने पर विविध युक्तियों के द्वारा उनके जप, तप, संयमादि की रक्षा करना साधु समाधि कहलाती है।

वैयावृत्यः--गुणवान् साधुओं की व्याधिग्रस्त होने पर अर्थात् रोगी, बाल, वृद्ध अशक्त इत्यादि असमर्थ मुनियों के ध्यान अध्ययन में किसी प्रकार की बाधा न हो, इस प्रकार सावधानी के साथ शारीरिक सेवा करना तथा योग्य आहार पानी देना वैयावृत्य कहलाता है।

बहुश्रुतादि भक्तिः--यथाक्रम से केवल ज्ञान व श्रुतज्ञानरूपी दो नेत्र धारी, परोपकार प्रवृत्ति रखनेवाले त्रैलोक्य स्वामी अर्हंत भट्टारक के परमागमानुयायी आचार्य परमेष्ठी, स्वपर समय को जानने वाले, तर्क व्याकरण तथा सकलागम के ज्ञाता ऐसे बहुश्रुतजनों में भक्ति करना आसन्न भव्य को ही प्राप्य है, ऐसे मोक्ष महल के ऊपर चढ़ने के लिये उपर्युक्त चारों सोपान हैं। ऐसे वीतराग सर्वज्ञ देव के कहे हुये आगम में त्रिकरण शुद्धि पूर्वक अनुराग प्रकट करना चार भक्तियों का सार है।

आवश्यक परिहारः—सामायिक, चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ऐसी ६ आवश्यक क्रियाओं में संपूर्ण सावद्य हिंसा को त्याग कर मन को एकाग्र करके ध्यान में स्थित होना सामायिक है।

चौबीस तीर्थंकर स्तवनः—मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक बारह आवर्तन अर्थात् चार शिरोन्नति चार बार दायें तथा चार बार बायीं दिशा में हाथ जोड़कर तीन-तीन बार घुमाते हुए भगवान् के आंगोपांग का ध्यान करके स्तुति करना वंदना कहलाती है।

प्रतिक्रमणः—अतीत दोष निवारण को प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रत्याख्यान—अनागत दोष त्यागने को प्रत्याख्यान कहते हैं।

कायोत्सर्ग—काल को नियमित करके शरीर त्याग भावना से शुभोपयोग में लीन होना कायोत्सर्ग कहलाता है। आवश्यक परिहार पूर्वाह्न आदि काल का अतिक्रमण न करके किसी प्रकार की उसमें बाधा न हो, ऐसी भाव शुद्धि पूर्वक षडावश्यक क्रिया करना आवश्यक परिहार कहलाता है।

मार्गप्रभावना—स्व समय का प्रगट करना, दान पूजादिक के द्वारा भगवान की महिमा तथा सच्चे अहिंसा धर्म का प्रगट करना मार्ग प्रभावना है।

प्रवचन वात्सल्यता—प्रकृष्टं वचनं प्रवचनम्। प्रकृष्टस्य वाचनम् प्रवचनम्।
सिद्धान्तो द्वादशांगमित्यर्थान्तरम् ॥

इस परमागम को प्रतिपादन करने वाले देशव्रती और महाव्रती होते हैं। उनके उपदेश को प्रवचन कहते हैं। वे सर्वजन हितैषी निःस्वार्थी बन्धु होते हैं और वे ही मोक्ष मार्ग के सच्चे हितकारी हैं। चतुर्विध संघ में उपर्युक्त सोलह प्रकार की भावनाओं को सम्यक्त्व सहित करने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

प्रश्न—यह कैसे ?

उत्तर—पंच महाव्रतादि आगम अर्थ का विषय चतुर्विध संघ में ही मिल सकता है। वहाँ उत्कृष्ट अनुराग होने के कारण तथा अविनाभाव रूप होने के कारण अन्य दर्शन विशुद्धयादि पन्द्रह भावनायें उपलब्ध होती हैं। इनकी प्रत्येक भावनाओं में अन्य पन्द्रह भावनाओं का अविनाभावी संबंध है।

तीर्थंकर नाम कर्म के शुभास्रव से ही तीथकर प्रकृति का बंध हो जाता है। इसी प्रकार की सोलह भावना भाने से आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान अविनाशी मोक्ष पद के स्वामी होकर केवल ज्ञान को प्राप्त किये है। उन्हें जब केवल ज्ञान हुआ तब उनके ऊपर स्वर्गीय पुष्प वाटिकाओं से स्वतः पुष्पों की वर्षा हुई, देवों ने दुन्दुभी बजाई, स्वर्गीय देवाङ्गनाओं ने मधुर शब्दों में मंगल गान की और भगवान् के चारों ओर सभी लोग जयर कार करके उनका यश गान किये। उस समय सौधर्मादि चतुर्निकाय देवों का आसन कंपायमान हो गया। जैसे कहा भी है कि:—

कल्पेषु घंटा भवनेषु शङ्खो ज्योतिर्विमानेषु च सिंहनादः।
दध्वानभेरी वनजालयेषु स एव देवो जिन विम्ब एषः॥

भगवान् के केवल ज्ञान के समय कल्पवासी देवों में घंटानाद, भवनवासी देवों में शंखनाद, ज्योतिर्विमान में सिंहनाद और व्यन्तर लोक में भेरीनाद, इस प्रकार के आश्चर्य को देखकर इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान के द्वारा भगवान् को केवल ज्ञान होने का समाचार जान लिया और कुबेर को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम पहले वहाँ जाकर भगवान के समवसरण की रचना करो, पीछे से मैं भी आऊँगा। यह सुनकर कुबेर, भक्ति भाव से केवली भगवान् की दर्शन करके अपने को धन्य २ समझे तथा

परमानन्द की सीमा को प्राप्त किये। तत्पश्चात निम्नलिखित क्रम से समवशरण की रचना प्रारम्भ कर दिये:—

समवशरण के बारे में भूवलय में इस प्रकार कहा है कि:—

णवकार मंत्रदोळादिय अरहन्त । शिवपद कैलासगिरिवा ।
सर्वश्री समवसरणभूमि यतिशय । जवञ्जव संहारभूमी ॥
वरभद्रकारणवदनु मंगलवेन्दु । गुरुपरंपरेय अंगवदु ।
परमात्मसिद्धिय कारण गमनव । सिरि वर्धमान वाक्याङ्क ॥
नरसुर तिर्यंच नारकि जीवर्गे । परिपरि सम्यक्त्वदगौ ।
चरियद् चारित्र्यलब्धिकारणवागे । अरहन्तभाषित वाक्य ॥
उसह तीर्थंकरादि इप्पत्नाल्कु । यशधर्म तीर्थंकरतत्त्व ।
वशवादभव्यर संसारदन्त्यवु । जसदन्ते बन्दोदगुवुदु ॥
दीव सागर गिरिगुहे कन्दरवा । ठाविनोळिरुवनिर्वाण ।
भूवि मोत्तदनेलेवनेयद तोरुव । पावन मंगल काव्य ॥

श्री भूवलय मंगल प्राभृत दशवें अध्यायके १४२ वें श्लोक से लेकर १४६ वें तक के आदि अक्षर यदि ऊपर से नीचे पढ़े तो प्राकृत भाषा का "णव णवदि" और मध्य का "अक्षरवान्" गौतम ऐसा संस्कृती होता है ?

यह समवशरण मोक्षपद का मूल कारण है। इसीलिये इसे कैलाश कहते हैं और पर्वतों के अग्रभाग में स्थित होने से अन्तिमाङ्क नव पद परिपूर्ण है। यह भूमि संसार के संहार का कारण है, यह भूवलय ग्रंथ का विशेष प्रयोग है। इस समवसरण का वर्णन भद्रस्वरूप होने से मंगलमय है, ऐसा अनादि आचार्य परंपरा का कथन है। परमात्म सिद्धि प्राप्त करने के मार्ग में यह शीघ्र पहुंचाने वाला है, ऐसा श्री महावीर भगवान् ने कहा है। नर सुर तिर्यंच और नारकीय जीवों को समवसरण के केवल स्मरण करने मात्र से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। उसके फल से गोचरी वृत्ति का चारित्र लब्धि रूप संयम प्राप्त होता है। ऊपर कहे हुए वृषभादि चौबीस धर्म तीर्थ प्रवर्तकों का तत्व स्वरूप है। इस समवसरण का जो दर्शन करता है उसे शीघ्रातिशीघ्र संसार का अन्त होकर अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। द्वीप, सागर, गिरि,

गुफादि में कठिन तपश्चर्या के द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् समवसरण की रचना होती है। सिद्धलोक सांसारिक जीवों के देखने में नहीं आता; पर समवसरण आता है। यह समवसरणभूमि पवित्र मंगल काव्य स्वरूप ही है। अब गोचरी वृत्ति का विवेचन करना हम आवश्यक समझते हैं।

मनुष्य गधे घोड़े तथा गाय के समान तीन प्रकार से आहार ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार गधा तृण चरते समय पौधे को समूल उखाड़ कर खा लेता है अर्थात् किसी दूसरे जानवर के खाने के लिये शेष नहीं रखता उसी प्रकार असंयमी मनुष्य भक्ष्याभक्ष्य का विवेक न रखकर इधर उधर होटल तथा बाजारों में खाते रहते हैं। जिस प्रकार घोड़ा तृण चरते समय ऊपर से अर्द्ध भाग काट कर खा जाता है और अर्द्ध भाग गधे के लिये शेष छोड़ देता है उसी प्रकार देशव्रती स्वयं शुद्ध आहार ग्रहण कर अन्य लोगों के लिये भी छोड़ देते हैं तथा महा व्रती गाय के समान सूक्ष्म आहार लेकर देशव्रती तथा अन्य सभी के लिये शेष छोड़ देते हैं, यह सुन्दर दृष्टान्त है।

समवसरण—समवसरण में अत्यन्त राग से युक्त देवाङ्गनायें सुमधुर वचनों से गान करती रहती हैं, सुगन्धित वायु चलती है तथा देवगण जय जयकार करते हैं।

तीर्थंकर भगवान् को केवल ज्ञान होते ही कल्पवासी देवों के विमानों में घंटानाद, ज्योतिषी देवों के विमानों में सिंहनाद, भवनवासी देवों के भवनों में शंख तथा व्यन्तर देवों के भवनों में नगाड़े बिना किसी के बजाये स्वयमेव बजने लगते हैं तथा उसी समय सौधर्म इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है, इससे सौधर्म इन्द्र अवधिज्ञान द्वारा भगवान को केवल ज्ञान की प्राप्ति जानकर तत्काल अपने परिकरसहित केवल ज्ञान कल्याणक के लिये स्वर्ग से चलकर भगवान् के पास आकर उनकी पूजा करता है और कुवेरको समवसरण की रचना करने का आदेश देता है तथा भगवान् के दर्शन और भक्ति द्वारा अपना जन्म सफल मानता है। कुवेर पृथ्वी तल से २० हज़ार सीढियां ऊंचा १२ योजन विस्तार वाला इन्द्र नीलमणियों का सुन्दर सभा मण्डप (समवसरण) बनाकर तैयार करता है। उसका बाहरी कोट रत्नमय होता है जिसमें चारों ओर चार सुन्दर द्वार होते हैं, उस कोट के भीतर एक सुवर्णमय कोट होता है और उसके भीतर एक चांदी का कोट होता है। उन स्वर्ण रजतमय कोटों की चारों दिशाओं में चार द्वार होते हैं। रत्नमय कोट के द्वारों के सामने (समवसरण के बाहरी भाग में) प्रत्येक दिशा में एक एक उन्नत रत्नमय मानस्तम्भ होता है। रजतमय कोट के भीतर १२ सुन्दर कक्ष (कोठे) बने होते हैं जिनमें बैठकर चतुर निकायों के देव उनकी देवियां, मुनि, आर्यिका, गृहस्थ स्त्री पुरुष तथा विभिन्न

पशुगण भगवान् का दिव्य उपदेश सुनते हैं। समवसरण के ठीक बीच में तीन कटनी वाली सुन्दर गन्धकुटी बनी होती है। उस गन्धकुटी के ऊपर एक सुन्दर रत्नजड़ित सुवर्ण सिंहासन रक्खा होता है। सिंहासन पर एक सुवर्ण कमल होता है उससे चार अंगुल ऊँचे अधर आकाश में भगवान् विराजमान रहते हैं। भगवान् के शिर पर तीन छत्र होते हैं, उनके पीठ पीछे भामण्डल होता है, चौंसठ यक्षदेव चंवर ढारते हैं। भगवान का मुख पूर्व दिशा में होने पर भी चारों दिशाओं में दिखाई देता है।

भगवान् की दिव्यध्वनि होठ तालु आदि के बिना हिले सर्व अंग से निरक्षरी एक दिन रात में चार बार खिरती है।

पुव्वण्हे अवरण्हे मज्झण्हे तह य मज्झरत्तीए।
छच्छ घडिया णिच्चं दिव झणिक इतं वह्न (चंठ) ॥

वाणी—भगवान की ध्वनि पूर्वाह्न (प्रातः), अपराह्न (शाम), मध्याह्न तथा मध्य रात्रि में छह छह घड़ी तक खिरती है।

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं, न स्पन्दितौष्ठद्वयम्।
नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम्॥
शान्तामर्षविशेषकं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभि-
स्तन्नस्सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादमूर्धं वचः॥

चार घाति कर्म रहित सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि समस्त जीवों के लिये हितकारी होती है, वह निरक्षरी होती है, उसके प्रगट होने में भगवान् के दोनों होठ नहीं हिलते, वह बिना इच्छा के निर्दोष खिरती है,उसके खिरते समय श्वास नहीं रुकता,उसके सुनने से ईर्ष्या द्वेष शांत हो जाते हैं। पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव मात्र जिसे सुन समझ सकते हैं, ऐसी दिव्यध्वनि हमारी रक्षा करे। घाति कर्म क्षय से चार सौ योजन क्षेत्र में सुभिक्षता होती है और परमातिशय गगनगामित्व होता है। इतना होते हुये भी त्रस स्थावर जीव को किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। सकल दोषों की जननी क्षुत्पिपासादि उपसर्गों की पीड़ा नहीं होती। चार मुख दीख पड़ते हैं (चतुर्मुखत्वम्) भूवलय में कहा है—भगवान का एक ही मुख होने पर भी चारों ओर स्फटिक मणि होने से जिस प्रकार चार मुख दीख पड़ते हैं उसी प्रकार एक ही सिंह का प्रतिबिम्ब चारों ओर स्फटिक मणि लगे रहने से चार रूप में दीख पड़ता है। वे भगवान् संपूर्ण विद्याओं के ईश्वर होते हैं, उनका शरीर छाया रहित होता है, आँख की पलकें नहीं लगतीं, अन्य किसी में न होनेवाले अतिशय सहित

सप्त धातु रहित, करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश को लज्जित कर अधिक प्रकाश करने वाला स्फटिक मणि के समान स्वच्छ निर्मल तथा तीनों लोकों में आश्चर्यकारी भगवान का शरीर रहता है।

क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, बुढ़ापा, पीड़ा, मृत्यु, पसीना दुःख, मद, आश्चर्य, जनन, तथा निद्रा ये अठारह दोष भगवान् में नहीं होते और अक्षय, अनन्त अव्याबाध, अनघ, सूक्ष्म, नित्य, निरञ्जन, ब्रह्म, प्रजापति, पितामह-विष्णु, पुरुषोत्तम, अच्युत, वासुदेव, स्वयंभू, शंकर, शिव, ईश्वर, त्रिपुरान्तक, रुद्र, महादेव बुद्ध, प्रसिद्ध, सुगत, देवाधिदेव, अभव, अभय, अर्हं, वीतराग, सर्वज्ञ, तीर्थंकर और जिनेन्द्रदेव इत्यादि एक हजार आठ अन्वर्थ नाम से युक्त होते हैं। भगवान् सकल विमल केवलज्ञान से लोकालोक को प्रकाश करते हैं। तथा ऊपर कहे हुए कुबेर निर्मित समवसरणादि बाह्य वैभव से युक्त हैं।

भगवान् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, तथा अनन्त सुख चतुष्टय रूप अन्तरंग वैभव के स्वामी हैं। ऐसे सर्व सुलक्षणों से युक्त परमार्हन्त्य रूपी लक्ष्मी के पति श्री सर्वज्ञ देव की केवलज्ञान पूजा करने के लिये अपने समस्त परिवारों को लेकर सौधर्म देव भक्ति भाव से समारम्भ के साथ सर्वोत्कृष्ट अर्चना द्रव्य और अनुपम भृंगार कलशादि मंगल द्रव्य से युक्त होकर आता है, कल्पवासी देवों के २४, चमर वैरोचनादि भवनालय के ४०, व्यंतर देवों के ३२ ज्योतिषी देवों के चंद्र सूर्य दो, सिंह तथा चक्रवर्ती ये सब सौ इंद्र श्रीजिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में भक्ति भाव से नमस्कार करते हैं, अतः वे भगवान त्रिलोक पूजनीय हैं। सभी इन्द्र महा वैभव और हर्ष से अपने २ परिवार सहित अपने २ लोक से सौधर्मेन्द्र के पास आते हैं और सौधर्मेन्द्र सभी लोगों को साथ में लेकर अत्यन्त आश्चर्यकारी विक्रिया से निर्मित ऐरावत हाथी पर बैठकर भगवान् की केवलज्ञान पूजा करने के लिये जब चलता है तब उनके परिवारों से आकाश मण्डल, भूमंडल दिग्मण्डल इत्यादि परिपूर्ण हो जाता है। अपने शरीर में धारण किये हुये देव देवांगनाओं के बहुमूल्य रत्नाभरणों के प्रकाश की किरणों से सर्वत्र प्रकाश हो जाता है। उस समय गायकगण हर्षपूर्वक गान करते हैं, वाद्य बजाने वाले बाजे बजाते हैं, नृत्यकार नृत्य करते हैं, मंगल पाठक विविध प्रकार के काव्य स्तुति पढ़ते हैं, अनेक भारवाही देव छत्र, चामर, शंख इत्यादि परमैश्वर्यकारी चिन्हों को लेकर बड़े हर्षोल्लास के साथ विशेष वाद्य बजाते हैं, जिससे कि उनकी ध्वनि चारों दिशाओं में गूँज जाती है। इस प्रकार के महा वैभव के साथ चलकर देवेन्द्र थोड़ी दूर आकर समवसरण के मानस्तंभ को देखते ही हाथी से नीचे उतर जाते हैं।

बीस हजार सोपानों से आते हुये इंद्रगण बाहर की धूलिशाला प्राकार के गोपुरद्वार में प्रवेश कर वहाँ के वैभव को देखते हुए मानस्तंभ व गोपुर के अन्दर आकर तीन सिंहासन से सुशोभित मानस्तभ की प्रदक्षिणा करके उसके ऊपर विराजित श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा को देखकर मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। वहाँ से आगे चलकर सिद्धार्थ नामक चैत्य वृक्ष की प्रदक्षिणा देकर समस्त जिनबिम्बों का दर्शन करते हुए आगे चलकर परमानंद के साथ लक्ष्मी मंडप को देखते हैं और अन्दरके गोपुरद्वारमें आकर एकही साथ करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश एक साथ होने के समान परमौदारिक शरीरधारी श्रीजिनेन्द्र अरहंत केवली भगवान् का दर्शन कर भक्ति से रोमाञ्चित शरीर हो सहस्र लोचन बनाकर हाथ जोड़कर भाल स्पर्श करते हुये, जय जय ध्वनि करते हुये पूर्वोक्त वर्णन से सम्बन्धित प्रथम द्वितीय पीठ की क्रमशः प्रदक्षिणा देते हुये तृतीय कटनी स्थित गंध कुटी को पुनः तीन प्रदक्षिणा देकर सर्वज्ञ देव के श्री पाद का स्पर्श करके पूजा करने का सामर्थ्य इस संसार के किसी जीव को नहीं है, ऐसा चिन्तवन करते हुए तृतीय कटनीके निकट जाकर मंगल द्रव्य से दिव्यार्चना करते हैं और जमीन को सर्वाङ्ग स्पर्श करते हुये नमस्कार करके 'हमें प्रत्यक्ष देव का दर्शन हुआ इससे हम कृतार्थ, कृतकृत्य और धन्य हुये" ऐसा विचारते हैं और त्रिजगत्परमेश्वर के १००८ अन्वर्थ नामों का उच्चारण कर इस प्रकार स्तुति करते हैं:—

पिरिदु लोक मदक्के जीवतति जीवततियिंदा पुद्गलो—
त्करवा पुद्गलदिंदेआकाशदिंरिन्दाकाशदिं ॥
परमज्ञानमदक्के नीनेनेलेयै नीनेन्नयमन्मनोत्—
करदोळताळिदेनेन्दोडेम् पिरियरारेन्निन्दविन्द्रार्चिता ॥
निन्नने डदोबिलगिसुव निन्ननेकैमुगिदु पोगळ्वा-निन्ननेनेनेवत् ।
युन्नतियनेनगे माडुवुदेन्नं निन्नन्ननप्पिनंत्रिदशनुता ॥
निरपायं निर्द्वन्द्वम् निराकुलं निष्कलंक-नितान्तं नियतं ।
निरवद्यं निरपेक्षं निरुपमसुखमाउददने माडेनगहा ॥

अर्थात्—यह लोक अत्यन्त विस्तार वाला है। उसमें उससे अधिक जीव समूह है। उस जीव समूह से अधिक पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल से अधिक आकाश है, आकाश से अधिक ज्ञान है, इस तरह सब से अधिक विस्तार युक्त ज्ञान का माहात्म्य है और वह ज्ञान आप के भीतर है। आप हमारे हृदय के भीतर हैं तब हे भगवान! आप ही कहिये कि—हम से बड़ा और कौन संसार में है ॥१॥

हम सदा आप के समक्ष रहें, हाथ जोड़ कर नमस्कार करते रहें, वचन से गुण गाते रहें, मन से ध्याते रहें, तो हमारी महती आत्म उन्नति हो जाय। ऐसी सामर्थ्य हमें तब तक दीजिये जब तक हम आपके समान न बन जाँय ॥ २ ॥

जो अपाय (नाश) रहित है, जो निर्द्वंद्व है, जो निराकुल है, लंक रहित है, नितांत (समीप) है, नियत है, निरवद्य है, परकी अपेक्षा से रहित है, जिसकी उपमा नहीं है। ऐसा सुख हमें दीजिये ॥३॥

इस प्रकार विविध भांति की, भक्ति भाव से स्तुति करके सौधर्मेन्द्र तथा सभी देव देवियां वहाँ से निकलकर मुनियों की सभा में आकर अठारह हजार शील, ८४००००० गुण से सुशोभित सप्त ऋद्धि संपन्न श्रुत केवली से लेकर गणधरदेव पर्यन्त समस्त मुनि समूह को नमस्कार करके अपने २ कोठेमें बैठ जाते हैं। अब आगे समवसरण में चक्रवर्ती के आने का वर्णन करते हैं:—

मध्यलोकवर्ती हाथी, घोड़े रथ, पदाति, देव, विद्याधर, षडंगबल, चौदह महा-रत्न, नवनिधि तथा दशाङ्ग भोगादि विविध भांति के ऐश्वर्य से संपन्न सार्वभौम सकल चक्रवर्ती वन में रहनेवाले वनपालक के द्वारा केवल ज्ञानोत्पत्ति का समाचार सुनकर आनन्दित होते हुए अपने पास रहनेवाले उत्तमोत्तम अर्चना द्रव्यादि हाथ में लेकर ३२००० मुकुट बद्ध राजा, अधिराजा, महाराजा, मण्डलेश्वर मंत्री सेठ, सेनापति कोटपाल दंडनायक पुरोहित आदि प्रमुख राज समूह, मंत्रीवर्ग, ९६००० स्त्रियाँ, निजी राजकुमार आप्तवर्ग, बन्धुवर्ग एवं शेष समस्त परिजन पुरजन समेत अपने विजय गजपर बैठकर चलते हैं। उनके साथ सबसे आगे १००० यक्षों से सुरक्षित सूर्यके प्रकाशके समान प्रकाश-मान चक्ररत्न् चलता है। सेवक गण चक्रवर्ती के मस्तक पर छत्र चंवरादि ढोरते जाते हैं। इस अद्भुत दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ये द्वितीय सौधर्मेन्द्र ही हैं। इतनी बड़ी विभूतियों के साथ चलकर चक्रवर्ती जब समवसरण के निकट पहुँचते हैं तब हाथी से उतर पैदल चलकर सभी के साथ समवसरण में प्रवेश करते हैं। समवसरण का अद्भुत वैभव देखकर वे आश्चर्य चकित होते हैं और मानस्तम्भ आदि में विराजमान जिनेन्द्र प्रतिमाओं की बंदना करते हुये गंधकुटी के निकट पहुंचते हैं। वहाँ गंधकुटी पर विराजमान भगवान को देखकर हर्ष के साथ उनका जयजयकार करते हुये चक्रवर्ती गंध कुटी की पहिली तथा दूसरी कटनी की प्रदक्षिणा देकर भगवान् को साष्टांग नमस्कार करते हैं तथा अष्ट पूजाद्रव्य के साथ भगवान् का पूजन करने के अनन्तर इस प्रकार स्तुति करने लगते हैं कि :—

भुवनेश्वरा निजरूपस्तववस्तुस्तव गुणस्तवङ्गळनवरं ॥
तुवरंबरिणसलमरेन् । द्रव्वासुकि प्रभुगळार्चरिल्लेनळमो ॥१॥
आकुलनागिसुळिंवेनन । नळाकुलमप्पेडेयनरसि कार्ये मूरूं ॥
लोकदोळं निन्निळि । लोकाग्रमनैदुवन्ते माडेनगहाँ ॥२॥

हे भुवनेश्वर ! आप के रूपस्तव, वस्तुस्तव और गुणस्तव में से एक भी स्तव को देवेंद्र और दो हजार जिह्वा का धारक धरणेन्द्र भी वर्णन नहीं कर सकता तब एक जिह्वा के धारक हम सरीखे मनुष्य कैसे वर्णन कर सकते हैं । हमने तीनों लोकों में सब जगह भ्रमण कर देखा, सब जगह आकुलता का दुःख ही भोगा इसलिये अब जहाँ आकुलता नहीं है ऐसा निराकुलता का स्थान सिद्ध लोक हमें दीजिये ।

इस प्रकार विविध भाँति से स्तुति करके अपने आप को धन्य समझते हुए मानों हम आज सचमुच मोक्ष महल में पहुँच गये हैं ऐसा मन में भक्ति रत होते हुए चक्रवर्ती वहाँ से उतरकर मुनियों के कोठे में आते हैं ।

तत्पश्चात् वे गंध कुटी के चारों ओर बने हुए देवों देवियों, मुनि आर्यिकाओं श्रावक श्राविकाओं तथा पशु पक्षी गणों के बारह सभा को देखते और मुनियों के सभा में पहुंचकर समस्त मुनियों को नमस्कार कर अपने कोठे में जाकर बैठ जाते हैं इसी प्रकार साथ में आये हुए निकटवर्ती समस्त भूचर विद्याधर आदि भी दर्शन स्तवन पूजन करके अपने कोठे में जाकर बैठ जाते हैं तथा सिंह, बाघ हरिण आदि निकट भव्य पशुपक्षी भी समवसरणमें आकर भगवान् का दर्शन करके परस्पर वैर वाद से शान्त होकर अपने अपने स्थान में बैठकर एकाग्रता पूर्वक उपदेश पान करने लगते हैं । समवसरणके चमत्कार स्वरूप अपने कोठे में संख्यात मनुष्य तथा पशु परस्पर में विरोधी न होते हुए सुख पूर्वक बैठ जाते हैं । समवसरण में बाल, वृद्धादि अशक्तजन भी क्षण भर में ४८ गव्यूति तक सभी पदार्थों को देख सकते हैं । वे अशक्त जन भी कर्म के क्षयोपशम होने से विकलाङ्ग हुए भी पूर्णांगवाले नवयुवक हो जाते हैं । इस विषय में कुमुदेन्दु आचार्य ने अपने भूवलय ग्रन्थ में अशोक वृक्ष के पुष्पों की वायु से आरोग्य हो जाने का प्रतिपादन इस प्रकार किया है कि :—

इरुवश्री समवसरणनाल्मोगसिंह । अरुहनपाद कमलश्री ॥
सरदनालियहोच्चु तिरुगुत बरुतिर्प । सिरिय देवागम पुष्प ॥
गिडउ अशोकउ पोडविय भव्यर । सडगरवनुवद्धिंसिरेश्री ॥

जडददेहदरोग आतङ्क वार्द्धिक्य । गडियसावुगळनु केडिसी ॥
दानगळन्नेल्ल ज्ञानदोळडगि । आनन्दवनेल्ल तरिसि ॥
शाने पुण्यवनीव पुष्प वृष्टियनीयु । वानम्र प्रातिहार्याङ्क ॥

आठवें अध्याय के २३१ वें श्लोक से लेकर २३३ वें श्लोक तक उपर्युक्त कथन का समर्थन किया गया। समवसरण में मिथ्यादृष्टि, अभव्य सन्दिग्ध, अनध्यवसायी तथा विपर्यस्त जीव नहीं रहते। और भी कहा है कि:—

तत्र न मृत्युर्जन्म च विद्वेषो नैव मन्मथोन्मादः ।
रोगातङ्कबुभुक्षा पीडा च न विद्यते काचित् ॥

सभी जीव समरसी भाव से सुखपूर्वक बैठकर रहने से सर्वतोमुख दीख पड़ने से प्रत्येक जीव को भगवान् का मुख अपने सामने मालूम होता है। इसलिये सभी लोगों को भगवान् के सम्मुख रहने से यानी उनका मुख पूर्ण रूप से देखने के कारण भगवान् के दर्शन पूजन तथा प्रार्थना करने की सुविधा रहती है। भगवान् को केवलज्ञान तथा केवल दर्शन दोनों रहने के कारण पहले देखे हुए की भांति पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य, सप्ततत्त्व नौ पदार्थ तथा अन्य ज्ञेय भी यथास्थित कह देते हैं।

दिव्यध्वनि का लक्षण:—

तालु और होंठ के हलन चलन व्यापार से रहित, अठारह महाभाषा अर्थात् कर्नाटकत्रय, मागधत्रय, मालवत्रय, लाडत्रय, गौडत्रय तथा गुर्जरत्रय ऐसी अठारह महाभाषा और ७०० क्षुल्लक भाषायें कुल ७१८ भाषाओं में भगवान् की दिव्यध्वनि होती है। मूवलय में "कर्नाटमगधमालवलाटगौड़गुर्जर प्रत्येकत्रयमित्यष्टादश महाभाषा" और

पुट्टाभाषेगळेळुनूरंकमातिन । गट्टिय् लिपिगाळिल्लदङ्क ।
हुट्टदनक्षर भाषेयनरियुव । हुट्टलिल्लदलिपियंक ॥

पाँचवां अध्याय १२१ वां श्लोक:—इतनी अवान्तर भाषा के संयोग होने पर भी प्रत्येक जनता को अपने२ जन पद भाषा से ही सुनाई पड़ता है। और सभी अपने २ प्रश्नके अनुसार उत्तर रूप से अपना सन्देह निवारण करते हैं। इतना ही नहीं दिव्यध्वनि से संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान हो जाता है और इसके साथ ही साथ विवक्षा भेद से मिथ्यादर्शन, अविरत प्रमाद, कषाय, योग से आनेवाले अनेक दुःख रूप् अनन्त संसार बंधन,तथा ज्ञानावरणादि अष्ट विध कर्म बंध के हेतु होने से हेय हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान-

चारित्र ये तीनों अक्षय, अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष हेतु होने से उपादेय हैं। ऐसे हेयोपादेय-स्वरूप को यथास्थित दिव्यध्वनि बता देती है।

प्रत्येक जीव प्रत्येक समय में अपने २ अभीष्ट फल प्राप्ति के विषय में पृथक् २ प्रश्न करें तो भी भगवान् के एक ही क्षण में सभी प्रश्नों के उत्तर देने में स्वाभाविक शक्ति रहती है।

इस विषय में श्री कुमुदेन्दु आचार्य जी ने एक विशेष महत्वपूर्ण श्लोक लिखा है, सो सुनिये :—

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं ।
कंठोष्ठादिवचोनिमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतं ॥
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं ।
दूरासन्नसमं शमं निरुपमं जैनं वचः पातु वः ॥

भगवान् की दिव्यध्वनि समुद्रकी घोष, शंखनाद, तथा मेघाडम्बरके समान गम्भीर, कर्ण में अमृतधारा पड़ने के समान मधुर. सुर नर तिर्यंच सभी जीवों के मन को अपहरण करने वाली क्षुधा तृषादि अठारह दोषों से रहित, पुनरुक्ति अत्युक्ति, छन्ददोषादि वाक्य दोषों से रहित तथा समस्त प्राणियों के लिये हितकारी है। हमारी वाणी कंठ, होठ, तालु, दन्त तथा जिह्वा आदि की सहायता से निकलती है; किन्तु भगवान् की दिव्यध्वनि सर्वांग से निकलती है। इस विषय में भूवलयान्तर्गत पंचभाषावाली श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण जी ने कहा है कि:—

सर्वद्वारेषु कौन्तेय ! प्रकाश उपजायते ।

हे अर्जुन ! मैं सभी अंगोंमें ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करता हूं . इसी प्रकार भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है। हमारी वाणी प्राण, अपान, उदान समान इत्यादि दश वायु के सहयोग से निकलती है; किन्तु भगवान की वाणी बिना किसी के सहयोग से स्वतः खिरती है। हमारी वाणी एक भाषा में उच्चारण होने पर भी अस्पष्ट रहती है किन्तु भगवान् की दिव्यध्वनि ७१८ भाषा में रहने पर भी पूर्ण रूप से स्पष्ट प्रतिभासित होती है। हमारी वाणी केवल हमारे अभीष्ट को दूसरे के हृदय में पहुँचाती है; किन्तु भगवान् की वाणी एक ही साथ समस्त जीवों के अभीष्ट को पूर्ण करके उनके हृदय में पहुंचाती है। सामान्य अर्थात् अनक्षरात्मक भाषा और विशेष अर्थात् उपर्युक्त अठारह महाभाषायें कुल मिल कर ७१८ भाषायें एक साथ दिव्यध्वनि में खिरती हैं।

हमारी आवाज निकटस्थ जीवों को तीव्र तथा दूरस्थ जीवों को मंद स्वर में सुनाई पड़ती है; किन्तु भगवान् की वाणी निकटस्थ और दूरस्थ सभी जीवों को समानरूप से सुनाई देती है अर्थात् किसी को किसी प्रकार का घात नहीं पहुँचाती। हमारी वाणी क्रोध, मान, माया लोभादिक दोषोंसे समन्वित रहनेके कारण दुःखदायी होती है; किन्तु भगवान् की वाणी सभी को सुखदायी होती है तथा उनकी वाणी की उपमा देने के लिये इस संसार में एक भी वस्तु न होने के कारण निरुपम विशेषण से युक्त है। ऐसी जिनेन्द्र भगवान् की वाणी सभी जीवों की रक्षा करे इस प्रकार श्री कुमुदेन्दु आचार्य ने जिनेन्द्र वाणी रूपी सरस्वती देवी की स्तुति की है।

जिनेन्द्र भगवान् की वाणी प्रतिदिन ४ बार खिरती है और शेष समय में गणधर देव उसके अर्थ को सुनाते रहते हैं। उसी दिव्यध्वनि के अर्थ को लेकर चार अनुयोग रूप से अलग अलग वर्णन किया गया है। प्रथमानुयोग में तिरेसठ शलाका पुरुषोंका वर्णन, चरणानुयोगमें मुनियों तथा गृहस्थों के चारित्र का वर्णन है, करणानुयोग में तीन लोक-सम्बन्धी वर्णन है, द्रव्यानुयोग में जीवादि सप्त तत्त्व तथा पुण्य-पाप का और उनके विकल्पों का वर्णन है,जीव भेद,कर्मभेद इत्यादि विशेष गुणोंका प्रतिपादन है। ऐसे चतुर्विध अनुयोग द्वारा गुंथित सर्वज्ञ वीतराग भगवान् की वाणी को भव्य जीव सुनते हैं। उस शास्त्रोपदेश के प्रभाव से अनन्त भवों के दुःखों का नाश करके परम सुखोंको प्राप्त कर संसार सागर का अन्त कर लेते हैं।

सौधर्मेन्द्र विचार करता है कि:—

सूखे हुए भव्य जन के हृदय कमल को विकसित करने के लिये जिनेन्द्र की वाणी रूपी अमृतमय जलवृष्टि से सिंचन करने की आवश्यकता है। अतः उसने भगवान से विहार करने की प्रार्थना की किन्तु इस प्रकार प्रार्थना करने से भगवान् का श्री विहार नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान् किसी की इच्छा से विहार नहीं करते। भव्यजनों के पुण्य के निमित्त से तथा विहायोगति के कारण निरिच्छा-पूर्वक ही विहार होता है। भगवान् के विहारकाल में गगन मंडल में विद्याधर और पृथ्वी मंडल में मनुष्य उनके चारों ओर चलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् के आगे ७, पीछे ७, दायें ७, बायें ७ और चरण कमल के नीचे सुगन्धित स्वर्णमय १००८ दल वाले कमलों की रचना होती रहती है। इसी प्रकार भूवलय ग्रन्थ में कुमुदेन्दु आचार्य ने कहा है कि:—

कमलगळैळुमुंदके पोगुतिर्पग। क्रमदोळगेरडु काळ्नूरु॥
तमलंक ऐदु सोन्नेयु आरु येरडैदु। कमलदगंध भूवलय॥

भगवान् के चरण के नीचे २२५ कमल होते हैं। जब वे अपना एक चरण उठाकर दूसरे स्थान पर रखते हैं तब २२५×२२५=५०६२५ कमल हो जाते हैं।

जिस समय श्रीजिनेन्द्र भगवान् विहार करते हैं उस समय देव-गण छत्र त्रय भगवान् के शिर के ऊपर लगाते हैं,यक्ष और नागकुमारदेव ६४ धवलचामर और चारों ओर अष्ट-मंगलद्रव्य लेकर गमन करते है। १००० यक्षामरोंसे सुरक्षित प्रचण्ड दिवाकर और निशाकर के स्फुरायमान् हजारों विम्वकिरणों से भी अधिक तेजवाले सुदर्शन धर्मचक्रको यक्षेन्द्र मस्तक पर धारण कर आगे २ चलता है। विचित्र रत्न जड़ित चमकते हुए कांचनमय दंडको लेकर शेष देव पीछे पीछे आते हैं। ऐसे विशाल वैभवके साथ केवलीभगवान्का श्रीविहार होता है। तब देवेन्द्र अन्य देवों को आज्ञा देता है कि रास्ते में पड़े हुए कांटे तथा धूलि आदि को हटा कर मार्ग को स्वच्छ करो। देवेन्द्र की आज्ञा पाते ही स्तनित कुमार, वायुकुमार, अग्नि-कुमार, मेघकुमारादि अपने २ कार्य में संलग्न हो जाते हैं। तत्पश्चात् भगवान के अतिशय से शस्य (धान्य) आदि की फसल उत्पन्न हो जाती है, सभी वृक्ष पुष्पित पल्लवित हो जाते और छह ऋतुओं में फलने फूलने वाले विविधकार के फल फूल लग जाते, सूखे हुये सरोवर वापी, कूप तडागादि निर्मल जल से भर जाते तथा सुगन्धित वायु मन्द मन्द चलने लगती। यह सब देव-कृत १४ अतिशयों की महिमा हुई। ऐसी महिमा बंग, अंग, कलिंग, काम्बोज, मगध, मालव, लाट, कर्नाट, आन्ध्र द्राविड़, करहाटक, अवन्ती, पाञ्चाल, सौराष्ट्र (गुजरात) आभीर, सौवीर, बाख्ली आदि देशों में विहार करते हुए भगवान उत्कृष्ट से कुछ कम पूर्व कोटिवर्ष काल तक दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेशामृत की वर्षा कर पिपासित भव्यजनों को तृप्त करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर तथा सामान्य केवली भी धर्मामृत की वर्षा करते हैं और अन्तमें सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामक तृतीय शुक्ल ध्यान के द्वारा योग निरोध कर अयोग केवली चौदहवें गुणस्थान वाले हो जाते हैं और चौथे शुक्ल ध्यान (व्युपरत क्रियानिवृत्ति) द्वारा जितने समय में अ इ उ ऋ लृ पांच स्वर सामान्य रीति से(न धीरे न जल्दी) बोले जा सकते हैं उतने ही समय में बचे हुए अघाति का नाश कर शुद्ध कर्मबंध-रहित होनेके कारण ऊर्ध्व गमन करते हैं और अन्तिम शरीर प्रमाणसे कुछ कम प्रमाण आत्म प्रदेश रूपसे लोक के अन्त में सदा कालके लिए विराजमान हो जाते हैं।

अन्तिम शरीर प्रमाण से कुछ कम आत्म-प्रदेशों का आकार होने का कारण यह है कि ढली हुई मूर्ति मूल सांचे से कम ही ढल सकती है। क्योंकि मोम अथवा मट्टी का सांचा (मोल्ड) बनाकर लोहा, पीतल, तांबा आदि किसी धातु से ढाला जाय तो भीतर का आकार कुछ न्यून होकर ही ढ़लता है। कारण वस्तु स्वभाव ही ऐसा है। इसी प्रकार

मुक्त आत्मा जिस मनुष्य शरीर को छोड़ देता है उसी के आकार रहता है परन्तु त्यक्त शरीर का आकार चर्म, (त्वच) सहित होने से बड़ा होता है, नौमल-द्वारों में जो आकाश रहता है उसमें भी आत्म-प्रदेश नहीं रहते वे भी अन्तिम आकार में नहीं रहते इसलिए अन्तिम शरीर से कुछ कम शुद्ध आकार होता है।

इस विषय में भूवलय में कुमुदेन्दु आचार्य कहते हैं कि उस पोल में भगवान् का अभाव हैं, ऐसा मत कहो। उस पोल में यदि लोहा पिघलकर भर दिया जाय तो भगवान् की मूर्ति बन जाती है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि भगवान निराकार भी हैं और साकार भी हैं।

गीता में कहा भी है कि:—

साकारं च निराकारं सरसंविरसं परम्।
परम् परम्परातीतं परम्परपरापरम् ॥

किंचिदून चरम शरीर का अर्थ भूवलय में इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है कि मनुष्यों के शरीर में असंख्यात रोम तथा अन्नकोष, मल कोष, मूत्रकोष, कफकोष, बात कोष, वीर्यकोष इत्यादि में अनेक छिद्र रहते हैं। इसलिये उसमें संकोच और विस्तार होता रहता है, परन्तु सिद्धलोक में रहने वाले सिद्ध भगवान् के जीव घन प्रदेश में ऐसा एक भी छिद्र और कोष नहीं रहता इसलिये वह किंचिदून कहलाता है।

क्रोधादि कषायों से रहित होने से शुद्धचिदानन्दैकरूप होते हैं, सम्यक्त्व आदि अनेक गुणोपेत हैं, तीनों लोकों के तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को समस्त गुणों तथा उनकी व्यञ्जन पर्याय सहित एक समय में सर्वात्मप्रदेश से जानते हैं। अतः अपने स्फुरायमान परम निर्मल असहाय अनन्त ज्ञान स्वरूप होने से उपमातीत हैं तथा ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों को नष्ट करके संसार से मुक्त होने के कारण कोई काम करने के लिये शेष न रहने से भगवान् कृतकृत्य कहलाते हैं। "सकलमांगलयनिलयं" संपूर्ण मंगलों के घर स्वरूप हैं। उनका स्मरण ही समस्त भव्य जनों को कर्मनिर्जरा करने का निमित्त है। भगवान् त्रिलोकशिखर के मुकुट स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी हैं। सिद्ध परमात्मा धर्माधर्म द्रव्य से व्याप्त लोक द्रव्य के अग्रभागवातवलय में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अवगाहनरूप (अर्हन्त-अवस्था में जिस आकार से (कायोत्सर्ग या पद्मासनरूप में) कर्मों की निर्जरा की थी उसी रूप से) सिद्ध शिला के ऊपर भगवानविराजमान रहते हैं। तनुवात के अग्रभाग में समान तथा नीचे हीनाधिक रूप से रहते हैं।

उदाहरणार्थ—जिस प्रकार एक तालाब के भीतर तैरने वाले हाथी, बैल, घोड़े आदि पशुओं का मस्तक जल के ऊपर समान दिखाई देता है; किन्तु पानी के अन्दर का शरीर हीनाधिक रहता है उसी प्रकार अन्तिम वातवलय के अग्र भाग में रहनेवाले समस्त सिद्धात्माओं में भी ऊपर समानता तथा नीचे असमानता रहती है; ऐसा कुमुदेन्दु आचार्य ने कहा है।

दृष्टान्त दोळगेल्लवस्तुवसाधिप । अष्टमजिनसिद्ध काव्य ॥

प्रश्न—मुक्तात्मा वातवलय के ऊपर अलोकाकाश में क्यों नहीं जाता ?

उत्तर—गमन का कारण भूत धर्मद्रव्य अलोकाकाश में नहीं है इसलिये उसके ऊपर गमन नहीं होता।

प्रश्न—वह जीव नीचे क्यों नहीं गिरता ?

उत्तर—भगवान का शुद्ध जीवप्रदेश गुरु (भारी) नहीं है, इस लिये वह नीचे नहीं गिरता।

भगवान् के अनन्तसुख का विवेचनः—

तीनों लोकों के समस्त जीवों का अतीत, अनागत तथा वर्तमान काल सम्बन्धी जो इन्द्रिय जनित सुख है उन समस्त सुखों को एकत्रित करके उसे अनन्त संख्या में गुणा करने से जो गुणनफल आता है उतना सुख सिद्ध भगवान के एक समय में होने-वाले सुख की तुलना नहीं कर सकता। क्योंकि वह सिद्धों का सुख आत्मोत्पन्न और अतीन्द्रिय सुख है। ऐसे सुखामृत सागर में डूबकर सिद्ध भगवान सदा सुखी रहते हैं।

अवगाहन गुणः—सांसारिक जीव यदि एक संकुचित स्थान में बैठे रहें तो वहाँ दूसरे लोगों के आ जाने पर स्थान नहीं रह जाता परन्तु सिद्धलोक में केवल एक क्षेत्रा-वगाह एक ही समय में अनन्तानन्त जीव एक ही साथ रह सकते हैं। क्यों कि सभी सिद्ध जीव अमूर्त्त होने के कारण एक ही में समाविष्ट हो जाते हैं।

अव्याबाधगुण—उपर्युक्त कथनानुसार एक ही स्थान में अनेक मनुष्यों के बैठने से परस्पर में उनके पसीने आदि दुर्गंध की बाधा होती है परन्तु अनन्त सिद्धभगवान एक ही समान अमूर्त्त होने के कारण परस्पर में उन्हें किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। इसे अव्याबाध गुण कहते हैं।

दग्धरज्जू—अर्हंत परमेष्ठी के चार अघाती कर्म शेष रहते हैं। घाती कर्म के साथ रहनेवाले अघाती कर्म बन्ध के कारण होकर दुःख देते हैं और वे बंधी हुई रस्सी के

समान रहते हैं। अर्हंत भगवान ने घाती कर्म नष्ट कर दिये हैं, उनके अघाती कर्म जली हुई रस्सी के समान निःसार हो जाते हैं। अतः कुछ फल नहीं देते हैं।

अर्हंत भगवान के आयु कर्म नष्ट होने तक अघाती कर्म रहते हैं और तब तक वे सयोग केवली कहलाते हैं। सयोग केवली अर्थात् तेरहवें गुणस्थान के अंत में योग निरोध करके पंच स्वरअक्षरों के उच्चारण के समय तक चौदहवें गुणस्थान में रहकर अन्त में जले हुए रस्सी के समान रहने वाले अघाती कर्म को भी नाश कर अतीत गुणस्थान अर्थात् सिद्धपद में पहुँच जाते हैं।

जिस लोक में ऐसे समवसरणादि विभूतियुक्त अरहंतदेव रहते हैं उस लोकका स्वरूप इस प्रकार है—लोक असंख्यात प्रदेशी है। इतना कम होते हुये भी अपनी अवगाहन शक्ति नामक असाधारण गुण से समस्त पदार्थोंको अपने गर्भ में समाविष्ट किये हुए है,इसीलिये इसे लोकाकाश कहते हैं,उसके बाहर जिस ओर देखा जाय उस ओर अनन्तानन्त प्रदेशरूप अलोक जिसमें आकाशसे,दूसरा पदार्थ नहीं दिखाई पड़ता ऐसा आकाश अर्थात् अलोकाकाश एक ही द्रव्य है। इस लोकालोक दोनों द्रव्यों को जान लेना साक्षात् मोक्षका कारण है इस कारण विशिष्ट वैराग्योत्कर्ष से उत्पन्न ऋद्धि आदि विविध गुण समन्वित, परमोत्कृष्ट तप के प्रभाव से, गुरुउपदेश द्वारा परमागमज्ञानभावना के बल से भेद ज्ञान सामग्री उपलब्ध हो जाने पर अन्तर्मुखाकार बन जाने से रागादि रहित सहजज्ञान सुखमय निजात्म स्वरूप में विचलित न होकर तन्मयता के साथ स्थित हुये भावश्रुतज्ञान को स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं। वही केवलज्ञान का बीज है। वह ज्ञान परम निरपेक्ष होने के कारण शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से प्रत्यक्ष कहलाता है। ऐसे परमोत्कृष्ट द्रव्य श्रुत भावश्रुत दोनों के एकत्र मिल जाने से सभी गतियों से मनुष्य गति सर्वोत्कृष्ट कहलाती है।

बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा—

भव्यत्वं कर्मभूजन्म मानुष्यं स्वङ्गवंशता।
दुर्लभं ते क्रमादात्मन् समवायस्तु किं पुनः॥
व्यर्थः स समवायोऽपि तवात्मन् धर्मधीर्न चेत्।
कणिकोद्गमवैधुर्ये केदारादिगुणेन किम्॥
तवात्मन् दुर्लभं गात्रं धर्मार्थं मूढ! कल्प्यताम्।
भस्मने दहतो रत्नं मूढः कः स्यात् परो जनः॥
देवता भविता श्वापि देवः श्वाधर्मयापतः।
तंधर्मं दुर्लभं कुर्यात् भुवि धर्मो हि कामसूः॥

भव्यस्यावाह्यचित्तस्य सर्वसत्त्वानुकम्पिनः ।
करणत्रयशुद्धस्य तत्रात्मन् बोधिरेधताम् ।।

ज्ञान की प्रकर्षता द्वीन्द्रियादि जीवों से होती है। द्वीन्द्रियादि जीवों की उत्पत्ति मल, मूत्र, रक्त मांसादि अपवित्र पदार्थों के संयोग से तथा पुद्गल स्कन्धों के संयोग से होती है। प्रत्येक स्कन्ध में असंख्यात लोक प्रमाण वास स्थान रहता है, एक एक वास स्थान में असंख्यात लोक मात्र योनि स्थान रहता है, प्रत्येक योनि स्थान में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर रहता है, प्रत्येक शरीर में सर्वातीतकाल सिद्ध जीवों से अनन्तगुण निगोदी जीव रहते हैं। इस समस्त लोक में स्थावर जीव निरन्तर परस्पर में मिले हुए रहते हैं। अतः बालुका समुद्र के मध्य में गिरी हुई रत्नकणिका के समान त्रस शरीर का मिलना दुर्लभ हो जाता है। वहाँ त्रस जीवों में भी विकलेन्द्रिय अनेक होने से पंचेन्द्रियत्व मिलना नितान्त कठिन रहता है। जिस प्रकार सभी गुणों से कृतज्ञता गुण उत्तम व दुर्लभ है उसी प्रकार उत्तम पंचेन्द्रिय पर्याय प्राप्त करना परम दुर्लभ है। पंचेन्द्रियों में भी पशु पक्षी सर्पादि तिर्यंच जीव अनेक होने से मनुष्य पर्याय पानी चतुष्पथ में रत्न-राशि पाने के समान अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे परम दुर्लभ नर जन्म को प्राप्त करके भी यदि विषय वासनाओं में व्यर्थ खो दिया जाय, तो समूल जले हुए वट वृक्ष के समान उसको पुनः प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् ऐसा दुर्लभ नर शरीर प्राप्त भी हो जाय, पर हिताहित विचार रहित प्रदेश में जन्म लेना पशुओं के समान व्यर्थ है। जिस प्रकार अनेक पाषाणों में माणिक्य मिलना दुर्लभ है वैसे ही उत्तम देश में जन्म लेना दुर्लभ है। यदि उत्तम देश भी मिल जाय तो नीच कुलों की अधिकता होने से उत्तम कुल में जन्म लेकर सज्जनों की सेवा किये बिना विनय गुण न प्राप्त करने के समान लोक में सुजातित्व, शीलगुण विनयाचार सम्पत्ति प्रा[illegible] करना अत्यन्त दुर्लभ है।

इस विषय में श्री कुमुदेन्दु आचार्य ने अपने भूवलय ग्रन्थ में म्लेच्छ खंड को छोड़कर आर्यखंड में जन्म लेना, देश शुद्धि, तथा सात पीढ़ी तक माता और पिता के अणुव्रत शुद्धि पूर्वक जन्म पाना कुल शुद्धि और जाति शुद्धि कहा है। देश कुल और जाति इन तीन शुद्धियों का मिलना परम दुर्लभ है। ये तीन शुद्धियाँ मिल भी जायं, लेकिन दीर्घायु आरोग्य, इन्द्रिय बल रूपादि मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् ये भी मिल जायँ, पर विनय, बुद्धि, हितोपदेश-श्रवण, युक्तायुक्त विवेक, ग्रहण, धारण आदि का प्राप्त होना परम दुर्लभ है। कदाचित् ये भी मिल जायँ पर संसार घोरार्णव में डुबकी मारते हुये जीवों को मुक्ति पर्यन्त पहुँचाने वाला जिनधर्म मिलना उसी प्रकार दुर्लभ है जिस

प्रकार आँख के बिना मुख का सौन्दर्य दुर्लभ है। ऐसे सद्धर्म को धारण करके विषय सुख में लग जाना भस्म के लिये चन्दन (गोशीर) को जलाने के समान धर्म को दग्ध करना है। सद्धर्म को धारण करके संसार शरीर भोग से विरक्त होकर तप भावना आगमाभ्यास, ज्ञान के साथ सुखपूर्वक मरण करना अर्थात् समाधि मरण इत्यादि प्राप्त करना परम दुर्लभ है। ऐसी भावना करते हुए सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर हर्षपूर्वक धर्मका आचरण करना बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है।

धर्मानुप्रेक्षा—

पश्यात्मन् ! धर्ममाहात्म्यं धर्मकृत्योन शोचति ।
विश्वैर्विश्वस्यते चित्रं स हि लोकद्वये सुखी ॥

तवात्मन्नात्मनीनेऽस्मिन् जैनधर्मेऽतिनिर्मले ।
स्थवीयसीरुचिः स्थेयादामुक्तेर्मुक्तिदायिनी ॥

सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा प्रतिपादित सर्वजीव हितैषी धर्म को ही कहना धर्मस्वाख्यातत्व है। वह कैसा है ? उसके उत्तर में कहते हैं कि केवल ज्ञानी सर्वज्ञ भगवान् ने जिस का उपदेश दिया है, अहिंसा ही जिस का लक्षण है, सत्य से अधिष्ठित है, विनय जिसकी जड़ है, क्षमा जिसका बल है, अठारह हजार भेदवाले शील से जो सुशोभित है, चौरासी लाख गुणों से बिभूषित है, नवभेद वाले ब्रह्मचर्य से रक्षित है परित्याग जिस का फल है, उपशम (शांति) संयुक्त है, क्षांतिमार्ग का देशक है, मोक्षमार्ग का प्रकाशक है, सिद्धि का साधक है, ऐसा धर्म ही जीव का कल्याण कर सकता है। ऐसे धर्म का लाभ न कर ये जीव अनादि संसार में अज्ञान से आत्मोपार्जित अशुभ कर्मोदय से अनेक दुःखों का अनुभव करते हैं और जो इस धर्म का आश्रय लेते हैं वे आत्मा के हितकारी विविधाभ्युदय सुख पाते हुए कर्मक्षय से मोक्ष सुख का अनुभव करते हैं। धर्म से पुत्र, मित्र, भ्राता पिता, स्वजन तथा परिजन समूह आदि मिल जाते हैं। जाति, जरा, मरण को नाश करके परम तृप्ति देने में धर्म ही रसरसायन है। चिंतित अभीष्ट फलप्रदायक कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि स्वरूप धर्म ही है। इस प्रकार चिन्तवन करने से वीतराग हेतु विशिष्ट धर्मानुराग निरन्तर होता रहता है। ऐसा विचार करना धर्मानुप्रेक्षा है। उपरिलिखित बारह भावना समाप्त हुई।

अब आगे परिषह जय का विवेचन करते हैं:—

परीषह विजय—परिषहों का विजय करने वाले मोक्षमार्ग में सुख पूर्वक गमन

करते हैं। परीषह विजय करने से निर्जरा होती है। और मोक्षमार्ग में सुगमता से गमन होता है और पूर्व संचित कर्मोदय से आये हुये दुःखों को सहन करने की शक्ति भी बढ़ जाती है।

प्रश्न—उनके वह परीषह सहने की शक्ति कैसे बढ़ जाती है ?

उत्तर--वे अतीन्द्रिय सुख के अभिलाषी होते हैं, वाह्याभ्यन्तर परिग्रह त्यागी होते हैं, सकल संयम के धारी होते हैं, सदा स्वाध्याय में रत रहते हैं, षडावश्यक क्रियाओं में संलग्न रहते हैं, शरीर मात्र परिग्रह धारते हैं, प्रतिदिन अनशन औमोदर्य आदि वाह्य तप करते रहते हैं, रोगादि जन्य पीड़ा, मार्ग में गमन करने से उत्पन्न होने वाले श्रम, समय के अतिक्रमण हो जाने से उत्पन्न होनेवाले खेद को सहने के अभ्यासी होते हैं और ऐसा विचार करते रहते हैं कि—प्रचण्ड वायु से जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार आहारादि के न मिलने से भीतर के अन्न कोप (जठराग्नि) में ज्वलन आदि के दुःख, नारकी, बंधन वद्ध मनुष्य, पिंजरे में बन्द किये गये पक्षी, मुँहछिका बंधा हुआ पशु अज्ञानी होते हुए भी आहारादि न मिलने से सभी दुःख सहन करते हैं। और इन सभी दुःखों का अनुभव मैंने अनंतवार किया है। यह सहन करना न चाहूँ तो भी मुझे सहन करना ही पड़ेगा। इस समय में मुझे सम्पूर्ण कर्मों के क्षयके लिये कारण हो जाता है, जो यह कर्म उदय आया है, उसका फल शान्त परिणामों से सहन कर लेता हूँ तो इस समय मैंने भी श्री जिनेश्वर के मार्ग का आश्रय लिया है। तीन लोक में दुर्लभ ऐसी जिनमुद्रा अर्थात् दिगम्बर मुद्रा धारण करने का सौभाग्य मुझे सुगमता से मिला हुआ है। अब आनेवाले क्षुदादि देवों का नाश कर अनंत सुख को प्राप्त कर सकता हूँ। अन्यथा भूक-प्यास की पीड़ा सहन न करने से संसार में रुलना पड़ेगा। इसलिये इस समय दृढ़ता के साथी परीषह विजय कर आत्म साधन में संलग्न क्यों न रहें ? अब इसके प्रतीकार करने के लिये बाह्य लेपनादि क्रिया को न करते हुए या करने के लिये अनुमति न देकर, संसारी इन्द्रिय योगी जन रस स्वाद पूर्वक खाने वाले भोजन को हम मन से, वचन से, काय से स्मरण न करते हुए संयम नाम के घट में भरे हुए धैर्य नाम के जल को पानकर क्षुधाग्नि को शान्त करके परमात्म भावना मय अमृत रसायन रूपी भोजन के सेवन से क्यों न संतुष्ट हो जायँ। ऐसी भावना से ही मुनि के परीषह सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है और ऐसी शक्ति से जो क्षुधा परीषह को सह लेता है इसी का नाम क्षुधापरीषहजय है।

पिपासा परिषहः—संयम रक्षा के निमित्त स्नान अवगाहन शरीर आदि अर्थात् स्नानादि को छोड़कर पक्षी के समान अस्थिर आहार तथा शुद्ध आहार

जैसे मिले वैसे विधिपूर्वक गृहस्थ श्रावक के द्वारा दिये हुए आहार को ग्रहण करते समय अति लवण या कम लवण, अति स्निग्ध, अति रूक्ष, विरुद्ध रस संयुक्त शरीर को असह्य बाधा करनेवाला आहार मिले तो उस समय मन में खेद न करके जैसे मिले वैसे खाकर संतोष मानना और पित्तोत्पत्तिकारक संताप ज्वर तथा महान् वन में जाने के कारण संतप्त सूर्य के आताप से संतप्त होकर जब प्यास की बाधा सतावे तब परम निर्मल शीतल जल से भरे हुए तालाब के पास रहने पर भी पानी पीने की इच्छा न करने का नाम पिपासा परीषह जय है और वह परीषह जय नीचे लिखी भावना भाने से सुगमता पूर्वक हो जाती है।

हाथी, सिंह, हरिण, बाघ इत्यादि अनेक प्रकार के जानवर महान् जंगल में रहकर या जन्म लेकर अपनी आयु के अवसान तक कितने दुःख उठाते हैं, जंगल में आग लगे या गरमी के दिनों में पानी न रहे तो वे प्यास की बाधा सहन करते हैं, दुष्टजन और दुष्ट शिकारियों के द्वारा दिये गये महान् कष्ट को सहन करते हैं तो मुझे इस समय कौनसा ऐसा कष्ट है ? क्या मैं चार घण्टे या दो घंटे का दुःख या वेदना नहीं सह सकता। इस प्रकार विचार करना और अपने व्रत में दृढ़ रहना पिपासा परीषह जय है।

(३) शीत परीषह—मुनिजन संसार के दुःखों को नष्ट करने के लिये हर प्रकार के वस्त्रों को त्यागकर पक्षी की तरह निराश्रित होकर दिशा मात्र आवरण को धारण करते हैं, वर्षा काल में और शीत काल में अग्नि तथा वृक्ष की छाल इत्यादि के द्वारा शीत की बाधाओं को दूर करने की इच्छा नहीं रखते। जैसे पहले कोई जिस घर में अपनी शरदी की बाधा को दूर करने के लिये ठहरे तो उस घर को छोड़ कर बाहर आजाय, बाहर आने के बाद जिस समय शरदी की बाधा सताती हो तो फिर उसी घर का स्मरण करे अथवा जैसे वृक्ष पर बैठे हुए कबूतरादि पक्षी उड़ा दिये जायँ तो वे फिर घूमकर पहले बैठे हुए वृक्ष के आश्रय में बैठने की इच्छा करते हैं। वैसे शीतादि की बाधा दूर करनेवाले स्थान मिल जाने की इच्छा भी न करके ऐसी भावना करना कि "मुझे नरक में इससे ज्यादा दुःख उठाना पड़ा था अब इस मनुष्य पर्याय में होनेवाला अल्प दुःख मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? इस वेदना को मैं अपने मन में स्मरण कर खेद क्यों करूँ ? शरीर की ममता या आशा को त्याग कर परमागम अभ्यास में लीन हो ध्यान कर परम वैराग्यशाली बनकर आई हुई वेदना को सहन कर निजात्मभावना में लीन होना शीतपरीषह विजय है।

(४) उष्णपरीषह:—संसार के दुःखों को बिना सहन किये कोई भी आत्म कल्याण

सुलभ नहीं है । ऐसा सोचकर मोक्ष सुख के कारणीभूत अपने निजात्म स्वरूप में लीन हो कर हमेशा तप भावना में तथा स्वाध्यायादि क्रियाओं में रत रहने के कारण श्रम से उत्पन्न हुए तीव्र दाह यानी ग्रीष्म काल की अत्यन्त तीव्र गरमी इत्यादि कष्ट को सहन करना और यह विचारना कि हरिण इत्यादि तिर्यंच प्राणी और नारकी जीव बड़ी २ उष्ण वेदनाओं को सहते हैं तो मुझे ऐसी अल्प वेदना को सहन करना कौनसी बड़ी बात है ? इस पीड़ाको शान्त करने के लिये चन्दन, गुलाब जल, शीत जल आदि पदार्थों की याद न करना केले के पत्ते, खसका परदा, खस का पंखा, कमल की जड़, कमल गट्टे से बनी हुई गले में मोतियों की माला इत्यादि सर्व बाधाओं से रहित होने के कारण सिद्ध भगवान हमेशा सुखी रहते हैं और वे तीन लोक के शिखर पर रहते हैं । इस सुख की प्राप्ति के लिये अधिक तप करने के लिये मुझे तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से तप कर गलते हुये पहाड़ पर बैठकर कर्म की निर्जरा करना ही उचित है, ऐसी भावना करना उष्ण-परीषह है ।

(५) दंशमशक परीषह—डांस, मच्छर, बिच्छू, जूं, मक्खी, खटमल, चींटी आदि कीट रक्त पीने में रुचि रखते हैं । अतः वे मुनि महाराज के शरीर पर भी रक्तपान के लिये आ जाते हैं और उनको काटते हैं, तब परमधीर कष्ट-सहिष्णु मुनि उससे व्याकुल नहीं होते, न उन जीवों के लिये अपने हृदय में कोई दुर्भावना आने देते हैं । उस शारीरिक कष्ट को बहुत शान्ति के साथ सहन करते हैं । ध्यान करते समय यदि कोई जन्तु उनको डसता है, काटता है तो अपना मन आत्मध्यान से नहीं हटने देते । न कभी अपनी गृहस्थ अवस्था में मच्छर आदि से बचने के लिये मच्छरदानी लगाकर सोने तथा उन जीव-जन्तुओं से बचने के लिये अन्य किये गये उपायों का स्मरण करते हैं । ऐसे परमदयालु मुनिराज अपनी धीर वीर वृत्ति से दंशमशक परीषह को विजय करते हैं ।

(६) नाग्न्य—समस्त जगत् कामवासना का शिकार होकर अपनी काम-इन्द्रिय का दास बना हुआ है । मनुष्य के हृदय में रंचमात्र भी ज्योंही कामवासना जाग्रत होती है कि उसका विकार उसकी काम-इन्द्रिय पर तत्काल प्रगट हो जाता है, इसी विकार को ढांकने के लिये मनुष्य लंगोटी (कौपीन), धोती आदि वस्त्र पहनते हैं, वे थोड़े समय भी नग्न (नंगे) नहीं रह सकते । नंगे रहने में उन्हें लज्जा (शर्म) आती है, इसी लज्जा के कारण सर्व साधारण व्यक्ति अन्य सब कुछ छोड़ सकते हैं परन्तु लंगोटी पहनना उनसे नहीं छूटता । उस अजेय लज्जा को भी जीतकर महाव्रती मुनिराज लंगोटी भी उतार फैंकते हैं और नग्न रहकर छोटे बच्चे के समान कामविकार से रहित अपने अटल

ब्रह्मचर्यकी परीक्षा देते हैं। स्त्रियों को देखकर भी कभी उनकी इन्द्रिय पर विकार नहीं आने पाता। नंगे रहने के कारण उनको अन्य अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है जिनको कि अटल धैर्य के साथ वे सहन करते हैं। इस प्रकार वे नाग्न्य परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

(७)अरति—मुनिराज आत्मशुद्धि करने के लिये वन, पर्वत, श्मशान, मठ, गुफादि एकान्त निर्जन स्थानों में रहा करते हैं, जहाँ पर कि कोई भी मनोरंजन का साधन नहीं होता, इन्द्रियों को प्रिय पदार्थ भी जहाँ पर कोई नहीं रहता। ऐसे स्थानों पर रहते हुए, ध्यान, अध्ययन, स्वाध्याय करते हुए अपने चित्त में अरति (अरुचि) की भावना नहीं आने देते। मुनिचर्या की किसी भी क्रिया में शिथिलता नहीं आने देते। अरुचिकर साधन सामग्री के रहते हुए भी अपने चारित्र-परिपालन में रंचमात्र भी उत्साह कम नहीं होने देते। न कभी इस अरुचिकर या शान्त निर्जन वातावरण से खिन्न, म्लान होते हैं और न कभी अपनी गृहस्थ-अवस्था के रंगमहलों के निवास सुन्दर बाग बगीचों के भ्रमण नाटक घरों, जल कीड़ाओं, विविध खेल कूदों, अनेक प्रकार की मनोरंजक सामग्रियों तथा इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले वातावरण का स्मरण करते हैं, सदा शान्त उत्साही बने रहते हैं। यह अरति परीषहजय है।

(८) स्त्री परीषह—स्त्री वेद के उदय से स्त्रियों में पुंवेद के उदय से पुरुषों में तथा नपुंसक वेद कर्म का उदय उभय अभिलाषा को करता है। एक दूसरे को देखने से कामवासना जाग्रत हो उठती है। इसके सिवाय अनेक कामातुर स्त्रिया अपने हाव भाव विलास विभ्रम से मनुष्यों में कामवासना जाग्रत कर देती हैं। परन्तु महाव्रती मुनीश्वर अखण्ड ब्रह्मचर्य को मूर्ति होते हैं, कामदेव उनके मन पर रंचमात्र भी प्रभाव नहीं डाल पाता, इसी कारण न तो कभी स्त्रियों की कामवासना को उत्तेजना देने वाली हाव भावमयी क्रिया देखकर उनका मन विकृत होता है और न कभी स्त्रियों द्वारा कामोत्तेजक उपद्रव होने पर उनका ब्रह्मचर्य खण्डित हो पाता है। सुदर्शन सेठ की तरह मदभरी सुन्दरी तरुणी कामवती कामिनियों द्वारा ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट करने के लिये उपद्रव होने पर भी वे अपने मन, वचन शरीर को कछुए की तरह इस तरह नियंत्रित एवं संकुचित कर लेते हैं कि उन पर छोड़े हुए स्त्रियों के काम-वाण विफल हो जाते हैं। इस प्रकार वे स्त्री परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

(९) चर्या परीषहः—गुरु की आज्ञानुसार विशुद्धि के कारण केवलज्ञानोत्पत्ति के क्षेत्र तथा निर्वाण क्षेत्र, प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र की वंदना करके समाधि मरण करने योग्य

स्थान में विहार करते समय अलग २ देशवासी जनता के आचरण को सुधारते हुए उस २ देश की भाषाओं को सीखते हुए छोटे गांवों में एक दिन से ज्यादा न रहकर तथा नगर में पाँच दिन या धर्म कार्य के सम्बन्ध में महीना इत्यादि रहते हुए हवा के समान निःसंग विहारी होकर गिरि, गुहा, कंदरा इत्यादि जंगल में सिंह के समान निर्भय होते हुये रास्ते में चलते समय अनेक प्रकार के कांटे, कंकड़ आदि के टुकड़े वगैरह पाँव में गड़ने पर भी उसके निकालने का प्रयत्न न करना, उसका ध्यान न करना तथा वाहनादिक की भी आशा नहीं करना इसके अलावा अन्य असाता कर्म के उदय से शरीर में वेदना इत्यादि होने पर भी उसकी परवाह न करते हुए उदीरणा पूर्वक उस कर्म को खिपाते हुए, "मुझे कुछ कष्ट नहीं है" ऐसा अपने मनमें विचार कर आगम में कहे हुए के अनुसार ईर्या समिति पूर्वक परम निजात्मतत्व भावना पूर्वक शांति के साथ सहन करने की दृढ़ता अपने अंदर धारणकरने का नाम चर्या परीषह विजय है।

(१०) निषिद्या परीषहः—मोक्षार्थी साधु संयम भावना के बल से उत्पन्न हुई मनो भावना के बल से उत्साह पूर्वक कभी भी न प्राप्त हुई ऐसी अत्यन्त दृढ़ भावना के साथ स्मशान भूमि उद्यान वन गिरि, गुफा, इत्यादि प्रदेशों में पल्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, मकर, मयूरासन, कुक्कुटासन, इत्यादि आसनों के द्वारा तपस्या करते हैं। उस समय खटमल, चींटी, मच्छर, दंश बिच्छु, कानखजूरा इत्यादि क्षुद्र जन्तुओं के काटने से कष्ट होता है। तो उस कष्ट की कुछ भी चिंता न कर धैर्य के साथ ध्यान में तत्पर रहना तथा तीव्र रोगादि परीषह की बाधा होने पर उसे दूर करने के लिये यंत्र मंत्र तंत्र इत्यादिक का प्रयोग न करना तथा सुखासन इत्यादिक की भावना मन में न लाते हुए सूखे हुए झाड़ के समान स्थिर रहकर अन्य स्थान में जाने की इच्छा न करना और भी अनेक पीड़ाओं को सहन करते हुए अपने आत्मस्वरूप में लीन रहना निषिद्या परिषह जय है।

(११) शय्यापरीषहः—संयम में तत्पर हुआ यती 'यह सन्मार्ग मुझे कैसे प्राप्त हुआ' ऐसा मन में आश्चर्य पूर्वक भावना करते हुए शारीरिक ममत्व बुद्धि को छोड़ कर निर्जन गिरि गुफा पर्वतादि में अति शीत, उष्ण, इत्यादि बाधाओं से रहित शुद्धात्म तत्व में रत रह कर ऊपर कहे हुए परीषह इत्यादिक को दृढ़ता पूर्वक सहन करते हुये आत्म चिंतवन में मग्न होकर शुद्ध शयन करना शय्या परीषह है।

(१२) आक्रोश परीषह—दश धर्म में निरत, सकलागमार्थ वेदी, महाव्रत पालनेवाले मुनि को दुर्जन लोग तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से दुर्भाव पूर्वक, गुण विशेष को न

जाननेवाले मिथ्यादृष्टि, क्रूर परिणामी, मदिरा पीने से उन्मत्त, यौवनमद से मतवाले "इस को देखने से हमारा कार्य नहीं बनेगा" ऐसा सोचते हैं और "इनको जलाओ काटो, मारो, यह नंगा है, स्नान से रहित है, अशुचि है, कुलहीन है" इत्यादि अनेक दुर्वचन सुनकर विभाव को उत्पन्न न करके जिस प्रकार कंकड़ पत्थर फेंकने से वृक्ष कुछ नहीं कहते सुनते उसी प्रकार दुष्ट पुरुषों के गाली गलौज, कुवचनों को मुनिराज शान्त भाव से सहन करते हैं, उनके ऊपर किंचिद् मात्र भी क्रोध न करना आक्रोश परीषह जय कहलाता है ।

(१३) वध परीषह—सद्गुरुके समीप रहकर जिन्होंने समस्त आगमोंका अच्छी तरह अभ्यास किया है अपने मन का अज्ञानान्धकार नाश किया है, जो दृढ़ वैराग्य से दिव्य योगी हैं वे मुनि ग्राम, जंगल, नगरादि में नग्न एकाकी विहार करते हैं ज्ञान प्रदीप से उस समय तस्कर (चोर), कोतवाल, नीच, म्लेच्छ, शिकारी आदि निर्दय, पर धर्म को सहन न करनेवाले अन्य लिंगी आदि अत्यन्त क्रूर परिणामी जैन मुनि को देखते हैं त अपने दुष्ट स्वभाव से मुनि महाराज को बाँधना ताड़ना, मुष्टिका प्रहार करना बेंत से पीटना, शूली में बाँधकर नीचे लटका देना, जलती हुई अग्नि में डाल देना, तेल में भिगोकर कपड़ा शरीर में लपेटकर आग लगाना, अंगों की सन्धियों में लोहे की कील ठोंकना, शरीर को शस्त्र से टुकड़े २ करना, इत्यादि रूप से कष्ट देते हैं, तब भी जिस प्रकार चंदन जलते समय भी अपनी सुगन्धि को नहीं छोड़ता, ईख कोल्हू में पेरे जाने पर भी अपनी मधुरता नहीं छोड़ता, अग्नि में खूब तपा हुआ स्वर्ण अत्यधिक कान्तिमान् होता है, उसी प्रकार महामुनि अनेक आपत्तियाँ आने पर भी अपने सत् स्वरूप से च्युत न होकर आत्मस्वरूप में स्थिर रहते हैं । यह वध परीषह जय है ।

(१४) याचना परीषह—त्रैलोक्य दुर्लभ तप का अभिमान न करके अनशन अवमोदर्यादि तप करने से तथा मार्ग में चलने फिरने के श्रम से, रोगादि पीड़ासे मुनि अशक्त हो जाते हैं, भूख-प्यास से उनका पेट पीठ में घुस जाता है तथा कंकड़, कचरा उनकी आँखों में पड़ जाता है, होठ सूख जाते हैं, शरीर की हड्डियाँ सूख जाती हैं, चमड़ा सिकुड़ जाता है फिर भी वे अपने मनोबल से न डिगते हुए अपने आत्म स्वरूप में लीन रहते हैं । वे यती इस प्रकार चिन्तवन करते हैं कि सम्यग्दर्शनादि से हमारा मुख्य प्रयोजन है, अन्य से नहीं । अतः वे अपने शारीरिक प्राणों के जाने पर भी शारीरिक कष्ट दूर करने के लिये वस्तिका, आहार औषधादि को मन, बचन, काय द्वारा किसी भी व्यक्ति से याचना नहीं करते जैसे रत्न का व्यापारी दीनता का भाव नहीं रखता उसी प्रकार मुनि देश काल

के अनुसार चर्या के लिये जाते समय धनिक और धनहीन का ध्यान न रखकर शान्ति पूर्वक धीरे धीरे सूतक पातक आदि दोष रहित कुलीन श्रावकों के घरों की ओर गमन करते हैं। तब वे श्रावक उन मुनि को देखकर कल्प वृक्ष चिन्तामणि कामधेनु की भाँति स्वर्गापवर्ग उत्कृष्ट फल दाता जानकर भक्तिभाव से मुनि के निकट जाकर विधिपूर्वक पड़ गाते हैं और अपने घर में लाकर जो शुद्ध आहार देते हैं उसे मुनिजन अँजुली बाँधकर ग्रहण कर लेते हैं। इस तरह शुद्ध निर्दोष अल्प आहार भी निरीह वृत्तिसे करते हैं, लोलुपता नहीं रखते, यह याचना परीषह का विजय है।

(१५) अलाभ परीषह—लोक में अति दुर्लभ रत्नत्रयको पाकर 'आज मैं कृतार्थ हो गया' इस प्रकार मन में आनन्दित होते हुये हवा के समान एकाकी विहार करते हैं और उपवास आदि करनेसे तथा चलने से जो थकावट होती है उसे अपने हाथों से दूर करनेकी भावना भी नहीं करके, स्व-पर भेदविज्ञान रूपी औषधि से उसे उपशमन करते हैं वे मुनि भोजन चर्या के समय निकलते हैं और श्रावकों के प्राङ्गण में अपना शरीर दिखाकर, कल अमुक घर जायँगे, परसों अमुक घर जायँगे ऐसी भावना न करके अपने हाथों में श्रावकों द्वारा विधि से दिये हुये आहार को ही ग्रहण करते हैं। चर्या के समय यदि कदाचित् मार्ग भूल जायँ तो भी 'किसी अन्य ग्राम में जाकर आहार ग्रहण करूँगा' ऐसे संकल्प से रहित रहकर "इस गाँव में विधि पूर्वक कोई आहार देनेवाला नहीं है" ऐसा विचार नहीं करते। इस गाँव या नगर में अच्छा फल या सुमधुर रसादि पदाथ नहीं है, अमुक गाँव या नगर में है ऐसा विचार भी नहीं करते तथा आहार न मिलने पर भी क्षुब्ध या खिन्न नहीं होते, और न दूसरे समय में जाने की इच्छा करते हैं। सर्वदा आत्मा को तृप्त करने वाले अनन्त सुख की प्राप्ति के लिये चिदानन्द स्वरूप आत्मा की भावना करते हैं। उस भावना से तृप्त होकर रहना मुनि का अलाभ परीषह जय है।

(१६)रोग परीषह—यह आत्मा पूर्व संचित कर्म के उदय से संसार यात्रा में अपने पड़ाव के लिये किसी शरीर रूपी सराय में कुछ समय के लिये रहता है, उस आयु प्रमाण स्वल्प निवास में आत्मा को उस शरीर के कारण अनेक विपदायें उठानी पड़ती हैं। मनुष्य का शरीर जो अन्य शरीरों की अपेक्षा अच्छा बतलाया गया है, मनुष्य का वह औदारिक शरीर वैक्रियिक शरीर की तुलना में शारीरिक दृष्टि से बहुत घटिया है। मनुष्य के शरीर में बात, पित्त, कफ, जरा भी कम अधिक (विषम) होने पर जल वायु, आहार-पान, गमन, शयन, आदि में थोड़ा भी परिवर्तन हो जाने पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं जो कि मनुष्य को व्याकुल कर देते हैं, फिर मुनि जीवन में तो इनकी और भी

अधिक संभावना रहती है। क्योंकि मुनि महाराज सदा पूर्ण नंगे रहते हैं अतः सर्दी गर्मी वर्षा का प्रभाव उनके शरीर पर तुरन्त पड़ जाता है तथा भक्त श्रावक उनको जैसा भोजन प्रदान करते हैं वैसा शुद्ध भोजन उन्हें करना पड़ता है जो कि प्रायः उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं होता एवं वे कभी स्नान नहीं करते, न शरीर की कोई और सेवा करते हैं। इस कारण मुनियों के शरीर में अनेक प्रकार के रोग हो जाया करते हैं। परन्तु मुनि महाराज न तो उन रोगों से खेदखिन्न, अथवा दुखी होते हैं, न उन रोगों को दूर करने की चेष्टा करते हैं, न किसी से चिकित्सा करने की प्रेरणा करते हैं। उनको स्वयं आमर्ष, क्ष्वेल सर्वौषधि आदि ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं जिनके द्वारा कि वे अपने रोगों को तुरन्त अच्छा कर सकते हैं परन्तु फिर भी वे ऐसा नहीं करते। रोग की बाधा शान्ति से सहते हैं। अपना उपयोग शरीर की ओर न करके आत्मा की ओर रखते हैं। इस तरह मुनि रोग परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

(१७) तृणस्पर्श परीषह—मुनि महाराज नग्नशरीर होते हैं, पृथ्वी पर सोते हैं, नंगे पैर रहते हैं, अपने स्थान पर बिछाने के लिये किसी तरह का बिछौना उनके पास नहीं होता इस लिये सोने बैठने को जमीन, काष्ठासन, शिलापट इत्यादि का उपयोग करते हैं तथा जब मार्ग में गमन करते हैं उस समय शरीर में व पैर में तिनके, कांटे कंकड़ आदि चुभते हैं एवं तीव्र, उष्णता से होने वाली बाधा तथा रोगादिक की वेदना भी जब कभी प्राप्त होती है ऐसे समय वे संयम की विराधना नहीं करते और न पूर्व समय में उपयुक्त कोमल गद्दे गलीचे तथा मखमली चद्दर आदि का स्मरण करते हैं, शीत उष्णादि तथा कठोर शय्या आदि का ध्यान नहीं रखते। अपने उपयोग में स्थिर रहकर "यह सब परीषह सहन करने में कौन बड़ी विशेषता है" इस प्रकार की भावना करते हैं। यह तृणस्पर्श परीषह जय है।

(१८) मल परीषह जय—कर्म मल को पाँव के नीचे रखकर मैं कुचल डालूँगा, ऐसे विचार द्वारा पैरों से पृथ्वी कुचलना मुनिके लिये हिंसाजनक है। अपने शरीराश्रित प्रतिष्ठित बादर निगोद जीवों की हिंसा होने के कारण मुनि आजन्म स्नान का त्याग कर देते हैं। स्नान न करने के कारण उनके शरीर में खुजली हो जाती है तथा कांख, दाढ़ी तथा सिर के बालों की जड़ से निकलने वाले पसीने में उड़ने वाली धूल मिल जाने से मैल उत्पन्न हो जाता है। शरीर के उस मैल पर मच्छर मक्खी आदि जन्तु बैठकर यदि काटने लगें तो उस का प्रतीकार न करके पहली गृहस्थ अवस्था में किये हुए स्नान उबटनादि का स्मरण न करना तथा परमागमाभ्यास के बल से इस "मल परीषह को मैं सहन करूँगा,

ऐसी भावना रखते हुए शिर तथा दाढ़ी के बालों का लोंच करने के अनन्तर लोंच की पीड़ा को हटाने के लिये हाथ से उन स्थानों को न सहलाना आदि मल परीषह जय है।

(१९) सत्कार पुरस्कार परीषह—मुनि अपने गुरु के चरणों में रहकर ज्ञान के आठ विनयों के साथ आगम का अध्ययन करते हैं। अन्य सहपाठियों के साथ प्रथमानुयोग चरणानुयोग करणानुयोग द्रव्यानुयोग का तथा स्व-पर सिद्धान्त का अध्ययन करने से जो उनको महान् प्रतिवादियों को जीतने योग्य ज्ञान प्राप्त होता है तब शास्त्रार्थ विजयसे प्रतिवादियों को अपने चरणोंमें झुकाने की इच्छा न करना तथा जनता द्वारा अपना महान् सत्कार प्राप्त होने की भावना न करना एवं जनता आदर सत्कार न करे, किसी बात को ले कर निन्दा करे, अपयश फैलावे इत्यादि प्रसंग में समता भाव रखते हैं। काच-कंचन, नगर-श्मशान, अर्घावतारण, असि प्रहारण, निन्दा-स्तुति के समय हर्ष-विषाद छोड़कर समता भाव से विचलित न होना, सत्कार पुरस्कार परीषह जय है।

(२०) प्रज्ञा परीषह जय—पूज्य तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट तथा गणधर देव द्वारा विरचित समस्त आगमों का अभ्यास करके व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विषयों में पारङ्गत होकर ऐसा अभिमान अपने हृदय में न आने देना कि "मैं संसार में सबसे अधिक विद्वान् हूँ, ज्ञान में मेरी तुलना करनेवाला कोई भी मनुष्य नहीं है। मैं समस्त प्रश्नों का समाधान कर सकता हूँ, पर मेरे प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सकता आदि।" ऐसा विचार करते हुये कि 'मैं तो कुछ विद्वान् नहीं हूँ मुझसे बड़े २ विद्वान् पहले बहुत हो चुके हैं, जिन्होंने कि बड़े २ ग्रन्थों की रचना की है। लोक अलोक प्रकाशक केवलज्ञान की तुलना में मेरा ज्ञान कुछ भी नहीं है।' ऐसा विचार करके तथा तीन काल के पदार्थों को एक साथ जानने वाला केवलज्ञान विद्यमान है तब मैं अपने इस तुच्छ ज्ञान का अभिमान करूँ, यह मेरे लिये बड़ी लज्जा की बात है। अपने ज्ञान का अभिमान न करना प्रज्ञा परीषह जय है।

(२१) अज्ञान परीषह—यों तो प्रत्येक आत्मा में वह महान् ज्ञान विद्यमान है जो कि अपने प्रकाश से न केवल इस विशाल जगत् को अपितु इससे भी अनन्तगुणे विशाल अलोकाकाश को भी प्रकाशित करता है परन्तु वह ज्ञान ज्ञानावरण कर्म की आड़ में छिपा हुआ है। उस ज्ञान को प्रकाश में लाने के लिये मुनिगण अपने गुरु से विनय के साथ अध्ययन करते हैं परन्तु ज्ञानावरण के प्रबल उदय से किसी मुनिकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं होती अतः सूक्ष्म तथा स्थूल विषय उनकी समझ में नहीं आता, उनके सहपाठी पढ़कर बहुत उन्नति कर जाते हैं, वे उनसे बहुत पीछे रह जाते हैं, इस कारण गुरु उनकी भर्त्सना

करते हैं, सहपाठी उपहास करते हैं, अन्य लोग उन्हें लज्जित करते हैं, बहुत से उनकी निन्दा करते हैं। इन बातों को सुनकर वे न तो दुखी होते हैं, न क्रुद्ध होते हैं और न अनुत्साहित होते हैं, अपने मन्द क्षयोपशम का विचार करके समता भाव रखते हैं तथा अपना ज्ञान बढ़ाने में निरन्तर प्रयत्नशील बने रहते हैं और शनैः शनैः अपना अज्ञान कम करते जाते हैं। अक्षरों, पदों का ज्ञान प्राप्त करके पूर्वों तथा द्वादश अंगों का पूर्णज्ञान एवं केवलज्ञान प्राप्त करने की भावना सतत जाग्रत रखते हैं। यह अज्ञान परीषह-जय है।

(२२) अदर्शन परीषह—आत्मा की अवनति का मूल कारण मिथ्यादर्शन तथा उन्नति का मूल सम्यग्दर्शन है। इस कारण आत्मा की सब से अधिक सुरक्षणीय निधि सम्यग्दर्शन है। मुनिजन भी अपनी चर्या में सम्यक्त्व की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखते हैं। जिनवाणी में निश्चल श्रद्धा रहने से सम्यग्दर्शन सुरक्षित रहता है और जिनवाणी में श्रद्धा न रहने से, शंका उत्पन्न होने से सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है और समूल नष्ट भी हो जाता है। बहुत से मुनि जनों को दीर्घकाल तक निर्दोष साधु-चर्या आचरण करते हुए तथा कठोर तपस्या करते हुए भी जब कोई अतिशय ज्ञान तथा कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं हो पाती। उस अवस्था में कोई मुनि विचारने लगते हैं कि शास्त्रों में तो ऐसा लिखा है कि—

"दीक्षाचार्य से दीक्षा लेकर सकल संयम धारण करके भाव शुद्धि से कुछ दिनों तक दुर्द्धर तपश्चरण करते हुये अनेक ऋद्धियां प्राप्त कर लेते हैं किन्तु हमें अभी तक अवधि मनः पर्यय तथा केवल ज्ञान नहीं प्राप्त हो सका। क्षायिक दर्शन नहीं प्राप्त हो सका हमने महोपवास रूप सिंह विक्रीडितादि तप किये परन्तु अभी तक हमको कोई ऋद्धि सिद्धि नहीं हुई अतः शास्त्रीय वार्ता सत्य प्रतीत नहीं होती, दीक्षा लेना अनर्थक है, व्रत परिपालन करना निष्फल है, तपस्या व्यर्थ है।" ऐसा अश्रद्धानरूप दुश्चिन्ता न करना। यदि क्षायिक सम्यक्त्वोत्पत्ति होना है तो शुद्ध चिदानन्दैकस्वरूप क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोपेत सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करने से अवश्य होगी, ऐसे सन्तुष्ट चित्त होकर स्व स्वभाव में स्थित रहना अदर्शन परीषह जय है।

अब चारित्र का वर्णन करते हैं :—

शुद्ध उपयोगस्वरूप रत्नत्रय में परिणत आत्मस्वरूप में जो चरण यानी स्थित होना है सो चारित्र है। वह तारतम्य भेद से पाँच प्रकार का है।

सभी जीव केवल ज्ञानमय हैं ऐसी भावनारूप से जो समता परिणाम का होना है सो सामायिक है। अथवा परम स्वास्थ्य के बल से एक ही समय समस्त शुभ, अशुभ-संकल्प विकल्पों के त्यागरूप जो समाधि (ध्यान) है वह सामायिक है। अथवा विकार रहित आत्मानुभव के बल से रागद्वेष परिहार (त्याग) रूप सामायिक है। अथवा शुद्ध-आत्म-अनुभव के बल से आर्त्त, रौद्र ध्यान का त्यागस्वरूप सामायिक है या समस्त सुख-दुःखों में मध्यस्थ रहने रूप सामायिक है। अब छेदोपस्थापना का कथन करते हैं:—

जब एक ही समय समस्त विकल्पों के त्यागरूप परम सामायिक में स्थित होने में यह जीव असमर्थ होता है तब समस्त हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह से विरक्ति होना व्रत है, इस कथन के अनुसार विकल्प भेद से पाँच व्रतों का छेदन होने से राग आदि विकल्प रूप सावद्यों से अपने आपको छुड़ाकर निजशुद्ध आत्मा में उपस्थापन है, अथवा छेद यानी व्रत के भंग होने पर निर्विकार-निजात्मानुभव रूप निश्चय प्रायश्चित्त के बल से अथवा व्यवहार प्रायश्चित से जो निजात्मा में स्थित होना है सो छेदोपस्थापन है। अब परिहारविशुद्धि को कहते हैं। जो जन्म से ३० वर्ष तक की अवस्था को सुख से व्यतीत करके त्रर्ष पृथक्त्व यानी ८ वर्ष तक तीर्थंकर के चरणों में प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व को पढ़कर तीनों संध्याकाल के सिवाय प्रतिदिन दो कोश गमन करता है, (वर्षाऋतु में भी गमनकर सकता है) उस मुनि के परिहार विशुद्धि संयम होता है। १। (गोम्मटसार जीवकांड। ४७२।)

इस गाथा के कथनानुसार मिथ्यात्व, राग आदि विकल्प मलों का प्रत्याख्यान यानी-त्याग करके अधिकता के साथ जो आत्म-शुद्धि यानी-निर्मलता है, सो परिहार विशुद्धि है। अब सूक्ष्म-सांपराय चारित्र को कहते हैं:—

सूक्ष्म यानी इन्द्रियों के अगोचर अपने शुद्ध-आत्म-अनुभव के बल से सूक्ष्म लोभ नामक सांपराय-कषाय का पूर्णरूप से उपशमन अथवा क्षपण यानी क्षय होना सूक्ष्म सांपराय चारित्र है। अब यथाख्यात चारित्र को कहते हैं, जैसा निष्कंप सहज शुद्ध-स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है वैसा ही आख्यात यानी कहा गया हो सो यथाख्यात चारित्र है।

अब सामायिक आदि पाँच चारित्र के गुणस्थानों के स्वामित्व का यानी किन गुणस्थानों में कौन सा चारित्र होता है, इसका कथन करते हैं। प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक चार गुणस्थानों में सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र होते हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र भी एक सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थानों में

ही होता है तथा यथाख्यात चारित्र उपशांत-कषाय, क्षीण कषाय सयोगिजिन और अयोगिजिन इन चार गुणस्थानों में होता है। अब संयम के प्रतिपक्षी जो संयमासंयम और असंयम हैं वे किन गुणस्थानों में होते हैं, यह बतलाते हैं। दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमारूप संयमासंयम यानी देश चारित्र एक पंचम गुणस्थान में ही जानना चाहिये। और असंयम तो मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में होता है, ऐसे चारित्र का व्याख्यान समाप्त हुआ।

इस प्रकार भावसंवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र इन सब का जो व्याख्यान किया, उस व्याख्यान में निश्चय रत्नत्रय को साधनेवाला जो व्यवहार रत्नत्रय शुभोपयोग है उसका निरूपण करनेवाले जो वाक्य हैं वे पुण्य तथा पाप इन दोनों आस्रवों में संवर के कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिये। यहां सोम नामक राजसेठ कहता है कि हे भगवान्! ये जो पूर्वोक्त व्रत, समिति आदिक संवर के कारण हैं इनमें संवरानुप्रेक्षा ही सारभूत है और वही इस जीव के आस्रव का संवर कर देगी फिर आपने जो विशेष प्रपंच किया है, इससे क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् नेमिचन्द्र आचार्य देते हैं कि—मन वचन काय इन तीनों की गुप्ति स्वरूप निर्विकल्प ध्यान में स्थित मुनि के तो उस गुप्ति से ही संवर हो जाता है किन्तु उसमें असमर्थ जो जीव हैं उनके अनेक तरह से संवर का प्रतिपक्षभूत मोह उत्पन्न होता है इस कारण आचार्य व्रत आदि का कथन करते हैं ॥ ३५ ॥ क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७ और वेनयिकों के बत्तीस ऐसे कुल मिलाकर तीनसौ तिरेसठ पाखंडियों के मत हैं। ।१। (गोम्मटसार कर्मकांड ।८७६।) योगसे प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं, कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बंध होता है और जिसके कषाय का उदय नहीं है तथा कषायों का क्षय हो गया है ऐसे जो उपशांतकषाय, क्षीण कषाय और सयोगकेवली हैं उनमें तत्काल बन्ध स्थिति का कारण नहीं है ॥२॥ (गोम्मटसार कर्मकांड ।२५७।) इस प्रकार संवर तत्व के व्याख्यान में दो सूत्रों द्वारा तृतीय स्थल समाप्त हुआ।

अब सम्यग्दृष्टि जीवके संवर-पूर्वक निर्जरा होती है इस कारण निर्जरा तत्व को कहते हैं :—

Vrata-samiti-guptayah dharmanupreksah parishajayascha.
Charitram vahubhedam jnatavyah bhavasamvaravisesah—(35).

Padapatha—बद्-समिदीगुत्तीओ Vada-samidiguttio, Vratas, Samitis and Guptis. य Ya, and. धम्माणुपिहा Dhammanupiha, Dharmas and Anuprekasas. परीसहजओ Parisahajao, Parisahajaya. बहुभेदं Vahubheyam, of many kinds. चारत्तिं Charittam. Charitra. भावसंवरविसेसा Bhavasamvaravisesa, the verieties of Bhava-samvara. णायव्वा Nayavva, to be known.

35. The Vratas (Vows), Samitis (Attitudes of carefulness), Guptis (Restraints), Dharmas (Observances), Anupreksas (Meditations), Parisaha-jayas (the victories over troubles) and various kinds of Charitra (Conduct) are to be known as varieties of Bhava-samvara.

COMMENTARY

From this verse, we learn that Bhavasamvara is of seven varieties: Vrata, Samiti, Gupte, Dharma, Anupreksa, Parisaha-jaya and Charitra. Each of these, again, are divided into various sub-clases.

A. Vrata or vows is of five kinds, viz. Ahimsa (Abstinence from injury), Satya (Truthfulness), Achaurya or Asteya(Abstinence from stealing, Brahmacharya (Abstinence from sexual pleasures) and Aparigraha (Abstience from acceptance of worldly objects). Umasvami has mentioned these five varieties of Vrata, and has defined each of them ❀ In Prasna Vyakarana, Samvara is said to consist of these five varities only. † The five rules of conduct (Pancha Silas) of the Buddhists correspond to the five Vratas of Jainism; and a parallel may also be found in the commandments, such as, "Thou shalt not kill," "Thou shalt not steal," "Thou shalt

---

❀ "हिंसाऽनृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरति-र्व्रतम् ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् । ६ । १ ।]

† "एत्तो संवर-दाराइं पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए जह भणियाणि भगवया सव्वदुक्खविमोक्खणट्ठाए । पढमं हुंति अहिंसा, वितियं सत्तवयणंति पण्णत्तं दत्तमणुणाय संवरो वंभचेरमपरिग्गहंतं च ।"

[प्रश्नव्याकरणम् । ६ अध्ययनम्]

not commit adultery," etc, which are promulgated by Christianity.

B. Samiti or carefulness is of five kinds. (a) Irya, i. e., using paths trodden by men and beasts in such a manner as not to cause injury to any creature, (b) Bhasa, i. e., gentle and beneficial talk, (c) Esana, i. e., receiving alms, avoiding the faults reprehended in Jaina canons, (d) Adana-niksepa, i. e., receiving and keeping things which are necessary for religious purposes only, after examination and (e) Utsarga, i. e., attending to calls of nature in unfrequented places. ❀

C. Gupti † or restraint is of three kinds: (a) Kaya-gupti or restraint of movements of the body, (b) Vag-gupti or restraint of the tongue, so that it might not utter bad language and (c) Mano-gupti or restraint of mind from thinking about forbidden matter.

D. Dharma or observance is of ten kinds, viz, the observance of (a) Uttama Ksama or excellent forgiveness. (b) Uttama Mardava or excellent humility (c) Uttama Arjava or excellent straightforwardness, (d) Uttama Satya or excellent truth, (e) Uttama Saucha or excellent cleanliness. (f) Uttama Samyama or excellent restraint, (g) Uttama Tapa or excellent penance, (h) Uttama Tyaga or excellent abandonment, (i) Uttama Akinchanya or excellent indifference and (j) Uttama Brahmacharya or excellent celibacy. ‡

The seventh variety of Dharma, viz., Uttama Tapa is, again, of two kinds: Vahya (external) and Avyantara (internal). Vahya Tapa (external penance) consists of Anasana (fasting); Avamo-

---

❀ "ईर्याभाषैणादाननिक्षेपोत्सर्गा: समितय:"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ।६।५।]

† "सम्यग् योगनिग्रहो गुप्तिः ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ६।४।]

‡ "उत्तमक्षमा-मार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्य्याणि धर्म्मः ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ।६।६।]

darya (regulation of diet), Vritti-parisankhyana (regulation of meals by observing the rules enjoined in the Jaina scriptures for begging alms), Rasaparityaga (abstinence from appetising food), Vivikta-sayyasana (sitting and lying at quiet and solitary places) and Kaya-Klesa (practice of bodily austerities), Avyantara Tapa (internal penance) consists of Prayaschitta (expiation), Vinaya (reverence), Vaiavritya (service), Svadhyaya (study of scrtptu-res), Vyutsarga (giving up mundane objects and thoughts about the same) and Dhyana (meditation). *

E. Anupreksa or reflection is of twelve kinds: (a) Anityanu-preksa or reflection that everything in this world is transient, (b) Asarananupreksa or reflection that there is no other refuge of us in this world, except our own truth, (c) Samsaranupreksa or reflec-tion about the cycles of worldly existence, (d) Ekatvanupreksa or reflection that a Person is solely and individually responsible for his own acts, whether good or bad. (e) Anyatvanupreksa or refle-ction that non-ego is separate from the ego, (f) Asuchitvanupreksa or reflection that the body and all that appertains to it is unclean, (g) Asravanupreksa or reflection about the influx of Karma, (h) Samvaranupreksa or reflection about stoppage of the influx of Karma. (i) Nirjaranupreksa or reflection about the removal of foreign energies which have already entered the soul, (j) Lokanu-preksa or reflection about soul and matter and the real substances of this universe, (k) Bodhidurlabhanupreksa or reflection about

---

* "अनशनावमौदर्य्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा वाह्यं तपः।"
"प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ।९।१९।२०]

"बाह्यमाभ्यन्तरञ्चेति मूलभेदद्वयान्वितम् ॥
उपवासावमोदर्यं वृत्तिसंख्य रसोप्सनम् (?) ।
विविक्तवासना कायक्लेशश्चेति बहिर्भवम् ॥
स्वा-ध्यायो व्यावृत्तिर्ध्यानं व्युत्सर्गो विलयस्तथा ।
प्रायश्चित्तमिति ज्ञेयमान्तरं षड्विधं तपः ॥"

[चन्द्रप्रभचरितम् ।१८।१११—११३ ।]

the difficulty of attaining perfect faith, perfect knwloedge and perfect conduct, and (l) Dharmanupreksa or constant reflection about the essential principles of the universe. †

F. Parisaha-jaya or conquering the troubles is the sixth kind of Samvara. The troubles which may afflict a hermit are of various kinds. Gaining victory over all these troubles is what is known as Parisahajaya. The varieties of these are (a) Ksudhaparisahjaya or the victory over the troubles of hunger, (b) Pipasa-parisahajaya or the victory over the troubles of thirst, (c) Sita-parisahajaya or victory over the troubles of cold, (d) Usnaparisahajaya or the victory over the troubles of heat, (e) Damsa-masaka-parisahajaya or the victory over the troubles from mosquitoes and gnats, (f) Nagnyapari sahajaya or the victory over the feelings of shame arising from nudity, (g) Aratiparisahajaya or the victory over the feelings of dissatisfaction with hunger, thirst, etc., (h) Striparisahajaya or the victory over the disturbance of tranquility at the sight of fair women or the movements of them, (i) Charyaparisahajaya or rhe victory over the feelings of fatigue arising from travelling on the roads, (j) Nisadyaparisahajaya or victory over the desire of moving from a fixed posture in meditation. (k) Sayya-parisahajaya or the victory over the desire of having a bed prohibited in the Jaina scriptures, (l) Akrosa-parisahajaya is conquering the feelings of anger when one is insulted by another, (m) Badha-parisahajaya or the conquering of ill-feeling against an enemy who comes to kill (n) Yachanaparisaha-jaya or conquering the desire to ask anything from anyone, even at the time of greatest need, (o) Alabha-parisaha-jaya is the victory over the feelings of dissatisfaction arising from not getting worldly objects,(p)Roga-parisashajaya or the victery over the pains of disease, (q) Trina-sparsa-parisaha-jaya or the victory over the feeling of pain arising from

---

† "अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवर निर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ।९।७]

wounds in the feet by treading over thorns, etc, (r) Mala-parisaha-jaya is conquering the feeling of disgust which arises from seeing one's body to be unclean, (s) Satkarapuraskaraparisahajaya other victory over the desire to gain respect, praise or reward,(t) Prajna-parisaha-jaya or the victory over the feeling of pride at one's learning (u) Ajnana-parisahajaya or the victory over the feeling of despair arising out of failure to gain knowledge by certain hindrances and (v) Adarsana-parisaha-jaya or conquering the feeling of sadness or despair when one fails to ob'ain desired fruits, even after practise of penances, etc. These are the twenty-two kinds of victory over troubles. *

G. Charitra or Right Conduct is of five kinds ❀:—(a) Samayika-charitra (Equanimity) consisting of self-absorption in which a person refrains during his whole life or for a certain fixed period from injury, false-hood, lust; stealing and acceptance of things which are not given † (b) Chhedopasthapana (Resettling after a break) consisting of penalties for faults arising from inadvertence or negligence, on account of which one loses equanimity. (This therefore may be said to cons.st of an attempt to recover equanimity; after a fall from the same) ‡ (c) Parihara-visuddhi (Purity obtained by refraining from injury to living beings) whtch is only found in a saint who being thirty years old, serves a Tirthankar from three to nine years, who is devoid of inadvertence and absor-

---

* "क्षुत्पिपासा—शीतोष्ण—दंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।"
[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ।९।९।]

❀ "वृत्तं सामायिकं ज्ञेयं छेदोपस्थापनं तथा ।
परिहारं च सूक्ष्मं च यथाख्यातं च पञ्चमम् ॥" [तत्वार्थसार: ॥ ६ ।४४॥]

† "प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्यकर्मणः ।
नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामायिकं स्मृतम् ॥" [तत्वार्थसार: ॥ ६ । ४५ ॥]

‡ "यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः ।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ॥" [तत्वार्थसार: ॥ ६ । ४६ ॥]

bed in self-contemplation and who practises other observances + (d) Suksmasamparaya consisting of conduct in which only the passion greed is present in a very subtle state while all other passions have subsided or have been destroyed. (This kind of conduct is only found in one who has reached the tenth stage of development) ꙮ (e) Yathakhyata (Perfect Right Conduct) characterised by subsidence or destruction of all the passions. It is present in beings who are in the eleventh, twelfth, thirteenth and fourteenth stages of development. ❀

We have thus seen that Samvara is first divided into two classes, Bhava-samvara and Dravya-samvara, the first of which, again, has many subdivisions. The first variety of Bhava-samvara viz, Vrata is not counted as such by Umaswami.† Amrita-chandra Suri,‡ and Svami-kartikeya×. Abhayadeva Acharya, again, in his commentary on Sthananga says that Samvara is of forty-two kinds. +

In the Jain epics also we do not find Vrata included in the sub-divisions of Samvara, but only Gupti, Samiti, Dharma Anup-

---

+ "विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि ।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत् ।।" [तत्वार्थसारः ।। ६ । ४७ ।]

ꙮ "कषायेषु प्रशान्तेषु प्रक्षीणे ष्वखिलेषु वा ।
स्यात् सूक्ष्मसांपरायाख्यं सूक्ष्मलोभवतो यतेः ।। [तत्वार्थसारः ।। ३ । ४८।।]

❀ "क्षयाच्चारित्रमोहस्य कार्त्स्न्येनोपशमस्तथा ।
यथाख्यातमथाख्यातं चारित्रं पञ्चमं जिनैः ।।" [तत्वार्थसारः ।।६ । ४९।।]

† "स गुप्ति-समितिधर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयचारित्रैः ।" [तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ।।९। १]

‡ "गुप्तिः समितथो धर्म्मः परीषहजयस्तपः ।
अनुप्रेक्षाश्च चारित्रं सन्ति संवरहेतवः ।।" [तत्वार्थसारः ।६ । १]

× "गुत्ती समिदा धम्मो अरवुवेक्खा तह परीसहजओ वि ।
उक्किट्ठं चारित्तं संवरहेदू विसेसेण ।।" [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा । ९६ ।]

+ "तदेवमयं द्विचत्वारिंशद्विधो ।" [स्थानाङ्ग-टीका]

reksa, Parisahajaya and Charitra are mentioned as varieties of Samvara ❋ Vrata, with all its five varieties, is however, mentioned in all the above mentioned works—though not as a sub-division of Samvara, yet as a factor opposed to Avrata. *

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥

अन्वयः—णेया इत्यादि सूत्र का व्याख्यान करते हैं। "णेया" जानना चाहिये। किसको? (णिज्जरा) भाव निर्जरा को। वह क्या है? उत्तर—निर्विकार परम चैतन्य चित्-चमत्कार के अनुभव से उत्पन्न सहज आनन्द-स्वभाव सुखामृत का आस्वादरूप भाव है। यहाँ भाव शब्दका अध्याहार (विवक्षा से ग्रहण) किया गया है। (जेण भावेण) जीव के जिस परिणाम से, क्या होता है, (सडदि) जीर्ण होता है, गिरता है, गलता है अथवा नष्ट होता है, कौन? (कम्मपुग्गलं) कर्म शत्रुओं का नाश करनेवाले निज शुद्ध आत्मा से विलक्षण कर्मरूपी पुद्गल द्रव्य, कैसा होकर? (भुत्तरसं) अपने उदयकाल में जीव का सांसारिक सुख तथा दुःखरूप रस देकर, किस कारण गलता है? (जहकालेण) अपने समय पर पकनेवाले आम के फल के समान तो सविपाक निर्जरा की

❋ "आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
कर्मसंव्रियते येनेत्येवं व्युत्पत्तिसंश्रयात् ॥
चारित्रगुप्त्यनुप्रेक्षापरीषहजयादसौ ।
दशलक्षणधर्म्माच्च समितिभ्यश्च जायते ॥"

[चन्द्रप्रभचरितम् ॥ १८ ॥ १०६-१०७]

"आस्रवाणामशेषाणां निरोधः संवरः स्मृतः ।
कर्म संव्रियते येनेव त्यन्वयस्यावलोकनात् ॥
आस्रवद्वाररोधेन शुभाशुभविशेषतः ।
कर्म संव्रियते येन संवरः स निगद्यते ॥
धर्मात् समिति-गुप्तिभ्यामनुप्रेक्षानुचिन्तनात् ।
असावुदेति चारित्रादरिषट्कजयादपि ॥"

[धर्मशर्माभ्युदयम् ॥ २१ ॥ ११७-११९ ॥]

* "हिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।"

[तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ॥ ७ । २ ॥]

अपेक्षा और अन्तरंग में निज शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप परिणाम को बहिरंग सहकारी कारण भूत काललब्धि से यथा समय और (तवेण य) बिना समय पकते हुये आम आदि फलों के समान अविपाक निर्जरा की अपेक्षा समस्त परद्रव्यों में इच्छा के रोकने रूप आभ्यन्तर तप से और आत्मरूपत्व के अनुभव को साधने वाले उपवास आदि बारह प्रकार के बहिरंग तपसे (तस्सडणं) उस कर्म का गलना द्रव्य निर्जरा है। शंका आपने जो पहले (सडदि) ऐसा कहा है उसी में द्रव्यनिर्जरा प्राप्त हो गई फिर (सडन) इस शब्द का दुबारा कथन क्यों किया ? समाधान—पहले जो (सडदि) शब्द कहा गया है उससे निर्मल आत्मा के अनुभव को ग्रहण करने रूप भाव निर्जरा नामक परिणाम का सामर्थ्य कहा है, द्रव्य निर्जरा का कथन नहीं किया गया। (इदि) इस प्रकार द्रव्य और भाव स्वरूप से निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिये।

यहाँ शिष्य पूछता है कि जो सविपाक निर्जरा है वह तो नरक आदि गतियों में अज्ञानियों के भी होती हुई देखी जाती है। इसलिये सम्यग्ज्ञानियों के सविपाक निर्जरा होती है, यह नियम नहीं है। इसका उत्तर यह है कि यहां जो संवर पूर्वक निर्जरा है उसी को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वही मोक्ष का कारण है और जो अज्ञानियों की निर्जरा होती है वह तो गजस्नान (हाथी के स्नान) के समान निष्फल है। क्योंकि अज्ञानी जीव थोड़े कर्मों की तो निर्जरा करता है और बहुत से कर्मों को बांधता है। इस कारण अज्ञानियों की सविपाक निर्जरा का यहां ग्रहण नहीं करना चाहिये। तथा जो सराग सम्यग्दृष्टियों की निर्जरा है वह यद्यपि अशुभ कर्मों का नाश करती है, शुभ कर्मों का नाश नहीं करती फिर भी संसार की स्थिति को थोड़ा करती है अर्थात् जीव के संसार भ्रमण को घटाती है। उसी भवमें तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य बंधका कारण हो जाती है और परंपरा से मोक्ष का कारण है। वीतराग सम्यग्दृष्टियों के पुण्य तथा पाप दोनों के नाश होने पर उसी भव में वह अविपाक निर्जरा मोक्ष का कारण हो जाती है। सोही श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने कहा है—(अज्ञानी जिन कर्मों का एक लाख करोड़ वर्षों में नाश करता है उन्हीं कर्मों को ज्ञानी जीव मन, वचन, काय की गुप्ति द्वारा एक उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है। १।) यहां कोई शंका करता है कि सम्यग्दृष्टियों के वीतराग विशेषण किस लिये लगाया है क्योंकि राग आदि भाव हेय यानी त्याज्य हैं, मेरे नहीं हैं, ऐसा भेद-विज्ञान होने पर वह राग का अनुभव करे तो भी उसके ज्ञान-मात्र से ही मोक्ष हो जाता है ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि अन्धकार में दो मनुष्य हैं, एक के हाथ में दीपक है और दूसरा बिना दीपक के है। उस दीपक रहित पुरुष को

अन्धेरे के कारण न तो कुएँ का पता चलता है और न सर्प आदि का पता लगता है इसलिये यदि वह अन्धकार में कुएं आदि में अज्ञान से गिर जावे तो दोष नहीं। किन्तु जिसके हाथ में दीपक है वह मनुष्य यदि कुएँ में गिरने आदि से नष्ट हो जावे तो उसके हाथ में दीपक होने का कोई फल नहीं हुआ और जो उस अंधकार में दीपक के प्रकाश से कूप पतन आदि से बचता है उसके दीपक का फल है। इस दृष्टान्त के अनुसार कोई मनुष्य तो (राग आदि हेय हैं, मेरे नहीं हैं) इस प्रकार के भेद विज्ञान को नहीं जानता है वह तो कर्मों से बंधता ही है और दूसरा मनुष्य भेद विज्ञान के होने पर भी जितने अंशों से रागादि का अनुभव करता है उतने अंशोंसे वह भेदविज्ञानी भी बंधता ही है। अतः उसके रागादि के भेद विज्ञान का भी फल नहीं है और जो रागादिक भेद विज्ञान होने पर राग आदि का त्याग करता है उसके भेद विज्ञान का फल है, यह जानना चाहिये। सोही कहा है-(नेत्रों से देख कर मार्ग में सर्प आदि से बचना फल है और जो नेत्र द्वारा सर्प आदि को देख कर भी सर्प के बिल में पड़ता है उसके नेत्रों का होना व्यर्थ है ।।३६।। इस प्रकार निर्जरा तत्व के व्याख्यान में एक सूत्र द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

अब मोक्ष तत्व को कहते हैं :—

Yathakalena tapasa cha bhuktarasam karma-pudgalam yena,
Bhavena sadati jneya tat sadanam cheti nirjara dvividha. (36)

Padapatha—जहकालेण Jahakalena, in proper time. भुत्तरसं Bhuttarasam, whose fruits are enjoyed. कम्मपुग्गलं Kammapuggalam, the matter of Karma. जेण Jena, that. भावेण Bhavena. Bhava. सडदि Sadadi, disappears. य Ya, and. तवेण Tavena, by penance. च Cha, and. तस्सडणं Tassadanam, that disappearance. इदि Idi, thus. णिज्जरा Nijjara, Nirjara. दुविहा Duviha, of two kinds. णेया Neya, to be known.

36. That Bhava (modification of the soul) by which the matter of Karma disappears in proper time after the fruits (of such Karma) are enjoyed (is called Bhava-Nirjara), also (the destruction of Karmic matter) through penances (is known as Bhava-Nirjara.) And that destruction (itself) (is known as Dravya-Nirjara). Thus Nirjara should be known to be of two kinds.

COMMENTARY

We have seen how the matter of Karma enters the soul through Asrava and how this influx might be stopped by Samvara. But now the question arises, that we might stop a further influx of Karmic matter by Samvara, but how can we be freed from the same which has already taken possession of the soul ? The answer to this is given in this verse, where it is laid down that by Nirjara we can free ourselves from the Karmic matter which has already entered the soul.

What is Nirjara ? The destruction of Karmas is called Nirjara. † This destruction may be of two kinds, Bhava-Nirjara and Dravya-Nirjara. Bhava-Nirjara consists of that modification of the soul which precedes and favours the separation of Karmic matter from the soul. Dravya-Nirjara is the actual separation of the Karmic matter from the soul. In other words, Bhava-Nirjara is that state of the soul when the material particles arising from Karma disappear while Dravya-Nirjara is the disappearance itself.

Bhava-Nirjara is of two kinds, Savipaka or Akama and Avipaka or Sakama. That is to say, Karmas are destroyed in two ways, viz. (1) after their fruits are fully enjoyed and (2) through penances before such enjoyment of fruits. * Every person is affected with good or bad Karmas, the fruits of which are enjoyed by them in an existence in earth heaven or hell, according to the kind

† "एगा णिज्जरा ।" स्थानांग । १ ।"निर्जरणं निर्जरा विशरणं परिशटनमित्यर्थः कर्मक्षयो निर्जरा ।" [स्थानांग-टीका]

* उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा ।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा ॥
अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्त्तिनः ।
कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा ॥
अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम् ।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥" [तत्त्वार्थसारः ॥७॥ २-४]

of Karma possessed by them. There is a fixed period of such enjoyment of the fruits of Karmas, and after the lapse of that period when the said fruits of Karmas, are fully enjoyed, a person is freed from Karmas which disappear of their own accord. This is what is known as Savipaka Nirjara (or destruction of Karmas after the enjoyment of fruits.) This kind of Nirjara can happen to all beings, for all kinds of Karmas of all beings disappear in this manner after a proper period. As this disappearance takes place without the activity of a person, it is also called Akama (or un-intentional) Nirjara.

The second kind of destruction of Karmas takes place when the sages practise penances, by the force of which the Karmas disappear even before their fruits are enjoyed. This is consequently known as Avipaka Nirjara (or destruction of Karmas without the enjoyment of their fruits.) As such a kind of destruction can only be produced by intentional effort on behalf of a person, it is known as Sakama (intentional) Nirjara.

The soul is like a mirror which becomes dim when the dust of Karma accumulates on its surface. By Nirjara this dust of Karma is removed and the soul attains clearness. * The good or bad Karmas disappear either of their own accord without any activity on the part of a soul when their fruits are enjoyed in earth heaven or hell, or by the effort on the part of a person consisting of practice of penances. † We have already mentioned that there

---

* "कर्मणां फलभोगेन संक्षयो निर्जरा मता ।
भूत्यादर्श इवात्मायं तया स्वच्छत्वमृच्छति ।।" [नेमिनिर्वाणम् । १५ । ७४ ।]

† "यथाकालकृता काचिदुपक्रमकृतापरा ।
निर्जरा द्विविधा ज्ञेया कर्मक्षपणलक्षणा ।।
या कर्मभुक्तिः श्वभ्रादौसा यथाकालजा स्मृता ।
तपसा निर्जरा या तु सा चोपकर्मनिर्जरा ।।
स्थितं द्वादशभिर्भेदैर्निर्जराकरणं तपः ।
बाह्यमाभ्यन्तरञ्चेति मूलभेदद्वयान्वितम् ।।" [चन्द्रप्रभचरितम् । १८ । १०९—१११]

are twelve kinds of penances, according as they are external or internal. A person must practise first of all Samvara so as to stop all further influx of Karmas, and then begin to destroy the Karmas already amalgamated with the soul, by means of penances ‡ This is the way in which the destruction of Karmas takes place in the case of sages, while, ordinarily, with respect to all classes of beings, the Karmas disappear only after their fruits are fully enjoyed.

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो ॥३७॥

अन्वय—यद्यपि सामान्यरूप से संपूर्णतया कर्ममल-कलंक-रहित, शरीररहित आत्मा के आत्यन्तिक, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अद्भुत तथा अनुपम सकल विमल केवलज्ञान आदि गुणों का स्थान रूप जो अवस्थान्तर है वही मोक्ष कहा जाता है, फिर भी विशेषता से वह मोक्ष दो प्रकार का होता है—भाव और द्रव्य, यह वार्तिक पाठ है । सो इस प्रकार है—"णेयो स भावमुक्खो" वह भाव मोक्ष जानना चाहिये। वह कौन है? "अप्प णोहु परिणामो" निश्चय रत्नत्रय रूप जो कारण समयसार है उस रूप आत्मा का परिणाम। वह आत्मा का परिणाम कैसा है? "सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू" जो कि सब द्रव्य, भाव रूप मोहनीय आदि चार घातिया कर्म हैं उनके नाश का कारण है। अब द्रव्य मोक्ष

"दुर्जरा निर्जरत्यात्मा यया कर्म शुभाशुभम् ।
निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदत: ॥
सा सकामा स्मृता जैनैर्या व्रतोपक्रमै: कृता ।
अकामा स्वविपाकेन यथा श्वभ्रादिवासिनाम् ॥" [धर्मशर्माभ्युदयम् । २१ ॥१२२—१२३]

"सविपाकाविपाकाभ्यां द्विधा स्यान्निर्जराङ्गिनाम् ।
अविपाका मुनिन्द्रानां सविपाकाखिलात्मनाम् । [वर्द्धमानपुराणम् । १६ ॥६०।]

"सव्वेसिं कम्माणं सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ ।
तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण ॥
सा पुण दुविहा णेया सकालपत्ता तवेण कयमाणा ।
चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥" [स्वामिकात्तिकेयानुप्रेक्षा । १०३—१०४]

‡ "संवर-जोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे वहुविहेहिं ।
कम्माणं णिज्जरणं वहुगाणं कुणदि सो णियदम् ॥" [पञ्चास्तिकायसमयसार: ।१४४]

के स्वरूप को कहते हैं—"दव्वविमुक्खो" अयोगी गुणस्थानवर्ती जीव के अन्त समय में द्रव्य मोक्ष होता है। वह द्रव्य मोक्ष कैसा है ?"कम्मपुहभावो" टंकोत्कीर्ण शुद्ध बुद्ध-स्वरूप एक स्वभाव के धारक परमात्मा के आयु आदि शेष चार अघातिया कर्मों का भी सर्वथा भिन्न होना या नाश होना द्रव्यमोक्ष है।

अब मुक्तात्मा के सुख का वर्णन करते हैं—"निज आत्मा रूप उपादान कारण से सिद्ध, स्वयं अतिशययुक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि ह्रास से रहित, विषयों से रहित, प्रतिद्वन्द यानी प्रतिपक्षता से रहित, अन्य द्रव्यों की अपेक्षा से मुक्त, उपमा रहित, अपार, नित्य और सर्व काल में उत्तम तथा अनन्तसारतायुक्त जो परम सुख है वह इस मोक्ष से उन सिद्धों के हुआ है।" यहाँ कोई शंका करता है कि जो सुख इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ है वही सुख है; सिद्ध जीवों के इन्द्रियों तथा शरीर का अभाव है इसलिये पूर्वोक्त अतीन्द्रिय सुख सिद्धों के कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हैं—कि जो सांसारिक सुख है वह तो स्त्रीसेवन आदि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से ही उत्पन्न होता है, जो पाँचों इन्द्रियों के विषय के व्यापार से रहित तथा व्याकुलता शून्य पुरुष हैं उनका जो सुख है वह अतीन्द्रिय सुख है, वह इस लोक में ही देखा जाता है। पांचों इन्द्रियों तथा मन से उत्पन्न विकल्पों से रहित और निर्विकल्प ध्यान में स्थित परम योगियों के राग-आदि की शून्यतापूर्वक जो स्वसंवेद्य (अपने अनुभव से जानने योग्य) आत्मा का सुख है वह विशेष करके अतीन्द्रिय है और भावकर्म तथा द्रव्यकर्म से रहित,आत्मा के समस्त प्रदेशों में आह्लादरूप पारमार्थिक परम सुख में परिणत मुक्त जीवों के जो अतीन्द्रिय सुख है उसे अत्यन्त अतीन्द्रिय जानना चाहिये। यहाँ पर शिष्य कहता है कि संसारी जीवों के निरन्तर कर्मों का बंध होता है और इसी प्रकार कर्मों का उदय भी सदा होता रहता है इस कारण उनके शुद्ध आत्मा के ध्यान का प्रसंग ही नहीं है तब मोक्ष कैसे होती है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—कि जैसे कोई बुद्धिमान् अपने शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर, अपने मन में विचार करता है कि यह मेरे मारने का अवसर है यानी इस समय मेरा शत्रु दुर्बल है अतः यह समय शत्रुको मारने का है, ऐसा विचार कर उद्यम करके , वह बुद्धिमान् अपने शत्रु को मारता है। इसी प्रकार कर्मों की भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती। इस कारण स्थितिबंध और अनुभाग बंधकी न्यूनता होने पर जब कर्म लघु यानी हलके होते हैं तब बुद्धिमान् भव्य जीव के आगम भाषा से "क्षयोपशम , विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच लब्धियाँ हैं, इनमें चार तो सामान्य हैं (सभी जीवों को हो सकती हैं) और पांचवीं सम्यक्त्वचारित्र होने के समय होती है" (गोम्मटसार जीवकांड ६५०) इस गाथा में कही हुई पांच लब्धियों

से अध्यात्म भाषा में निज शुद्धात्म के सन्मुख परिणाम नामक निर्मल-भावना-विशेषरूप खड्ग से पौरुष करके कर्म शत्रु को नष्ट करता है। और अन्तः कोटाकोटि परिमाण कर्म स्थितिरूप तथा लताकाष्ठ के स्थानापन्न अनुभाग रूप से कर्मभार हल्का हो जाने पर भी यह जीव आगमभाषा से अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक आत्माभाषा से स्व-शुद्ध आत्म-सन्मुख परिणामरूप जीव कर्मों को नष्ट करने की बुद्धि है उस को किसी भी समय में न करेगा तो यह अभव्यत्व गुण का लक्षण जानना चाहिये अन्य भी नौ दृष्टांत मोक्ष के विषय में जानने योग्य हैं।

"रत्न, दीपक, सूर्य, दूध दही, घी पाषाण, सोना चाँदी, स्फटिकमणि और अग्नि ये नौ दृष्टांत मोक्ष के विषय में हैं।" (योगसार, दोहा ५७) यहाँ कोई शंका करता है कि अनादि काल से मोक्ष को जाते रहने से यह जगत् कभी जीवोंसे बिल्कुल शून्य हो जायगा अर्थात् अनादिकाल से जीव मोक्ष को जा रहे हैं तो कम होते होते कभी न कभी इस जगत् में जीव सर्वथा न रहेंगे? इसका परिहार—जैसे क्रम से जाते हुए जो भविष्य काल के समय हैं उनसे यद्यपि भविष्यत्काल के समयों की राशि में कमी होती है फिरभी उस समय राशि का अंत कदापि न होगा इसी प्रकार मुक्ति में जाते हुये जीवों से यद्यपि जगत् में जीवराशि की न्यूनता होती है तो भी उसका अंत नहीं होता है। शंका—पूर्वकाल में बहुत जीव मोक्ष को गये हैं तब इस समय जगत् में जीवों की शून्यता क्यों नहीं देख पड़ती? उत्तर अभव्य जीव तथा अभव्य के समान दूरातिदूर भव्य जीवों का मोक्ष नहीं है। फिर जगत् की शून्यता कैसे होती ॥३७॥

इस प्रकार संक्षेप से मोक्षतत्व के व्याख्यान रूप एक सूत्र से पंचम स्थल समाप्त हुआ।

अब इसके आगे छठे स्थल में गाथा के पूर्वार्ध से पुण्य पापरूप दो पदार्थों को और उत्तरार्ध से पुण्य प्रकृति तथा पाप प्रकृतियों की संख्या को कहता हूँ, इस अभिप्राय को मन में रख कर, भगवान् इस सूत्र का प्रतिपादन करते हैं:—

Sarvasya karmanah yah ksayahetuh atmanah hi parinamah.
Jneyah sa bhavamoksah dravya-vimoksah cha karma-prithag-bhavah—(37)

Padapatha—जो Jo, that. अप्पणो Appano, soul's. परिणामो Parinamo, modification. सव्वस्स Savvassa, of all. कम्मणो Kammano, Karma. खयहेदू Khaya-hedu, the cause of destruction. स Sa, हु Hu,

surely. भावमोक्खो Bhava-mokkho, Bhava-moksa. णेओ Neyo, to be known. य Ya, and. कम्मपुधभावो Kammapudha-bhavo, separation of Karma. दव्वविमोक्खो Davva-vimokkho, Dravya-moksa.

37. That modification of the soul which is the cause of the destruction of all Karmas is surely to be known as Bhava-moksa and the (actual) separation of the Karmas (is) Dravya-moksa.

COMMENTARY

When a person is desirous of having liberation, he attempts to have perfect faith, perfect knowledge and perfect conduct, (See Verse 39.) Having perfect faith, knowledge and conduct, he becomes free from the four kinds of Ghatiya karmas, Jnanavaraniya, Darsana-varaniya, Mohaniya and Antaraya (see Commentary on Verse 14.) This modification of the soul which leads to the destruction of the Karmas mentioned above is called Bhavamoksa. The commentator Brahmadeva, says † that by the words "all Karmas" in the verse, the four Ghatiya Dravya and Bhava Karmas only are meant. In Vardhamana Purana we have:—

"सर्वेषां कर्मणां योऽत्र क्षयहेतुः शिवार्थिनः ।
परिणामोऽतिशुद्धः स भावमोक्षो जिनैर्मतः ॥"

[Canto XVI. 72.]

i. e. "The extremely pure modification of the soul which is the cause of destruction of all kinds of Karma in a person desirous of good, is regarded as Bhava-moksa by the Jinas."

Now, there is another kind of Moksa, called Dravya-moksa, which consists of the separation of the soul from the Aghatiya Karmas, vis. Ayu. Nama, Gotra and Vedaniya Karmas which disappear last of all. This happens when a being is in the last stage of developmen which is known as Ayogi. (See Commentary on Verse 13). In Vardhamana Purana we have:—

† "सर्वस्य द्रव्यभावरूपमोहनीयादिघातिचतुष्टयकर्मणो ।" [ब्रह्मदेवविरचितटीका]

"कृत्स्नेभ्यः कर्मजातेभ्यो विश्लेषो यश्चिदात्मनः ।
परमसद्ध्यानयोगेन द्रव्यमोक्षः स कथ्यते ॥"

(Canto XVI. 73.)

i. e. "The separation of the conscious soul from all kinds of Karmas by excellent meditation is known as Dravya-moksa."

By Bhava-moksa, therefore, one is freed from the first four, and by Dravya-moksa from the last four kinds of Karmas. Both these kinds of Moksa together lead to perfect liberation.

Umasvami has written in his Tattvartha Sutra X. 1. 2that a person attain Kevala Jnana (Omniscience) when first his Mohaniya Karmas and then his Jnanavaraniya, Darsanavaraniya and Antaraya Karmas are destroyed. After attaining Kevala Jnana, the cause producing bondage being absent and Nirjara beivng present, a person becomes free from the remaining Karmas. viz. Vedaniya, Ayu, Nama and Gotra Karmas, and thus being void of all kinds of Karma attains liberation. ❃

We have seen that Karmas take possession of a soul through Asravas. This iaflux of Karmas can be stopped by Samvaras. By this stoppage, fresh Karmas cannot enter the soul. But even after stopping the entrance of fresh Karmas, it is necessary to purge the soul from Karmas which have already taken possession of the former. This can be done by Nirjara. Then only the Karmas, Vedaniya, Nama, Gotra and Ayu which cause worldly existence disappear and a being attains liberation. In Panchastikaya-samayasara we have.

❃ "मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।"
"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।"

[तत्वार्थाधिगमसूत्रम् ।१०।१।२]

See also:—

"अभावाद् बन्धहेतूनां बन्धनिर्जरया तथा ।
कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते ॥" [तत्वार्थसारः ।]

"जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥"

(Verse 153.)

i. e. "He who having Samvara and destroying all Karmas through Nirjara becomes free from Vedaniya, Nama, Gotra and Ayu Karmas, leaves the world. Therefore this is called Moksa (liberation)." *

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंतिखलु जीवा । सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥ ३८ ॥

अन्वयः—"पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा" चिदानन्दरूप-सहज-शुद्ध स्वभाव से पुण्य, पाप बन्ध तथा मोक्ष आदि पर्याय रूप विकल्पों से रहित भी जीव परम्परा से अनादि कर्मबन्ध पर्याय से पुण्य तथा पाप भी होते हैं। यानी पुण्य पाप को प्राप्त होते हैं। कैसे होते हुए जीव पुण्य पाप को धारण करते हैं ? "सुहअसुहभावजुत्ता" मिथ्यात्व-रूपी विष का वमन करो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो और भाव नमस्कार में तत्पर होकर सदा ज्ञान में लगे रहो। १। पाँच महाव्रतों का पालन करो क्रोध आदि कषायों का पूर्ण रूप से निग्रह करो, प्रबल इन्द्रियशत्रुओं को विजय करो तथा बाह्य और आभ्यन्तर तप को सिद्ध करने में उद्योग करो। इस प्रकार दोनों आर्याछन्दों में कहे हुए लक्षणसहित शुभ उपयोगरूप परिणाम से तथा उसके विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणाम से युक्त जो जीव हैं वे पुण्य पाप को धारण करते हैं अथवा स्वयं पुण्य पाप रूप हो जाते हैं। अब पुण्य तथा पाप के भेदों को कहते हैं। "सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं" साता वेदनीय, शुभआयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र ये कर्म तो पुण्यरूप हैं और इनसे भिन्न जो शेष कर्म हैं—वे पाप कर्म हैं। सो इस प्रकार हैं—साता वेदनीय एक प्रकृति, तिर्यंच, मनुष्य और देव इस तरह शुभ आयु की तीन प्रकृतियाँ सुभग, यश

---

* Compare also:---

"अनेकजन्मबद्धानां सर्वेषामपि कर्मणाम् ।
विप्रमोक्षः स्मृतो मोक्ष आत्मनः केवलस्थितेः ॥"

[नेमिनिर्वाणम् ।१५॥७६।]

"कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भव्यस्य परिणामिनः ।"

[चन्द्रप्रभचरितम् । १८ ॥ १२३ ।]

कीर्ति तथा तीर्थंकर आदि नाम कर्मकी कुछ प्रकृतियां और उच्च गोत्र एक, ऐसे सब मिल कर समुदाय से ४२ पुण्य प्रकृतियां जाननी चाहिये। शेष ८२ प्रकृतियां आठों कर्मों की हैं वे सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

"दर्शनविशुद्धि १, विनयसंपन्नता २, अतिचाररहित शील, व्रतों का आचरण ३, निरन्तर ज्ञान-उपयोग ४, संवेग ५, शक्ति अनुसार त्याग ६, शक्ति अनुसार तप ७, साधु समाधि८, वैयावृत्य करना ९, अरहन्त की भक्ति१०, आचार्य भक्ति ११, बहुश्रुतभक्ति १२, प्रवचनभक्ति १३, आवश्यकों में हानि न करना १४, मार्गप्रभावना १५ और प्रवचनवात्सल्य १६, ये तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारण हैं। इन सोलह भावनाओं से उत्पन्न तीर्थंकर नामकर्म विशिष्ट पुण्य है। इन सोलह भावनाओं में परमागम भाषा से "तीन मूढ़ता, आठ मद, ६ अनायतन और आठ शंका आदि दोष ये पच्चीस २५ सम्यग्दर्शन के दोष हैं।१। (ज्ञानार्णव पृ० ६३, षट्प्राभृत पृ० ३२) इस प्रकार श्लोक में कहे हुये सम्यग्दर्शनके इन पच्चीस दोषोंसे रहित अध्यात्मभाषा से निजशुद्धआत्मा ही उपादेय है ? इस प्रकार की जो रुचि है उस रूप सम्यक्त्व को भावना ही मुख्य है यह जानना चाहिये। शंका सम्यग्दृष्टि जीव के तो पुण्य तथा पाप ये दोनों त्याज्य हैं फिर वह पुण्य कैसे करता है? समाधान में युक्ति-जैसे कोई मनुष्य अन्यदेश में विद्यमान किसी मनोहर स्त्री के पास से आये हुए मनुष्यों का उस स्त्री की प्राप्ति के लिये दान सन्मान आदि करता है ? ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी निज शुद्धआत्मा को ही भाता है, परन्तु चारित्रमोहके उदय से उस निज शुद्ध-आत्म-भावना में असमर्थ होता है, तब दोषरहित परमात्मस्वरूप अर्हंत सिद्धोंका तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय और साधु की परमात्मपद की प्राप्ति के लिये और विषय कषायों को दूर करने के लिए पूजा, दान आदि से अथवा गुणों की स्तुति आदि से परम भक्ति करता है और भोगों की वांछा आदि से रहित जो परिणाम है उससे कुटुम्बियों को पुआल (भुस) समान समझकर निःस्पृह रूप से विशिष्ट पुण्य का आस्रव करता है, यानी जैसे किसान जब चावलों की खेती करता है, तब उसका मुख्य उद्देश्य चावल उत्पन्न करने का रहता है और चावलों का जो पुआल (घास) है उसमें उसकी इच्छा नहीं रहती, तो भी उसको बहुत सा पुआल मिल ही जाता है; इसी प्रकार से मोक्ष को चाहने वाले जीवों के बिना वांछा भी भक्ति करने से पुण्य आस्रव होता है और उस पुण्य से स्वर्ग में इन्द्र लोकान्तिक देव आदि की विभूति प्राप्त होकर स्वर्ग सम्बन्धी जो विमान तथा देव देवियों का परिवार है उसको जीर्ण तृण के समान गिनता हुआ पञ्च महाविदेहों

में जाकर देखता है। प्रश्न क्या देखता है? उत्तर कि, वह यह समवसरण है, वे ये श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवान् हैं, वे ये भेद तथा अभेदरूप रत्नत्रय की आराधना करनेवाले गणधर देव आदि हैं, जो कि पहले सुने जाते थे, वे आज प्रत्यक्ष में देखे, ऐसा मानकर अधिकता से धर्म में बुद्धि को दृढ़ करके चौथे गुणस्थान के योग्य जो अपनी अविरत अवस्था है उसको न छोड़ता हुआ भोगों का सेवन होने पर भी धर्मध्यान से देव आयु के काल को पूर्ण कर स्वर्ग से आकर तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होता है और तीर्थंकर आदि पद को पाकर भी पूर्व जन्म में भावित की विशिष्ट भेद-ज्ञान की वासना के बल से मोह को नहीं करता और मोह-रहित होने से श्री जिनेन्द्र की दीक्षा को धारण कर पुण्य तथा पाप से रहित निज परमात्मध्यान के द्वारा मोक्ष को जाता है और जो मिथ्यादृष्टि है वह तो तीव्र निदान बंध के पुण्य से चक्रवर्ती, नारायण तथा रावण आदि प्रतिनारायणों के समान भोगों को प्राप्त होकर नरक को जाता है। इस तरह पूर्वोक्त लक्षण वाले जो पुण्य और पापरूप दो पदार्थ हैं उन सहित पूर्वोक्त जो सात तत्त्व हैं वे ही ६ पदार्थ हो जाते हैं। अर्थात् जीव अजीवादि सात तत्वों में पुण्य और पाप के मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं, ऐसा समझना चाहिये॥ ३८॥

अब इसके पश्चात् बीस २० गाथाओं तक मोक्षमार्ग का कथन करते हैं:—उसके प्रारम्भ में "सम्मदं सणणाणं" इत्यादि आठ गाथाओं द्वारा प्रधानता से निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का प्रतिपादक प्रथम अन्तराधिकार है। उसके अनंतर "दुविहं पि मुक्खहेउ" इत्यादि बारह गाथाओं से ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा ध्यान के फल को मुख्यतया कहनेवाला द्वितीय अन्तराधिकार है। इस प्रकार इस तृतीय अधिकार में समुदाय से भूमिका है। अब प्रथम ही सूत्र के पूर्वार्ध से व्यवहार मोक्षमार्ग को और उत्तरार्ध से निश्चय मोक्षमार्ग को कहते हैं।

Subhasubhabhavayuktah punyam papam bhavanti khalu jivah.
Satam subhayuh nama gotram punyam parani papam cha---(38).

Padapatha—जीवा Jiva, Jivas. सुह-असुह--भाव-जुत्ता Suha--asuha-bhava-jutta, having auspicious and inauspicious Bhavas. खलु Khalu, surely. पुण्णं punnam, punya. पावं Pavam, Papa. हवंति Havanti, become. सादं Satam, Satavedaniya. सुहाउ Suhau, auspicious life. णामं Namam, name. गोदं Godam, Gotra. पुण्णं Punnam, punya. च Cha, and. पराणि Parani the rest. पावं Pavam, Papa.

38. The Jivas consist of Punya and Papa surely having auspicious and inauspicious Bhavas (respectively). Punya is Satavedaniya, auspicious life, name, and class, while Papa is (exactly) the opposite (of these).

COMMENTARY

The real characteristic of a Jiva is consciousness, purity and bliss. But through the eternal chain of Karmas, bondage is produced and Jivas enjoy weal (Punya) or woe (Papa), according as they are possessed by auspicious and inauspicious Bhavas. The auspicious Bhavas are said to consist of freedom from delusion, acquirement of perfect faith and knowledge, practice of reverence and obeisance, observance of the five vows, viz., truth, non-injury, chastity, non-acceptance of worldly objects and refraining from stealing, subduing of the four passions, Anger, Pride, Illusion and Greed, victory over the uncontrolable senses and practice of penances. The inauspicious Bhavas are opposites of each of these. According as a Jiva is possessed of these auspicious or inauspicious Bhavas, it has merits or demerits resulting in weal or woe. ❀

Thus, a Jiva enjoys happiness or misery, according as it is actuated by different kinds of Bhavas mentioned above. †

In Tattvarthadhigama Sutra, we have—"Punya consists of

❀ "उद्वम मिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम् ।
भावनमस्कारतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि ।।
पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम् ।
दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धविधौ कुरूद्योगम् ।।
इत्यार्याद्वियकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन
तद्विलक्षणेनाशुभोपयोगपरिणामेन च युक्ताः परिणताः ।"
[Brahamdeva's Commentary.]

† "सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ।।"
[पञ्चास्तिकायसमयसारः । १३२ ।]

Satavedaniya, Subha Ayu, Subha Nama and Subha Gotra, and Papa consists of the opposites of each of these." ‡ We have seen that there are eight kinds of Karmas–Jnanavaraniya, Darsanavaraniya, Mohaniya Antaraya, Vedaniya, Ayu, Nama and Gotra and that the first four of these are known as Ghatiya Karmas while the last four are named Aghatiya Karmas. Among these, all the Ghatiya Karmas may be said to be Papa, while the Aghatiya Karmas may be either punya or papa.

Satavedaniya is that Karmas by which a soul feels pleasure in external objects and by the assistance of which things which are gratifying to the soul may be procured. Subha Ayu (Auspicious life) consists in having an existence as a God, human being or a beast. Subha Gotra (Auspicious family) consists in being born in a high status of life. Subha Nama (Auspicious name) consists of fame etc. and is of various kinds. All these make up what is known as Punya.

Papa, on the other hand, consists of Asatavedaniya or that Karma which produces pain and procures objects causing pain, Asubha Ayu (Inauspicious life), viz., an existence in hell, Asubha Gotra (Inauspicious family) comprising a birth in low stations and Asubha Nama (Inauspicious name) consisting of disgrace, etc.

With this ends that section of Dravya-samgraha which treats of the seven Tattvas (principles), viz., Asrava, Bandha, Samvara, Nirjara, Moksa, Punya and Papa. The next section will deal with the manner by which one can attain liberation.

---

‡ "सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।"
"अतोऽन्यत् पापम् ।"

[तत्वार्थधिगमसूत्रम् । ८ ॥ २५ । २६ ।]

सम्मद्दंसण णाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

अन्वय—"सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे ववहारा" हे शिष्य! व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को मोक्ष का कारण जानो। "णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा" और निश्चय नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र इन तीनों स्वरूप निज आत्मा ही मोक्ष का कारण है। श्रीवीतराग सर्वज्ञदेव से कहे हुए छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थों का भले प्रकार श्रद्धान करना, जानना और व्रत आदि का आचरण करना रूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। अपने निरंजन शुद्ध आत्मतत्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण में एकाग्रपरिणतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है। अथवा धातु पाषाण में अग्नि के समान जो साधक है वह तो व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा सुवर्ण समान निर्विकार निज-आत्मा के स्वरूप की प्राप्तिरूप जो साध्य है वह निश्चय मोक्षमार्ग है। इस प्रकार संक्षेप से व्यवहार तथा निश्चय मोक्षमार्ग का लक्षण जानना चाहिये॥ ३९॥

अब अभेद से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र निजशुद्ध आत्मा ही है। इस कारण निश्चयनय से आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है, इस प्रकार कथन करते हैं। अथवा पहले कहे हुए निश्चय मोक्षमार्ग को ही अन्य प्रकार से दृढ़ करते हैं—

Samyagdarsanam jnanam charanam moksasya karanam janihi.
Vyavaharat nischayatah tattritayamayah nijah atma. (39).

Padapatha—ववहारा Vavahara, from the ordinary point of view. सम्मद्दंसण णाणं चरणं Samaddamsana nanam charanam, perfect faith, knowledge and conduct. मोक्खस्स Mokkhassa, of liberation. कारणं Karanam, cause. जाणे Jane, know. णिच्चयदो Nichchayado, really. तत्तियमइओ Tattiyamaio, consisting of these three. णिओ Niyo, of one's own. अप्पा Appa, soul.

39. Know that from the ordinary point of view, perfect faith, knowledge and conduct are the causes of of liberation, while really one's own soul consisting of these three (is the cause of liberation).

COMMENTARY

Now the author proceeds to lay down the ways and means to liberation. To attain liberation, one must have Perfect Faith, Perfect Knowledge and Perfect Conduct. ❀ These three will be further explained in Verses 41—43. These are technically known as the three jewels in Jaina works. The three jewels are means to liberation from the ordinary point of view. But really these three jewels cannot exist elsewhere than in the soul; so, to be accurate, it is the soul which can Produce liberation. this will be emphasised in the next verse.

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि ।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

अन्वय—"रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि" निजशुद्ध आत्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्यमें रत्नत्रय नहीं रहता है। "तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा" इस कारण इस रत्नत्रय मय में आत्मा को ही निश्चय से मोक्ष का कारण जानो। इसका विस्तृत वर्णन 'राग आदि विकल्प रहित चित चमत्कार भावना से उत्पन्न मधुर रस के आस्वाद रूप सुख का धारक मैं हूँ।' इस प्रकार निश्चय रूप सम्यग्दर्शन है। और उसी सुख का राग आदि समस्त विभावों से स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। इसी प्रकार देखे, सुने तथा अनुभव किये हुए भोगों की वांछा आदि समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथों से उत्पन्न संकल्प विकल्पों के त्याग द्वारा उसी सुख में सन्तुष्ट तृप्त तथा एकाकार परम समताभाव से द्रवीभूत (भीगे) चित्त का पुनः पुनः

❀ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"

[तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र । १ । १ ।]

"कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षो भव्यस्य परिणामिनः ।
ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयोपायः प्रकीर्त्तितः ॥"

[चन्द्रप्रभचरितम् । १८ । १२३ ॥]

"ज्ञानदर्शनचारित्रैरुपायैः परिणामिनः ।
भव्यस्यायमनेकाङ्गविकलैरेव जायते ॥"

[धर्मशर्माभ्युदयम् । २१ ॥ १६१ ।]

स्थिर करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाला जो रत्नत्रय है वह शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य घट पट आदि बाह्य द्रव्य में नहीं रहता। इस कारण अभेद से अनेक द्रव्योंमय एक पेय यानी बादाम, सौंफ, मिश्री, मिरच आदि द्रव्यों रूप ठंडाई के समान वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा ही चारित्र है तथा वही निज आत्म तत्त्व है। इसी प्रकार कहे हुए लक्षणवाले निज शुद्ध आत्मा को ही मुक्ति का कारण जानो ॥ ४० ॥

इस प्रकार प्रथम स्थल में दो गाथाओं द्वारा संक्षेप से निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप व्याख्यान करके अब आचार्य छः गाथाओं तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का क्रम से वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन को कहते हैं:—

Ratnatrayam na varttate atmanam muktva anya—Dravye.
Tasmat tattritayamayah bhavati khalu moksasya karanam atma. (40)

Padapatha—अप्पाणं Appanam, the soul. मुयतु Muyatu, excepting. अण्णदवियम्हि Annadaviyamhi, in any other substances. रयणत्तयं, Rayanattayam the three jewels. ण Na, not. वट्ठइ Vattai, exist. तह्मा, Tamha, therefore. तत्तियमइओ Tattiyamaio, consisting of these three. आदा Ada, the soul. हु Hu, surely. मोक्खस्स Mokkhassa, of liberation. कारणं Karanam, cause of. होदि Hodi, becomes.

40. The three jewels (i. e., Perfect Faith, Perfect Knowledge and Perfect Conduct) do not exist in any other substance excepting the soul. Therefore, the soul surely is the cause of liberation.

COMMENTARY

It has been laid down that, in order to attain Moksa or liberation, one must have Perfect Faith, Perfect Knowledge and Perfect Conduct. These three are therefore the means to liberation. But these should not be considered to be apart from the soul, for nowhere but in the soul can each or all of these exsist. It is the soul possessed of all these three jewels that is really fit for

liberation. Strictly speaking, therefore, the soul itself attains liberation when it is possessed of certain characteristics (viz., these three jewels). But from the ordinary point of view, we regard the three jewels as apart from the soul as the causes of liberation though from the realistic point of view, the soul possessed of these three jewels is the cause of Moksa.

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि ॥४१॥

अन्वय:—"जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं" वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रके कहे हुए शुद्ध जीव आदि तत्वों में चल, मलिन, अगाढ़ की रहिततापूर्वक जो श्रद्धान यानी रुचि अथवा जो जिनेन्द्र ने कहा है वही यह है, जिस प्रकार से जिनेन्द्र ने कहा है उसी प्रकार से यह है ऐसा निश्चय रूप सम्यग्दर्शन है, "रुवमप्पणो तं तु" और वह सम्यग्दर्शन अभेद नय से आत्मा का स्वरूप है अर्थात् आत्मा का परिणाम है । उस सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य अथवा माहात्म्य को दिखाते हैं—"दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि" जिस सम्यक्त्व के होने पर, "यह पुरुष है या काठ का ठूंठ है" इस रूप संशय, गमन करते हुए जैसे तृण स्पर्श आदि का ज्ञान होता है उस ज्ञान के समान विभ्रम या अनध्यवसाय तथा सीप के टुकड़े में चांदी के ज्ञान की तरह जो विमोह यानी विपर्यय इन तीनों से रहित जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान होता है ।

विवेचन:—"सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है" यह जो कहा गया है उसका विवरण करते हैं—पांच पांचसौ ब्राह्मणों को पढ़ानेवाले गौतम, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण विद्वान् चारों वेद, ज्योतिष्क, व्याकरण आदि छहों अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृति ग्रन्थ, महाभारत आदि अठारह पुराण तथा मीमांसा न्यायविस्तार आदि समस्त लौकिक शास्त्रों के ज्ञाता थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्या ज्ञान ही था । परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथा के अनुसार तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के समवसरण में गये तब मानस्तंभ के देखने मात्र से ही आगम भाषा में दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियों के विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया, उसी समय उनका जो मिथ्या ज्ञान था सो वही सम्यग्ज्ञान हो गया और सम्यग्ज्ञान होते ही "जयति भगवान्" इत्यादि रूप जो प्रसिद्ध श्लोक है उससे भगवान् की

नमस्कार करके श्री जिनेन्द्र की दीक्षा को धारण करके केशों का लोंच किया तदनन्तर मति, श्रुत अवधि और मनःपर्यय नामक चार ज्ञान तथा सात ऋद्धिधारक होकर तीनों ही श्री महावीर भगवान् के समवसरण में गणधर हो गये। गौतम स्वामी ने भव्य जीवों के उपकार के लिये द्वादशांग श्रुत की रचना की। फिर वे तीनों ही निश्चयरत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष को प्राप्त हुए। और वे पांच पांच सौ ब्राह्मण शिष्य मुनि-दीक्षा लेकर यथासम्भव स्वर्ग में गये, और ग्यारह अंगों का पाठी भी अभव्यसेन नामक मुनि सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञानी ही रहा। इस प्रकार सम्यक्त्व के माहात्म्य से जो मिथ्याज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम तथा ध्यान आदि हैं वे सम्यक् हो जाते हैं। सम्यक्त्व के बिना विष मिले हुए दुग्ध के समान ज्ञान तपश्चरणादि सब वृथा हैं, ऐसा जानना चाहिये।

वह सम्यक्त्व पच्चीस २५ मलदोषों से रहित होता है। उन २५ मल दोषों में देवमूढता, लोकमूढता तथा समय मूढता ये तीन मूढतायें हैं। क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषरहित, अनन्तज्ञान आदि अनन्त गुणसहित वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को न जानता हुआ जो व्यक्ति ख्याति (लोक में प्रसिद्धियश), सन्मान लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि सम्पदा प्राप्त होने के लिये जो राग द्वेष युक्त, आर्त्त रौद्र ध्यानरूप परिणामों वाले क्षेत्रपाल चण्डिका आदि मिथ्यादृष्टी देवों का आराधन करता है उसको देवमूढता कहते हैं। ये क्षेत्रपाल, चण्डिका आदि देव कुछ भी फल नहीं देते। प्रश्न—फल कैसे नहीं देते ? उत्तर—रावण ने रामचन्द्र और लक्ष्मण के विनाश के लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, कौरवों ने पांडवों की सत्ता नाश करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की थी तथा कंस ने कृष्ण नारायण के नाश के लिये बहुत सी विद्याओं की आराधना की थी। परन्तु उन विद्याओं ने रामचन्द्र, पांडव और कृष्णनारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं किया। रामचन्द्र आदि ने मिथ्यादृष्टी देवों को प्रसन्न नहीं किया तो भी निर्मल सम्यग्दर्शन से उपार्जित पूर्वभव के द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये। अब लोकमूढता को कहते हैं। "गंगा आदि जो नदी रूप तीर्थ हैं इनमें स्नान करना, समुद्र में स्नान करना, प्रातःकाल में स्नान करना, जल में प्रवेश करके मर जाना, अग्नि में जल मरना, गाय की पूंछ आदि को ग्रहण करके मरना, पृथ्वी, अग्नि और बड़ वृक्ष आदि की पूजा करना" ये सब पुण्य के कारण हैं, इस प्रकार जो कहते हैं उसको लोकमूढता जानना चाहिये। अब समयमूढता यानी शास्त्रमूढता या धर्म-मूढता को कहते हैं—अज्ञानी लोगों के चित्त में चमत्कार यानी आश्चर्य उत्पन्न करने वाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदि को देख कर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ जो धर्म है उसको छोड़कर मिथ्यादृष्टी देव, मिथ्या-

आगम और खोटा तप करनेवाले कुलिंगी का भय से, वांछा से, स्नेह से और लोभ से जो धर्म के लिये प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना है सो समयमूढता है। इन तीन मूढताओं को सराग सम्यग्दृष्टी अवस्था में त्यागना चाहिये और मन, वचन तथा काय की गुप्तिरूप अवस्था वाले वीतरागसम्यक्त्व के प्रस्ताव में निरंजन तथा निर्दोष परमात्मा ही अपने देव हैं, ऐसी जो निश्चय बुद्धि है वही देवमूढता से रहितता जानना चाहिये तथा मिथ्यात्व रागादिरूप जो मूढभाव है उसका त्याग करने से निज शुद्ध आत्मा में स्थिति का करना ही लोक मूढता मे रहितता है। इसी प्रकार संपूर्ण शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पस्वरूप परभाव के त्यागरूप जो निर्विकार वास्तविक परमानन्दमय परम समता भाव से निजशुद्ध आत्मा में ही जो सम्यक् प्रकार से अयन यानी गमन अथवा परिणमन है उसको समयमूढता का त्याग समझना चाहिये। इस प्रकार तीन मूढता का व्याख्यान किया।

अब आठ मदों का स्वरूप कहते हैं। विज्ञान (कला) का मद यानी—अभिमान १, ऐश्वर्य (धन सम्पत्ति) का मद २, ज्ञान का मद ३, तप का मद ४, कुलका मद ५, बल का मद ६, जाति का मद ७, और रूप का मद ८। इस प्रकार जो आठ मद हैं उनका सरागसम्यग्दृष्टियों को त्याग करना चाहिये। मान कषाय से उत्पन्न जो मद मात्सर्य (ईर्षा) आदि समस्त विकल्पों का त्यागपूर्वक ममकार, अहंकार से रहित शुद्ध आत्मा में भावना है वही वीतरागसम्यग्दृष्टियों के आठ मदों का त्याग है। ममकार तथा अहंकार का लक्षण कहते हैं। कर्मों से उत्पन्न जो देह पुत्र स्त्री आदि में यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है, इस प्रकार की जो बुद्धि है वह ममकार है और उन शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो 'मैं गोरे वर्ण का हूँ, मोटे शरीरवाला हूं, राजा हूं, इस प्रकार मानना अहंकार का लक्षण है।

अब छः अनायतनों का कथन करते हैं। मिथ्यादेव १, मिथ्यादेवों के सेवक २, मिथ्यातप ३, मिथ्यातपस्वी ४, मिथ्याशास्त्र ५ और मिथ्याशास्त्रों के धारक पुरुष ६, इस प्रकार अनायतन हैं। ये सरागसम्यग्दृष्टियों के त्याग करने योग्य हैं। जो वीतराग-सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनके सम्पूर्ण दोषों के स्थान-भूत मिथ्यात्व, विषय तथा कषायरूप आयतनों के त्यागपूर्वक केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों के स्थानभूत निज शुद्ध आत्मा में में जो निवास का करना है वही अनायतनों की सेवा का त्याग है। अनायतन शब्द के अर्थ को कहते हैं, सम्यक्त्व आदि गुणों का आयतन अर्थात् घर; आवास, आश्रय अथवा आधार करने का जो निमित्त है उसको 'आयतन, कहते हैं और जो सम्यक्त्व

आदि गुणों से विपरीत मिथ्यात्व आदि दोषों के धारण करने का निमित्त है वह 'अनायतन' है।

अब इसके अनंतर शंका आदि आठ दोषों के त्याग का कथन करते हैं। निःशंक आदि आठ गुणों का जो पालन करना है वही शंकादि आठ दोषों का त्याग कहलाता है राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों असत्य बोलने में कारण हैं और रागादि दोष तथा अज्ञान ये दोनों ही वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव में नहीं हैं इस कारण श्री जिनेन्द्रदेव से निरूपित हेयोपादेयतत्व में (यह त्याज्य है यह ग्राह्य है इस प्रकार के तत्व में) मोक्ष में और मोक्ष मार्ग में भव्य जीवों को संशय नहीं करना चाहिए। यहाँ शंका दोष के त्याग के विषय में अंजन चोर की कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध, है और विभीषण की भी कथा इस प्रकरण में जाननी चाहिये। उसी को कहते हैं। सीताजी के हरण के प्रसंग में जब रावण का राम लक्ष्मण के साथ युद्ध करने का अवसर आया तब विभीषण ने विचार किया कि रामचन्द्र तो आठवें बलदेव हैं और लक्ष्मण आठवें नारायण हैं तथा रावण आठवाँ प्रतिनारायण है। प्रतिनारायण का मरण नारायण के हाथ से होता है, ऐसा जैन शास्त्रों में पढ़ा गया है, यह मिथ्या नहीं हो सकता, इस प्रकार निःशंक होकर अपने बड़े भाई-जो तीन लोक का कंटक 'रावण' था को छोड़कर अपनी तीस अक्षौहिणी चतुरंगिणी (हाथी, घोड़ा, रथ, पयादे रूप) सेना सहित रामचन्द्र के समीप चलागया। इसी प्रकार देवकी तथा वसुदेवभी शंकारहित जानने चाहिये। सोही दिखाते हैं जब कंसने देवकी के बालक को मारने के लिये प्रार्थना की तब देवकी और वसुदेव ने विचार किया कि हमारा पुत्र नवम नारायण होगा और उसके हाथ से जरासन्ध नामक नवमें प्रतिनारायण का और कंस का मरण होगा यह जैनागम में कहा हुआ है और श्री भट्टारक अतिमुक्त स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है, इस प्रकार निश्चय करके कंस को अपना बालक देना स्वीकार किया। इसी प्रकार अन्य भव्यजीवों को भी जैनआगम में शंका नहीं करनी चाहिये। यह व्यवहारनय से सम्यक्त्व का व्याख्यान किया। तथा निश्चय नय से उस व्यवहार निःशंक गुण की सहायता से इस लोक का भय १, परलोक का भय २, रक्षा के अभाव से उत्पन्न भय३, मरण भय ४, व्याधिभय ५, वेदनाभय ६,और आकस्मिक भय ७, इन सात भयों को छोड़ कर घोर उपसर्ग तथा परीषहां के आने पर भी शुद्ध उपयोगरूप जो निश्चय रत्नत्रय है उसकी भावना को ही निःशंक गुण जानना चाहिए।

अब निष्कांक्षित गुण को कहते हैं। इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी आशारूप भोगाकांक्षानिदान के त्याग के द्वारा जो केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणों की प्रकटता रूप

मोक्ष के लिये ज्ञान, पूजा, तपश्चरण इत्यादि अनुष्ठानों का करना है वही निष्कांक्षित गुण कहलाता है। इस गुण में अनन्तमती की कथा प्रसिद्ध है। दूसरी सीता महारानी की कथा है—उसको कहते हैं जब लोक की निन्दा दूर करने के लिये सीता अग्नि कुण्ड में प्रविष्ट होकर निर्दोष सिद्ध हुई तब श्री रामचन्द्र द्वारा दिये गये पट्टमहाराणी पद को छोड़कर केवलज्ञानी श्री सकलभूषण मुनि के चरणमूल में कृतान्तवक्र आदि राजाओं तथा बहुतसी रानियों के साथ जिन दीक्षा ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिकाओं के समूह-सहित ग्राम, पुर, खेटक आदि में विहार द्वारा भेदाभेदरूप रत्नत्रय की भावना से बासठवर्ष तक जिनमत की प्रभावना करके अन्त समय में तेतीस दिनतक निर्विकार परमात्मा के ध्यानपूर्वक समाधिमरण करके अच्युत नामक सोहलवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई। और वहाँ सीता जी के जीव प्रतीन्द्र ने अवधिज्ञान से निर्मल सम्यग्दर्शन के फल को देखकर धर्म के अनुराग से नरक में जाकर रावण और लक्ष्मण के जीवों को संबोधा, वह प्रतीन्द्र अब स्वर्ग में है। आगे सीता का जीव स्वर्ग से आकर सकल चक्रवर्ती होगा और वे दोनों रावण तथा लक्ष्मण के जीव इस चक्रवती के पुत्र होंगे। पश्चात् तीर्थङ्कर के चरणमूल में अपने पूर्वभवों को देख कर दोनों पुत्र तथा परिवार सहित सीताजी का जीव सकल चक्रवर्ती दीक्षा ग्रहण कर भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से वे तीनों पाँच अनुत्तर विमानों में अहमिन्द्र होंगे। वहाँ से आकर रावण तो तीर्थंकर होगा और सीता का जीव गणधर होगा। तथा लक्ष्मण धातकी खंड द्वीप में तीर्थंकर होंगे। इस प्रकार व्यवहार निष्कांक्षित गुण का स्वरूप जानना चाहिये। निश्चय से उसी व्यवहार निष्कांक्षा गुण की सहायता से देखे, सुने तथा अनुभव किये हुये जो पांचों इन्द्रियों संबंधी भोग हैं उनके त्याग से निश्चयरत्नत्रय की भावना से उत्पन्न पारमार्थिक निज-आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस में जो चित् का सन्तोष होना है वही निष्कांक्षा गुण है।

अब निर्विचिकित्सा गुण को कहते हैं। भेद अभेदरूप रत्नत्रय के आराधक भव्य-जीवों की दुर्गन्धि तथा बुरी आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणाभाव से यथायोग्य विचिकित्सा यानी ग्लानिको दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है और जैन मत में सब अच्छी अच्छी बातें हैं परन्तु वस्त्र के आवरण से रहितता अर्थात् नग्न-पना और जलस्नान आदि का न करना यही दूषण है। इत्यादि बुरे भावों को विशेष ज्ञान के बल से दूर करना निर्विचिकित्सा कहलाती है। इस व्यवहार निर्विचिकित्सागुण को पालने के विषय में उद्दायन राजा तथा रुक्मिणी (कृष्णकी पटराणी) की कथा शास्त्र में प्रसिद्ध जाननी चाहिये। और निश्चय से तो उसी व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण

के बल से समस्त रागद्वेष आदि विकल्परूप तरंगों का त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निजशुद्ध आत्मा में स्थिति करना निर्विचिकित्सा गुण है ॥३॥

अब अमूढ दृष्टि गुण को कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञ देव कथित शास्त्र से भिन्न कुदृष्टियों के द्वारा बनाये हुए अज्ञानियों के चित्त में विस्मय को उत्पन्न करनेवाले रसायन शास्त्र, खन्यवाद (खानिविद्या), हरमेखल, क्षुद्र विद्या, व्यन्तर विकुर्वणादिक शास्त्रों को देख करके तथा सुनकरके जो कोई मूढभाव से धर्म की बुद्धि करके उनमें प्रीति तथा भक्ति नहीं करता है उसी को व्यवहार से "अमूढदृष्टि" गुण कहते हैं। इस गुण को पालन करने के विषय में उत्तर मुथरा में उदुरुलि भट्टारक, रेवती श्राविका और चन्द्रप्रभ नामक विद्याधर ब्रह्मचारी सम्बन्धी कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। निश्चयनय से इसी व्यवहार अमूढदृष्टि गुण के प्रसाद से जब आत्मा और शरीरादिका निश्चय हो जाता है तब सम्पूर्ण मिथ्यात्व, राग आदि तथा शुभ-अशुभ संकल्पविकल्पों से इष्ट आत्मबुद्धि, उपादेय बुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव को छोड़कर मन, वचन, काय की गुप्ति रूप से विशुद्ध ज्ञान दर्शन-स्वभाव निज आत्मा में जो निवास करना है वही अमूढदृष्टि गुण है। संकल्प और विकल्प के लक्षणों को कहते हैं—पुत्र तथा स्त्री आदि जो बाह्य पदार्थ हैं, उनमें ये मेरे हैं ऐसी जो कल्पना है वह तो संकल्प है, और अन्तरंग में मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इस प्रकार जो हर्ष तथा खेद का करना है वह विकल्प है। अथवा वास्तव में जो संकल्प है वही विकल्प है अर्थात् विकल्प संकल्प का पर्याय ही है।

अब उपगूहन गुण को कहते हैं। यद्यपि भेद, अभेद रत्नत्रय की भावनारूप मोक्षमार्ग स्वभाव से ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्य के निमित्त से अथवा धर्मपालन में असमर्थ पुरुषों के निमित्त से जो धर्म की चुगली, निन्दा दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्र के अनुकूल शक्ति के अनुसार धन से अथवा धर्म के उपदेश से जो धर्म के लिये उसके दोषों को ढकना है तथा दूर करना है उसको व्यवहार उपगूहन गुण कहते हैं। इस व्यवहार उपगूहन गुण के पालन के विषय में जब एक कपटी ब्रह्मचारी ने पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा में लगे हुए रत्न को चुराया उस समय जिनदत्त सेठ ने जो उपगूहन किया था वह कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। अथवा रुद्र की जो ज्येष्ठा नामक माता थी उसकी जब लोकनिन्दा हुई तब उसके दोष के ढकने में चेलना महारानी की कथा शास्त्र प्रसिद्ध है। इस प्रकार निश्चयनय से व्यवहार उपगूहन गुण की सहायता से अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को ढकने वाले राग आदि दोषों को, उसी परमात्मा में सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरण रूप ध्यान के द्वारा ढकना, नाश करना, छिपाना तथा झंपन करना

ही उपगूहन है ।

अब स्थितिकरण गुण को कहते हैं । भेद, अभेद रूप रत्नत्रय को धारण करनेवाला जो मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकार का संघ है उसमें से जो कोई दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शन ज्ञान को या चारित्र मोहनीय के उदय से चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे उसको शास्त्र की आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश देकर, धन से या सामर्थ्य से अथवा किसी उपाय से जो धर्म में स्थिर कर देना है वह व्यवहार से स्थितीकरण गुण है । इस गुण में पुष्पडाल मुनि को धर्म में स्थिर करने के प्रसंग में वारिषेण की कथा शास्त्र प्रसिद्ध है । निश्चयनय से उसी व्यवहार स्थितीकरण गुण से जब धर्म में दृढ़ता हो जावे तब दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न समस्त मिथ्यात्व राग आदि विकल्पों के त्याग द्वारा निज-परमात्मा की भावना से उत्पन्न परम-आनन्द सुखामृत के आस्वादरूप परमात्मा में लीन अथवा परमात्म-स्वरूप में समरसी भाव से जो चित्त का स्थिर करना है वही स्थितीकरण है ।

अब वात्सल्य नामक सप्तम अंग का प्रतिपादन करते हैं । बाह्य और आभ्यंतर रत्नत्रय को धारण करनेवाले मुनि, आर्यिका, श्रावक तथा श्राविका रूप चारों प्रकार के संघ में जैसे गाय की बछड़े में प्रीति रहती है उसके समान, अथवा पाँचों इन्द्रियों के विषयों के निमित्त पुत्र, स्त्री सुवर्ण आदि में जो स्नेह रहता है उसके समान, स्वाभाविक स्नेह करना वह व्यवहारनय की अपेक्षा से वात्सल्य कहा जाता है । इस विषय में हस्तिनागपुर के राजा पद्मराज के बलि नामक दुष्ट मंत्री ने जब निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के आराधक श्री अकंपनाचार्य आदि सातसौ मुनियों को उपसर्ग किया तब निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधक विष्णुकुमार महामुनीश्वर ने विक्रियाऋद्धि के प्रभाव से वामन रूप को धारण करके बलि नामक दुष्ट मन्त्री के पास से तीन पग प्रमाण पृथ्वी की याचना की और जब बलि ने देना स्वीकार किया तब एक पग तो मेरु के शिखर पर रख दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रख दिया और तीसरे पादको रखनेके लिये जब स्थान नहीं रहा तब वचनछल से प्रतिज्ञा भंग का दोष लगाकर मुनियों के वात्सल्य निमित्त बलि मन्त्री को बांध लिया यह तो एक आगम में प्रसिद्ध कथा है ही और दूसरी वज्रकर्ण नामक दशपुर नगर के राजा की प्रसिद्ध कथा है । वह यह कि--उज्जयिनी के राजा सिंहोदरने 'वज्रकर्ण जैन है और वह मुझ को नमस्कार नहीं करता है' ऐसा विचार करके जब वज्रकर्ण से नमस्कार कराने के लिये दशपुर नगर को घेर कर घोर उपसर्ग किया तब भेदाभेद रत्नत्रय भावना-प्रेमी रामचन्द्र ने वज्रकर्ण के वात्सल्य के लिये सिंहोदर को बांध लिया । इस प्रकार यह कथा

रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है । और इसी व्यवहार वात्सल्यगुण के सहकारीपने से धर्म में दृढ़ता हो जाती है तब मिथ्यात्व, राग आदि समस्त शुभ अशुभ बाह्य पदार्थों में प्रीति छोड़कर राग आदि विकल्पों की उपाधिरहित परमस्वास्थ्य के अनुभव से उत्पन्न सदा आनन्दरूप सुखमय अमृत के आस्वाद के प्रति प्रीति का करना ही निश्चय वात्सल्य है । इसप्रकार सप्तम 'वात्सल्य' अंग का व्याख्यान हुआ ।

अब अष्टम प्रभावनागुण को कहते हैं । श्रावक तो दान पूजा आदि द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करे और मुनि तप, श्रुत आदि से जैनधर्म की जो प्रभावना करे वह व्यवहार से प्रभावना गुण जानना चाहिये । इस गुण के पालने में उत्तर मथुरा में जिनमत की प्रभावना करने की अनुरागिणी उरविला महादेवी को प्रभावना के निमित्त जब उपसर्ग हुआ तब वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमण ने आकाश में जैनरथ को फिराकर प्रभावना की, यह तो एक शास्त्र में प्रसिद्ध कथा है । और दूसरी कथा यह है कि उसी भव से मोक्ष जाने वाले हरिषेण नामक दशवें चक्रवर्ती ने जिनमत की प्रभावनाशील अपनी माता वप्रा महादेवी के निमित्त और अपने धर्मानुराग से जिनमत की प्रभावना के लिये ऊँचे तोरणों के धारक जिनमंदिर आदि से समस्त पृथ्वीतल को भूषित कर दिया । इस प्रकार यह कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है । और निश्चय से इसी व्यवहार प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि सम्पूर्ण विभाव परिणाम रूप पर-मतों के प्रभाव को नष्ट करके शुद्धोपयोग-लक्षण स्वसंवेदन ज्ञान से निर्मल ज्ञान, दर्शनरूप स्वभाव के धारक निज शुद्ध आत्मा का जो प्रकाशन तथा अनुभव करना है वह प्रभावना है ॥ ८ ॥

इस प्रकार तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन और शंका आदि रूप आठ दोषों से रहित तथा शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप सरागसम्यक्त्व नामक व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये । और इसी प्रकार उसी व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा परंपरा से साधने योग्य शुद्ध उपयोगरूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम-आह्लादरूप सुखामृतरस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं, ऐसी रुचिरूप वीतराग चारित्र के बिना न होनेवाला वीतराग सम्यक्त्व नामक निश्चयसम्यक्त्व जानना चाहिये । प्रश्न—यहाँ इस व्यवहार सम्यक्त्व के व्याख्यान में निश्चय-सम्यक्त्व का वर्णन क्यों किया ? उत्तर—व्यवहारसम्यक्त्व से निश्चयसम्यक्त्व साधा (सिद्ध किया) जाता है । इस साध्यसाधक भाव को (व्यवहारसम्यक्त्व साधक और निश्चयसम्यक्त्व साध्य है) बतलाने के लिये किया गया है ।

अब जिन जीवों के सम्यग्दर्शन ग्रहण होने से पहले आयु का बंध नहीं हुआ है वे व्रत न होने पर भी निन्दनीय नर नारक आदि स्थानों में जन्म नहीं लेते, ऐसा कथन करते हैं। "जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन है किन्तु अव्रती हैं वे भी नरकगति और तिर्यंच गति में नहीं जाते और न नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन शरीर, अल्प आयु और दरिद्रीपन को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥" (रत्नकरंड श्रावकाचार । ३५ ।) अब इसके आगे मनुष्य गति में जो सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है उसके प्रभाव का वर्णन करते हैं। "जो दर्शन से शुद्ध हैं वे जीव दीप्ति प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और विभव से सहित होते हैं और उत्तम कुलवाले तथा विपुल (बहुत) धनशाली तथा मनुष्यों में श्रेष्ठ होते हैं ॥१॥" (रत्नकरंडश्रावकाचार ॥ ३६ ॥) सम्यग्दृष्टि देवगति में प्रकीर्णक देव, वाहनदेव, किल्विषदेव, व्यन्तर, भवनवासी और ज्योतिषी देवों के सिवाय महा ऋद्धि धारक देवों में उत्पन्न होते हैं। अब जिन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण करने के पहले ही देव आयु को छोड़कर अन्य किसी आयु का बंध कर लिया है उनके प्रति सम्यक्त्व का माहात्म्य कहते हैं। "प्रथम नरकको छोड़कर अन्य ६ नरकों में ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों में, सब स्त्रीलिंगों में, और तिर्यंचों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता ॥ १ ॥" इसी आशय को अन्य प्रकार से कहते हैं कि "ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तर देवों में नीचे के ६ नरकों की पृथिवियों में, तिर्यंचों में और मनुष्य स्त्रियों में तथा देव स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता।" अब औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामक तीन सम्यक्त्वों में से किस गति में कौन से सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है सो कहते हैं—"सौधर्म आदि स्वर्गों में असंख्यात वर्ष की आयु के धारक तिर्यंच और मनुष्यों में अर्थात भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों में तथा रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक-पृथ्वी में जीवों के उपशम, वेदक (क्षायोपशमिक) और क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व होते हैं ॥ १ ॥" "और जिसने आयु को बाँध लिया है या आयु को प्राप्त कर लिया है ऐसे कर्मभूमि के मनुष्यों में तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं। परन्तु अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व महर्द्धिक देवों में ही होता है। जो शेष (बचे हुये) देव तिर्यंच हैं उनमें ६ नीचे की नरक भूमियों में पर्याप्त जीवों के वेदक और उपशम ये दो दो सम्यक्त्व होते हैं ॥ १ ॥ गोम्मटसार जीवकांड । १२७ ।) इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहार रूप रत्नत्रयस्वरूप अवयवी का प्रथम अवयवभूत सम्यग्दर्शन के व्याख्यान से गाथा समाप्त हुई ॥ ४१ ॥

अब रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग के द्वितीय अवयव रूप सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं :—

Jivadi-sraddhanam samyaktvam rupam atmanah tat tu.
Durabhinivesa-vimuktam jnanam samyak khalu bhavati sati yasmin (41).

Padapatha—जीवादि-सद्दहणं Jivadi-saddahanam, faith in Jiva, etc, सम्मत्तं Sammattam, Samyaktva (Perfect Faith), तं Tam, that. अप्पणो Appano, of soul. रुवं Ruvam, quality. तु. Tu, and. जम्हि Jamhi, that. सदि Sadi, being. खु Khu surely. णाणं Nanam, Jnana (knowledge). दुरभिनिवेसविमुक्कं Durabhinivesavimukkam, free from errors. सम्मं Sammam perfect, होदि Hodi, becomes.

41. Samyaktva (perfect faith) is the belief in Jiva, etc. That is a quality of the soul, and when this arises, Jnana (knowledge), being free from errors surely becomes perfect.

COMMENTARY

Jiva, Ajiva, Asrava, Bandha, Samvara, Nirjara and Moksa are the seven Tattvas (essential principles) of Jainism. ❀ A sincere belief in these Tattvas is called Samyaktva or Perfect Faith. † The first step to liberation, according to Jainism, is to have a belief in these essential principles of Jainism. It is only after a person has this faith that he can attain Perfect Knowledge. He may have knowledge of substances before he attains Perfect Faith, but this knowledge is apt to be fallacious, for errors might creep in the same. For example, a person may have a knowledge of the aforesaid seven principles of Jainism, but that knowledge may be vague or indefinite or it may be full of doubts, or it may be entirely wrong. These defects of knowledge arise, because the person has not at that time perfect faith in the essential principles of Jainism, for Perfect Faith in such principles is incompatible with doubts and indecision or a belief in opposite principles. Consequently,

❀ "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।"
[तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् । १ ४]

† "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥" [तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् । १ । २]

the knowledge of these principles which succeeds Perfect Faith is free from errors or fallacy. This knowledge is known as Samyak Jnana (or Perfect Knowledge).

अब रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग के द्वितीय अवयवरूप सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥ ४२ ॥

अन्वयः—"संसयविमोहविब्भमविवज्जियं" शुद्ध आत्मतत्व आदि का प्रतिपादन करने वाला जो शास्त्र ज्ञान है वह क्या वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है ? अथवा अन्यमतियों द्वारा कहा हुआ सत्य है ? इस प्रकार का विचार संशय है। इसमें दृष्टांत है कि क्या यह अन्धकार में धुंधला दिखाई देने वाला पदार्थ स्थाणु (वृक्ष का ठूंठ) है। अथवा कोई मनुष्य खड़ा हुआ है ? इस प्रकार विचारना संशय है। गमन करते हुए पुरुष के जैसे पैरों में तृण (घास) आदि का स्पर्श होता है और उसको स्पष्ट मालूम नहीं होता कि क्या लगा, जैसे जंगल में दिशा का भूल जाना होता है उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों के अनुसार जो द्रव्य, गुण तथा पर्याय आदि का नहीं जानना है। उसको विमोह कहते हैं और जैसे किसी को सीप में चांदी का और चाँदी में सीपका ज्ञान हो जाय; इसी प्रकार जो अनेकान्तरूप वस्तु को 'यह नित्य ही है, यह अनित्य ही है' ऐसे एकान्तरूप जानना है वह विभ्रम है। इन पूर्वोक्त लक्षणों वाले संशय, विमोह और विभ्रम से रहित जो "अप्पपरसरूवस्स गहणं" सहज शुद्ध केवलदर्शन-स्वभाव निज-आत्म-स्वरूप का जानना और जीव सम्बन्धी परद्रव्य—भाव कर्म, द्रव्यकर्म, नौकर्मका एवं—पुद्गल आदि पांच द्रव्यों का और परजीव के स्वरूप का जो जानना है सो "सम्मण्णाणं" सम्यग् ज्ञान है। वह कैसा है कि "सायारं" साकार (विकल्पसहित) अर्थात् निश्चय रूप है। और फिर कैसा है कि "अणेयभेयं तु" अनेक भेदोंवाला है।

सम्यग्ज्ञान के भेद कहे जाते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन भेदों से वह सम्यग्ज्ञान पांच प्रकार का है। अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा द्वादशांगरूप अंग और अंगबाह्य इन भेदों से दो प्रकार का है। उनमें द्वादश (१२) अंगों के नाम कहते हैं। आचारांग १, सूत्रकृतांग २, स्थानांग ३, समवायांग ४, व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग ५, ज्ञातृकथांग ६, उपासकाध्ययनांग ७, अन्तकृद्दशांग ८, अनुत्तरोप-

पादिकदशांग ६, प्रश्नव्याकरणांग १०, विपाकसूत्रांग ११ और दृष्टिवाद १२, ये द्वादश अंगों के नाम हैं, अब दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के परिकर्म १, सूत्र २, प्रथमानुयोग ३, पूर्वगत ४ तथा चूलिका ५, इन भेदों से पाँच भेद हैं, उनका वर्णन करते हैं। उनमें चन्द्र-प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति इस तरह परिकर्म पाँच प्रकार का है। सूत्र एक ही प्रकार का है। प्रथमानुयोग भी एक ही प्रकार का है। पूर्वगत दृष्टिवाद उत्पादपूर्व १, अग्रायणीयपूर्व २, वीर्यानुप्रवादपूर्व ३, अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व ४, ज्ञानप्रवादपूर्व ५, सत्यप्रवादपूर्व ६, आत्मप्रवादपूर्व ७, कर्म प्रमादपूर्व ८, प्रत्याख्यान पूर्व ९ विद्यानुवादपूर्व १०, कल्याणपूर्व ११, प्राणानुवाद पूर्व १२, क्रियाविशाल पूर्व १३ और लोकसार पूर्व १४, इन भेदों से चौदह प्रकार का है। जलगत चूलिका १, स्थलगत चूलिका २, आकाशगत चूलिका ३, हरमेखला आदि माया स्वरूप चूलिका ४ और शाकिन्यादि रूप परावर्तन चूलिका ५ इन भेदों से चूलिका पाँच प्रकार की है। इस प्रकार संक्षेप से द्वादशांग का व्याख्यान है और जो अंगबाह्य श्रुतज्ञान है वह सामायिक १, चतुर्विंशतिस्तव २, वंदना ३, प्रतिक्रमण ४, वैनयिक ५, कृतिकर्म ६, दशवैकालिक ७, उत्तराध्ययन ८, कल्पव्यवहार ९, कल्पाकल्प १०, महाकल्प ११, पुंडरीक १२, महापुंडरीक १३, और अशीतिक १४ इन प्रकीर्णरूप भेदों से चौदह प्रकार का जानना चाहिये।

अथवा श्री ऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों, भरत आदि बारह चक्रवर्ती विजय आदि नौ बलदेव, त्रिपिष्ट आदि नौ नारायण और सुग्रीव आदि नौ प्रतिनारायण सम्बन्धी तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण हैं ये प्रथमानुयोग कहलाते हैं। उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और मूलाचार भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में मुनिका धर्म जहाँ मुख्यता से कहा गया है वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है। त्रिलोकसार में जिनान्तर (तीर्थंकरों का अन्तरकाल) और लोक विभाग आदि व्याख्यान है ऐसे ग्रन्थ रूप करणानुयोग जानना चाहिये। समयसार आदिप्राभृत (पाहुड़) और तत्वार्थ सूत्र तथा सिद्धान्त आदि शास्त्रों में मुख्यता से शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छः द्रव्य आदि का जो वर्णन किया गया है वह द्रव्यानुयोग कहलाता है। इस प्रकार उक्त लक्षण के धारक जो चार अनुयोग हैं उनरूप चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानने योग्य है। अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और प्रकरण इत्यादि शब्दों का अर्थ एक ही है। अथवा छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्व और नौ पदार्थों में निश्चयनय से अपना शुद्ध आत्मद्रव्य, अपना शुद्ध जीव अस्तिकाय, निज-शुद्ध-आत्मतत्व तथा निजशुद्ध आत्मपदार्थ केवल उपादेय है। इसके सिवाय शुद्ध अशुद्ध पर जीव अजीव आदि सभी हेय हैं। इस प्रकार संक्षेप से हेय तथा उपादेय भेदों से व्यवहार ज्ञान दो प्रकार का है।

अब विकल्परूप व्यवहार ज्ञान से साध्य (सिद्ध होने योग्य) निश्चयज्ञान का कथन करते हैं। राग के उदय से परस्त्री आदि में वांछारूप, और द्वेष से अन्य जीवों के मारने बाँधने अथवा छेदने रूप जो मेरा दुर्ध्यान (बुरा परिणाम) है उसको कोई भी नहीं जानता है ऐसा मानकर जिन शुद्ध आत्म-भावना से उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षण का धारक जो सुख-अमृतरसरूपी निर्मल जल से अपने चित्तकी शुद्धि को न करता हुआ यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर जो लोगों को प्रसन्न करता है वह माया शल्य कहलाती है। और अपना निरंजन दोषरहित परमात्मा ही उपादेय है इस प्रकार की रुचिरूप सम्यक्त्व से विपरीत को मिथ्याशल्य कहते हैं। और विकार रहित-परम-चैतन्य की भावना से उत्पन्न-परम-आनन्दस्वरूप सुखामृत-रस के स्वाद को न जानता हुआ यह जीव जो देखे हुये, सुने हुए और अनुभव में आये हुए भोगों में निरन्तर चित्त को देता है वह निदान शल्य है। इस प्रकार उक्त लक्षण वाले माया, मिथ्या और निदान शल्यस्वरूप विभाव-परिणाम आदि समस्त शुभ, अशुभ, संकल्प-विकल्प से रहित, परम निजस्वभाव के अनुभवसे उत्पन्न जो यथार्थ परमानन्द एक-लक्षणस्वरूप-सुखामृत है उसके रस-आस्वादन से तृप्त हुए अपने आत्मा द्वारा जो निजस्वरूप का संवेदन अर्थात् अनुभव करना है वही निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान-निश्चयज्ञान कहा जाता है।

शंका—यहाँ शिष्य कहता है कि इस प्रकार से प्राभृत (पाहुड़) शास्त्र में जो विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है वह घटित नहीं होता। क्यों नहीं घटित होता? इसका उत्तर कहते हैं—जैनमत में जैसे सत्तावलोकरूप अर्थात् सत्तामात्र को देखने रूप जो चक्षुदर्शन आदि हैं उनको निर्विकल्प कहते हैं। उसी प्रकार बौद्ध मत में ज्ञान को निर्विकल्प कहते हैं। परन्तु विशेष यह है कि यद्यपि बौद्धमत में ज्ञान निर्विकल्प है तथापि विकल्पको उत्पन्न करने वाला होता है। और जैनमत में तो ज्ञान विकल्प को उत्पन्न करनेवाला है ही नहीं; किन्तु स्वरूप (स्वभाव) से ही विकल्प सहित है और इसी प्रकार निज का तथा पर का प्रकाश करने वाला है। शंका का "परिहार"—जैन सिद्धान्त में ज्ञान को कथंचित् सविकल्प और कथंचित निर्विकल्प माना गया है। सो ही दिखाते हैं जैसे विषयों से आनन्दरूप जो स्वसंवेदन है वह राग के जानने रूप विकल्पस्वरूप होने से सविकल्प है; तो भी शेष अनिच्छित (नहीं चाहे हुए) जो सूक्ष्म विकल्प हैं उनका सद्भाव होने पर भी उन विकल्पों की मुख्यता नहीं; इस कारण से उस ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। इसी प्रकार निज शुद्ध आत्मा के अनुभव रूप जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान है वह आत्म संवेदन के आकाररूप एक विकल्प के होने से यद्यपि सविकल्प है, तथापि बाह्य विषयों के अनिच्छित (नहीं चाहे हुए) विकल्पों का उस ज्ञान में सद्भाव होने पर भी

उनकी उस ज्ञान में मुख्यता नहीं है इस कारण से उस ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। क्योंकि जहाँ अपूर्व स्वसंवित्तिके आकाररूप अन्तरंग में मुख्य प्रतिभास के होने पर भी बाह्य विषयवाले नहीं चाहे हुए सूक्ष्म विकल्प भी हैं। इसी कारण ज्ञान निज तथा परको प्रकाश करनेवाला भी सिद्ध हुआ। यदि इस सविकल्प तथा स्वपर प्रकाश ज्ञान का व्याख्यान आगमशास्त्र अध्यात्मशास्त्र और तर्क शास्त्र के अनुसार विशेषरूप से किया जावे तो बड़ा विस्तार होता है; और यह द्रव्यसंग्रह अध्यात्मशास्त्र है; इस कारण उस ज्ञान का विशेष यहां नहीं किया गया।

इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप जो मोक्ष मार्गरूप अवयवी है उसको दूसरे अवयवरूप ज्ञान के व्याख्यान द्वारा गाथा समाप्त हुई ॥ ४२ ॥

अब विकल्परहित सत्ता को ग्रहण करनेवाले दर्शन को कहते हैं:—

Samsayavimohavibhramavivarjitam atmaparasvarupasya.
Grahanam samyag-Jnanam sakaram anekabhedam cha. (42).

Padapatha—संसयविमोहविब्भमविवज्जियं Samsaya-vimohavibbhama-vivajjiyam, freed from Samsaya (Doubt), Vimoha (Perversity) and Vibbhrama (Indefiniteness). सायारम् Sayaram, detailed. अप्पपरसरुवस्स Appaparasaruvassa, of the real nature of ego and non-ego. गहणं Gahanam, cognition. सम्मं-णाणं Sammam Nanam, Samyak Jnana or Perfect Knowledge. च Cha, and. अणेयभेयम् Aneyabheyam, of many varieties.

42. Samyak Jnana (Perfect Knowledge) is the detailed cognition of the real nature of the ego and nonego, is freed from Samsaya (Doubt), Vimoha (Perversity) and Vibhrama (Indefiniteness), and is of many varieties.

COMMENTARY

Correct knowledge, according to Jaina Nyaya philosophy must be free from the Samaropa (i. e., fallacies). * this Samaropa is said to be of three kinds, Viparyaya or Vimoha (Perversity),

---

* "अतस्मिंस्तदध्यवसायः समारोपः।"
[प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारः १।७।]

Samsaya (Doubt) and Anadhyavasaya or Vibhrama (Indefiniteness). † The cognition of an object as something which is quite the contrary of its real self, is known as Viparyaya or Vimoha. For example, if we think nacre to be silver, we have a knowledge vitiated by Viparyaya or Vimoha (Perversity). ‡ Samsaya consists of doubt when our mind sways between this or that, without being able to assert the true nature of anything. For example, when we see a certain object from a distance and are unable to say whether it is a man or a post, we have an instance of Samsaya or doubt. * A knowledge that this is something without any clear idea of what it is, is called Anadhyavasaya or Vibhrama. For example, such a knowledge arises in the mind of a Person when he touches something while he is moving. He is conscious that he has touched something, but is unable to say what it is. † These

---

† "स विपर्ययसंशयानध्यवसायभेदात् त्रेधा ॥"

[प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार: १ । ८ ।]

‡ "विपरीतैककोटिनिष्टङ्कनं विपर्यय: ।" "यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ।"

[प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार: । १ । ६ । १० ।]

"विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्यय: । यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम् । अत्रापि सादृश्यादिनिमित्तवशात् शुक्तिविपरीते रजते निश्चय: ।"

[न्यायदीपिका]

"अतस्मिंस्तदेवेति विपर्यय: ।" [प्रमाणमीमांसा । १ । १ । ७ ।]

* "साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थिताऽनेककोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशय: ।"

"यथाऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा ।"

[प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार: । १ । ११-१२ ।]

"विरुद्धानेककोटिस्पर्शि ज्ञानं संशय: । यथाऽयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादि-दर्शनात्तद्विशेषस्य वक्त्रकोटरशिर:–पाण्यादे: साधक-प्रमाणस्याभावादनेककोटचवलम्बितत्वं ज्ञानस्य ।" [न्यायदीपिका ।]

"अनुभयत्रोभयकोटिसंस्पर्शि-प्रत्यय: संशय: ।"

[प्रमाणमीमांसा । १ । १ । ५]

† "किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसाय: । यथा गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानम् ।"

[प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार: । १ । १३ । १४]

"किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसाय: । यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम् [न्यायदीपिका ।]

"विशेषानुल्लेख्यमनध्यवसाय:" । [प्रमाणमीमांसा । १ । । ७]

being the varieties of fallacy, there is no doubt that in Perfect Knowledge these are entirely absent. In the state of Perfect Knowledge we have a clear idea of the real nature of everything, ego and non-ego. This idea is not of a shadowy kind, but consists of detailed knowledge. We have already described the difference between detailed and detailless knowledge in the commentary on Verse 4.

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु मायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥४३॥

अन्वय—"जं सामण्णं गहणं भावाणं" जो सामान्य से अर्थात् सत्तावलोकन ('यह है' इस प्रकार पदार्थ की सत्ता-प्रतिभास रूप) से पदार्थों का ग्रहण करना है। क्या करके? "णेव कट्टु मायारं" विकल्प को न करके, वह भी क्या करके? "अविसेसिदूण अट्ठे" पदार्थों को विशेषित अर्थात् यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह बड़ा है, यह छोटा है, यह घट है और यह पट है इत्यादि रूप से भिन्न २ न करके "दंसणमिदि भण्णए समए" वह परमागम में सत्तावलोकिरूप दर्शन कहा जाता है। इसी दर्शन को 'तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है" इस सूत्र में जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन कहा गया है सो न कहना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि, श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तो विकल्प रूप है और यह (दर्शन-उपयोग) विकल्प रहित है। तात्पर्य यह है कि—जब कोई भी किसी पदार्थ को देखता है तब जब तक वह देखने वाला विकल्प न करे तब तक तो जो सत्तामात्र का ग्रहण है उसको दर्शन कहते हैं और फिर जब यह शुक्ल है, यह कृष्ण है इत्यादि रूप से विकल्प उत्पन्न होते हैं तब उसको ज्ञान कहते हैं ॥४३॥

अब जो छद्मस्थ हैं उनके जो ज्ञान होता है वह तो सत्तावलोकनरूप दर्शन पूर्वक होता है और जो मुक्त जीव यानी केवल ज्ञानी हैं उनके दर्शन और ज्ञान एक ही समय में होता है ऐसा बतलाते हैं:—

Yat samanyam grahanam bhavanam naiva kritva akaram.
Avisesayitva arthan darsanam iti bhanyate samaye—(43).

Padapatha—अट्ठे Atte, things. अविसेसिदूण Avisesiduna, without particulars. आयारम् Ayaram, detail. णेव Neva, not. कट्टुम्

Kattum, grasping. जं Jam, which. भावाणं Bhavanam, things. सामण्णं Samannam, general. गहणं Gahanam, perception. दंसणम् Damsanam, Darsana. इदि Idi, this. समये Samaye, in the scriptures. भण्णये Bhannaye, is called.

43. That perception of the generalities of things without particularities in which there is no grasping of details, is called Darsana in (Jaina) scriptures.

COMMENTARY

Darsana is knowledge without details. For example, when a person sees a cloth, as long as he is only conscious of the existence of something called cloth, he is said to have Darsana. But when he begins to have knowledge of the details, viz., the size, colour, etc., of that piece of cloth, he is said to have Jnana. We have already made this clear in the commentary on Verse 4.

In Tattvarthadhigama Sutra of Umasvami, we have "Samyak Darsana is faith in the principles of Jainism" ("तत्वार्थश्रद्धाणं सम्यग्दर्शनम्" १ । २) That Darsana is not the same as the Darsana which we have described above. There Samyak Darsana means perfect faith, and details are present there, while here it means knowledge without details.❀

दंसणपुव्वं णाणं छद्मत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा ।
जुगवं जह्मा केवलि णाहे जुगवं तु ते दोवि ॥४४॥

अन्वय—"दंसणपुव्वं णाणं छद्मत्थाणं" छद्मस्थ यानी—संसारी जीवों के सत्तावलोकनरूप दर्शन पहले होता है तब ज्ञान होता है, क्योंकि "ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जह्मा" छद्मस्थों के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनों एक एक समय में नहीं होते। "केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि" और केवली भगवान् में वे दोनों ज्ञान दर्शन उपयोग एक ही समय में होते हैं।

❀ "नेदमेव तत्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनम् वक्तव्यम् । कस्मादिति चेत ? तत्र श्रद्धानं विकल्परूपम्, इदं तु निर्विकल्पम् ।"

(Brahmadeva's Commentary)

इसका "विस्तार" चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार अपने योग्य देश में विद्यमान जो रंग आदि अपने २ विषय हैं उनका ग्रहण करना है उसी को सन्निपात, सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष कहते हैं। यहाँ नैयायिक मत के समान चक्षु आदि इन्द्रियों का जो अपने २ रूप आदि विषयों के पास जाना है उसको 'सन्निकर्ष' न कहना चाहिये।

भावार्थः—नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा जो रूप आदि का ग्रहण किया जाता है वही सन्निकर्ष है, और नैयायिक मत में जो नेत्र आदि इन्द्रियों का अपने रूप आदि विषयों के पास जाने रूप सन्निकर्ष माना है वह नहीं। वह इन्द्रिय तथा पदार्थ-सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष ही है लक्षण जिस का, ऐसा जो निर्विकल्पक सत्तावलोकन दर्शन, उसके होने के पीछे "यह सफेद है" इत्यादि अवग्रह आदि विकल्परूप पांचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय मन में उत्पन्न मतिज्ञान होता है और इस पूर्वोक्त लक्षण का धारक मतिज्ञान पहले हो लेता है तब धुआँ से जैसे अग्नि का ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को ग्रहण करने रूप लिंगज (चिह्न से उत्पन्न हुआ) तथा इसी प्रकार घट आदि शब्दों के सुननेरूप (शब्द से उत्पन्न हुआ), ऐसा दो प्रकार श्रुतज्ञान होता है। सारांश—श्रुतज्ञान दो तरह का है—लिंगज और शब्दज। उनमें से एक पदार्थ को जानकर उसके द्वारा जो दूसरे पदार्थ का जानना है वह लिंगज श्रुतज्ञान है और शब्दों के सुनने से जो ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान है। तथा अवधि-दर्शन-पूर्वक अवधिज्ञान होता है। और मनः पर्ययज्ञान ईहानामक मतिज्ञानपूर्वक होता है।

यहाँ श्रुतज्ञान को उत्पन्न करने वाला अवग्रह और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न करने वाला ईहा, आदि रूप जो मतिज्ञान कहा है अर्थात् श्रुतज्ञान को उत्पन्न करनेवाला अवग्रह रूप मतिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को उत्पन्न करनेवाला ईहारूप मतिज्ञान कहा है; वह मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक होता है इसलिये वह मतिज्ञान भी उपचार से दर्शन कहलाता है। इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनों को भी दर्शनपूर्वक जानना चाहिये। इस प्रकार छद्मस्थ जीव आवरणसहित क्षायोपशमिक ज्ञानसहित हैं, इस कारण छद्मस्थों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है और केवली भगवान् निर्विकार स्वसंवेदन से उत्पन्न क्षायिक ज्ञान सहित हैं, केवली भगवान् के, जैसे बद्दल हट जाने पर सूर्य के साथ आतप और प्रकाश होते हैं; उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान ये दोनों एक ही समय में होते हैं, ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न—'छद्मस्थ' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—'छद्म' शब्द से ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दोनों कर्म कहे जाते हैं उस छद्म में जो रहें वे छद्मस्थ हैं। इस प्रकार तर्क के अभिप्राय से सत्तावलोकन दर्शन का व्याख्यान किया।

अब इसके आगे सिद्धान्त के अभिप्राय से कहते हैं। आगे होनेवाले ज्ञान की उत्पत्ति के लिये प्रयत्नरूप जो निज आत्मा का परिच्छेदन अर्थात् अवलोकन है वह दर्शन कहलाता है, और उसके पीछे जो बाह्य विषय में विकल्परूप से पदार्थ का ग्रहण है वह ज्ञान है; यह वार्त्तिक है। जैसे कोई पुरुष पहले घट के विषय का विकल्प करता हुआ बैठा है फिर उसी पुरुष का चित्त जब पटके जानने के लिये होता है, तब वह पुरुष घट के विकल्प से हटकर जो स्वरूप में प्रयत्न अर्थात् अवलोकन (परिच्छेदन) करता है, उसको दर्शन कहते हैं। उसके अनन्तर यह पट है, इस प्रकार से निश्चयरूप जो बाह्य विषयरूप से पदार्थ के ग्रहण स्वरूप विकल्प को करता है वह विकल्प ज्ञान कहलाता है।

प्रश्न—यहाँ शिष्य पूछता है यदि अपने को ग्रहण करनेवाला दर्शन, और पर-पदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है तो नैयायिकों के मत में जैसे ज्ञान अपने को नहीं जानता है वैसे ही जैनमत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है, ऐसा दूषण आता है? शंका का परिहार—नैयायिकमत में ज्ञान और दर्शन अलग-अलग दो गुण नहीं हैं, इस कारण उन नैयायिकों के आत्मा को जानने के अभाव रूप अपने आप को न जानने रूप दूषण प्राप्त होता है किन्तु जैन सिद्धान्त में आत्मा ज्ञान गुण से तो पर पदार्थ को जानता है तथा दर्शन गुण से आत्मा को जानता है इस कारण जैनमत में आत्मा को न जानने का दूषण प्राप्त नहीं होता अर्थात् जैनमत में आत्मा का जानना सिद्ध ही है। यह दूषण क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, जैसे एक ही अग्नि दहन गुण से जलाता है, अतः वह दाहक कहलाता है, और पाचन गुण से पकाता है। इस कारण पाचक कहलाता है। इस प्रकार विषय के भेद से दाहक—पाचक रूप दो प्रकार का है। उसी प्रकार अभेदनय से एक ही चैतन्य भेदनय की विवक्षा में जब आत्मा को ग्रहण करने रूप से प्रवृत्त हुआ तब तो उस का नाम 'दर्शन' हुआ और फिर जब पर-पदार्थ को ग्रहण करने रूप प्रवृत्त हुआ तब उस चैतन्य का नाम 'ज्ञान' हुआ, इस प्रकार विषय भेद से चैतन्य दो प्रकार का होता है। विशेष बात यह है कि यदि सामान्य के ग्रहण करनेवाले को दर्शन और विशेष के ग्रहण करनेवाले को ज्ञान कहा जावे तो ज्ञान को प्रमाणता नहीं आती। ज्ञान को प्रमाणता क्यों नहीं आती? इस शंका का समाधान यह है कि, वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण है। और वस्तु सामान्य तथा विशेष स्वरूप है 'ज्ञान ने वस्तु का

एक देश (विशेष) ही ग्रहण किया, न कि संपूर्ण वस्तु; सिद्धान्त से निश्चय नय की अपेक्षा गुण, गुणी में भेद नहीं है; इस कारण संशय, विमोह (अनध्यवसाय) और विभ्रम (विपर्यय) इन तीनों से रहित जो वस्तु का ज्ञान है उस ज्ञान-स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है और आत्मा ज्ञान गुण को धारण करता है इसलिये गुणी है, गुण और गुणी के निश्चय से अभेद है। जैसे प्रदीप अपना तथा अन्य का प्रकाशक है, उसी प्रकार वह ज्ञान अपने तथा अन्य पदार्थ के सामान्य विशेष को जानता है, इस कारण अभेद से आत्मा के ही प्रमाणता है।

आशंका—यदि दर्शन बाह्य विषय को ग्रहण नहीं करता यो अंधे की तरह सब मनुष्यों के अन्धेपन की प्राप्ति होती है ? समाधान—ऐसा न कहना चाहिये क्योंकि, यद्यपि बाह्य विषय में दर्शन का अभाव है तो भी आत्मज्ञान द्वारा विशेष रूप से सब पदार्थों को जानता है। विशेष बात यह है कि जब दर्शन से आत्मा का ग्रहण होता है तब आत्मा आत्मा में जो व्याप्त जो ज्ञान है वह भी दर्शन द्वारा ग्रहण किया जाता है; और जब दर्शन ने ज्ञान को ग्रहण किया तो ज्ञान का विषयभूत जो बाह्य वस्तु है उसका भी ग्रहण किया। शंका—आप आत्मा को ग्रहण करनेवाले को दर्शन कहते हैं तो "जो पदार्थों का सामान्य ग्रहण है वह दर्शन कहलाता है" यह जो गाथा का अर्थ है वह आप के कथन में कैसे घटता है ? उत्तर—वहाँपर 'सामान्य ग्रहण' शब्दका 'आत्माका ग्रहण करने' रूप अर्थ है। वह 'आत्म ग्रहण ही दर्शन है' ऐसा अर्थ क्यों है ? यह पूछो तो उत्तर यह है कि, वस्तु का ज्ञान करता हुआ जो आत्मा है वह 'मैं इसको जानता हूँ, इसको नहीं जानता हूँ, इस प्रकार विशेष पक्षपात को नहीं करता है, किन्तु सामान्य रूप से पदार्थ को जानता है। इस कारण सामान्य इस शब्द से आत्मा कहा जाता है, यह गाथा का अर्थ है।

विशेष क्या—यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्त के अर्थ को जानकर एकान्त दुराग्रह को त्याग करके, नयों के विभाग से मध्यस्थता धारण करके, व्याख्यान करता है तब तो सामान्य और विशेष ये दोनों ही सिद्ध होते हैं। कैसे सिद्ध होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि, तर्क में मुख्यता से अन्य मतों का व्याख्यान है। इसलिये उसमें यदि कोई अन्यमताव-लम्बी पूछे कि, जैन सिद्धान्त में जीव के दर्शन और ज्ञान ये जो दो गुण कहे जाते हैं वे कैसे घटित होते हैं ? तब इसके उत्तर में उन अन्यमतियों को कहा जाय कि, 'जो आत्मा को ग्रहण करनेवाला है वह दर्शन है' तो वे अन्यमती नहीं समझते हैं। तब आचार्यों ने उनको प्रतीति कराने के लिये विस्तृत व्याख्यान से जो बाह्य विषय में सामान्य जानना है उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया और जो 'यह सफेद है' इत्यादि रूप से बाह्य में विशेष

का जानना है उसका नाम 'ज्ञान' ठहराया, अतः दोष नहीं है । सिद्धान्त में मुख्यता से निज समय का व्याख्यान है इसलिये सिद्धान्त में जब सूक्ष्म व्याख्यान किया गया तब आचार्यों ने जो आत्मा का ग्राहक है उसको 'दर्शन' कहा । अतः इसमें भी दोष नहीं।

शंका—यहाँ शिष्य कहता है—कि सत्ता का अवलोकन करनेवाला जो दर्शन है उसका तो ज्ञान के साथ भेद जाना । अब "जो तत्त्वार्थ का श्रद्धान करने रूप सम्यग्दर्शन और पदार्थ का विचार करने स्वरूप सम्यग्ज्ञान है" इन दोनों में भेद नहीं जाना जाता। कैसे नहीं जाना जाता ? इसका उत्तर यह है कि, जो पदार्थ का निश्चय सम्यग्दर्शन में है। वही सम्यग्ज्ञानमें है इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें क्या भेद है? शंकाका समाधान-पदार्थ के ग्रहण करने में जानने रूप जो क्षयोपशम विशेष है, वह 'ज्ञान' कहलाता है और उस ज्ञान में ही भेदनय से जो वीतराग सर्वज्ञ श्रीजिनेन्द्र द्वारा कहे हुए शुद्ध आत्मा आदि तत्त्व हैं उनमें 'यही तत्त्व है; ऐसा ही तत्त्व है' इस प्रकार का जो निश्चय है वह सम्यक्त्व है। और अभेदनय से तो जो सम्यग्ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन है। ऐसा क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि, अतत्त्व में तत्त्व की बुद्धि करना जो देव नहीं है उसको देव मानना और अधर्म में धर्म की बुद्धि करना इत्यादि जो विपरीत अभिनिवेश(उल्टा आग्रह) है, उस विपरीताभिनिवेश से रहित जो ज्ञान है, उसी के 'सम्यक' विशेषण से कहे जानेवाला अवस्था विशेष सम्यक्त्व कहलाता है।

शंका—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद नहीं है तो उन दोनों गुणों के घातक ज्ञानावरण और मिथ्यात्व दो कर्म कैसे कहे गये हैं ? इसका समाधान—जिस कर्म से पदार्थ के जानने रूप क्षयोपशम ढक जाता है, उसकी तो 'ज्ञानावरण' संज्ञा है और उस क्षयोपशमविशेष के जो कर्म पहले कहे विपरीत अभिनिवेश को उत्पन्न करता है उस की 'मिथ्यात्व' संज्ञा है। इस कारण भेदनय से आवरण का भेद है। और अभेद की विवक्षा में कर्मत्व के प्रति जो दो आवरण हैं उन दोनों को एक ही जानना चाहिये। इस प्रकार दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, ऐसा व्याख्यान करनेवाली गाथा समाप्त हुई ।।४४।।

अब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पीछे होनेवाले रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग का तीसरा अवयवरूप और स्व-शुद्धात्मा का अनुभव रूप जो शुद्धोपयोगवाला वीतरागचारित्र है, उसको परंपरा से साधने वाला जो सराग चारित्र है, उसको कहते हैं--

---

Darsanapurvam jnanam chhadmasthanam na dvau upayogau.

Yugapat yasmat kevalinathe tu te dvau api--(44).

Padapatha—छदुमत्थाणं Chhadumatthanam, of the Samsari Jivas दंसणपुव्वं Damsanapuvvam, preceded by Darsana. णाणं Nanams, Jnana. जम्हा Jamha, for this reason. दुण्णि Dunni, two. उवओगा Uvayoga, Upayoga. जुगं Jugavam, simultaneously. ण Na, not. तु Tu, but. केवलिणाहे Kevalinahe, in Kevalis, ते Te, those. दो Do, two. वि Vi, together. जुगवं Jugavam, simultaneously.

44. In Samsari Jivas, Jnana is preceded by Darsana. For this reason (in him), the two Upayogas (viz., Jnana and Darsana) do not (arise) simultaneously. But in Kevalis, both of these two (arise) simultaneously.

COMMENTARY

Samsari Jivas or beings leading a mundane existence have Darsana or detail-less knowledge, first of all. Then they have Jnana or knowledge, with details. But this is not the case with Kevalis, who have Darsana and Jnana at once. The reason for this difference is that in Samsari Jivas, there are hindrances, known as Darsanavaraniya and Jnanavaraniya Karmas (i. e., Karmas obscuring Darsana and Jnana), which must be destroyed or mitigated (Ksaya or Upasama), before Darsana or Jnana can arise. But in a Kevali, these obscuring Karmas are entirely absent; so Darsana and Jnana can both arise at the same time. Brahmadeva has illustrated this as follows. In the case of Samsari Jivas, the knowledge of the objects through Darsana and Jnana is gradual, first, without, and then with details like the revelation of objects by the light of the sun when it is obscured by clouds, but the appearance of Darsana and Jnana in Kevalis is like the sudden illumination of every object when the sun appears in a cloudless sky. ❀ The clouds represent the Karmas which obsure Jnana and Darsana.

❀ "केवलिनां तु भगवतां निर्विकारस्वसंवेदनसमुत्पन्ननिराकरणक्षायिकज्ञानसहितत्वात् निर्मेघादित्ये युगपदातप्रकाशवद्दर्शनं ज्ञानं च युगपदेव इति विज्ञेयम् ।"

(Brahmadeva's Commentary.)

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं ॥४५॥

अन्वय:—इसी सरागचारित्र का अवयवरूप जो देशचारित्र है उसको कहते हैं। मिथ्यात्व आदि सात ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम, क्षय होने पर, अथवा अध्यात्म-भाष के अनुसार निज शुद्ध-आत्मा के सन्मुख परिणाम होने पर शुद्ध-आत्म-भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय करके, संसार शरीर और भोगों में जो हेयबुद्धि है अर्थात संसार, शरीर और भोग त्यागने योग्य हैं ऐसा जो समझता है वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध चतुर्थ गुणस्थान वाला व्रत रहित दर्शनिक है। और जो अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायों के क्षयोपशम होने पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पांच स्थावरों के वध में प्रवृत्त हो, तो भी अपनी शक्ति अनुसार त्रस जीवों के वध से रहित होता है अर्थात् यथाशक्ति त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता है उसको पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहते हैं।

अब उस पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के ११ भेद कहते हैं। पहले सम्यग्दर्शन को धारण करके मद्य, मांस और मधु और पांच उदुम्बर फलों के त्यागरूप जो आठ मूलगुण हैं न मूलगुणों को पालता हुआ जो जीव युद्ध आदि में प्रवृत्त होने पर भी बिना प्रयोजन शिकार आदि से जीव घात नहीं करता उसको पहला दर्शनिक श्रावक कहते हैं। वही दर्शनिक श्रावक जब त्रस जीव की हिंसा से सर्वथा रहित होकर पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का आचरण करता है तब दूसरा 'व्रती' नाम धारक होता है। वही जब त्रिकाल सामायिक में प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमाधारी होता है। वह प्रोषध-उपवास में जब प्रवृत्त होता है तब चौथी प्रतिमाधारी होता है। सचित्त के त्याग से पांचवीं प्रतिमा होती है। दिन में ब्रह्मचर्य धारण करने से छठी प्रतिमा होती है। सर्वथा ब्रह्मचर्य को धारण करने से सप्तम प्रतिमा का धारक होता है। आरम्भ आदि सम्पूर्ण व्यापारों का त्यागी अष्टम प्रतिमा का धारी कहा जाता है। पहनने ओढ़ने के वस्त्रों के सिवाय जब अन्य सब परिग्रहों को त्याग देता है तब वह नवमी प्रतिमाका धारक होता है। घर सम्बन्धी व्यापार आदि समस्त सावद्य (पापजनक) कार्यों में जब सम्मति (सलाह) देने का भी त्यागी होता है तब दशमी प्रतिमा का धारी कहलाता है। अपने निमित्त किये हुए आहार का त्याग करनेवाला ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक कहा

जाता है। इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों में जो पहली छह प्रतिमावाले हैं वे जघन्य श्रावक हैं, सातवीं, आठवीं और नववीं इन तीन प्रतिमाओं के धारक मध्यम श्रावक हैं, और दसवीं तथा ग्यारहवीं प्रतिमाओं के धारक उत्तम श्रावक हैं। इस प्रकार संक्षेप से देश-चारित्र के दर्शनिक आदि ग्यारह भेद जानने चाहिये।

अब इस एक देश चारित्र के व्याख्यान के अनन्तर सकल चारित्र को कहते हैं। "असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं" हे शिष्य ! अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ में जो प्रवृत्ति है उस को चारित्र जानो। वह कैसा है "वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं" व्रत समिति और गुप्ति स्वरूप है; ऐसा व्यवहारनय से श्री जिनेन्द्रने कहा है। सो ही दिखाते हैं—प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरे कषायका क्षयोपशम होने पर जिसका उपयोग विषयों और कषायों में गाढ़ा, दुःश्रुति (खोटे शास्त्रश्रवण) दुष्टचित्त और दुष्ट गोष्ठी (बुरी संगति), उग्र तथा उन्मार्ग (बुरे मार्ग) में तत्पर है वह जीव अशुभ में स्थित है। १।" इस गाथा में कहे हुए अशुभोपयोग से छूटना और उक्त अशुभोपयोग से विलक्षण (उलटा) शुभोपयोग में जो प्रवृत्त होना है हे शिष्य ! उसे तुम चारित्र जानो। वह चारित्र मूलाचार, भगवती आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में कहे अनुसार पाँच महाव्रत पांच समिति और तीन गुप्तिरूप है, तो भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोग लक्षण वाला, सराग चारित्र होता है। उसमें जो बाह्य विषयों में पांचों इन्द्रियों के विषय आदि का त्याग है वह उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से चारित्र है; और जो अन्तरंग में राग आदि का त्याग है वह अशुद्ध निश्चय नय से चारित्र है। इस तरह नय-विभाग जानना चाहिये। ऐसे निश्चय चारित्र को साधनेवाले व्यवहार चारित्र का व्याख्यान किया ॥ ४५ ॥

अब उसी व्यवहार चारित्र से साध्य जो निश्चय चारित्र है उस का निरूपण करते हैं :—

Asubhat vinivrittih subhe pravrittih cha janihi charittram.
Vrata-samitiguptirupam vyavaharanayat tu jinabhanitam—(45)

Padapatha—असुहादो Asuhado, from what is harmful. विणिवित्ती Vinivitti, refraining. य Ya, and. सुहे Suhe, in what is beneficial. पवित्ती Pavitti, engagement. चारित्तं Charittam, Charitra (Conduct). जाण Jana, know. दु Du, but. ववहारणया Vavaharanaya, according to Vyavahara Naya. वदसमिदिगुत्तिरूवं Vadasamidiguttiruvam, consisting

of Vrata, Samiti and Gupti. जिणभणियं Jinabhaniyam, mentioned by the Jina.

45. Know Charitra to be refraining from what is hajrmu and engagement in what is beneficial. But according to Vyavahara Naya, Charitra (Conduct) has been mentioned by the Jina to consist of Vrata, Samiti and Gupti.

COMMENTARY

From the ordinary point of view, Vratas (Vows), samitis (Attitudes of carefulness) and Guptis (Restraints) may be said to constitute Charitra (Conduct). We have already described what Vratas, Samitis and Guptis are in Verse 35. One who s immersed in wordly aspiration and attached to worldly objects, one whose soul is possessed of attachment and aversion, one who listens non-Jaina scriptures, one who has a vicious mind, keeps evil company and follows the terrible evil path of life, is said to be active in the pursuit of what is harmful (Asubha). * Refraining from these and engagement in the opposite of these by practising the five Vratas, five Samitis and three Guptis lead to what is beneficial (Subha). Charitra (Conduct) consists in the pursuit of what is beneficial and avoidance of what is harmful.

What is really Samyak Charitra (Perfect Conduct) will appear from the next verse.

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥ ४६ ॥

अन्वयः—"तं" वह "परमं" परम उपेक्षा (शरीर, असंयम आदि में अनादर) स्वरूप निर्विकार स्वसंवेदनरूप, शुद्धोपयोग से अविनाभूत (उसके विना न होने वाला)

---

* "विसयकसाओगाढोदुस्सुदिदुचित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहे ॥"

(Verse quoted in Brahmadeva's Commentary).

होने से उत्कृष्ट "सम्मचारित्तं" सम्यक्चारित्र जानना चाहिए। वह क्या? "बहिरब्भंतर-किरियारोहो" क्रियारहित नित्य-निरंजन निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव अपने आत्मा से प्रतिपक्षभूत (प्रतिकूल) बाह्य विषय में शुभ अशुभ वचन, काय के व्यापार रूप और इसी तरह अन्तरंग में शुभ अशुभ मन के विकल्परूप क्रिया के व्यापार का जो निरोध (त्याग) है वह। वह त्याग किस लिये है? "भवकारणप्पणासट्ठं" पांच प्रकार के संसार से रहित निर्दोष परमात्मा उससे भिन्न स्वस्वरूप जो संसार है उसके व्यापारका कारणभूत शुभअशुभ कर्म आस्रव उसके विनाश के लिये है। वह बाह्य, अन्तरंग क्रियाओं के त्यागरूप चारित्र किस के होता है? "णाणिस्स" निश्चय रत्नत्रय स्वरूप अभेदज्ञानी जीव के। वह चारित्र फिर कैसा है? "जं जिणुत्तं" जो जिनेन्द्र देव का कहा हुआ है। सारांश—सम्यग्ज्ञानी जीव के संसार दूर करने के लिये जो बाहरी और अन्तरंग की शुभ-अशुभ क्रियाओं का त्याग होता है वह श्रीजिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ सम्यक्चारित्र है ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वीतराग सम्यक्त्व और ज्ञान के बिना नहीं होनेवाला और निश्चय रत्नत्रयस्वरूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है उसके तीसरे अवयवरूप वीतराग चारित्र का व्याख्यान किया। ऐसे दूसरे स्थल में ६ गाथायें समाप्त हुईं।

इस प्रकार मोक्षमार्ग को प्रतिपादन करनेवाले तीसरे अधिकार में निश्चय व्यवहार रूप मोक्षमार्ग के कथनसे दो सूत्र और तदनन्तर उसी मोक्षमार्गके अवयवरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विशेष व्याख्यान रूप से छह सूत्र,इस तरह दो स्थलों के समुदायरूप जो आठ गाथायें हैं उनसे प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

अब इसके आगे ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला), ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) और ध्यान का फल इनके वर्णन का मुख्यता से प्रथम-स्थल में तीन गाथाएं तदनन्तर पंच परमेष्ठियों के व्याख्यानरूप से दूसरे स्थल में पांच गाथाएं और इसके पश्चात् उसी ध्यान के उपसंहाररूप विशेष व्याख्यान द्वारा तीसरे स्थल में चार गाथायें इस तरह तीन स्थलों के समुदाय से बारह गाथा सूत्रों वाले तृतीय अधिकार में दूसरे अंतराधिकार की समुदायरूप भूमिका है।

उसमें प्रथम ही तुम निश्चय और व्यवहारमोक्ष मार्ग को साधनेवाला जो ध्यान है, उसका अभ्यास करो ऐसा उपदेश देते हैं:—

Bahirabhyantarakriyarodhah bhavkaranapranasartham.
Jnaninah yat jinok tam tam paramam samyak charittram—(46).

Padapatha--भवकारणप्पणासट्ठं Bhavakaranappanasattham, to destroy the causes of Samsara. जं Jam, which. णाणिस्स Nanissa, of one who has knowledge. बहिरब्भंतरकिरियारोहो Bahirabbhamtara-kiriyaroho, the checking of external and internal actions. तं Tam, that. जिणुत्तं Jinuttam, mentioned by the Jinas. परमं Paramam, excellent. सम्मचारित्तं Sammacharittam, perfect conduct.

46. That checking of external and internal actions by one who has knowledge, in order to destroy the causes of Samsara is the excellent Samyak Charitra (Perfect Conduct) mentioned by the Jina.

COMMENTARY

In the previous verse, Charitra (Conduct) from the ordinary point of view has been described. In this verse, we are introduced to Charitra from the realistic point of view.

When a person checks all external activities of body and speech, together with all internal activities of the mind, so that all hindrances to the understanding of the true character of the soul are removed, he is said to have Samyak Charitra (Perfect Conduct). ❀ By this means, the person becomes free from all influx of beneficial or harmful Karmas, which cause Samsara or worldly existence. † Perfect Conduct therefore consists in checking all kinds of activities which are opposed to the characteristics of the soul, which is void of all actions, eternal and consisting of pure Jnana and Darsana.

❀ "निष्क्रियनित्यनिरञ्जनविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजात्मनः प्रतिपक्ष-भूतस्य बहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभ-मनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्यागः।"

(Brahmadeva's Commentary).

† "भवस्य संसारस्य व्यापार कारणभूतो योऽसौ शुभाशुभकर्मास्रवस्तस्य प्रणाशार्थं विनाशार्थमिति।"

दुविहं पि मुक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

अन्वयः—"दुविहं पि मुक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा" क्योंकि मुनि नियम से ध्यान द्वारा दोनों प्रकार के मोक्षकारणों को प्राप्त होता है। निश्चय रत्नत्रयस्वरूप, निश्चय मोक्षकारण अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग और इसी तरह व्यवहार रत्नत्रयरूप व्यवहारमोक्षहेतु अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग, इन दोनों को पहले साध्य-साधकभाव से यानी निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधक है ऐसा जो पहले कहा है क्योंकि उन दोनों प्रकार के मोक्षमार्गों को मुनि निर्विकार स्वसंवेदनस्वरूप परमध्यान द्वारा प्राप्त होता है "तह्मा पयत्तचित्ता जूयं ज्झाणं समब्भसह" इसी कारण एकाग्रचित होकर हे भव्यजनो! तुम भले प्रकार से ध्यान का अभ्यास करो यानी—मुनि लोग ध्यान द्वारा मोक्षमार्ग पा लेते हैं इसलिए तुम देखे, सुने और अनुभव किये हुए अनेक मनोरथ रूप शुभ अशुभ राग आदि विकल्प समूह का त्याग करके परमनिजस्वरूप में स्थित होने से उत्पन्न हुए सहज आनन्दरूप एक लक्षणवाले सुख रूपी अमृतरस के आस्वाद के अनुभव में स्थित होकर ध्यान का अभ्यास करो ॥ ४७ ॥

अब ध्यान करनेवाले पुरुष का लक्षण कहते हैं:—

Dvividhamapi moksahetum Dhyanena prapnoti yat munih niyamat.
Tasmat prayatnachittah yuyam Dhyanam samabhyasadhvam—(47)

Padapatha—जं Jam, because मुणी Muni, a sage. णियमा Niyama by the rule. दुविहं Duviham, two kinds. पि Pi, both. मोक्खहेउं Mokkhaheum, the cause of liberation झाणे Jhane, by meditation. पाउणदि Paunadi, gets. तम्हा Tamha, therefore. जूयं Juyam, you. पयत्तचित्ता Payattachitta, with careful mind. झाणं Jhanam, meditation. समब्भसह Samabhasaha, practise.

47. Because by the rule a sage gets both the (Vyavahara and Nischaya) causes of liberation by meditation, therefore (all of) you practise meditation with careful mind.

COMMENTARY

Perfect faith, perfect knowledge and perfect conduct are the causes of liberation from the ordinary point of view, while really

the soul itself possessed of these three is the cause of liberation. By meditation, one can have perfect faith, perfect knowledge and perfect conduct, and one can understand the soul also only through meditation. Therefore, Dhyana or meditation is of supreme importance for a person who seeks liberation. The author therefore in this verse asks everyone who is eager to attain liberation to practise meditation.

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥ ४८ ॥

अन्वयः—"मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह" समस्त—मोह रागद्वेष से उत्पन्न विकल्प समूह से रहित निज परमात्म स्वरूप की भावना से उत्पन्न हुआ परमानन्दरूप एक लक्षण का धारक सुखामृतरस, उससे उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख के आस्वाद में तत्पर परमकला अर्थात् परमसंविति (आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार रूप अनुभव) है, उसमें स्थित होकर हे भव्य जीवो ! मोह, राग और द्वेष को मत करो । किन में मोह, रागद्वेष मत करो ? (इट्ठणिट्ठ अट्ठेसु) माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बूल आदि रूप इन्द्रियों के इष्ट विषयों में और सर्प, विष, कांटा, शत्रु और रोग आदि इन्द्रियों के अनिष्ट विषयों में, "थिरमिच्छहि जइ चित्तं" यदि उसी परमात्मा के अनुभव में तुम निश्चल चित्त को चाहते हो तो, किस लिये स्थिर चित्तको चाहते हो ? (विचित्त झाणप्पसिद्धीए) विचित्र अर्थात् अनेक तरह का जो ध्यान है उसकी सिद्धि के लिये, अथवा दूर हो गया है चित्तसे उत्पन्न होनेवाला शुभ और अशुभ विकल्प समूह जिसमें सो 'विचित्त ध्यान' है उस विचित्त ध्यान अर्थात् निर्विकल्प ध्यान के लिये ।

विवेचन—अब प्रथम ही आगम भाषा के अनुसार उसी ध्यान के नाना प्रकार के भेदों का कथन करते हैं-इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग और रोग को दूर करने तथा भोगों और भोगों के कारणों में इच्छा रखने रूप भेदों से चार प्रकार का आर्तध्यान है अर्थात् इष्ट का वियोग न चाहना १, अनिष्टका संयोग न चाहना २, रोग न चाहना ३, और भोग निदानों की वांछा करना । और वह आर्तध्यान न्यूनाधिक भाव से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से प्रमत्तगुणस्थान तक के जीवों के होता है । वह आर्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों के तिर्यंच गति के बंध का कारण होता है तथापि जिस सम्यग्दृष्टि ने पहले तिर्यंच-

गति के आयु को बांध लिया है उस सम्यग्दृष्टि जीव को छोड़कर अन्य जो सम्यग्दृष्टि "जीव" हैं, उनके तिर्यंचगति के बंध का कारण नहीं है।

शंका—क्यों नहीं है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीवों के "निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है" ऐसी भावना के कारण तिर्यंचगति का कारणरूप संक्लेश नहीं होता।

अब रौद्रध्यान को कहते हैं। हिंसानन्द (हिंसा करने में आनन्द मानना) १, मृषानन्द (झूठ बोलने में आनन्द मानना) २, स्तेयानन्द (चोरी करने कराने में प्रसन्न होना) ३ और विषय संरक्षणानन्द (परिग्रह की रक्षा में आनन्द मानना) ४ इन चारों से उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान ४ प्रकार का है। यह न्यूनाधिकरूप मिथ्यादृष्टि से पंचम गुणस्थान तक जीवों के होता है। रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के नरकगति का कारण है तो भी जिस सम्यग्दृष्टि ने नरक आयु बाँधली है उसके सिवाय अन्य सम्यग्दृष्टियों के नरकगति का कारण नहीं होता।

प्रश्न:—ऐसा क्यों है ? उत्तर—सम्यग्दृष्टियों के जो "निजशुद्ध आत्म-स्वरूप ही उपादेय है" इस प्रकार का विशिष्ट भेदज्ञान होता है उससे नरकगति का कारणभूत तीव्र संक्लेश नहीं होता।

इसके आगे आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानके त्यागरूप १-आज्ञाविचय, २-अपायविचय, ३-विपाकविचय और ४-संस्थानविचय ऐसा चार प्रकार का ध्यान न्यूनाधिकवृद्धि के क्रम से असंयतसम्यग्दृष्टि, देश विरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त इन चार गुणस्थानवाले जीवों के होता है और प्रधानता से पुण्यबंध का कारण है तो भी परम्परा से मोक्ष का कारण-भूत ऐसा जो धर्मध्यान है उसका कथन करते हैं। स्वयं अल्प बुद्धि हो तथा विशेष ज्ञानी गुरु की प्राप्ति न हो तब शुद्ध जीव आदि पदार्थों की सूक्ष्मता होने पर "श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतुओं से नहीं खंडित हो सकता इसलिये जो सूक्ष्मतत्व है उसको जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिये क्योंकि श्री जिनेन्द्र अन्यथावादी (झूठा उपदेश देने वाले) नहीं हैं॥ १॥" (श्रीदेवसेनाचार्य, आलाप पद्धति में श्लोक ५) इस के अनुसार जो पदार्थ का निश्चय करना है वह "आज्ञाविचय" नामक प्रथम धर्म-ध्यान कहलाता है। उसी प्रकार भेद-अभेदरूप रत्नत्रय की भावना से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्मों का नाश कब होगा इस प्रकार विचारना "अपायविचय" नामक दूसरा धर्मध्यान जानना चाहिये। शुद्ध निश्चय नय से यह जीव शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से रहित है फिर भी अनादिकर्म बन्ध के कारण पाप के उदय से नरक आदि के दुःखरूप फल का

अनुभव करता है। और पुण्यके उदय से देव आदिके सुखरूप विपाक को भोगता है। इस प्रकार विचार करना सो "विपाकविचय" धर्मध्यान जानना चाहिये। और पहले कही हुई जो लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करना है वह "संस्थान विचय" है। इस तरह चार प्रकार का धर्मध्यान होता है।

अब पृथक्त्ववितर्क विचार १, एकत्ववितर्क (अ) विचार २; सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ३, और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ४ ऐसे चार प्रकार का शुक्ल ध्यान है, उस को कहते हैं। प्रथम ही पृथक्त्ववितर्कविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान का कथन करते हैं। द्रव्य गुण और पर्याय के जुदापनेको 'पृथक्त्व' कहते हैं। निजशुद्धआत्मा का अनुभवरूप भावश्रुत, अथवा निजशुद्धआत्मा को कहने वाला जो अन्तरंग वचन (सूक्ष्म शब्द) है वह वितर्क है। बिना इच्छा किये अपने आप ही जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक वचन से दूसरे वचन में और मन वचन काय इन तीनों योगों में से एक योग से दूसरे योग में जो परिणमन (ध्यान पलटना) है उस को 'विचार' कहते हैं। भावार्थ—यह है कि, यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज शुद्ध आत्म संवेदन को छोड़कर बाह्यपदार्थों का चिन्ता नहीं करता यानी निज आत्मा का ही ध्यान करता है। तथापि जितने अंशों से उस पुरुष के अपने आत्मा में स्थिरता नहीं है उतने अंशों से अनिच्छितवृत्तिसे विकल्प उत्पन्न होते हैं इस कारण इस ध्यान को "पृथक्त्ववितर्कविचार" कहते हैं। यह प्रथम शुक्लध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा में अपूर्व करण उपशमक, अनिवृत्तिकरण उपशमक, सूक्ष्मसांपराय उपशमक और उपशान्तकषाय इन ८वें, ९वें, १०वें और ११वें गुणस्थान तक होता है। और क्षपकश्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरणक्षपक, अनिवृत्तिकरण क्षपक और सूक्ष्मसांपरायक्षपक नामक ८ से १० तक तीन गुणस्थान में होता है। इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यान का व्याख्यान है। निजशुद्ध-आत्म द्रव्य में अथवा विकार रहित आत्मसुख-अनुभवरूप पर्याय में अथवा उपाधिरहित स्वसंवेदन गुण में इन तीनों में से जिस एक द्रव्य, गुण वा पर्याय में ध्यानी प्रवृत्त हो गया उसी में वितर्क नामक निजात्मानुभवरूप भाव श्रुत के बल से स्थिर हो कर जो विचार अर्थात द्रव्य, गुण पर्याय में परिवर्तन (नहीं) करता है वह "एकत्ववितर्क (अ) वीचार" नामक क्षीणकषाय (१२वें) गुण स्थान में होने वाला दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है। इस दूसरे शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है। अब सूक्ष्म जो काय की क्रिया है उसका व्यापाररूप और अप्रतिपाति (जो कभी न गिरे) ऐसा "सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति" नामक तीसरा शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है। वह उपचार से सयोगिकेवलीजिन (१३ वें) गुणस्थान में होता है। विशेषता

करके उपरत अर्थात् दूर हुई है क्रिया जिसमें वह व्युपरतक्रिया है, व्युपरतक्रिया हो और अनिवृत्ति अर्थात् निवर्तक न हो वह "व्युपरतक्रियानिवृत्ति" नामा चतुर्थ शुक्लध्यान कहा गया है। (यह चौदहवें गुण स्थान में होता है)। अध्यात्म भाषा से सहज-शुद्ध-परम चैतन्यशाली तथा परिपूर्ण आनन्द का धारी भगवान् निज आत्मा है, उसमें उपादेय बुद्धि (निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है) करके, फिर "मैं अनन्त ज्ञान का धारक हूँ, अनन्त सुखरूप हूं," इत्यादि भावना रूप है सो अन्तरंग धर्मध्यान है। पंचपरमेष्ठियों की भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल शुभ अनुष्ठान का करना बहिरंगधर्मध्यान है। उसी प्रकार निजशुद्ध आत्मा में विकल्परहित ध्यानरूप शुक्लध्यान है अथवा "मन्त्रवाक्यों में जो स्थित है वह "पदस्थध्यान" है निज आत्मा का जो चिन्तवन है वह 'पिंडस्थध्यान' है सर्वचिद्रूप का चिन्तवन जिसमें है वह "रूपस्थध्यान" है और निरंजन जो ध्यान है वह 'रूपातीतध्यान' है ॥१॥" (षट्प्राभृत पृ० २३६) इस श्लोक में कहे हुए क्रम के अनुसार अनेक प्रकार का ध्यान जानना चाहिए।

अब ध्यान से प्रतिबन्धक (रोकनेवाले) मोह, राग तथा द्वेष का स्वरूप कहते हैं। शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न करनेवाला जो मोह है वह दर्शन मोह अर्थात् मिथ्यात्व है। निर्विकार-निज आत्मानुभवरूप वीतराग चारित्र है उसको ढकनेवाला जो चारित्र मोह है वह राग और द्वेष कहलाता है। प्रश्न—चारित्र मोह राग द्वेष रूप कैसे कहलाता है? उत्तर—कषाय-क्रोध और मान ये दो कषाय द्वेष के अंग हैं और माया तथा लोभ ये दोनों कषाय राग के अंग हैं। नौ कषायों में स्त्री वेद पुंवेद और नपुंसकवेद तथा हास्य और रति ऐसे पांच नो कषाय तो राग के अंगहैं, और अरति, शोक, भय तथा जुगुप्सा इन चार नो कषायों को द्वेष का अंग जानना चाहिये।

प्रश्न—यहाँ शिष्य पूछता है कि राग, द्वेष आदि भाव कर्मों से उत्पन्न हुए हैं? या या जीव से उत्पन्न हुए हैं? इस का उत्तर—स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान और चूना तथा हल्दी इन दोनों के मेल से उत्पन्न हुए लाल रंग की तरह यह राग द्वेष आदि कषाय जीव और कर्म इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। जब नय की विवक्षा के अनुसार विवक्षित एक देश शुद्धनिश्चयनय से तो ये कषाय कर्म से उत्पन्न हुए कहलाते हैं। और अशुद्धनिश्चयनय से तो जीवजनित कहलाते हैं। तथा यह अशुद्धनिश्चयनय, शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार नय ही है। शंका—साक्षात् शुद्धनिश्चयनय से ये राग द्वेष किसके हैं? ऐसा हम पूछते हैं? समाधान—तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यह है कि साक्षात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से जैसे स्त्री और

पुरुष के संयोग के बिना पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती और चूना व हल्दी के संयोग बिना एक प्रकार का लाल रंग उत्पन्न नहीं होता इसी प्रकार जीव तथा कर्म इन दोनों के संयोग के बिना इन रागद्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसलिये हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर ही कैसे देवें अर्थात् जैसे पुत्र न स्त्री से ही होता है और न पुरुष से ही होता है किन्तु स्त्री तथा पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है; इसी प्रकार राग द्वेष आदि न केवल कर्मजनित ही हैं और न केवल जीव जनित ही हैं; किन्तु जीव और कर्म इन दोनों के संयोग जनित है ॥ ४८ ॥ इस प्रकार ध्याता (ध्यान करने वाले) के व्याख्यान की प्रधानता से उस ध्याता के ध्यान तथा विचित्र ध्यान के कथन से यह गाथासूत्र समाप्त हुआ।

अब आगे के श्लोक में "मन्त्र वाक्यों में स्थित जो पदस्थ ध्यान है" उसका वर्णन करते हैं:—

Ma muhyata ma rajyata ma dvisyata istanistarthesu.
Sthiram ichchhatha yadi chittam vichitra-Dhyanaprasiddhyai—(48).

Padapatha—जइ Jai, if. विचित्तझाणप्पसिद्धीए Vichittajhanappasiddhie, to succeed in various kinds of meditation. चित्तं Chittam, mind. थिरं Thiram, fixed. इच्छह Ichchhaha, wish. इट्ठणिट्ठअत्थेसु Itthanittha-atthesu, in beneficial and harmful objects. मा Ma, do not. मुज्झह Mujjhaha, be deluded. मा Ma, do not. रज्जह Rajjaha, be attached to. मा Ma, do not. दुस्सह Dussaha, be averse to.

48. If you wish to have your mind fixed, in order to succeed in various kinds of meditation, do not be deluded by or attached to beneficial objects and do not be averse to harmful objects.

COMMENTARY

To succeed in the practice of meditation, one must be free from all disturbing feelings. He should neither be attracted to pleasant objects nor repulsed by unpleasant objects. He should be indifferent to everything, may it be beneficial or harmful. By this means, he would be able to fix his soul upon itself, as the calmness of his mind would remain undisturbed through the

disappearance of disturbances arising from attachment and aversion.

**पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह ज्झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ ४६ ॥**

अन्वय:--"पणतीस" णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वासाहूणं" ये पैंतीस अक्षर 'सर्वपद' कहलाते हैं । "सोल" "अरिहंत सिद्ध आचार्य उवज्झाय साहू' ये सोलह अक्षर पंचपरमेष्ठियों के नाम पद कहलाते हैं ? "छ" 'अरहन्तसिद्ध' ये छः अक्षर अरहन्त तथा सिद्ध इन दो परमेष्ठियों के दो नाम पद कहे जाते हैं। "पण" "असिआउसा" ये पंच अक्षर पंच परमेष्ठियों के आदि पद कहलाते हैं। "चदु" 'अरिहंत' ये चार अक्षर अरहन्त परमेष्ठी के नामपद रूप हैं। "दुग" 'सिद्ध' ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के नाम पद रूप हैं। "एगंच" 'अ' यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठी का आदिपद है, अथवा 'ओं' यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठि-यों के आदि पदस्वरूप है ।

विवेचन--णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं । इसमें कुल ३५ (पैंतीस) अक्षर हैं। ये पैंतीस अक्षर भावना सार की गणना के अनुसार हैं। किन्तु इन्हीं अक्षरों की गणना यदि भूवलय की वर्णमाला के अनुसार की जाय तो ७४ अक्षर हो जाते हैं। ७४ अक्षरों को कर लेने से वे भूवलय चक्र बन्ध के अन्दर समावेश हो सकते है। पैंतीस अक्षर किसी रीति से भी भूवलय चक्र में समावेश नहीं हो सकते। भूवलय का यह क्रम आगमानुकूल है। क्योंकि आगम में ६४ अक्षरों की परिपाटी दिव्यध्वनि से निकली हुई है, और अनादि काल से आचार्य परम्परा से चलती आई है। इसलिये इसको प्रमाण माना गया है। प्रमाण का अर्थ "प्रकर्ष-मानं प्रमाणम्" अर्थात् बराबर गिनती को प्रमाण कहते हैं।

अरहन्त सिद्ध, आइरिया, उव्वज्झाया साहू, यह सोलह अक्षरों का मंत्र है। अरहन्त सिसा यह ६ अक्षरों का मंत्र है, असिआउसा यह पाँच अक्षरों का मंत्र है, अरहन्त और अर्हं सिसा यह पांच अक्षरों का मंत्र है। सिद्ध साहू यह चार अक्षरोंका मंत्र है। अर्ह सिद्धं आसा यह दो अक्षरों का मंत्र है। "आ" ओं यह एक एक अक्षर का मन्त्र है। भूवलय के अनुसार "अ" यह एक अक्षर होता है। "ओं" जो है वह अन्य ग्रन्थ के अनुसार 'आ'

'उ' "म्" इन तीन अक्षरों के समूह से एक अक्षर नहीं बन सकता। भूवलय के ६४ अक्षर के क्रमानुसार ६१ संख्या "०" यह एकाक्षर होता है। और मुंह बन्द करके कह सकता है। इस क्रम के अनुसार दिव्यध्वनि सर्वांग शरीर से निकल सकती है। इस तरह कुमुदेन्दु आचार्य ने इस मंत्र के विषय में अपने भूवलय में दूसरे ढंग से प्रतिपादित किया है।

अब ३५-१६-६-५-२ और १ अनाद्यनंतात्मक पंच परमेष्ठी वाचक मूलमंत्र को अव्यग्रता के साथ इस अक्षर को धवल वर्णपूर्वक, चिंतामणि यंत्र, सिद्धचक्र यंत्र रूपी ग्रहों में अर्थात् भूवलय चक्रबंध के अनुसार स्थापना कर निरवंचक गुरु के उपदेश के अनुसार जाप करना चाहिये। ऊपर जो धवल शब्द आया है उसका मतलब यह है कि जीव की इच्छानुसार नाभि से निकलकर पवन के सहयोग से हृदय, वक्षस्थल, मस्तक अर्थात् ब्रह्मरंध्र में घूमता हुआ शब्दकंठ में आता है। और कंठ में आकर तुड़ही के समान मुंह से निकलता है। शब्द का वर्ण सफेद है, इस तरह कुमुदेन्दु आचार्य का कथन है 'ओं' एक अक्षर में पंचपरमेष्ठी वाचक किस तरह हुआ ? ऐसा प्रश्न होने से उसके विषय में गाथा द्वारा इस प्रकार उत्तर दिया गया है कि:—

अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पढमक्खर णिप्पण्णो ओंकार पच परमेट्ठी ॥

इस सूत्र के अनुसार प्रथम अक्षर मिलाने से अ+अ+आ+उ+म=ओं इस तरह ओं बन जाता है। केवल शब्दोचारण मात्र से कर्म कैसे नष्ट हो जाता है, इसके उत्तर में वज्रादि रत्न, श्री गंध कपूर इत्यादि के उच्चारण करने से अपने अनुभव करने के समान अनुभव होता है। इस प्रकार पंचपरमेष्ठी के नामोच्चारण करने से मनोभिलाषित संपूर्ण शुभ कार्य की सिद्धि हो जाती है। यह मंत्र समस्त मंगल रूपी घर के समान तथा संसार रूपी वन को दग्ध करने के लिये दावानल के समान है। और परंपरा मोक्ष का कारण है तथा इसके अंदर संपूर्ण मंत्र गर्भित हैं। ऐसे पंच परमेष्ठि के गुणों का स्मरण करते हुए भक्ति के साथ जाप करनेवाला अधिगम सम्यग्दृष्टि भव्य जीव को दूर श्रवण दूर दर्शनादि सिद्धि प्राप्त होकर भाव शुद्धि के साथ बिना प्रार्थना किये हुए सप्त परम स्थानों की प्राप्ति हो सकती है। इसके विषय में निम्न श्लोक दिया जाता है।

सज्जातिस्सद्गृहित्वञ्च पारिव्राज्यंसुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणञ्चेति सप्तकम् ॥

इस प्रकार ऊपर कहे हुए मंत्राक्षर ध्यान को पदस्थध्यान कहते हैं। अन्य ग्रन्थ में पदस्थादि ध्यान का विवेचन इस प्रकार किया गया है कि:—

पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिंडस्थं पिंडितात् सुखात् ।
रूपस्थं सर्व चिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम् ॥

पदस्थध्यान, पिंडस्थध्यान, रूपस्थध्यान और रूपातीत ध्यान ऐसे ध्यान के चार भेद हैं। इस प्रकार ४६वीं गाथा समाप्त हुई।

अब आगे राग आदि विकल्प रूप उपाधि से रहित निजपरमात्मरूप पदार्थ की भावना से उत्पन्न, सदानन्दस्वरूप एक लक्षणवाले सुखामृत के रसके आस्वाद से तृप्तिरूप निश्चय ध्यान का परम्परा से कारणभूत जो शुभोपयोगलक्षण व्यवहार ध्यान है उसके द्वारा ध्येय-भूत पंच परमेष्ठियों में से प्रथम ही जो अर्हत परमेष्ठी हैं उनके स्वरूप को कहता हूं, यह तो पहली पतनिका है। पूर्व गाथा में कहे हुए जो सर्व पद नामपद आदि वाचक भूत पद हैं उनके वाच्य में जो पंचपरमेष्ठी हैं उनका व्याख्यान करने पर प्रथम ही श्री जिनेन्द्र के स्वरूप का निरूपण करता हूं, यह दूसरी पतनिका है।

अथवा पदस्थ, पिंडस्थ तथा रूपस्थ इन तीन ध्यानों के ध्येयभूत जो श्री अर्हंतसर्वज्ञ हैं उनके स्वरूप को दिखलाता हूँ, यह तीसरी पतनिका है। इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों पतनिकाओं को मन में धारण करके आचार्य अग्रिम गाथासूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

Panchattrinsat sodasa sat pancha chatvari dvikam ekam cha japata dhyayeta.
Paramesthivachakanam anyat cha gurupadesena—(49).

Padapatha—परमेट्ठिवाचयाणं Parametthivachayanam, signifying the Paramesthis. पणतीस Panatisa, thirty-five. सोल Sola, sixteen. छ Chha, six. पण Pana, five. चदु Chadu, four. दुगम् Dugam, two. च Cha, and. एगं Egam, one. च Cha, and. गुरूवएसेन Guruva-esena, by instruction of the Guru (preceptor). अएणं Annam, others. जवह Javaha, repeat. झाएह Jhaeha, meditate

49. Repeat and meditate on (the Mantras), signifying the Paramesthis and consisting of thirty-five, sixteen, six, five, four, two and one (letter) and other (mantras) taught by the Guru (Preceptor).

COMMENTARY

In this verse, we are introduced to the daily prayer of the Jainas. In all religions, a formula consisting of the daily prayer has been prescribed, and in Jaina religion, this prayer can be lengthened or shortened, according to the occasion or capacity of the worshipper.

The full prayer is as follows:—

"Namo Arihantanam namo Siddhanam, namo Ayariyanam, namo Uvajjhayanam, namo loe savvasahunam—"

["णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणम् ।"]

I. E., "Obeisance to the Arhats, obeisance to the Siddhas, obeisance to the Acharyas, obeisance to the Upadhyayas and obeisance to all Sadhus in the universe." This prayer in original consists of thirtyfive words.

Who are meant by the words Arhat Siddhas, Acharyas, Upadhyayas and Sadhus, will appear from Verses 50,51,52, 53 and 54 respectively. These five classes of beings who are to be revered are known as Pancha Paramesthis (the five supreme beings).

Instead of the full Mantra, one may utter "Arihanta Siddha Ayiria Uvajjhaya Sahu" ("अरिहंत सिद्ध आइरिया उवज्झाया साहू") which consists of sixteen letters. The following Mantras, each consisting of six letters, may also be uttered. "Arihanta Siddha" ('अरिहंत सिद्धा") "Arihanta si sa" ("अरिहंत सि सा") or "Om namo siddhanam" ("ओं णमो सिद्धाणं") A Mantra still shorter, consisting of five letters, viz, "A si a u sa" (" अ सि आ उ सा ") in which only the first letters of the words Arhat, Siddha, Acharya, Upadhyaya and Sadhu are taken, may also be used. Again the following Mantras, each consisting of four letters, may be employed: "अरहंत" (Arahanta) or "A si sahu" ("अ सि साहू"). There are three Mantras, each consisting of two letters, viz., "Siddha" ("सिद्ध") "A sa" ("अ सा") and "Om nhi" ("ओं ह्रीं") Lastly, combining the first letter of the five words, denoting the Pancha Paramesthis we get a Mantra of one letter, viz., "Om" ("ओम्") * Some say that

* The word "Om" is thus derived : 'A,' the first letter of Arhat, the letter "A" representing Asarira (i. e., without body) Siddha, "A," the first letter of Acharya, "U"—the first letter of Upadhyaya and "Ma," the first letter of Muni (or Sadhu) being conjoind by the rules of Saudhi become. "Om" (vide "दीर्घः ।" "इक्येङरः" Sakatayana's Grammar, I. I. 77 and I. I. 82.)

C. F. "अरहंता असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो ।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी ॥"

"A" ("अ") is also a Mantra of one letter.

These therefore, are the Mantras consisting of thirty-five, sixteen, six, five, four, two and one letter respectively. These Mantras, should be uttered audibly or repeated mentally. Besides these Mantras, one may utter or meditate on other Mantras tought by one's spiritual preceptors. The commentator, Brahmadeva, says that examples of such Mantras may be found in the work entitled "Pancha-namaskara," consistina of twelve thousand verses. ❀

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

अन्वयः—"णट्ठचदुघाइकम्मो" निश्चयरत्नत्रयस्वरूप शुद्धोपयोग-ध्यान के द्वारा पहले घातियाकर्मों में प्रधान मोहनीयकर्म का नाश करने के बाद ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों ही घातिया कर्मों का एक ही समय में नाश करने से जिस के चार घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं ऐसा "दंसणसुहणाणवीरियमईओ" उस घातिया कर्मों के नाश से प्राप्त हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, और अनन्त वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय के धारक होने से स्वभाव से उत्पन्न शुद्धअविनाशी ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप ऐसा 'सुहदेहत्थो' निश्चयनय से शरीररहित हैं तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा से सात धातुओं से रहित-हजारों सूर्यों के समान देदीप्यमान-परम औदारिक शरीरवाला है। इस कारण शुभदेह में विराजमान है। "सुद्धो" "क्षुधा १ तृषा २ भय३ द्वेष ४ राग ५ मोह ६ चिन्ता ७ जरा ८ रुजा (रोग) ९ मरण १० स्वेद ११ खेद १२ मद १३

❀ "द्वादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारग्रन्थकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं बृहत्सिद्धचक्रमित्यादिदेवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम्।"

i. e., "One should meditate on the manner of worshipping supreme beings, known as Laghu Siddha Chakra and Brihat Siddha Chakra, as is mentioned in the work called, Pancha-namaskara, consisting of twelve thousand verses, after one is aware of the same through the kindness of a spiritual preceptor, who practises the three jewels." (Brahmadeva's Commentary.)

अरति १४ विस्मय १५ जन्म १६ निद्रा १७ और विषाद १८ ये अठारह दोष हैं; इन दोषों कर के रहित ऐसा वह निरञ्जन आप्त श्री जिनेन्द्र है । २।" इस प्रकार दो श्लोकों में कहे हुए अठारह दोषों से रहित होने के कारण शुद्ध है। "अप्पा" पूर्वोक्त गुणों का धारक जो आत्मा है वह "अरिहो" 'अरि' शब्द से कहे जाने वाले मोहनीयकर्म का, 'रज' इस शब्द के वाच्य ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों का तथा 'रहस्य' शब्दका वाच्य जो अन्तरायकर्म है उसका नाश करने से इन्द्र आदि देवों द्वारा रची हुई गर्भावतार-जन्माभिषेक-तपकल्याण-केवलज्ञानोत्पत्ति और निर्वाण समय में होनेवाली जो पाँच महाकल्याणरूप पूजा है, उसके योग्य होता है इस कारण 'अर्हन्' कहलाता है "विचिंतिज्जो" इन उक्त विशेषणों के धारक और आप्तागम में कहे हुए वीतराग सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नामों वाले अर्हंत जिनभट्टारक को पदस्थ-पिंडस्थ-और रूपस्थ ध्यान में स्थित होकर हे भव्यजनो ! तुम विशेष रूप चिंतवन करो।

प्रश्न—इस अवसर में भट्ट और चार्वाक (नास्तिक) का मत लेकर शिष्य पूर्व पक्ष को करता है कि सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि उस की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधे के सींग । उत्तर—तुम जो सर्वज्ञ की अप्राप्ति मानते हो सो क्या सर्वज्ञ की प्राप्ति इस देश और इस काल में नहीं है वा सब देशों और सब काल में सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है ? यदि कहो—कि, इस देश और इस काल में सर्वज्ञ नहीं है तब तो तुम्हारा कहना ठीक है, क्योंकि हम भी ऐसा मानते हैं। यदि तुम कहो कि सब देशों और सब कालों में सर्वज्ञ नहीं है तो हम पूछते हैं कि, तुम ने यह कैसे जाना कि पाताल, ऊर्ध्व और मध्य रूप तीनों लोक तथा भूत, भविष्यत और वर्तमान उन तीनों कालों में सर्वज्ञ नहीं पाया जाता ? यदि तुम यह कहो कि, हम ने जान लिया है कि, तीनों लोक और तीनों काल सर्वज्ञ से रहित हैं तब तो तुम्हीं सर्वज्ञ सिद्ध ही हो चुके। यानी—जो तीन लोक तथा तीन काल के पदार्थों को जानता है वही सर्वज्ञ है, सो तुमने यह जान ही लिया है कि, तीनों लोकों और तीनों कालों में सर्वज्ञ नहीं है, इसलिये तुम्हीं सर्वज्ञ सिद्ध हुए। और जो तुमने तीन लोक व काल में सर्वज्ञ नहीं इस को नहीं जाना है; तो फिर 'सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा निषेध कैसे करते हो ? यहाँ पर दृष्टान्त—जैसे कोई निषेध करने वाला पुरुष घट की आधारभूत जो जमीन है उसको नेत्रों से जब घट रहित जान लेता है तब कहता है कि, इस 'जमीन में घट नहीं है' सो यह कहना तो उस का ठीक है परन्तु जो नेत्रों से रहित है, वह जो 'इस भूतल में घट नहीं है' ऐसा वचन कहे तो ठीक नहीं है इसी प्रकार जो तीन जगत् और तीन काल को सर्वज्ञ रहित जानता है वह जो "तीन जगत् तथा तीन

काल में सर्वज्ञ नहीं है" यह कहे तो उसका कहना ठीक है, परन्तु जो व्यक्ति तीन लोक व तीन काल को सर्वज्ञ रहित नहीं जानता है। वह सर्वज्ञ का निषेध किसी प्रकार नहीं कर सकता है। क्यों नहीं कर सकता ? इस का उत्तर यह है कि, तीन जगत् और तीन काल को जानने से वह आप ही सर्वज्ञ है, और जब वह आप ही सर्वज्ञ है तब सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कैसे कह सकता है ?

अब जो 'सर्वज्ञ नहीं है' इस वार्ता को सिद्ध करने के लिये 'सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है' यह हेतु वचन कहा है, यह भी अयुक्त है। वह क्यों अयुक्त है ? इस प्रश्न के लिये हम पूछते हैं कि, क्या सर्वज्ञ की प्राप्ति केवल तुम्हारे नहीं है ? या तीन लोक व तीन काल में रहनेवाले सभी जीवों के सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है ? यदि तुम लोगों को सर्वज्ञ प्राप्त नहीं होता है तो इससे सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जैसे अन्य पुरुषों के मन के विचार और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ तुम्हारे जानने में नहीं आते हैं, तो भी वे पदार्थ हैं अर्थात् उनका अभाव नहीं है। इसी प्रकार तुम्हारे जानने में नहीं आया हुआ सर्वज्ञ भी है, उसका सर्वथा अभाव नहीं। अब कदाचित् यह कहो कि, तीन जगत् और तीन काल के पुरुषों के ही सर्वज्ञ की अप्राप्ति है, तो हम पूछते हैं कि, क्या तुमने यह बात जान ली है ? यदि जान ली है तब तो 'तुम्हीं सर्वज्ञ हो' यह जो हमने पहले कहा वही यहाँ भी आ ठहरा। इत्यादि अनेक दूषण इस 'अप्राप्ति' रूपहेतु में जानने चाहियें। और जो तुमने 'सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि उसकी प्राप्ति नहीं होती' इसको सिद्ध करने के लिये गर्दभ के सींग समान यह दृष्टान्त कहा वह भी उचित नहीं है, क्योंकि, जैसे गधे के सींग नहीं हैं परन्तु बैल आदि के सींग हैं इसलिये सींग का सर्वथा अभाव नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि सर्वज्ञ का किसी नियत देश तथा काल आदि में अभाव है तो भी उस सर्वज्ञ का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता, इस प्रकार दृष्टान्त में दूषण है।

प्रश्न—आपने सर्वज्ञ के विषय में बाधक प्रमाण का तो खंडन कर दिया, परन्तु सर्वज्ञ के सद्भाव को (यानी 'सर्वज्ञ' है इस कथन को) सिद्ध करनेवाला प्रमाण क्या है ? सो कहो ?

उत्तर—कोई पुरुष विशेष (धर्मी) सर्वज्ञ है, इस रीति से किसी पुरुष विशेष को पक्ष करके उसमें सर्वज्ञत्व धर्म सिद्ध करते हैं। क्योंकि सर्वज्ञ के होने में पहले कहे हुये अनुसार कोई बाधक प्रमाण नहीं है यह हेतु है। किस के समान अपने अनुभव में आते हुए सुख-दुःख आदि के समान यह दृष्टान्त है। इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त रूप से तीन अंगों का धारक अनुमान जानना चाहिये। अथवा सर्वज्ञ के

सद्भाव का साधक दूसरा अनुमान कहते हैं। राम और रावण आदि काल से दूर वा ढके हुए पदार्थ, मेरु आदि देश से अन्तरित पदार्थ, भूत आदि अपने स्वभाव से ही ढके हुए पदार्थ तथा पर पुरुषों के चित्तों के विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थरूप (धर्मी हैं) 'किसी भी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष देखने में आते हैं' (यह उन राम रावणादि धर्मियों में सिद्ध करने योग्य धर्म है।) इस प्रकार धर्मी और धर्म के समुदाय से पक्षवचन अथवा प्रतिज्ञा है। राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष क्यों हैं ? इस शंका का परिहार करने के लिये 'अनुमान के विषय होने से' (यह हेतु वचन है।) किस के समान जो जो अनुमान का विषय है वह वह किसी के प्रत्यक्ष होता है जैसे, अग्नि आदि (यह अन्वय दृष्टान्त का वचन है।) और 'देशकाल आदि से अन्तरित पदार्थ भी अनुमान के विषय हैं' (यह उपनय का वचन है।) इसलिये "राम रावण आदि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं" (यह निगमन वाक्य है ।)

अब व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं—'जो किसी के भी प्रत्यक्ष नहीं होते वे अनुमान के विषय भी नहीं होते' जैसे कि, 'आकाश के पुष्प आदि' यह व्यतिरेक दृष्टान्त का वचन है। और राम रावण आदि अनुमान के विषय हैं, यह फिर उपनय का वचन है। इसलिये 'राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं 'यह निगमन वाक्य है। और 'राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, अनुमान के विषय होने से' यहां पर 'अनुमान के विषय होने से' यह जो हेतु है वह सर्वज्ञ रूप जो साध्य धर्म है उसमें सब तरह से रहता है इस कारण यह हेतु स्वरूपासिद्ध, भावासिद्ध तथा विशेषण आदि से असिद्ध नहीं है। तथा उक्त हेतु—सर्वज्ञरूप जो अपना पक्ष है उसको छोड़कर सर्वज्ञ के अभावरूप विपक्ष को सिद्ध नहीं करता है, इस कारण विरुद्ध भी नहीं है और जैसे 'सर्वज्ञ के सद्भावरूप अपने पक्ष में रहता है वैसे सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष में नहीं रहता है; इस कारण उक्त हे अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी भी नहीं है। और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं है ? इसलिये कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है। तथा सर्वज्ञ को न माननेवाले जो भट्ट और चार्वाक हैं, उन के लिये सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता है इस कारण अकिंचित्कर भी नहीं । इस प्रकार से 'अनुमान का विषय होने से' यह हेतु-वचन असिद्ध विरुद्ध, अनैकान्तिक अकिंचित्कररूप,हेतु के दूषणोंसे रहित है, इस कारण सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता ही है। इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूप से पांचों अंगोंवाला अनुमान जानना चाहिये।

तथा जैसे नेत्रहीन पुरुष को दर्पण के विद्यमान रहने पर भी प्रतिबिम्बों का

ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार नेत्रों के स्थानभूत सर्वज्ञता रूप गुण से रहित पुरुष को दर्पण के स्थानभूत जो वेदशास्त्र है उसमें कहे हुए जो प्रति-बिम्बोंके स्थानभूत परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थों का किसी भी समय ज्ञान नहीं होता। ऐसा ही कहा है कि—"जिस पुरुष के स्वयं बुद्धि नहीं है ? उस का शास्त्र क्या उपकार कर सकता है ? क्योंकि नेत्रों से रहित पुरुष का दर्पण क्या उपकार करेगा यानी कुछ उपकार नहीं कर सकता।१। इस प्रकार तीनों यहाँ संक्षेप से सर्वज्ञकी सिद्धि जाननी चाहिये। ऐसे पदस्थ, पिंडस्थ और रूपस्थ इन तीनों ध्यानों में ध्येयभूत(ध्यान करने योग्य) सकल परमात्मा श्रीजिनेन्द्र भट्टारक हैं, उन के व्याख्यानरूप से यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५० ॥

नोटः—अब सिद्धों के समान परमात्मस्वरूप में परमसमरसीभाववाले रूपातीत नामक निश्चय ध्यान की परम्परा से कारणभूत मुक्ति में प्राप्त हुए जो सिद्ध परमेष्ठी हैं, उनकी भक्ति रूप—"णमो सिद्धाणं" इस पद के बोलने रूप लक्षणवाले पदस्थध्यान के ध्येयभूत सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं:—

Nastachaturghatikarma darsanasukhajnanaviryamayah.
Subhadehasthah atma suddhah arhan vichintaniyah—(50).

Padapatha—णट्ठचदुघाइकम्मो Natthachadughaikammo, one who has destroyed the four Ghatiya karmas. दंसणसुहणाणवीरियमईओ Damsana-suha-nana-viriya-mayio, possessed of faith, happiness, knowledge and power. सुहदेहत्थो Suhadehattho, existing in an auspicious body. सुद्धो Suddho, pure. अप्पा Appa, soul. अरिहो Ariho, Arhan. विचिंतिज्जो Vichintijjo, to be meditated on.

50. That Pure soul existing in an auspicious body, possessed of (infinite) faith, happiness, knowledge and power which has destroyed the four Ghatiya Karmas, is to be meditated on as an Arhat.

COMMENTARY

The four kinds of Karma, viz., Jnanavaraniya, Darsanavaraniya, Mohaniya and Antaraya destroy the natural characteristics of a soul. For this reason, ;these are known as Ghatiya Karmas (destroying Karmas). (1) An Arhat is freed from these four kinds of Karmas, and consequently he possesses the following four excellent qualities, each ofwhich appears at the disappeara-

nce of each of the four Ghatiya Karmas : viz., perfect knowledg (arising from the destruction of Jnanavaraniya Karma), perfect faith (arising from the destruction of Darsanavaraniya Karma), infinite happiness (arising from the destruction of Mohaniya Karma) and infinite power (arising from the destruction of Antaraya Karma). An Arhat is, therefore, bereft of Jnanavaraniya, Darsanavaraniya, Mohaniya and Antaraya Karmas and possessed of infinite faith, knowledge, happiness and power. An Arhat is also Suddha (pure), as he is void of eighteen kind of faults, viz., hunger, thirst, fear, aversion, attachment, illusion, anxiety, old age, sickness, death, fatigue, perspiration, pride, displeasure, astonishment, birth, sleep and sorrow. ❀ From the realistic point of view an Arhat is without a body; but from the ordinary point of view, we speak of an Arhat to possess a body known as Audarika, which is brilliant as a thousand suns. †

An Arhat has one thousand and eight synonyms Vitaraga, Sarvajna, etc. According to Jainism, when an Arhat is conceived, is born, is first engaged in penances, is in a state of attaining perfect knowledge and is in the last stage of obtaining Nirvana, the gods Indra, etc., are said to worship him. These worshippings are technically known as Pancha-mahakalyana. ‡

❀ "क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् ।
जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः ।।
विस्मयो जननं निद्रा विषादोष्टादश स्मृताः ।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।।"
(Vorses quoted in Brahmadeva's Commentary)

† "निश्चयेनाशरीरोऽपि व्यवहारेण सप्तधातुरहितदिवाकरसहस्रभासुरपर-
मौदारिकशरीरत्वात् शुभदेहस्थः ।"
(Brahmadeva's Commentary).

‡ "इन्द्रादिभिर्विनिर्मितां गर्भावतरण-जन्माभिषेक निष्क्रमण-केवलज्ञानो-
त्पत्तिनिर्वाणाभिधानपञ्च-महाकल्याणरूपां पूजामर्हन्ति ।"

(Brahmadeva's Commentary).

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

अन्वयः—'णट्ठट्ठकम्मदेहो' शुभ-अशुभ-मन वचन और काय की क्रियारूप, द्वैत शब्द के अभिधेय-रूप (कहे जाने योग्य) कर्म समूह का नाश करने में समर्थ, निज शुद्ध आत्म स्वरूप की भावना से उत्पन्न रागादिविकल्परूप उपाध से रहित, परम आनन्द एक लक्षणवाला, सुन्दर मनोहर आनन्द को बहानेवाला, क्रियारहित और अद्वैत शब्द का वाच्य (कहे जानेवाला) परम ज्ञानकाण्ड द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म एवं औदारिक आदि पांच शरीरों को नष्ट करनेवाला होने से जो नष्ट-अष्ट कर्म देह है। 'लोयालोस्स जाणओ दट्ठा' पूर्वोक्त ज्ञानकाण्ड की भावना के फलस्वरूप पूर्ण निर्मल ज्ञान और दर्शन के द्वारा लोक तथा अलोक के भूत भविष्यत् और वर्तमान कालवर्ती सब पदार्थों से संबंध रखने वाले विशेष तथा सामान्य भाव को एक ही समय में जानने और देखनेवाला होने से लोक तथा अलोक का जानने वाला है। "पुरिसायारो" निश्चयनय की अपेक्षा इन्द्रियों के अगोचर मूर्ति रहित परमज्ञान के उछलने से भरे हुए शुद्ध स्वभाव से आकाररहित है, तो भी व्यवहार से भूतपूर्वनय की अपेक्षा अन्तिम शरीर से कुछ कम आकारवाला होने के कारण मोमरहित मूस के बीच के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिंब के समान पुरुष के आकार को धारण करनेवाला है। "अप्पा" पूर्वोक्त लक्षणवाला जो आत्मा है वह क्या कहलाता है 'सिद्धो' अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्ग-सिद्ध और मायासिद्ध आदि लौकिक (लोक में कहे जाने वाले) सिद्धों से विलक्षण केवलज्ञान आदि अनंतगुणों की प्रकटतारूप सिद्ध कहलाता है। 'झाएह लोयसिहरत्थो' लोक के शिखर पर विराजमान उस इस पूर्वोक्त लक्षणवाले सिद्ध परमेष्ठी को हे भव्यजनो! तुम देखे-सुने-अनुभव किये हुए जो पाँचों इन्द्रियों के भोग आदि समस्त मनोरथ रूप अनेक विकल्प समूह के त्याग द्वारा मन, वचन, काय की गुप्ति स्वरूप रूपातीत ध्यान में स्थित होकर ध्यावो ॥ ५१ ॥

अब उपाधि रहित शुद्ध-आत्म भावना की अनुभूति (अनुभव) का अविनाभूत (उस के बिना होने वाला) निश्चय पंच आधार रूप निश्चय ध्यान का परम्परा से कारण भूत, निश्चय तथा व्यवहार इन दोनों प्रकार के पाँच आचारों में परिणत (तत्पर वा तल्लीन) ऐसे आचार्य परमेष्ठी की भक्तिरूप और "णमो आयरियाणं" इस पदके उच्चारण

करने रूप लक्षण का धारक जो पदस्थध्यान है उस पदस्थध्यान के ध्येय भूत आचार्य परमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं।

Nastastakarmadehah lokalokasya jnayakah drasta.
Purusakarah atma siddhah dhyayeta lokasikharasthah—(51).

Padapatha—णट्ठट्ठकम्मदेहो Natthatthakammadeho, void of bodies, produced by eight kinds of Karma. लोयालोयस्स Loyaloyassa, of Loka and Aloka. जाणओ Janao, knower. दट्ठा Dattha, seer. पुरिसायारो Purisayaro, having the shape of a Purusa. लोयसिहरत्थो Loyasihara-ttho, staying at the summit of the universe. अप्पा Appa, soul. सिद्धो Siddho, Siddha. झाएह Jhaeha, meditate.

51. Meditate on the Siddha—the soul which is bereft of the bodies produced by eight kinds of Karma, which is the seer and knower of Loka and Aloka, which has a shape like a human being and which stays at the summit of the universe.

COMMENTARY

Really speaking, a siddha is without a body, and hence incapable of being perceived by the senses. But from the ordinary point of view, a Siddha is said to have a shadowy shape, resemling the figure of a human being † That is to say, the shape of a Siddha resembles a human figure, but is not clearly defined. The body is like the shadow of a human being. A Siddha may attain a higher stage which is the final one. A Siddha's body is therefore a little less than the final body.

A Siddha has not therefore a gross body which results from eight kinds of Karmas. He lives at the summit of Lokakasa, or the universe in a place called the Siddha-sila, beyond which Alokakasa begins. A Siddha, however, has knowledge of everything in Lokakasa and Alokakasa which existed in the past, eeists in the

---

† "निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमचिदुच्छलननिर्भरशुद्धस्वभावेन निराकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिदूनचरमशरीराकारेण गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद् वा पुरुषाकारः।"

(Brahmadeva's Commentary)

present or will exist in the future. ❀ Such is a Siddha according to Jainism, and he should be distinguished from persons ordinarily known as Siddhas, who attain wonderful powers †. In the Yoga philosophy, such powers are known as Bibhutis.

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥५२॥

अन्वयः—'दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे' सम्यग्दर्शनाचार और सम्यग्ज्ञानाचार है प्रधान जिनमें ऐसे वीर्याचार चारित्राचार और तपश्चरणाचार में "अप्पं परं च जुंजइ" अपनी आत्मा को और अन्य शिष्यजनो को जो लगाते हैं "सो आयरियो मुणी झेआ" वे पूर्वोक्त लक्षणवाले आचार्य तपोधन ध्यान करने योग्य होते हैं। उसी का भूतार्थ यानी निश्चयनय का विषयभूत, 'शुद्ध समयसार' इस शब्द से वाच्य (कहने योग्य) भावकर्म–द्रव्यकर्म–नोकर्म आदि समस्त पर-पदार्थों से भिन्न; और परम चैतन्य का विलास रूप लक्षणधारी निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है ऐसी रुचि होने रूप सम्यग्दर्शन है; उस सम्यग्दर्शन में जो आचरण अर्थात परिणमन करना है वह निश्चयदर्शनाचार है। १। उसी शुद्ध आत्मा के उपाधि रहित स्वसंवेदन (अपना अनुभव) रूप भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-राग आदि पर भावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है; उसमें आचरण (परिणमन) करना अर्थात् लगना वह निश्चयज्ञानाचार है। २। उसी शुद्ध आत्मा में राग आदि विकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुख के आस्वाद से निश्चल चित्त होना वीतरागचारित्र है, उसमें जो आचरण करना वह निश्चयचारित्राचार है। ३। समस्त परद्रव्यों की इच्छा के रोकने से तथा अनशन अवमौदर्य आदि बारह तप करने रूप बहिरंग सहकारी कारण द्वारा जो निज स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजयन है वह निश्चयतपश्चरण कहलाता है। उसमें जो आचरण यानी

❀ "लोकालोकगतत्रिकालवर्त्तिसमस्तवस्तुसम्बन्धिविशेषसामान्यस्वभावाना-मेकसमयज्ञापकदर्शकत्वात् ।"

(**Brahmadeva's Commentary**).

† "अञ्जनसिद्ध-पादुकासिद्ध-गुटिकासिद्ध-खड्गसिद्ध-मायासिद्धादिलौकिक सिद्ध-विलक्षणः ।"

(**Brahmadeva's Commentary**).

परिणमन है वह निश्चय तपश्चरणाचार है। ४। इन पूर्वोक्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरणरूप भेदों से चार प्रकार का जो निश्चय आचार है, उस की रक्षा के लिये अपनी शक्ति को नहीं छिपाना निश्चयवीर्याचार है। ५। ऐसे कहे हुए लक्षणों वाले निश्चयनय से पाँच प्रकार के आचार में, और इसी प्रकार "छत्तीसगुणों से सहित, पाँच प्रकार के आचार को करने का उपदेश देने वाले तथा शिष्यों पर अनुग्रह (कृपा) रखने में चतुर जो धर्माचार्य हैं उनकी मैं सदा वंदना करता हूं। १।" इस गाथा में कहे हुए क्रम के अनुसार मूलाचार भगवती आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से कहे हुए बहिरंगसहकारी कारणरूप जो व्यवहारनय से पांच प्रकारका आचार है उसमें जो अपने को तथा अन्य को लगाते हैं यानी स्वयं आप उस पंचाचारको साधते हैं और दूसरों से सधाते हैं वे आचार्य कहलाते हैं और वे आचार्य परमेष्ठी पदस्थ ध्यान में ध्यान करने योग्य हैं। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अब निज शुद्ध आत्मा में जो उत्तम अभ्यास करना है उसको निश्चय स्वाध्याय कहते हैं। उस निश्चयस्वाध्यायरूप निश्चयध्यान के परम्परा से कारणभूत, भेद, अभेद रूप रत्नत्रय आदि तत्त्वों का उपदेश करनेवाले परम उपाध्याय भक्ति स्वरूप "णमो उवज्झायाणं" इस पद के उच्चारणरूप पदस्थध्यान ध्येय (ध्यान करने योग्य) उपाध्याय परमेष्ठी हैं उन के स्वरूप का कथन कहते हैं:—

Darsanajnanapradhane Viryacharitravaratapachare.
Atmanam param cha yunakti Sa Acharyahmunih Dhyeyah (52).

Padapatha—दंसणणाणपहाणे Damsanananapahane, in which faith and knowledge are eminent. वीरियचारित्तवरतवायारे Viriyacharittavaratavayare, in the practice of Virya, Charitra and excellent Tapa. अप्पं Appam, himself. च Cha, and. परं Param, others. जुंजइ Junjai fixes. सो So, he. मुणी Muni, sage. आयरिओ Ayario, Acharya. झेओ Jheo, to be meditated.

52. That sage who attaches himself and others to the practice of Virya (Power), Charitra (Conduct) and Tapa (Penance) in which faith and knowledge are eminent is to be meditated, as Acharya (Preceptor).

COMMENTARY

An Acharya is one who practises the five Acharas (kinds of conduct) and advises his disciples to do the same. The five kinds of Acharas are Darsanachara, Jnanachara Charitrachara, Tapachara and Viryachara. Darsanachara is the turning of oneself to the faith that the soul, consisting of supreme consciousness, is separate from everything else and is the only thing to be meditated on. Jnanachara is the turning of oneself to attainment of the knowledge that the natural characteristics of the soul have no connection with delusion, etc., or attachment and aversion. Charitrachara consists in making the soul tranquil after freeing it from all kinds of disturbances arising from attachment, etc., so that it may enjoy perfect bliss. Tapachara consists in the practice of various kinds of penances by which one can conquer reprenensible desires and attain a true conception of the soul. Viryachara is giving full scope to one's inherent power, so the first four Acharas might not be hindered or destroyed. *

An Acharya is therefore one who is always engaged in all these five kinds of practices, and by precept as well as by example makes his disciples perform the same. Brahmadeva in his commentry quotes the following verse which gives the characteristics of an Acharya:—

"छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसंदरिसे।
सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिए सदा वंदे ॥"

---

* "समस्तपरद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यग्दर्शनम्, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः। तस्यैव शुद्धात्मनो···मिथ्यास्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छदनं सम्यक्ज्ञानं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः। तत्रैव रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखास्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रम्, तत्राचरण परिणमनं निश्चयचारित्राचारः। समस्तपरद्रव्येच्छा निरोधेन···स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः। तस्यैव निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थंस्वशक्त्यनवगूहनं निश्चयवीर्याचारः।"

(Brahmadeva's Commentary).

i. e., 'I always bow to Dharmacharya (the preceptor of religion) who possesses the thirty-six qualities, advises the practice of the five kinds of Acharas and is always kind to his disciples."

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाश्रो अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥ ५३ ॥

अन्वयः—"जो रयणत्तयजुत्तो" जो बाह्य, आभ्यन्तर रत्नत्रय के अनुष्ठान (साधने) से युक्त है। यानी—निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय को साधने में लगे हुए हैं, "णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो" जीव, अजीवादि छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों में निजशुद्ध आत्मा द्रव्य, निज-शुद्ध जीवास्तिकाय, निज-शुद्ध आत्मतत्त्व और निज शुद्ध आत्मपदार्थ ही उपादेय हैं, अन्य सब त्यागने योग्य हैं; इस विषय का तथा उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों का जो निरन्तर उपदेश देते हैं—वे नित्य धर्मोपदेश देने में तत्पर कहलाते हैं। वह "अप्पा" आत्मा "जदिवरवसहो" पांचों इन्द्रियों के विषयों को जीतने से निज-शुद्ध आत्मा में प्रयत्न करने में तत्पर ऐसे मुनीश्वरों में वृषभ अर्थात प्रधान ऐसे 'उवज्झाओ' उपाध्याय परमेष्ठी हैं "णमो तस्स" उन उपाध्याय परमेष्ठी को मेरा द्रव्य तथा भाव रूप नमस्कार हो। इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र पूर्ण हुआ ॥ ५३ ॥

अब निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चयध्यान का परंपरासे कारणभूत, बाह्य आभ्यन्तर-रूप मोक्षमार्ग का साधनेवाला और परमसाधुभक्ति स्वरूप जो "णमो लोए सव्वसाहूणं" इस पदके बोलने, जाप करने और ध्यान करने रूप जो पदस्थ ध्यान है उसके ध्येयभूत साधु परमेष्ठी हैं उनके स्वरूप को कहते हैं—

Yah ratnatrayayuktah nityam dharmopadesane niratah.
Sa upadhyayah atma yativaravrisabhah namastasmai—(53).

Padapatha—जो Jo, who रयणत्तयजुत्तो Rayanattaya-jutto, possessed of the three jewels. णिच्चं Nichcham, always. धम्मोवएसणे Dhammovaesane, in preaching religious truths. णिरदो Nirado, engaged. सो So, he. जदिवरवसहो Jadivaravasaho, the greatest of the great

sages. अप्पा Appa, soul. उवज्झाओ Uvajhaya, Upadhyaya (teacher). तस्स Tassa, to him. णमो Namo, salutation.

53. That being, the greatest of the great sages who being possessed of the three jewels is always engaged in preaching the religious truths, (known as) Upadhyaya (Teacher). Salutation to him.

COMMENTARY

Upadhyaya or Teacher is one who is always engaged in teaching others the tenets of Jainism. He is a man possessed of perfect faith, perfect knowledge and perfect conduct. From his preachings a person knows his duties and regulates himself by practising what is desirable and avoiding what is undesirable. The place of Upadhyaya is high among the Jaina sages, as he directly encourages practice of religion by continually preaching the principles of religion.

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥ ५४ ॥

अन्वय—"जो" जो 'हु' अच्छी तरह "दंसणणाणसमग्गं" वीतराग सम्यग्दर्शन और ज्ञान में परिपूर्ण, "मग्गं मोक्खस्स" मोक्ष का मार्ग (कारण) भूत, "णिच्चसुद्धं" सदा शुद्ध यानी—राग द्वेषादि रहित ऐसे "चारित्तं" चारित्रको "साधयदि" पालते हैं "साहू स मुणी" वे मुनि साधु हैं "णमो तस्स" पूर्वोक्त गुण सहित उस साधु परमेष्ठी को नमस्कार हो। स्पष्टीकरण—"दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनका जो उद्योतन उद्योग, निर्वहण, साधन और निस्तरण है उसको सत्पुरुषों ने आराधना कहा है। १।" इस आर्याछन्द में कही हुई बहिरंग-दर्शन, ज्ञान, चारित्र और आराधना के बल से तथा "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सत्तप ये चारों आत्मा में निवास करते हैं। इस कारण आत्मा ही मेरे शरणभूत है। १।" (बारस अणुवेक्खा। गा० १३।) इस गाथा में कही हुई निश्चयनय से अभ्यन्तर चार आराधना के बल से अर्थात् बाह्य मोक्ष मार्ग और अभ्यन्तर मोक्षमार्ग करके जो वीतरागचारित्र के अविनाभूत निज शुद्ध आत्मा

को साधते हैं अर्थात् भावते हैं; वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। उन ही के लिये मेरा स्वाभाविक शुद्ध सदानन्द की अनुभूति रूप भावनमस्कार तथा "णमो लोए सव्वसाहूणं" इस पदके उच्चारणरूप द्रव्य नमस्कार हो ॥ ५४ ॥

इस कहे हुए प्रकार से पाँच गाथाओं द्वारा मध्यमरूप से पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप का कथन किया गया है, यह जानना चाहिये। अथवा निश्चयनय से "अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचों परमेष्ठी हैं वे भी आत्मा में स्थित हैं; इस कारण आत्मा ही मुझे शरण है। १।" इस गाथा में कहे हुए क्रमानुसार संक्षेप से पञ्च परमेष्ठियों का स्वरूप जानना चाहिये। विस्तार से पञ्च परमेष्ठियों का स्वरूप पञ्च परमेष्ठी नामक ग्रन्थ में कहे हुए क्रम से जानना चाहिये। तथा अत्यन्त विस्तार से सिद्ध चक्र आदि देवों के पूजन विधिरूप जो मन्त्रवाद सम्बन्धी पञ्चनमस्कार माहात्म्य नामक ग्रन्थ है उस में पञ्च परमेष्ठियों का स्वरूप जानना चाहिये। इस प्रकार पांच गाथाओं से दूसरा स्थल समाप्त हुआ।

अब उसी ध्यान को विकल्पितनिश्चय और अविकल्पितनिश्चय रूप प्रकारान्तर से संक्षेप कर के कहते हैं। उस में गाथा के प्रथम पाद में ध्येय का लक्षण, द्वितीय पाद में ध्याता (ध्यान करने वाले) का लक्षण, तीसरे पाद में ध्यान का लक्षण और चौथे पाद से नयों के विभाग को कहता हूं। यह अभिप्राय को मन में धारण करके भगवान् श्री नेमिचन्द्र आचार्य सूत्र का प्रतिपादन करते हैं:—

Darsanajnana samagram margam moksasya yah hi charitram.
Sadhayati nityasuddham sadhuh sa munih namah tasmai—(54).

Padapatha—जो Jo, that. मुणी Muni, sage. दंसणणाणसमग्गं Damsana-nanasamaggam, with perfect faith and perfect knowledge. मोक्खस्स Mokkhassa, of liberation. मग्गं Maggam, path. णिच्चसुद्धं Nichchasuddham, always pure. चारित्तं Charittam, conduct. हु Hu, well. साधयदि Sadhayadi, practises. स Sa, he. साहू Sahu, Sadhu. तस्स Tassa, him. णमो Namo, obeisance.

54. That sage who practises well conduct—which is always pure and which is the path of liberation, with perfect faith and knowledge—is a Sadhu. Obeisance to him.

COMMENTARY

A Sadhu is one who is always active in attaining perfect con-

duct with perfect faith and perfect knowledge, and practises penances. The external effort of a Sadhu is seen when he tries to have perfect faith, knowledge and conduct, and practises excellent penances. * The internal effort of a Sadhu is made when he fixes his mind upon the soul itself, which is the only receptacle of perfect faith, knowledge and conduct and excellent penances. † A Sadhu is, therefore, one who is characterised by activity while moving in the path of liberation. This activity is solely directed to the attainment of means to liberation.

Herewith ends the detailed description of the characteristics of five kinds of Paramesthis, reverence to whom was inculcated in Verse 49. Brahmadeva in his commentary said that, though reverence to five Paramesthis is prescribed from the ordinary point of view, it is really the soul the substratum of the Paramesthis which is to be meditated upon. ‡

जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयतं तदाहु तं णिच्छयं झाणं ॥ ५५ ॥

अन्वयः—"लद्धूणय एयत्तं" ध्येय पदार्थ में एकाग्रचिन्ता का निरोध करके यानी—एकचित्त होकर 'जं किंचिवि चितंतो" जिस किसी ध्येय वस्तु का चिन्तवन करता हुआ "णिरीहवित्ती हवे जदा साहू" साधु जब निःपृह-वृत्तिवाला होता है "तदाहुतं तस्स

---

* "उद्योतनमुद्योगो निर्वहणं साधनं च निस्तरणम् ।
दृगवगमचरणतपसामाख्याताराधना सद्भिः ॥"

† "सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवो चेव ।
चउरो चिट्ठहि यादि तम्हा आदा हु मे सरणं ॥"

(Verse quoted in Brahmadeva's Commentary.)

‡ "अरिहासिद्धायरियाउवज्झयासाधुपंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहि यादे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥"

(Verses quoted in Brahmadeva's Commentary)

णिच्छयं ज्झाण' उस समय साधु के उस ध्यान को निश्चय ध्यान कहते हैं। "विस्तार से वर्णन" प्रश्न—गाथा में 'यत्किंचित् ध्येयम्' यानी—'जिस किसी भी ध्येय पदार्थ को' ऐसा पद है उस से क्या कहा गया है ? उत्तर—ध्यान आरम्भ करने की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय और कषायों को दूर करने के लिये तथा चित्त को स्थिर करने के लिये पञ्च परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं फिर जब अभ्यास से चित्त स्थिर हो जाता है तब शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव निज—शुद्ध आत्मा का स्वरूप ही ध्येय होता है। निःस्पृह शब्द से मिथ्यात्व, पुंवेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चौदह अन्तरंग परिग्रहों से रहित तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य दासी, दास, कुप्य और भांड नामक दश बहिरङ्ग परिग्रहों से रहित ध्यान करनेवाले का स्वरूप कहा गया है। और 'एकाग्रचिन्तानिरोध' वाक्य खण्ड द्वारा पूर्वोक्त नाना प्रकार के ध्यान करने योग्य पदार्थों में निश्चलता है उसको ध्यान का लक्षण कहा है। और 'निश्चय' शब्द से अभ्यास करने वाले पुरुष की अपेक्षा से व्यवहाररत्नत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिये। और जिस के ध्यान सिद्ध हो गया उस पुरुष की अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चय ग्रहण करना चाहिये। विशेष निश्चय आगे के सूत्र में कहा है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है ॥ ५५ ॥

ध्याता पुरुष शुभ-अशुभ मन, वचन, काय का निरोध करके पीछे जो आत्मा में स्थिर होता है वह आत्मा में स्थिर होना ही परम ध्यान है ऐसा उपदेश देते हैं:—

Yatkinchidapi chintayan nirihavrittih bhavati yada sadhuh,

Labdhva ekatvam tada ahuh tat tasya nischayam dhyanam—(55).

Padapatha—जदा Jada, when. साहू Sahu, Sadhu. एयत्तं Eyattam, concentration. लद्धूणय Laddhunaya, attaining. जंकिंचिवि Jamkinchivi, anything whatever. चिंतंतो Chintanto, meditating. णिरीहवित्ती Nirihvaitti, void of conscious effort. हवे Have, becomes. तदा Tada, then. तस्स Tassa, his. तं Tam, that. णिच्चयं Nichchayam, real. झाणं Jhanam, meditation. आहु: Ahuh, is called.

55. When a Sadhu attaining concentration becomes void of conscious effort by meditating on anything whatever, that state is called real meditation.

COMMENTARY

Brahmadeva in his commentary on this verse says that in the primary stage of meditation it is necessary to think of objects other than the ego. e. q., the five Paramesthis etc. to steady the mind. When the mind becomes steady by constant practice, as aforesaid, we can arrive at the second stage, where we meditate on the soul itself. * This is real meditation. In this stage, one is void of the ten kinds of external possessions and fourteen kinds of internal hindrances belonging to the mind. The external possessions are lands, houses, gold, silver, wealth, rice, male and female servants, metals other than gold and silver, and utensils. A person immersed in meditetion does not at all care about the attainment of all or any of these worldly possessions. At the same time, he is bereft of delusion, knowledge of the three kinds of sexes, langhtet, attachment, aversion, sorrow, fear,hatred, anger, illusion and greed † These cause the loss of equilibrium of the mind. A person being void of these can concentrate his mind upon anything, and thus attain excellent meditation.

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ।। ५६ ।।

अन्वयः—हे विवेकी पुरुषो ! "मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि" नित्य निरंजन और क्रिया रहित निज शुद्ध आत्मा के अनुभव को रोकने वाली शुभ-अशुभ

---

* "प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्तस्थिरी करणार्थं पञ्चपरमेष्ठयादिपरद्रव्यमपि ध्येयं भवति । पश्चादभ्यासवशेन स्थिरीभूते चित्ते सति शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमित्युक्तं भवति ।"

(Brahmadeva's Commentary.)

† "निष्पृहवचनेन पुनर्मिथ्यात्वं वेदत्रयं हास्यादिषट्कक्रोधादिचतुष्टयरूपचतुर्दशाभ्यन्तरपरिग्रहेण तथैव क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डाभिधानदशविधबहिरङ्गपरिग्रहेण च रहितं ध्यातृस्वरूपमुक्तं भवति ।"

(Brahmadeva's Commentary).

चेष्टारूप काय की क्रिया को तथा शुभ अशुभ-अन्तरंग बहिरंग रूप वचन को और शुभ-अशुभ विकल्प समूह रूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो " जेण होई थिरो" जिन मन वचन और काय रूप तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है। वह कौन ? "अप्पा" आत्मा। कैसे स्थिर होता है "अप्पम्मि रओ" स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो परमात्मतत्त्व के सम्यक्-श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप अभेदरत्नत्रयात्मक परम-ध्यान के अनुभव से उत्पन्न सर्व प्रदेशों को आनन्ददायक सुख के अनुभव रूप परिणतिसहित स्व-आत्मा में परिणत, तल्लीन, तन्मय तथा तच्चित्त हो कर स्थिर होता है "इणमेव परं हवे ज्झाणं" यही जो आत्मा के सुखरूप में परिणमन है वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है।

उस परमध्यान में स्थिर जीवों को जो वीतराग परमानंद सुख प्रतिभासता है वही निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप है। वह दूसरे पर्यायनामों से क्या क्या कहलाता है सो कहते हैं। वही शुद्ध आत्मा का स्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही एक देश में प्रकटता रूप विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय से निज शुद्ध आत्मानुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृतजल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित होने के कारण परमहंस स्वरूप है। परमात्मध्यान के भावना की नाम माला में इस एक देश व्यक्ति रूप शुद्धनय के व्याख्यान को यथासंभव सब जगह लगा लेना चाहिये। यानी ये सब नाम एकदेशशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से हैं।

वही परब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परम शिवरूप है, वही परम बुद्ध स्वरूप है. वही परमनिजस्वरूप है, वही परम निज आत्मा की उपलब्धिरूप सिद्ध है, वही निरंजनरूप है, वही निर्मल (कर्ममल रहित) स्वरूप है. वही स्वसंवेदन ज्ञान है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्म दर्शन है, वही परम (उत्कृष्ट) अवस्था स्वरूप है, वही परमात्म दर्शन है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मज्ञान है, वही ध्यान करने योग्य शुद्ध पारिणामिक भाव रूप है, वही ध्यान भावना रूप है, वही शुद्ध चारित्र है; वही अन्तरंग तत्त्व है; वही परम-तत्त्व है; वही शुद्ध आत्म द्रव्य है, वही परमज्योति है, वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है; वही आत्मा द्रव्य है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्म संवित्ति यानी—आत्म संवेदन है, वही निज आत्मस्वरूप की प्राप्ति है; वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही परम समाधि है, परम आनन्द है, वही नित्य आनन्द है, वही स्वाभाविक आनन्द है, वही सदानंद है, वही शुद्ध आत्म पदार्थ के पठन-रूप है, वही परम-स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है; वही एकाग्रचिंताओं का निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध उपयोग है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही

निश्चयनय के अनुसार जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप और वीर्यरूप पांच प्रकार के आचार स्वरूप है, वही समयसार है, वही समता आदि निश्चय ६ आवश्यक रूप है, वही केवल ज्ञानोत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मों के क्षयका कारण है, वही निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आराधना-स्वरूप है, वही परमात्म-भावनारूप है, वही शुद्धात्म-भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूतिरूप परमकला है, वही दिव्य कला है, वही परम अद्वैत है, वही अमृत स्वरूप परम धर्मध्यान है, वही शुक्ल ध्यान है, वही राग आदि विकल्परहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है; वही परम स्वास्थ्य है,वही परम वीतरागता है, वही परम समता है, वही परमएकत्व है, वही परम भेदज्ञान है, वही परम-समरसीभाव है। इत्यादि समस्त रागादिविकल्प-उपाधिरहित,परम आल्हादक सुख लक्षण ध्यान-स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहनेवाले अन्य भी बहुत से पर्याय नाम जान लेने चाहिये ॥ ५६ ॥

अब इसके आगे यद्यपि पहिले ध्यान करनेवाले पुरुष का लक्षण और ध्यान की सामग्री का कई प्रकार से वर्णन कर चुके हैं, फिर भी चूलिका तथा उपसंहार रूप से फिर भी ध्याता पुरुष और ध्यानसामग्री को कहते हैं:—

Ma chestata ma jalpata ma chintayata kimapi yena bhavati sthirah.
Atma atmani ratah idameva param bhavati dhyanam—(56).

Padopatha—किंवि Kiinvi, anything. मा Ma, do not. चिट्ठह Chitthaha, act. मा Ma, do not. जंपह Jampaha, talk. मा Ma, do not. चिंतह Chintaha, think. जेण Jena, by which. अप्पा Appa, soul. अप्पम्मि Appammi, in the soul. रओ Rao, attached. थिरो Thiro, fixed. होइ Hoi. becomes. इणम् Inam, this. एव Eva, surely. परं Param, excellent. ज्झाणं Jihanam, meditation. हवे Have, is.

56. Do not act, do not talk, do not think, so that the soul may be attached to and fixed in itself. This only is excellent meditation.

COMMENTARY

To attain excellent Dhyana (meditation), one should turn all his faculties inwards, and restrain all outward movement of the same. First of all, it is necessary to stop all actions and refrain from talk and thought of anything else. Then the soul should turn upon itself and begin to meditate on its own nature. This is Dhyana. To reach this stage, one must first check all activities of

body, mind and speech which produce disquietude of the soul, for it is impossible to arrive at the quiet stage necessary for meditation if we do not first check the disturbing elements.

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥ ५७ ॥

अन्वयः—"तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा" क्योंकि तप, श्रुत और व्रतधारी आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने के लिये समर्थ होता है। "तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह" इस कारण से हे भव्यो ! उस ध्यान को पाने के लिये तप श्रुत और व्रतों में सदा लीन हो जाओ। विशेष वर्णन—अनशन (उपवास का करना) १, अवमौदर्य्य (कम भोजन करना) २, वृत्तिपरिसंख्यान (अटपटी आखड़ी करके भोजन करने जाना) ३, रसपरित्याग (दूध, दही, घी, तेल, खांड और नमक इन छह रसों में से एक दो आदि रसों का त्याग करना) ४, विविक्तशय्यासन (निर्जन और एकान्त स्थल में शयन करना, रहना, बैठना) ५, कायक्लेश (शरीर को आत्मशुद्धि के लिये कष्ट देना) ६, यह छह प्रकार का बाह्य तप और प्रायश्चित्त १, विनय २, वैयावृत्य (सेवा करना) ३, स्वाध्याय ४, कायोत्सर्ग (खड़े होकर जाप करना) ५ और ध्यान ६ यह छह प्रकार का अन्तरंग तप ऐसे बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों बारह प्रकार के व्यवहार तप है। उसी व्यवहार तप से सिद्ध होने योग्य निज-शुद्ध-आत्म स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चयतप है। इसी प्रकार मूलाचार, भगवती आराधना आदि द्रव्यश्रुत तथा उन शास्त्रों के आधार से (पठन पाठन से) उत्पन्न विकाररहित जिन शुद्ध स्वसंवेदन-रूप ज्ञान भावश्रुत है। तथा इसी प्रकार द्रव्य, भावरूप हिंसा, अनृत, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह के त्यागरूप पांच व्रत हैं। ऐसे पूर्वोक्त तप, श्रुत और व्रत से सहित पुरुष ध्याता (ध्यान करने वाला) होता है और तप, श्रुत तथा व्रत-रूप ही ध्यान की सामग्री है। सो ही कहा कि "वैराग्य, तत्त्वों का ज्ञान, परिग्रहों का त्याग, साम्यभाव और परीषहों का जीतना ये पांच ध्यान के कारण हैं॥ १ ॥"

शंका—भगवान ! ध्यान तो मोक्ष का कारण है मोक्ष चाहनेवाले पुरुष को पुण्यबंध के कारण होने से व्रत त्यागने योग्य हैं (व्रतों से पुण्य कर्म का बंध होता है। पुण्यबंध संसार का कारण है, इस कारण मोक्षार्थी व्रतों का त्याग करता है) किन्तु आपने तप,

श्रुत और व्रतों को ध्यान की सामग्री बतलाया है सो यह आप का कथन कैसे सिद्ध होता है ?

उत्तर—केवल व्रत ही त्यागने योग्य नहीं हैं किन्तु पापबंध के कारण हिंसा आदि अव्रत भी त्याज्य हैं। सो ही श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है अव्रतों से पाप का बंध और व्रतों से पुण्य का बंध होता है, पाप तथा पुण्य इन दोनों का नाश होना मोक्ष है, इस कारण मोक्षार्थी पुरुष जैसे अव्रतों का त्याग करता है वैसे ही अहिंसादि व्रतों का भी त्याग करे। १। (समाधिशतक ॥ ८३ ॥) परन्तु मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्याग करके पश्चात् व्रतों का धारक होकर निर्विकल्प-समाधि (ध्यान) रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेशव्रतों का भी त्याग कर देता है। यह भी श्री पूज्यपाद स्वामी ने समाधिकशतक में कहा है, "मोक्ष चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर परमात्मपद प्राप्त करे और परम पद पाकर उन व्रतों का भी त्याग करे। १।" समाधिशतक (८४)

विशेष यह है कि, ध्यान में व्यवहार रूप प्रसिद्ध एकदेश व्रतों का त्याग किया है। किन्तु समस्त त्रिगुप्तिरूप स्व-शुद्ध-आत्म-अनुभवरूप निर्विकल्प ध्यान में शुभ, अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत स्वीकार किये गये हैं, उनका त्याग नहीं किया गया है।

प्रश्न—प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत हैं वे एकदेशरूप कैसे हो गये ?

उत्तर—यह है कि, अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात से निर्वृत्ति है, तथापि जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रत में यद्यपि असत्य वचन का त्याग है, तो भी सत्य वचन में प्रवृत्ति है। और अचौर्य महाव्रत में यद्यपि बिना दिये हुए पदार्थ के ग्रहण का त्याग है, तो भी दिये हुए पदार्थ (पीछी कमण्डल शास्त्र) के ग्रहण करने में प्रवृत्ति है, इत्यादि एकदेशप्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पांचों महाव्रत देशव्रत हैं। इन एकदेशरूप व्रतों का गुप्ति स्वरूप निर्विकल्प ध्यान के समय में त्याग है। किन्तु समस्त शुभ, अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत का त्याग नहीं है।

प्रश्न—त्याग शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जैसे हिंसा आदि पांच अव्रतों की निवृत्ति है उसी प्रकार अहिंसा आदि पंचमहाव्रत रूप एकदेशव्रत उनकी निवृत्ति है, यही यहाँ त्याग शब्द का अर्थ है।

शंका—इन एकदेशव्रतों का त्याग किस कारण होता है ?

उत्तर—यह है कि, गुप्तिरूप अवस्था में प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विकल्प को रञ्चमात्र स्थान नहीं है। यानी—ध्यान में कोई भी विकल्प नहीं होता। अहिंसादिक महाव्रत

विकल्प रूप हैं अतः वे ध्यान में नहीं रह सकते। अथवा वास्तव में वह निर्विकल्प ध्यान ही निश्चय व्रत है। और जो दीक्षा के बाद दो घड़ी (४८ मिनट) काल में ही भरत चक्रवर्ती ने मोक्ष प्राप्त की है उन्होंने भी जिन-दीक्षा ग्रहण करके थोड़े समय तक विषय और कषायों की निवृत्तिरूप जो व्रत का परिणाम है उसको करके तदनन्तर शुद्धोपयोगरूप, रत्नत्रय-स्वरूप निश्चय व्रत नामक वीतराग सामायिक नाम-धारक निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं। परन्तु भरत के जो थोड़े समयव्रत परिणाम रहा, इस कारण लोग श्री भरतजी के व्रतपरिणाम को नहीं जानते हैं। अब उन ही भरतजी की दीक्षा के विधान का कथन करते हैं। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेवके समवसरणमें श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! भरतचक्रवर्ती को जिनदीक्षा लेने के पीछे कितने समय में केवलज्ञान हुआ? उत्तर में श्री गौतम गणधरदेव बोले कि "हे श्रेणिक! पांच मुष्टियोंसे बालों को उखाड़ कर (केश लोंच करके) कर्मबन्ध की स्थितियों को तोड़ते हुए, केश लोंच के अनन्तर ही भरत चक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। १।"

प्रश्न—यहां शिष्य कहता है इस पंचम काल में ध्यान नहीं है। क्योंकि इस काल में उत्तम संहनन(वज्रऋषभ नाराच संहनन)का अभाव है तथा दश एवं चौदहपूर्व श्रुतज्ञान भी नहीं पाया जाता? उत्तर-इस समय शुक्लध्यान नहीं है परन्तु धर्मध्यान तो है ही। सो ही श्रीकुन्दकुन्दाचार्य मोक्षप्राभृत (मोक्षपाहुड)में कहते हैं कि, "भरत क्षेत्रमें इस समय दुःषमा नामक पंचमकाल में ज्ञानी जीवके धर्म ध्यान होता है। उसको जो कोई आत्मा के स्वभाव में स्थित नहीं मानता है वह अज्ञानी है। १।" क्योंकि इस समय भी जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्ररूप रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्माका ध्यान करके इन्द्रपद अथवा लोकान्तिकदेव पदको प्राप्त होते हैं और वहां से चलकर नरदेह ग्रहण करके मोक्ष को जाते हैं। २।", ऐसा ही तत्त्वानुशासन ग्रंथ में भी कहा है कि, इस समय (पञ्चमकाल) में जिनेन्द्र देव शुक्ल-ध्यान का निषेध करते हैं; किन्तु उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणी से पहिले रहनेवाले जीवों के धर्म-ध्यान होना कहते हैं। १।" तथा—जो यह कहा कि 'इस काल में उत्तम संहननका अभाव है। इस कारण ध्यान नहीं होता' सो यह उत्सर्ग-वचन है। अपवादरूप व्याख्यान से तो उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी में शुक्ल ध्यान होता है और वह उत्तम संहनन से ही होता है। और अपूर्वकरण (८ वें) गुणस्थान से जो नीचे के गुणस्थान हैं। उनमें धर्मध्यान होता है। वह धर्मध्यान पहले तीन उत्तम संहननों के अभाव होने पर भी अन्तिम जो अर्द्धनाराच, कीलक, और स्फाटिक इन तीन संहननों से भी होता है। यह भी उसी तत्त्वानुशासन ग्रंथ में कहा है—"वज्रकाय (संहनन) के धारक के

ध्यान होता है ऐसा जो आगम में वचन है वह उपशम तथा क्षपक श्रेणी के ध्यान की अपेक्षा कहा है यह वचन नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान का निषेधक नहीं है।" तथा जो ऐसा कहा है कि, 'दश तथा चौदहपूर्व तक श्रुतज्ञान से ध्यान होता है' वह भी उत्सर्ग-वचन है अपवाद व्याख्यान से तो पांच समिति और तीन गुप्ति को प्रतिपादन करनेवाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान और केवलज्ञान होता है। जो ऐसा अपवाद व्याख्यान न हो तो "तुष माषका उच्चारण करते हुए श्री शिवभूति मुनि केवलज्ञानी हो गये" इत्यादि गंधर्वाराधनादि ग्रथोंमें कहा हुआ कथन कैसे सिद्ध होवे।

शंका—श्रीशिवभूतिमुनि पांच समिति और तीन गुप्तियों को प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यश्रुत को जानते थे और भावश्रुत उनके पूर्ण रूपसे था। उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि यदि शिवभूति मुनि पांच समिति और तीन गुप्तियों का कथन करनेवाले द्रव्यश्रुत को जानते थे तो उन्होंने "मा तूसह मा रूसह" अर्थात 'किसी में राग और द्वेष मत कर' इस एक पद को क्यों नहीं जाना। इसी कारण से जाना जाता है कि पांच समिति और तीन गुप्तियों रूप जो आठ प्रवचन मातायें हैं उन प्रमाण ही उनके भाव श्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था। यह व्याख्यान मैंने ही कल्पित नहीं किया है; किन्तु 'चारित्रसार' आदि शास्त्रों में भी यह वर्णन किया हुआ है। देखिये अन्तर्मुहूर्त में जो केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं वे क्षीणकषाय (१२वें) गुणस्थान में रहने वाले निर्ग्रंथ नामक ऋषि कहलाते हैं और उनके उत्कृष्टता से ग्यारह अंग चौदह पूर्वपर्यन्त श्रुत ज्ञान होता है, और जघन्य रूप से 'पांच' समिति तीन गुप्ति मात्र ही श्रुतज्ञान होता है।

यह ऐसा विचार हो कि,—मोक्षके लिये ध्यान किया जाता है और मोक्ष इस पञ्चमकालमें होती नहीं है इस कारण ध्यान के करने से क्या प्रयोजन? सो यह विचार भी ठीक नहीं, क्योंकि इस पंचमकाल में भी परम्परा से मोक्ष है। प्रश्न—परम्परा से मोक्ष कैसे है? उत्तर—ध्यानी पुरुष निज शुद्ध आत्मा की भावना के बल से संसार की स्थिति को अल्प करके स्वर्ग में जाता है। वहां से मनुष्यभव में आकर रत्नत्रय की भावना को प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्ष को चला जाता है। जो भरत चक्रवर्ती, सागर चक्रवर्ती, रामचन्द्र तथा पाण्डव युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम आदि मोक्ष को गये हैं; उन्होंने भी पूर्व भव में अभेदरत्नत्रय की भवना से अपने संसार की स्थिति को घटा लिया था, इस कारण उसी भव में मोक्ष गये पर उसी भव में सब के मोक्ष हो जाता है ऐसा नियम नहीं। ऐसे कहे हुए प्रकार से अल्प श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। यह जान कर क्या करना चाहिये? द्वेष से किसी को मारने बाँधने, किसी के अंग को काटने आदि का और

राग से पर स्त्री आदि का जो चिन्तवन करना है उसको जिनमत में निर्मल बुद्धि के धारक आचार्य अपध्यान कहते हैं। १। (रत्नकरण्डश्रावकाचार । ७८।) हे जीव! संकल्परूपी कल्प वृक्ष का आश्रय करने से तेरा चंचल चित्त इस मनोरथरूपी सागर में डूब जाता है, वैसे संकल्पों से वास्तव में जीव का कुछ प्रयोजन नहीं सधता, प्रत्युत पापकर्मका समागम होता है। तू अभाग्य से दुःखी है और विविध संकल्प विकल्पों से भोग भोगने की धुन में तेरा मन व्यर्थ तरंगें उठाता रहता है। वैसे ही यदि वह मन परमात्मा नामक ठीक स्थानमें विचरे तो तेरा जन्म कैसे निष्फल हो? अर्थात् तेरा जन्म लेना सफल हो जावे।३। कषायों से मलीन हुआ और काम भोगों में मूर्छित हुआ यह जीव काम भोगों की इच्छा करता है, और भोगों को भोगता नहीं है तो भी भावों से कर्मों को बांधता है। ४।" इत्यादि रूप दुर्ध्यान को छोड़कर 'निर्ममत्व में स्थित होकर अन्य पदार्थों में जो ममता बुद्धि का मैं त्याग करता हूँ, और मेरा आत्मा ही अवलम्बन है अन्य सबको मैं त्यागता हूं ॥ १ ॥ मेरा आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर का कारण है और आत्मा ही योग है। २। ज्ञान दर्शन का धारक मेरा एक आत्मा ही अविनाशी है और शेष सब संयोग लक्षण वाले बाह्य भाव हैं, उनका वियोग अवश्य होगा ॥ ३ ॥ "इत्यादि सारभूत पदों को ग्रहण करके ध्यान करना चाहिये।

अब मोक्ष के विषय में फिर भी नय विचार को कहते हैं कि मोक्ष बन्धपूर्वक है, यानी—जिसका पहले बन्ध होता है उसी को मोक्ष होता है। सो ही कहा है कि, यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बंध अवश्य होना चाहिये। क्योंकि यदि बन्ध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है? इसलिये अबद्ध (न बंधे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती उसके तो मुच् धातु (छूटने की वाचक) का प्रयोग व्यर्थ होता है। तात्पर्य— जैसे कोई मनुष्य पहले बंधा हुआ हो और फिर छूटे तब वह मुक्त कहलाता है। इसी प्रकार जो पहले कर्मों से बंधा हुआ होता है। उसी का मोक्ष होता है। यह बंध शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा से नहीं है। तथा बन्धपूर्वक मोक्ष भी शुद्ध-निश्चयनय से नहीं है। यदि शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही इस आत्मा के बन्ध होता रहे, मोक्ष हो ही नहीं। जैसे जंजीर से बंधे हुए पुरुष के, बंध के नाश का कारणभूत जो भाव मोक्ष है उसकी जगह जो जंजीर के बंधन को छेदने का कारणभूत उद्यम है वह पुरुष का स्वरूप नहीं है। और इसी प्रकार द्रव्य मोक्ष का जगत् में जो जंजीर और पुरुष इन दोनों का अलग होना है वह भी पुरुष का स्वरूप नहीं है, किन्तु उन उद्यम और जंजीर

के छुटकारे से जुदा जो देखा हुआ हस्त पाद आदि रूप आकार है, वही पुरुष का स्वरूप है। उसी प्रकार शुद्धोपयोगरूप जो भावमोक्ष का स्वरूप है वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव का स्वरूप नहीं है और उसी तरह उस भावमोक्ष से साध्य जो जीव और कर्म के प्रदेशों को पृथक् करने रूप द्रव्य मोक्ष का स्वरूप है, वह भी जीव का स्वभाव नहीं है। किन्तु उन भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष से भिन्न जो फलभूत ज्ञान आदि गुणरूप स्वभाव है; वही शुद्ध जीव का स्वरूप है। यहाँ तात्पर्य यह है कि, जैसे विवक्षित एकदेशशुद्ध-निश्चय-नय से पहले मोक्ष मार्ग का व्याख्यान किया है; उसी प्रकार पर्याय मोक्षरूप मोक्ष भी है। शुद्ध-निश्चयनय से नहीं है। जो शुद्ध द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप परमनिश्चय मोक्ष है। वह तो जीव में पहले ही विद्यमान है,वह परमनिश्चय मोक्ष जीव में अब होगी ऐसा नहीं है। राग आदि विकल्पों से रहित मोक्ष का कारणभूत ध्यान भावना पर्याय में वही मोक्ष ध्येय होता है, ध्यान भावनापर्यायरूप ध्येय वह निश्चयमोक्ष नहीं है। यदि एकान्त करके द्रव्यार्थिक नयसे भी वही मोक्षकारणभूत ध्यान भावना पर्याय कहा जावे तो, द्रव्य और पर्यायरूप दो धर्मों के आधार जीव (धर्मी) के मोक्ष पर्याय प्रकट होने पर जैसे ध्यानभावना पर्याय रूप से विनाश होता है, उसी प्रकार ध्येयभूत जो जीव है उस का शुद्ध पारिणामिक लक्षण भावद्रव्यरूप से भी विनाश प्राप्त होगा। और द्रव्यरूप से विनाश होता नहीं है। इस कारण शुद्धपारिणामिक भाव से जीव के बंध और मोक्ष नहीं होता है; यह कथन सिद्ध हो गया।

अब 'आत्मा' शब्दका अर्थ कहते हैं। अत धातु निरन्तरगमन करने रूप अर्थ में है और 'सब गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं',इस वचन से यहाँपर 'गमन' शब्द से ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान सुख आदि गुणों में सब तरह से वर्त्तता है वह 'आत्मा' है (आ-समन्तात अतति इति आत्मा)। अथवा शुभ-अशुभ रूप जो मन, वचन, काय की क्रिया हैं उनके द्वारा यथासंभव तीव्र मन्द आदि रूप से जो पूर्ण रूप से वर्त्तता है वह आत्मा कहलाता है। अथवा उत्पाद,व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों से जो पूर्णरूप से वर्त्तता है उसको आत्मा कहते हैं। आशंका—कि, जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जल के भरे हुए घटों में देखा जाता है इसी प्रकार एक ही जीव अनेक शरीरों में रहता है।

उत्तर—यह कथन घटता नहीं। क्यों नहीं घटता ? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि जल के घटों में चन्द्रमा की किरण रूप उपाधि के वश से घट में विद्यमान जो जल के पुद्गल हैं वे ही अनेक प्रकारके चन्द्रमारूप आकारोंमें परिणत हुए हैं,एकचन्द्रमा अनेकरूप

नहीं परिणमा है। इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं जैसे—देवदत्त के मुखरूप उपाधि के वश से अनेक दर्पणों में स्थित जो पुद्गल हैं वे ही अनेक मुखरूप परिणमते हैं, एक देवदत्त का मुख अनेकरूप नहीं हो जाता है। यदि कहो कि, देवदत्त का मुख ही अनेक मुख रूप परिणमता है तो दर्पण स्थित जो देवदत्त के मुख का प्रतिबिम्ब है सो वह देवदत्त के मुख की तरह चेतन (सजीव) हो जायगा, परन्तु ऐसा नहीं अर्थात् दर्पण में जो मुख का प्रतिबिम्ब है वह चेतन नहीं है। तथाच यदि अनेक शरीरों में एक ही जीव हो तो जब एक जीव को सुख, दुःख, जीवित और मरण आदि प्राप्त होवें तब उसी क्षण में सब जीवों को सुख, दुःख, जीवित और मरण आदि प्राप्त होने चाहियें किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता।

अथवा जो ऐसा कहते हैं कि, 'जैसे एक ही समुद्र कहीं तो खारे जल वाला है, कहीं मीठे जल वाला है, उसी प्रकार एक ही जीव सब देहों में विद्यमान है' सो यह कहना भी भी घटित नहीं होता। क्यों नहीं घटता ? यह भी देखिये कि, समुद्र में जलराशि की अपेक्षा से एकता है, जल के पुद्गलों की अपेक्षा से एकता नहीं है। यदि जल-पुद्गलों की अपेक्षा से एकता होती तो समुद्र में से थोड़ा जल ग्रहण करने पर शेष (बचा हुआ) जल भी साथ ही क्यों न आ जाता। इस कारण सोलह वानी के सुवर्ण की राशि के समान अनन्तज्ञान आदि लक्षण की अपेक्षा जीवराशि में एकता है और एक जीव की अपेक्षा से जीवराशि में एकता नहीं है। अब अध्यात्मक शब्द का अर्थ कहते हैं। मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्प समूह को त्यागकर जो निज शुद्ध आत्मा में अनुष्ठान (प्रवृत्ति का करना) है उसको 'अध्यात्म' कहते हैं। इस प्रकार ध्यान की सामग्री के व्याख्यान के उपसंहाररूप से यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५७ ॥

Tapahsrutavratavan cheta dhyanarathadhurandharah bhavati yasmat.
Tasmat tattritayaniratah tallabdhai sada bhabata—(57).

Padapatha—जम्हा Jamha, because. तवसुदवदवं Tavasudavadavam, possessed of Tapa, Sruta and Vrata. चेदा Cheda, soul. ज्झाणरहधुरंधरो Jihanarahadhurandharo, the holder of the axle of the chariot of Dhyana. हवे Have, is. तम्हा Tamha, therefore. तल्लद्धीए Talladdhie, to attain that. सदा Sada, always. तत्तियणिरदा Tattiyanirada, engaged in these three. होह Hoha, become.

57. As a soul which (practises) penances, (holds) vows and (has knowledge of) scriptures, becomes capable of holding the axle of the chariot of meditation, so to attain that (meditation) be always engaged in these three (i. e., penances, vows and Sastras.)

COMMENTARY

It is said that only he who practises penances, keeps vows and acquires knowledge of scriptures, becomes capable of practising meditation by concentrating his mind on the inward soul. Therefore, it is absolutely necessary for one who wishes to practise meditation to turn himself first of all towards the practice of penances, keeping of vows and knowing the scriptures.

The twelve kinds of penances (Tapa), six external (Vahya) and six interal (Abhyantara)and the five kinds of Vrata have been described in Verse 35.

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥ ५८ ॥

अन्वयः—"सोधयंतु" शुद्ध करें, कौन शुद्ध करें ? "मुणिणाहा" मुनियों में प्रधान अर्थात् आचार्य । कैसे हैं वे आचार्य ? "दोससंचयचुदा" दोषरहित परमात्मा से विलक्षण जो राग आदि दोष हैं, उनसे तथा निर्दोष परमात्मा आदि तत्त्वों के जानने में जो संशय, विमोह और विभ्रमरूप दोष हैं, उस से रहित हैं, फिर कैसे हैं "सुदपुण्णा" विद्यमान परमागम नामक द्रव्यश्रुत से तथा उन परमागम के आधार से उत्पन्न निर्विकार-निज आत्मा अनुभव रूप भावश्रुत से परिपूर्ण है। किस को शुद्ध करें ? "दव्वसंगहमिणं" शुद्ध-बुद्ध-एकभाव परमात्मा आदि द्रव्योंके संग्रह रूप इस सामने विद्यमान 'द्रव्यसंग्रह' ग्रंथको। कैसे द्रव्य-संग्रह को ? "भणियं जं" जिस ग्रंथ को बनाया है। किस ने बनाया है ? "णेमिचन्दमुणिणा" सम्यग्दर्शनआदि निश्चय व्यवहाररूप पंच आचार सहित आचार्य 'श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव' नामक मुनिने। कैसे नेमिचन्द्र आचार्य ने ? "तणु-सुत्तधरेण" अल्पश्रुतज्ञानी ने। इस प्रकार क्रिया और कारकों का सम्बन्ध है। इस प्रकार

ध्यानके उपसंहाररूप तीन गाथाओं से तथा ज्ञान-अभिमानके परिहार के लिये एक प्राकृत छन्द से द्वितीय अन्तराधिकारमें तृतीय स्थल समाप्त हुआ ॥ ५८ ॥

एतद् द्रव्यसंग्रह सूत्र सविस्तर कर्नाटक विवर्ण रूप श्रौतु ।
जन हृदयानंद कारित स्वर्गापवर्ग सुख संपाद्य ॥

इस प्रकार द्रव्यसंग्रह सूत्र पर लिखी हुई विवरण सहित भावनासार नामक कानडी की हिंदी टीका की विवरण रूपी श्रोत भव्य श्रोताजन के हृदय को आल्हादित अर्थात् आनंदकारी करके स्वर्गापवर्ग सुख को देने वाले हैं । अर्थात् यह भावनासार मोक्ष का निबंधन सम्यग्दर्शन का प्रकट करने में मुख्य होने के कारण संसारी भव्य जन के भव भव से चले आये भव रोग को नष्ट करने के लिये औषधि के समान है।

शारीणार्दज्वर कुष्टाद्याः, क्रोधाधाः मानसास्मृताः ।
आतंक तोभि द्यातार्था, रुजाक्षुध तृषादयाः ॥

इत्यादि दुःख रूप अनंत संसार को विच्छेद करने वाले हैं।

यैः शैवं वा वाहं साक मनोमं, इंदिया विषयातीतं ।
उत्त च पंच शेष संसार, तिविहं सूत्र स्वरूपत्रि मोक्ष प्रप्ति ॥

यह सूत्र मोक्ष प्राप्ति का प्रधान कारण है। अलौकिक सुख को प्रदान करने वाला है। भव्य जीव जो इसका पठन पाठन करते हैं उनके अज्ञान का नाश करने वाला है। यह सुन्दर ग्रन्थ की टीका १७८१ शकाब्द में श्री पुट्टैय्या स्वामी ने किया है।

सिद्धार्थ नाम संवत्सर में फाल्गुण बदी ८ को ग्रंथ पूर्ण हुआ। इन्द्रवर्ग के श्री पुट्टैया स्वामी ने इस ग्रन्थ की टीका भावनासार नाम से निर्माण की थी।

परमपूज्य आचार्य श्री १०८ देशभूषण जी महाराज ने कर्नाटक भाषा की ताड़पत्र प्रति पर से हिन्दी भाषा में अनुवाद किया।

यह ग्रन्थ असाढ़ सुदी अष्टमी वीर सं० २४८२ रविवार को देहली में पूर्ण हुआ।

शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

❀ इति ग्रंथं समाप्तः ❀

Dravya-samgrahamidam munninathah Dosa-sanchaya-chyutah srutapurna.
Sodhayantu tanusutradharena, Nemichandramunina bhanitam yat—(58).

Padapatha—तणुसुत्तधरेण Tanusuttadharena, whose knowledge of Sastras is very little. णेमिचंदमुणिणा Nemichandamunina, the sage Nemichandra. जं Jam, which. इणं Inam, this. दव्वसंगहं Davva-samgaham, Dravyasamgraha. भणियं Bhaniyam, told. सुदपुण्णा Sudapunna, full of the (knowledge of Sastras). दोससंचयचुदा Dosa-samchayachuda, void of the collection of faults. मुणिणाहा Muni-naha, the great sages. सोधयंतु Sodhayantu, correct.

58. Let the great sages, full of the (knowledge) of Sastras and freed from the collection of faults, correct this Dravya—sam-graha, which is spoken by the sage Nemichandra who has little (knowledge) of the Sastras.

COMMENTARY

In this last verse, the author, Nemichandra Siddhanta-chakravarti, in all humility belittles himself and acknowledging that there may be defects in his work, asks the great sages to correct the same. The metre of this verse is different from the preceding ones, as it is the colophon containing the name of the work and the author.

The End.

Printed at Sanmati Press, 230 Gali Kunjas, Dariba Kalan, Delhi.

❀ लघुद्रव्यसंग्रह ❀

छद्दव्व पंच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णव पयत्था य ।
भंगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥१॥
जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य ।
दव्वाणि कालरहिया पदेश बाहुल्लदोअ (ऽ)त्थिकाया य ॥२॥
जीवाजीवासवबंध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो ।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य ॥३॥
जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता ।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारिओ णाणा ॥४॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठ-संट्ठाणं ॥५॥
वण्ण-रस-गंध-फासा विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा ।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा ॥६॥
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥७॥
गइ परि [ण]याण धम्मो पुग्गज जीवाणगमण-सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥८॥
ठाणजुयाण अहम्मो पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥९॥
अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं अलो (ल्लो)गागासमिदि दुविहं ॥१०॥
दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
लोगागासपएसो एक्केकाऽणू य परमट्ठो ॥११॥
लोयायासपदेसे एक्के जेट्ठिया हु एक्केका ।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥१२॥

संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे अणंत आयासे ।
संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति णो काले ॥१३॥
जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥१४॥
जीवो णाणी पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य ।
अज्जीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो ॥१५॥
मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो बंधो ।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं ॥१६॥
मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे ।
कम्माण खओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य ॥१७
कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो ।
सव्वकम्म-विणिम्मुको मोक्खो होइ जिणेडिदो ॥१८॥
सादाऽऽउ-णामगोदाणं पयडीओ सुहा हवे ।
पुण्ण तित्थयरादी अण्णं पावं तु आगमे ॥१९॥
णासइ णर-पज्जाओ उप्पज्जइ देवपज्जओ तत्थ ।
जीवो स एव सव्वस्सभंगुप्पाया धुवा एवं ॥२०॥
उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय-णएण ।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणवुत्ता ॥२१॥
एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता ।
छंडउ रायं रोसं जइ इच्छइ कम्मणो णास ॥२२॥
विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा ।
झायइ अप्पाणेणं जो सो पावेइ खलु सेयं ॥२३॥
सम्मं जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं ।
मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं ॥२४॥
सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥२५॥